पहला खण्ड—भूमिका—

# भारतीय इतिहास की परिस्थिति

पहला प्रकरण

# भारतवर्ष की भूमि

## § १. सीमायें और मुख्य भौगोलिक विभाग

हमारे देश भारतवर्ष की प्रकृति ने बडी सुंदर हद्दबंदी कर दी है। उस के उत्तर हिमालय की दुर्भेद्य शृंखला है। उत्तरपूरब लुशेई, नागा और पतकोई पहाडियाँ तथा उत्तरपच्छिम कलात, अफगानिस्तान और पामीरों के पठार हिमालय के साथ मिल कर उस की आधी परिक्रमा को अंकित करते हैं। पूरब, दक्खिन और पच्छिम की बाकी आधी परिक्रमा महासागर ने पूरी की है। इन सीमाओं के बीच के विशाल देश के ये चार[1] बड़े भौगोलिक विभाग स्पष्ट दीख पड़ते है—( १ ) सीमांत के पहाड़ी प्रदेश, ( २ ) उत्तर भारतीय मैदान, (३) विन्ध्यमेखला और (४) दक्खिन। प्रत्येक की विवेचना हम अलग अलग करेंगे।

## § २. उत्तर भारत का मैदान

उत्तर के पहाड़ों के नीचे एक ओर सिंध-सतलज और दूसरी ओर गंगा-जमना के हरे-भरे काँठे दीख पड़ते हैं। दोनो के बीच राजपूताना की मरु-

---

१. भारतभूमि, पृ० २४-२७।

भूमि और आडावळा ('अरवली पर्वत'[1]) का जगल है। किंतु उस मरुभूमि और उन पहाड़ियो के उत्तर कुरुक्षेत्र के बांगर[1] की तग गर्दन जमना के खादर[1] को सतलज के खादर से जोड देती है, और इस प्रकार उन दोनो के मिलने से उत्तर भारत का एक[2] ही विशाल मैदान हो जाता है जिसे सिंध-गगा-मैदान भी कहते हैं।

मनुष्य की सभ्यता का उदय पहले पहल मैदान की कुछ एक नदियों के उपजाऊ काँठो मे ही हुआ है। गगा सिंध-मैदान भी ससार की उन अत्यत उपजाऊ भूमियो मे से एक है जिन मे आरभिक मनुष्यो ने पहले-पहल जंगली पौधो को घरेलू बना कर खेती करना सीखा, और जिन मे मानव सभ्यता का सब से पहले उदय हुआ। समूचे जगत् मे इस बात मे उस का मुकाबला करने वाले केवल तीन प्रदेश जान पडते हैं—एक चीन की पीली नदी (होआङहो) और याङ्चे क्याङ[3] के काँठे, दूसरे, फारिस की खाड़ी मे गिरने वाली दजला और फरात नदियो का दोआब, तथा तीसरे मिस्र की नील नदी का काँठा।

अपने उपजाऊपन के कारण शुरु मे उत्तर भारत का मैदान एक

---

[1] खादर=नदी की मिट्टी से बनी उपजाऊ भूमि, नदी का कच्छ; बाँगर=निर्जल सूखी ऊँची भूमि जो नदी की मिट्टी से न बनी हो। खादर बाँगर ठेठ खड़ी बोली के शब्द हैं।

[2] प्राचीन भारत में भी हम समूचे उत्तर भारतीय मैदान को एक गिनने का विचार पाते हैं। पालि वाङ्मय में उस का नाम है जम्बुदीपतल (जम्बुद्वीप-तल); जातक, जि० ३, पृ० १२६; जि० ४, पृ० १२३ (अंग्रेज़ी अनुवादकों ने यहाँ 'तल' का अर्थ नहीं समझा), जि० ४, पृ० ४९८। जम्बुदीप पालि में सदा भारतवर्ष का ही नाम होता है।

[3] चीनी 'हो' और 'क्याङ' दोनों का अर्थ है नदी।

विशाल जंगल था, और उस जंगल को धीरे धीरे साफ कर के ही हमारे प्रारंभिक पुरुखो ने उसे खेती के लायक बनाया था[१]।

उस मैदान के कई टुकड़े आसानी से अलग अलग दीख पड़ते हैं। ठीक उत्तरपूरबी छोर पर ब्रह्मपुत्र के पच्छिम-पूरब प्रवाह का काँठा स्पष्ट एक अलग प्रदेश है, उसी का नाम आसाम है। फिर गंगा काँठे के तीन स्पष्ट हिस्से दिखाई देते हैं—जहाँ गगा-जमना दक्खिन-पूरब-वाहिनी हैं वह उपरला गंगा काँठा है; जहाँ गगा ठीक पूरब-वाहिनी हो गई है वह बिचला गगा-काँठा है, और जहाँ फिर समुद्र की ओर मुँह फेर उसने अपनी बाहे फैला दी हैं वह गंगा का मुहाना है। गगा और ब्रह्मपुत्र का मुहाना एक ही है, उसी का पुराना नाम समतट है। उस के उत्तर गगा और ब्रह्मपुत्र के बीच का प्रदेश वरेंद्र है, समतट के पूरब का मैदान का टुकडा खास वंग है, और उस के पच्छिम का राढ़। वग मैदान की एक नोक, जिसे सुरमा नदी सींचती है, पूरबी सीमांत के पहाडों मे ब्रह्मपुत्र के काँठे की तरह बढ़ी है। राढ़, वरेंद्र, वंग और समतट मिला कर बगाल बनता है।

उधर सिंध-सतलज-मैदान के दो स्पष्ट टुकड़े हैं। जहाँ सिंधु-नद ने अपनी पाँचो भुजाये फैला रक्खी हैं, वह पजाब है; जहाँ उन सब का पानी सिमट कर अकेले सिंध मे आ गया है, वह सिंध है। सिध-मैदान के उत्तर-पच्छिमी छोर से उस की एक नोक पहाडो के अन्दर बढ़ी हुई है; वह कच्छी गदावऽ कहलाती है।

कुरुक्षेत्र के बाँगर को आधा सतलज के और आधा जमना के खादर में गिन ले, तो समूचे उत्तर भारतीय मैदान के उक्त प्रकार से छः हिस्से हुए—सिंध, पजाब, उपरला गगा-काँठा, बिचला गगा-काँठा, गगा का मुहाना या बगाल, और ब्रह्मपुत्र का काँठा या आसाम।

सतलज और जमना पहाड मे एक दूसरे के नजदीक निकल कर भी फिर आगे दूर दूर होती गई है। सिंध की सहायक नदियो का रुख एक

१. नीचे §§ ११; ६३।

तरफ है और गंगा की सहायकों का बिलकुल दूसरी तरफ। इसका यह अर्थ है कि सिंध और गगा के प्रस्रवण-क्षेत्रो के बीच कुछ ऊँची जमीन है जो उन्हे एक-दूसरे से अलग किये देती है। दक्खिन अश मे तो आडावळा की शृखला और उस के पच्छिम लगी हुई ढाट या थर नामक मरुभूमि यह जल-विभाजन का काम करती है, उत्तर अश मे वही काम कुरुक्षेत्र के बाँगर ने किया है। सिंध और गगा के प्रस्रवण क्षेत्रो के बीच बाँगर की वह तंग गर्दन ही एक मात्र सुगम रास्ता देती है, इस कारण सामरिक दृष्टि से उस का बडा महत्त्व है। सिंध-सतलज और जमना-गगा-घाघरा के काँठे खुले मैदान हैं, जहाँ आमने सामने से आने वाली दो विरोधी सेनाओ के लिए एक दूसरे का घेरा कर के पीछे की ओर से चले जाने की काफी गुंजाइश है। लेकिन बाँगर की इस तंग गर्दन मे वह बात नही है, यहाँ उत्तर पहाड और दक्खिन मरुभूमि है, पूरब से पच्छिम या पच्छिम से पूरब जाने वाली सेना को यह तग रास्ता तय करना ही होगा। इसी कारण इस नाके पर भारतीय इतिहास की अनेक भाग्यनिर्णायक लडाइयाँ हुई हैं।

उत्तर भारतीय मैदान का मुख्य राजपथ पच्छिम से पूरब ज़रा दक्खिन झुकते हुए उस की लम्बाई के रुख मे है, और सिंध काँठे का राजपथ नदियो के बहाव के साथ दक्खिन-दक्खिन-पच्छिम। नदियो के सिवाय कोई विशेष रुकावट पूरब-पच्छिम के रास्ते को लाँघनी नही पड़ती, और उन्हे भी प्रायः वह ऊपर उथले पानी पर हिमालय की छाँह मे हो पार कर लेता है। पजाब के दक्खिनी हिस्से से जमना-काँठे को सीधे जाना कठिन होता है, इस कारण भी उस का हिमालय की छाँह मे रहना जरूरी है। सिंध और जेहलम के बीच नमक की पहाड़ियाँ, कुरुक्षेत्र-बाँगर की उपर्युक्त गर्दन, और बिहार मे गगा के दक्खिन मगह की पहाडियाँ जो राजमहल पर गगा को आ छूती हैं उस रास्ते पर खास नाकेबदी की जगह है। उन के सिवाय जो कुछ कठिनाई है केवल नदियो के घाटो (पत्तनो) की। गगा के बिचले काँठे से वही नदियाँ भी जाने आने का साधन हो जाती हैं, और पूरब बगाल और आसाम मे तो वही

मुख्य साधन हैं; बरसात की अधिकता के कारण वहां स्थल-मार्ग से जल-मार्ग अधिक चलता है। प्राचीन काल मे पंजाब की नदियो का रास्ता भी बहुत चलता था।

## § ३. विन्ध्यमेखला

गंगा-जमना मैदान के दक्खिन उन नदियों की दक्खिनी शाखाओं अर्थात् बनास, चम्बल, सिन्ध, बेतवा, केन, सोन और दामोदर आदि की धाराओं के निकास की ओर फिर पहाड़ का उठाव दीख पड़ता है। वही विन्ध्यमखला है, जिस के पच्छिमी छोर पर आड़ावळा की बाँह ऊपर बढ़ी हुई है। नर्मदा और सोन की दूनों[1] ने उसे दो फाँकों मे बाँट दिया है। राजपूताना-मालवा के पहाड तथा भानरेड़, पन्ना और कैमोर-शृङ्खलाये उन के उत्तर रह गई हैं, और सातपुड़ा, गवीलगढ़, महादेव, मेकल, हजारी-बाग, राजमहल शृङ्खलाये दक्खिन।

प्राचीन काल मे इस समूची पर्वतमाला का विभाग इस प्रकार किया जाता कि पार्वती और बनास से ले कर बेतवा तक कुल नदियों का निकास जिस हिस्से से हुआ है उसे पारियात्र पर्वत कहते, उस का पूरबी बढ़ाव जिस से कि बेतवा की पूरबी शाखा धसान (दशार्णा) केन और टोंस आदि नदियों का निकास हुआ है विन्ध्य पर्वत कहलाता, और उन दोनो के दक्खिन तापी और वेणगंगा से ले कर उड़ोसा की वैतरणी नदी तक जिस के चरण धोती हैं वह ऋक्ष पर्वत[2]। अर्थात् इस दोहरी पर्वतमाला के उत्तरी हिस्से का

---

१. हिन्दी दून शब्द संस्कृत द्रोणी से बना है, और उस का अर्थ है पहाड़ी शृङ्खलाओं के भोतर घिरा हुआ मैदान। प्रायः नदियों के प्रवाहों से पहाड़ों के बीच दूनें बन जाती हैं। द्रोणी शब्द के लिए दे. मा० पु० ५५, १४; वा० पु० १, ३६, ३३; १, ३७, १-३; १, ३८, १।

२. वा० पु०, १, ४५, ९७-१०३; वि० पु०, २, ३, १०-११; मा० पु०, ५७, १९-२५। इस सन्दर्भ में बहुत पाठभेद और गोलमाल भी है। ऊपर जो लिखा गया है वह सब पुराणों के पाठ का समन्वय कर के और फिर भी पुराने विचार को आजकल के संशोधित रूप में। विशेष विवेचना के लिए दे. भारतभूमि, पृ० ६३-६४ टिप्पणी।

पच्छिमी खड पारियात्र और पूरवी विन्ध्य, तथा समूचा दक्खिनी हिस्सा ऋक्ष है जिसे पारियात्र से नर्मदा की और विन्ध्य से सोन की दून अलग कर देती है। आजकल हम इन तीनो पर्वतो को मिला कर विन्ध्यमेखला कहते हैं, और जब इस शब्द का प्रयोग भारतवर्ष के बीच के विभाग के अर्थ में करते हैं तब बनास के उत्तर आडावळा की समूची शृखला को भी इसी मे गिनते है। उस के अतिरिक्त गुजरात का रम्य मैदान इसी विन्ध्यमेखला की बगल मे रह जाता है, वह न उत्तर भारत मे है, न दक्खिन मे, और विन्ध्यमेखला के साथ लगा होने के कारण उसकी गिनती भी हम उसी विभाग मे करते हैं।

विन्ध्यमेखला के दक्खिन तरफ तापी का काँठा और वर्धा, वेणगंगा और महानदी का उतार फिर ढाल को सूचित करते हैं, वही ढाल उस की दक्खिनी सीमा है। उस के दक्खिन तरफ जो त्रिभुजाकार पहाड़ी मैदान या पठार बच गया वह दक्खिन भारत या दक्खिन है।

भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्यमेखला के पच्छिम से पूरब गुजरात के अतिरिक्त पाँच टुकड़े हैं। पहला राजपूताना, जो चम्बल के पच्छिम का आड़ावळा के चौगिर्द का प्रदेश है। थर की मरुभूमि उस का पच्छिमी छोर है जो उसे सिन्ध से अलग करता है। थर सिन्धी शब्द है, राजस्थानी मे उसी को ढाट कहते हैं, और वह ढाट भी पच्छिमी राजपूताने या मारवाड़ का अग है। लूनी नदी का अकेला काँठा और पूरब तरफ बनास का काँठा भी उस में सम्मिलित हैं। दूसरा प्रदेश मालवा का पठार है, जिस में चम्बल और सिन्ध की उपरली दूने, उन के ठीक दक्खिन नर्मदा की बिचली दून और सातपुड़ा-शृखला का पूरबी भाग बुरहानपुर के ऊपर तक सम्मिलित हैं। राजपूताना और मालवा की बगल में गुजरात है। तीसरा प्रदेश है बुन्देलखण्ड, जिस मे बेतवा धसान और केन के काँठे, नर्मदा की उपरली दून और पचमढ़ी से अमरकण्टक तक ऋक्ष पर्वत का हिस्सा सम्मिलित हैं। उस की पूरबी सीमा टोंस है। उस के पूरब सोन की दून, जहां वह पच्छिम से पूरब

बहता है, बघेलखण्ड है। बघेलखण्ड के दक्खिन मेकल शृंखला के अमर-कण्टक पहाड़ की छाँह में महानदी के उपरले प्रवाह पर छत्तीसगढ़ का नीचा पठार है। बघेलखण्ड-छत्तीसगढ़ को मिला कर हम विन्ध्यमेखला का चौथा प्रदेश कहते हैं। उस के पूरब पारसनाथ पर्वत तक झाड़खण्ड या छोटा नाग-पुर है जो उस मेखला का पाँचवां प्रदेश है। झाड़खण्ड मे ऋक्ष पर्वत का जो अश है, उसे आजकल हज़ारीबाग शृंखला कहते हैं। पूरब जाते हुए उस की भी दो फाँके हो गई हैं जिनके बीचोबीच दामोदर बहता है। उत्तर की फाँक से हज़ारीबाग का पठार बना है, और दक्खिन की से राँची का। इन दोनों पठारों को मिला कर झाड़खण्ड प्रदेश बना है।

राँची का पठार एक नीची पहाड़ी गर्दन द्वारा मयूरभज और केदूझर के पहाड़ों से, जिन मे वैतरणी के स्रोत हैं, जुड़ा है। प्राचीन परिभाषा के अनुसार वैतरणी भी ऋक्ष पर्वत से निकली गिनी जाती थी, उस हिसाब से मयूरभंज और केदूझर के पहाड़ो को भी विन्ध्यमेखला मे गिनना होगा, किन्तु आजकल उन्हे दक्खिन भारत के पूरबी घाटों मे ही गिना जाता है।

खेती की उपज मे विन्ध्यमेखला उत्तर भारतीय मैदान का मुकाबला नहीं कर सकती, पर अपने जंगलो और खानो की उपज मे वह विशेष धनी है। इस कारण उस का बड़ा व्यावसायिक (industrial) गौरव है। इस के अतिरिक्त उत्तर और दक्खिन भारत के बीच के मुख्य रास्ते विन्ध्यमेखला के प्रदेशों को लाँघ कर ही गये हैं, इस से उस का सामरिक और व्यापारिक महत्त्व भी बड़ा है। सिन्ध के काँठे से सीधे दक्खिन स्थल-मार्ग से जाना चाहे तो थर बीच मे पड़ता है, इस कारण वह रास्ता बहुत दुर्गम है। उत्तर भारत से दक्खिन जाने वाला पहला मुख्य रास्ता दिल्ली या आगरा से राजपूताना लाँघ कर गुजरात पहुँचता है। अजमेर के कुछ दक्खिन से आड़ावळा के पच्छिम निकल वह उस के किनारे किनारे चला जाता है। अजमेर राजपूताना के टीक केन्द्र मे है; उस के और आड़ावळा के पच्छिम उत्तरी अश मे बीकानेर और दक्खिनी अंश मे मारवाड़ है; पूरब तरफ़, उत्तर कछवाड़ा या ढुण्ढार-

प्रदेश और दक्खिन मेवाड तथा मालवा है। मेवाड से न केवल बीकानेर प्रत्युत मारवाड जाने का भी सुगम रास्ता अजमेर द्वारा ही है। इसी से अजमेर मानो समूचे राजपूताना की चाबी है।

मथुरा आगरा से मालवा की चम्बल दून द्वारा गुजरात को, या बुरहानपुर के घाट पर तापी को पार कर गोदावरी काँठे को जो रास्ता जा निकलता है वह प्राचीन काल से उत्तर और दक्खिन भारत के बीच मुख्य राजपथ रहा है। यही कारण है कि मालवा मे प्राचीन काल से अनेक प्रसिद्ध नगरियाँ चली आती हैं। ध्यान रहे कि पजाब और दक्खिन के बीच राजपूताना और मालवा द्वारा जो उक्त रास्ते गए है, उन सब के सिरे पर वही कुरुक्षेत्र का बांगर है। इस कारण पजाब और गगा-काँठे के बीच के रास्ते की वह जिस प्रकार नाकाबन्दी करता है, ठीक उसी प्रकार वह पजाब से दक्खिन जाने वाले रास्तों की जड को भी काबू किये हुए है।

आगरा के पूरब प्रयाग और काशी तक के प्रदेश से गोदावरी, महानदी या नर्मदा-तापी के काँठो मे जाने वाले रास्ते बुन्देलखण्ड लाँघ कर जाते हैं। किन्तु बनारस के पूरब बिहार से यदि दक्खिन जाना हो तो सीधे दक्खिन मुँह कर झाड़खण्ड पार करने के बजाय उस के पूरब घूम कर बंगाल से तट के साथ साथ जाना सुगम होता है। इसी कारण झाडखण्ड उत्तर दक्खिन के मुख्य रास्तो की पहुँच के सदा बाहर रहा है, और यही कारण है कि भारतवर्ष की सब से आरम्भिक जगली जातियां सभ्यता की छूत से बची हुई उस में अब तक अपनी आरम्भिक जीवनचर्या के अनुसार रहती आती हैं।

## § ४. दक्खिन

दक्खिन भारत की शकल एक तिकोने या त्रिभुज की है। उस का आधार विन्ध्यमेखला है, और उस की दो भुजाये उस के दोनो किनारो पर की पहाडो की शृखलायें जो क्रमश पच्छिमी और पूरबी घाट कहलाती हैं। पच्छिमी घाट या सह्याद्रि की कोहान और समुद्रतट के बीच मैदान का एक तग फीता है,

जिस का उत्तरी हिस्सा कोंकण और दक्खिनी केरल या मलबार है। कोंकण से घाट की चोटियाँ या घाटमाथा एकाएक ऊपर उठ खड़ी होती हैं, उन के पूरब तरफ़ बड़ी बड़ी नदियों की दूनें हैं। उन दूनों और कोंकण के बीच सह्याद्रि के ऊपर से जो रास्ते हैं, वे सब घाट कहलाते हैं।

दक्खिन की सब बड़ी नदियाँ पूरब बहती हैं, इस से प्रकट है कि उस की ज़मीन का ढाल पूरब तरफ़ है। और पूरब तरफ़ उन नदियों की दूनें खुलती गईं हैं, और समुद्र तक जा पहुँची हैं, इस से यह भी प्रकट है कि पूरबी घाट की शृंखला बीच बीच में टूटी हुई और नदियों को रास्ता दिये हुए है। पूरबी घाट के पूरब इन नदियों के मुहानों पर मैदान का एक अच्छा चौड़ा हाशिया भी बन गया है, जो कोंकण के तंग फीते से करीब चौगुना है।

कृष्णा नदी दक्खिन भारत को दो स्पष्ट हिस्सों में बाँट देती है। उस के उत्तर पच्छिमी और पूरबी घाटों का अन्तर बहुत है, उस के दक्खिन वे दोनों क्रमशः उठते और नज़दीक आते हुए अन्त में नीलगिरि पर एक दूसरे में मिल जाते हैं। नीलगिरि मानो उत्तर मुँह कर बाये और दाहिने दो बाहें फैलाये हुए है।

कृष्णा के उत्तर भाग के फिर तीन हिस्से होते हैं। उस भाग में सह्याद्रि ने पूरब ढलते हुए अपनी कई भुजाये आगे बढ़ा दी हैं जो गोदावरी और कृष्णा की अनेक धाराओं को एक दूसरे से अलग करती हैं। पूरबी घाट का उत्तरी अंश महेन्द्र पर्वत है, जो महानदी और गोदावरी के बीच जलविभाजक है। छत्तीसगढ़ की गर्दन उसे विन्ध्यमेखला के मेकल पर्वत से जोड़ती हुई वेणगंगा और महानदी के पानियों को बाँटती जाती है। इस प्रकार गोदावरी और महानदी के प्रस्रवण-क्षेत्र एक दूसरे से अलग होते हैं। गोदावरी के समूचे प्रस्रवणक्षेत्र को हम सह्याद्रि के पूरबी ढाल के साथ गिन सकते हैं, और उस के पूरब महेन्द्र पर्वत के चौगिर्द प्रदेश तथा महानदी काँठे को उस से अलग।

महेन्द्रगिरि के बाद पूरबी घाट की शृङ्खला मे कृष्णा के दक्खिन श्रीशैल या नालमलै पर्वत है। उस के उत्तर मूसी नदी का दून हैदराबाद या गोलकुण्डा के जिस पठार मे से गुज़री है वह पच्छिमी और पूरबी घाट के बीचोबीच पड़ता है। नासिक के दक्खिन थलघाट से अहमदनगर होती हुई सह्याद्रि की जो बाँही मजीरा और भीमा के बीच से पूरब बढी है, उस की पूरबी ढाँगों और गोलकुण्डा पठार के बीच उतार है। उस उतार के पूरब प्रदेश को, अर्थात् गोलकुण्डा के पठार, नालमलै पर्वत के प्रदेश और गोदावरी-कृष्णा के मुहाने को मिला कर एक प्रदेश कहा जा सकता है। महेन्द्रगिरि और मयूरभज-केदूझर के पहाडो के चौगिर्द तथा बीच का प्रदेश उडीसा था, यह तेलंगण है, और दोनो के पच्छिम का हिस्सा महाराष्ट्र है।

कृष्णा के दक्खिन पूरबी और पच्छिमी घाटो के निकट आ जाने से मैसूर या कर्णाटक का ऊँचा अन्त प्रवण पठार बन गया है, जो उस विभाग के पश्चिमार्ध को सूचित करता है। सह्याद्रि की पूरबी ढाँगो के, मैसूर पठार के, नालमलै पर्वत के और मूसी-पठार के बीच भीमा, कृष्णा और तुगभद्रा की दूने चारो तरफ से घिर गई है, और अन्त मे नालमलै या श्रीशैल के चरणों को धोते हुए कृष्णा की धारा बडा गहरा रास्ता काट कर उस घेरे के बाहर निकली है। ये घिरी हुई दूने, विशेष कर कृष्णा और तुगभद्रा के बीच का दोआब, दक्खिन भारत के उत्तरार्ध और दक्षिणार्ध के राज्यो के बीच सदा लड़ाई का कारण बनी रही है।

कर्णाटक का पठार महाराष्ट्र से अधिक ऊँचा है, लेकिन उस के दक्खिन छोर पर दोनो घाटो के मिल जाने के बाद एकाएक पहाडो का ताँता समाप्त हो कर मैदान आ जाता है। उस मैदान के दक्खिन फिर आनमलै और एलामलै पर्वत हैं। मलै तामिल शब्द है जिसका अर्थ है पर्वत, उसी का सस्कृत रूप मलय इन विशेष पर्वतो का नाम हो गया है।

कर्णाटक-पठार के पूरब वड-(उत्तरी) पैण्णार नदी के दक्खिन मैदान की खुली पट्टी चोलमण्डल तट या द्रविड देश है; आनमलै और

एलामलै पर्वतो के पच्छिम का तट केरल है, और वे पर्वत तथा वह तट भी द्रविड देश का ही अश है। नीलगिरि और आनमलै के बीच मैदान का जो फ़ीता केरल को कावेरो-काँठे से मिलाता है उसी मे से पालघाट का राजपथ गया है।

द्रविड देश को रामेश्वरम् के आगे सेतुबन्ध की चट्टानो का सिलसिला समुद्र पार सिहल द्वीप से लगभग जोड़े हुए है। सिहल भी दक्खिन भारत का एक पृथक् प्रदेश है। इस प्रकार दक्खिन भारत मे कुल छ: प्रदेश है— महाराष्ट्र, उड़ीसा, तेलगण, कर्णाटक, द्रविड और सिंहल।

दक्खिन भारत भी खनिज उपज मे विशेष धनी है। पुन्नाडु आदि की गोमेद की और गोलकुण्डा की हीरे की खाने पिछले इतिहास मे जगत्प्रसिद्ध रही है। आजकल भी कोल्हार की खान से सोना निकलता है। आधुनिक व्यावसायिक जीवन के लिए आवश्यक लगभग सभी खनिज पदार्थ विन्ध्यमेखला और दक्खिन के पहाड़ो के पेट मे पाये जाते है। उस के अतिरिक्त, दक्खिन के समुद्रतट के प्रदेशो की कृषि की उपज भी बड़ी कीमती है। काली मिर्च, लौंग, इलायची आदि मसालो और चन्दन, केला, कपूर, नारियल आदि के लिए वे मानव इतिहास के आरम्भ से प्रसिद्ध रहे है, और संसार की सब जातियाँ उन की इन वस्तुओ का व्यापार करने को तरसती रही है। सिंहल मे अब नारियल के समान रबर की बागवानी भी बहुत होने लगी है। खानदेश और बराड की काली मिट्टी मे भारतवर्ष की सब से अच्छी कपास पैदा होती है।

दक्खिन भारत का एक प्रधान राजपथ वह है जो उस के पूरबी तट के साथ साथ बगाल से कन्याकुमारी तक जाता है। उस के सिवाय उस के सब मुख्य रास्ते उस की नदियों की दिशा मे उसे उत्तरपच्छिम से दक्खिनपूरब आरपार काटते है। नासिक के निकट से गोदावरी-काँठे के साथ साथ मसुलीपट्टम तक का रास्ता बहुत पुराने समय से चलता है। उसी प्रकार भीमा और कृष्णा के निकास के निकट से उन नदियों की दूनों मे होते हुए

कृष्णा-तुगभद्रा-दोआब को अथवा मैसूर पठार को बीचोबीच काट कर काञ्ची-वरम या तजोर पहुँचने वाले रास्ते भी बहुत पुराने और अत्यन्त महत्त्व के हैं। भीमा-कृष्णा तुगभद्रा की सह्याद्रि और नालमलै के तथा मैसूर और मूसी-पठारों के बीच घिरी हुई दूने उन रास्तो की ठीक गर्दन धरे हुए है। इसी कारण उन दूनो का प्रदेश दक्खिन का कुरुक्षेत्र है, और उस हिसाब से महाराष्ट्र दक्खिन का अफगानिस्तान, तथा चोलमण्डल दक्खिन का गगा-काँठा है। तंजोर से पालघाट हो कर केरल जाने वाला रास्ता भी बडा पुराना और महत्त्व का है।

## § ५. उत्तरी सीमान्त

देश की सीमा बनाने वाले पहाडो को हमारे देश की प्राचीन परिभाषा के अनुसार मर्यादा पर्वत कहना चाहिए[१]।

### अ. हिमालय और उस के साथ की पर्वतशृंखलायें

भारतवर्ष के सब मर्यादा-पर्वतो मे से हिमालय मुख्य है। भारतवर्ष के उत्तर छोर पर वह एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला गया है। उत्तरपूरब और उत्तरपच्छिम के मर्यादा-पर्वत भी उस के साथ जुडे हुए है। स्पष्टता की खातिर आजकल की परिभाषा मे ब्रह्मपुत्र और सिन्ध नदियो के दक्खिनी मोडो को उस की पूरबी और पच्छिमी सीमा माना जाता है। हिमालय शब्द मुख्यतः उन दोनों के बीच सनातन हिम से ढकी उस परम्परा के लिए बर्त्ता जाता है जिस मे नगा पर्वत, नुनकुन, बन्दरपूँछ, केदारनाथ, नन्दादेवी, धौलगिरि, गोसाइथान, गौरीशङ्कर, काञ्चनजङ्घा, चुमलारी आदि प्रसिद्ध पहाड हैं। वह बडी हिमालय शृङ्खला या हिमालय की गर्भशृङ्खला है। उसके और उत्तर-भारतीय मैदान के बीच के पहाड पहाडियो को दो और शृङ्खलाओ मे बाँटा जाता है, जिन्हे क्रम से भीतरी या छोटी हिमालय शृङ्खला और बाहरी या उपत्यका-शृङ्खला कहते है, और जिन्हे असल हिमलय की निचली सीढ़ियाँ कहना चाहिए। भीतरी शृङ्खला का नमूना कश्मीर की पीरपञ्चाल शृङ्खला,

१. मा० पु० ५४, २६; भाग० पु० ५, १६, ६—१०।

कांगडा-कुल्लू की धौला धार आदि हैं। उपत्यका-शृङ्खला का अच्छा नमूना शिवालक पहाड़ियाँ हैं।

हिमालय की गर्भ-शृङ्खला बीच बोच मे टूटी है। नदियो की दूने उस के आरपार चली गई है। भारतवर्ष की मुख्य नदियो मे से केवल चिनाब, व्यास, जमना और तिस्ता उस मे से निकली है, बाकी उस के नीचे या ऊपर से। उस के पीठ पीछे उस के बराबर कई और पहाड़ों की शृङ्खलायें चली गई है। साधारण बोलचाल मे उन का बडा अश भी हिमालय ही कहलाता है, पर भूगोल-शास्त्रियो ने उन के दूसरे नाम रक्खे हैं।

उन मे से पहली वह है जिस मे गंगा की मूल धाराओं के स्रोत हैं। घाघरा की मूल धारा कर्णाली के दाहिने हिमालय की गर्भशृङ्खला से फट कर वह उस के बराबर पच्छिम-पच्छिम-उत्तर गगा और सतलज के पानी को बाँटती और फिर सतलज के पार जडस्कर नदी तक रुपशू और जडस्कर प्रदेशो के बीचोबीच सतलज और सिन्ध के पानी को बाँटती चली गई है। उस का नाम जडस्कर-शृङ्खला रक्खा गया है। कामेत पहाड़ उसी मे है। बदरिकाश्रम जिस दून मे है, वह हिमालय के उस पार उस की जड़ मे है। इसी प्रकार कई और दूने भी।

उस के पीछे एक और लम्बी शृङ्खला है जो गिल्गित के दक्खिन शुरू हो लदाख प्रदेश मे सिन्ध के दाहिने और फिर बाये होती हुई, सतलज को रास्ता दे कर, मानसरोवर के दक्खिन से ब्रह्मपुत्र के दाहिने दाहिने जाती हुई चुमलारी चोटो पर हिमालय मे जा मिली है। उसे लदाख-शृखला कहते हैं। घाघरा, गण्डक और कोसी के स्रोत उस मे है, और उन के और ब्रह्मपुत्र के बीच वही जल-विभाजक है। मुक्तिनाथ का प्रसिद्ध तीर्थ हिमालय के उस पार तथा उसी के चरणो मे है।

सुप्रसिद्ध कैलाश पर्वत एक और शृंखला को सूचित करता है, जो लदाख-शृंखला के भी उत्तर है। पूरब तरफ़ वह ब्रह्मपुत्र के बाये बायें काठमाण्डू के करीब सीधे उत्तर तक पहुँचो है। उस के आगे भी एक और शृखला,

जिसे उसी का बढाव कहना चाहिए, ल्हासा के उत्तर से ब्रह्मपुत्र दून के बाये लगातार चली गयी है। पच्छिम तरफ लदाख-शृखला के बराबर पहले गारतङ और सिन्ध नदियो के दाहिने किनारे, फिर पङ्गोङ झील तक, और आगे श्योक नदी के मोड के बाद कारकोरम-शृखला के साथ सटी हुई हुञा नदी के सामने तक वह जा निकली है।

तिब्बत के विस्तृत निर्जन वृक्षहीन पठार चाङ-थङको[1] जैसे हिमालय, लदाख और कैलाश-शृखलाये दक्खिन तरफ थामे हुए है, वैसे ही क्युनलुन शृंखला उत्तर तरफ और चीन के सीमान्त-पहाड पूरब तरफ। पच्छिमी छोर पर दक्खिन-उत्तर वाली शृखलाये एक दूसरे के नजदीक आ गयी है, और वहाँ कारकोरम या मुज्ताग शृखला भी कैलाश और क्युनलुन शृखलाओ के बीच आ गयी है। ब्रह्मपुत्र के स्रोत के सीधे उत्तर उस का पूर्वी छोर है, जहाँ वह चाङ-थङ मे ढल गयी है। सिन्ध की उत्तरी धारा श्योक और चीनी तुर्किस्तान के रस्कम दरिया के बीच वही जलविभाजक है, किन्तु हुञा नदी उस के उत्तर तागदुम्बाश पामीर से निकल कर उसे बीचोबीच काटती हुई उतरी है। रस्कम या यारकन्द नदी को, जो कारकोरम के उत्तरी चरण धोती है, जरफ्शां भी कहते है, उस का चीनी नाम सी-तो प्राचीन संस्कृत नाम सीता का रूपान्तर है। उसके स्रोत के पूरब तिब्बत और पच्छिम पामीर है। उसी की दून मुज्ताग और क्युनलुन शृखलाओ को भी एक दूसरे से अलग करती है।

भारतवर्ष और तिब्बत की पारस्परिक सीमा ठीक कहाँ है? यह आसानी से कह दिया जाता है कि हिमालय भारतवर्ष की उत्तरी सीमा है, पर ऊपर की विवेचना से स्पष्ट हुआ होगा कि आधुनिक परिभाषा मे जिसे हिमालय की गर्भ-शृङ्खला कहा जाता है वह जहाँ बीच बीच मे टूटी हुई है वहाँ कई भारतीय दूने उस के उस पार भी निकल गयी है। प्राचीन भारतवासियो की हिमालय की ठीक परिभाषा न जाने क्या थी, किन्तु वे

---

१. थङ माने मैदान, पहाड़ी मैदान, पठार।

गङ्गा के स्रोत को भारतवर्ष की उत्तरी सीमा मानते थे[1]। वे स्रोत आजकल की परिभाषा मे जङ्स्कर-शृङ्खला मे है। इस प्रकार उस शृङ्खला को हिमालय की गर्भ-शृङ्खला की केवल आवृत्ति मानते हुए हम हिमालय की हिमरेखा को भारतवर्ष की प्राय: ठीक उत्तरी सीमा कह सकते हैं।

## इ. हिमालय के प्रदेश

(१) हजारा, कश्मीर, कष्टवार, दार्वाभिसार

सिन्ध और कृष्णगगा-जेहलम नदियो के बीच हिमालय का सब से पच्छिमी ज़िला हज़ारा है जिस का प्राचीन नाम उरशा था। वह रावलपिण्डी के सीधे उत्तर और पामीर के सीधे दक्खिन है। कुन्हार नदी की दून उस में उत्तर-दक्खिन सीधा रास्ता बनाये हुए है।

कश्मीरी लोग जेहलम नाम नही जानते, वे उसे व्यथ (वितस्ता)[2] कहते हैं। व्यथ की चक्करदार उपरली दून ही वह कश्मीर है जिस के विषय मे कवि ने कहा है—

अगर फ़िरदौस बर-रूए ज़मी अस्त
हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त।

अर्थात् यदि ज़मीन के तख्ते पर कही स्वर्ग है तो यही है। हिमालय की गर्भ-शृङ्खला से एक बाँही फूट कर व्यथ और कृष्णगगा का पानी बाँटती हुई पूरब से पच्छिम जा कर दक्खिन मुड़ गयी है—वही भीतरी शृङ्खला के हरमुक (हरमुकुट) और काजनाग पहाड़ हैं। कुछ और पूरब से एक और बाँही गर्भ-शृङ्खला से दक्खिन उतरी है जिस के शुरू मे अमरनाथ तीर्थ है। वह अमरनाथ-शृङ्खला व्यथ के दक्खिन-पूरबी अन्तिम स्रोतों का घेरा करती उत्तर-पच्छिम घूम गयी है और आगे पोर-पंचाल शृङ्खला कहलाती है। भीतरी शृङ्खला के यही सब पहाड़ कश्मीर की ८४ मील लम्बी २५ मील चौड़ी दून को चारो तरफ़ से घेरे हुए है।

---

१. वा० पु०, १, ४५, ८१।

२. कोष्ठों में प्राचीय संस्कृत नाम हैं।

कश्मीर की बस्ती गर्भ-शृङ्खला तक नही पहुँचती। हरमुक-शृङ्खला के उत्तर कृष्णगङ्गा की जो दून है वह ठेठ कश्मीर मे नही है। वह दर्दिस्तान (दरद्-देश) का दक्खिनी छोर है। दरद देश की बस्तियाँ गर्भ शृङ्खला के उस पार सिंध की दून मे, और फिर सिंध पार गिल्गित और हुञ्जा दूनो तक चली गयी है। दरद देश इस प्रकार हिमालय के भारतीय प्रदेशो को उत्तरपच्छिमी सीमान्त के भारतीय प्रदेशो के साथ जोडता है, और उस की चर्चा हम आगे करेगे।

अमरनाथ-शृङ्खला के पूरब, उत्तर से दक्खिन, मरुवर्द्वान (मरुद्वृधा) नदी की दून है जो कष्टवार (काष्ठवाट) पर चिनाब की मुख्य दून मे जा खुली है। मरुवर्द्वान और कष्टवार दूनो मे भी कश्मीरी भाषा बोली जाती है।

जेहलम और चिनाब के बीच कश्मीर की उपत्यका प्राचीन काल का प्रसिद्ध अभिसार देश है, और चिनाब तथा रावी के बीच की उपत्यका दार्व। दार्वाभिसार का नाम पुराने वाङ्मय मे प्राय एक साथ आता है। अभिसार अब छिभाल कहलाता है, और उस मे पुंच, राजौरी, भिम्भर रियासते हैं। दार्व का नाम अब डुगर है, और उस मे जम्मू तथा बल्लावर (वल्लापुर) की बस्तियाँ हैं।

डुगर के ऊपर भीतरी शृङ्खला की धौला धार[1] का पच्छिमी छोर है। धौला धार के उस पार, डुगर और कष्टवार के बीच, भद्रवा (भद्रावकाश) प्रदेश है, जो बोली और जनता मे आधा कश्मीरी है।

( २ ) कांगडा से कनौर

सतलज के पूरब टोस के स्रोत पर गर्भ-शृङ्खला से फूट कर, सतलज व्यास और रावी को रास्ता देती हुई चिनाब के सामने तक धौला धार चली आयी है। उस की उपत्यका मे रावी और व्यास के बीच कांगड़ा

---

१. धार माने शृङ्खला।

प्रदेश है, जो सतलज-ब्यास के द्वाबे[१] सहित प्राचीन काल मे त्रिगर्त्त देश कहलाता था। द्वाबे के उपरले किनारे मे बाहरी शृङ्खला की शिवालक और सोलासिङ्गी पहाडियाँ हैं, जिन की दूनों से होशियारपुर ज़िला और बिलासपुर उर्फ कहलूर रियासत तथा सतलज की बायी कोहनी मे नलगढ़ रियासत बनी है। सोलासिङ्गी और धौला धार के बीच ब्यास की दून मे मण्डी और सतलज की दून मे सुकेत रियासत है।

धौला धार और गर्भ-शृङ्खला के बीच रावी और चिनाब की उपरली दूने हैं। रावी की वह दून ही सुप्रसिद्ध चम्बा प्रदेश है। कष्टवार के ऊपर चिनाब अब तक अपने संस्कृत नाम चन्द्रभागा से पुकारी जाती है। उस की उपरली दून तथा उस की दो मूल धाराओं—भागा और चन्द्रा—का प्रदेश लाहुल है। चन्द्रा बारा-लाचा जोत[२] पर गर्भ-शृङ्खला से उतरी है, उस के बाये बाये वह शृङ्खला भी दक्खिन घूम गयी और ब्यास को जन्म देती हुई सतलज तक जा बढ़ी है। ब्यास के उपरले स्रोतो का प्रदेश कुल्लू (कुलूत) है। वह लाहुल के दक्खिन और चम्बा के पूरब-दक्खिन है, कांगड़ा और मण्डी मे उसे धौला धार अलग करती है।

उस की पीठ पर गर्भ-शृङ्खला जैसे करीब करीब उत्तर-दक्खिन चली गयी है, वैसे उस शृङ्खला के परले किनारे को स्पीती नदी धोती है। स्पीती की दून, जो गर्भ-शृङ्खला और जङ्स्कर-शृङ्खला के बीच है, सतलज

१. दोआब का पंजाबी उच्चारण द्वाबा है, और केवल द्वाबा कहने से पंजाब में सतलज-ब्यास का दोआब ही समझा जाता है।

२. किसी पहाड़ की शृङ्खला के नदी की दून या किसी और कारण से कटे होने या कटा सा मालूम होने से जो आरपार रास्ता बन जाता है, उसे दर्रा कहते हैं। जहाँ पहाड़ की रीढ़ पर किसी नीची गर्दन की सी जगह से एक तरफ़ चढ़ कर दूसरी तरफ़ रास्ता उतरता है, उस जगह को अफ़गानिस्तान में गर्दन या कोतल, गढ़वाल-कुमाऊँ में घाटा, नेपाल में भञ्ज्याङ, राजस्थान में घाटी और कांगड़ा-कुल्लू में जोत कहते हैं। दे० भारतभूमि पृ० ११३-१४ टिप्पणी तथा पृ० ३४४।

को जिस उपरली दून मे जा खुली है, उसे कनौर या बशहर कहते है। अन्यत्र[1] मैने सिद्ध किया है कि वही प्राचीन किन्नर-देश है। कनौर को भीतरी शृङ्खला की सतलज-दून अर्थात् सुकेत से धौला धार अलग करती है, गर्भ-शृङ्खला उस के बीचोबीच गुजरी है, और जङ्स्कर-शृङ्खला उस की पीठ पर है। स्पीती और उपरला कनौर हिमालय पार के भारतीय प्रदेश है।

कश्मीर से कनौर तक हिमालय के उस पार सिन्ध की उपरली दून मे लदाख, जङ्स्कर, रुपशू, हानले और चुमूर्ति—ये सब तिब्बती प्रदेश क्रम से एक दूसरे के दक्खिन-पूरब है। चुमूर्ति के बाद गुगे है जिस के और कनौर के बीच सुप्रसिद्ध शिपकी दर्रा है। गुगे ङरी खोसुम या ङरी के तीन प्रदेशो मे से सब से पच्छिमी है। कैलाश पर्वत और मान सरोवर के चौगिर्द का तिब्बती प्रान्त ङरी है। पूरब तरफ वह मुक्तिनाथ के उत्तर तक भारतीय सीमा के साथ साथ चला गया है। भारतवर्ष के पहाड़ी जो उस मे व्यापार करने जाते हैं उसे हूणदेश कहते हैं।

( ३ ) क्युँठल से कुमाऊँ

कनौर के नीचे सतलज और टौस के बीच क्युँठल[2]—शिमला—, बघाट—डगशाई-कसौली—,जुब्बल और सरमौर प्रदेश है। बघाट की उपत्यका मे कालका के पास से घग्घर ( दृषद्वती ) निकली है, और सरमौर की उपत्यका मे साधौरा के पास से सरसुती ( सरस्वती )। टौस के पूरब जौनसार-बावर प्रदेश और उस के नीचे देहरादून की उपत्यका है। उन के पूरब भागीरथी से पिण्डर तक गङ्गा की सब धाराओ का प्रदेश गढवाल है।

---

१ भारतभूमि, पृ० ३०५-८, तथा पटना ओरियटल कान्फ्रेंस १९३० में भेजा लेख—रघुज़ लाइन ऑव कौन्क्वेस्ट एलौंग् इन्डियाज़ नौर्दर्न बौर्डर।

२. स्वाभाविक भौगोलिक या जनताकृत भाषाकृत प्रदेशों का ब्यौरा दिया जा रहा है, न कि आजकल के शासन की इकाइयों का। जैसे, क्युँठल से अभिप्राय क्युँठली बोली का क्षेत्र न कि क्युँठल रियासत, चम्बा से चमियाली बोली का क्षे॰।

भागीरथी गङ्गा की गौण तथा अलखनन्दा मुख्य धारा है। भागीरथी का स्रोत गङ्गोत्री ठीक गर्भ-शृङ्खला मे है, पर उस की उपरली शाखा जान्हवी का ऊपर जङ्स्कर-शृङ्खला मे। अलखनन्दा की दो मूल धाराये—विष्णुगङ्गा और धौलीगङ्गा—जहाँ जोशीमठ पर मिली है, वह दून भी हिमालय के ठीक गर्भ मे है; उस के ऊपर विष्णुगङ्गा और धौलीगङ्गा की दूने गर्भ-शृङ्खला और जङ्स्कर शृङ्खला के बीच है। विष्णुगङ्गा दून के ही सिरे पर बदरिकाश्रम है।

मैदान मे गङ्गा के पूरब रामगङ्गा है, किन्तु पहाड़ मे उस के स्रोत गङ्गा की पूरबी शाखा पिण्डर के नीचे ही रह जाते है। पिण्डर के स्रोत के केवल तीन मील पूरब घाघरा की पहली शाखा सरजू का स्रोत है, वहाँ से धौलगिरि तक सवा दो सौ मील लम्बाई मे तमाम घाघरा का प्रस्रवणक्षेत्र है।

गढ़वाल के पूरब कुमाऊँ या कूर्माचल प्रदेश है, जिसे पिण्डर का उपरला प्रवाह, रामगङ्गा और उस की शाखा कोसी की तथा सरजू की दूने सूचित करती है। उस की पूरबी सीमा घाघरा मे मिलने वाली काली या शारदा नदी है। काली ऊपर तीन धाराओं से बनी है—गौरीगङ्गा, धौली-गङ्गा और काली, वे तीनो जङ्स्कर-शृङ्खला से निकली है; उन की दूने कुमाऊँ मे है।

मान सरोवर से कनौर तक सतलज का उपरला तिब्बती प्रवाह काली से टोंस तक सब नदियों का उत्तर तरफ घेरा करता गया है। जौनसार गढ़वाल और कुमाऊँ से, जमना गङ्गा और काली दूनों की अन्तिम बस्तियों के परे, हिमालय और जङ्स्कर-शृङ्खला के घाटों को लाँघ कर डरी की उस सतलज-दून और उस के आगे सिन्ध-दून तक कई एक रास्ते चलते है।

### ( ४ ) नेपाल

धौलगिरि तक नेपाल राज्य का पच्छिमी चौथाई अंश है जिसे नेपाल वाले बैसी अर्थात् बाईस राजाओ का प्रदेश कहते है। उस के बीचोबीच घाघरा की मुख्य धारा की शाखाये फैली हुई है। घाघरा के स्रोत गङ्गा के

स्रोतों के और ऊपर लद्दाख-शृङ्खला मे है, जिस के दूसरी तरफ ब्रह्मपुत्र के स्रोत भी है। इसीलिए घाघरा की दूनों ने ब्रह्मपुत्र की दून तक पहुँचने को सीधे रास्ते बनाये है।

धौलगिरि से गोसाँईथान तक गण्डक की धाराये फैली है जो सब त्रिवेणीघाट के ऊपर मिल गयी है। वह सप्तगण्डकी अथवा चौबीसी (२४ राजाओं का) प्रदेश है, और उस मे पाल्पा, गोरखा आदि बस्तियाँ हैं। गोरखपुर और पाल्पा से सीधे उत्तर काली गण्डक की दून धौलगिरि के पूरब से हिमालय पार कर गयी है, मुक्तिनाथ और कागबेनी उस दून के हिमालय पार के हिस्से को सूचित करते है। गण्डक की और धाराये भी हिमालय पार से उतरी है, और उन मे से विशेष कर त्रिशूली-गण्डक का रास्ता तिब्बत जाने के पुराने राजपथो मे से है।

सप्तगण्डकी के पूरब २६ मील लम्बी, १६ मील चाड़ी ठठ नेपाल दून है, जिस मे विष्णुमती और मनोहरा का बागमती के साथ सङ्गम होता है। काठमाण्डू, पाटन और भातगाँव इसी दून की बस्तियाँ है। इस दून के पूरब काञ्चनजङ्घा तक नेपाल राज्य का पूरब चौथाई या सप्तकौशिकी प्रदेश है, जिस मे कोसी की अनेक धाराये, जिन मे से सनकोसी, दूधकोसी और अरुण मुख्य है, फैली हुई है।

बागमती के स्रोत भीतरी शृङ्खला मे हैं, न कि गर्भ-शृङ्खला मे। इसीलिए नेपाल दून से हिमालय पार जाने के रास्ते गण्डक या कोसी की दूनो द्वारा ही है। सनकोसी उर्फ भोटिया-कोसी की दून द्वारा तिब्बत जाने का रास्ता पुराना प्रसिद्ध राजपथ है। इन नदियो की दूनें तिब्बत के चाङ प्रान्त मे पहुँचाती हैं जो ङरी के पूरब ब्रह्मपुत्र दून का नाम है और जिस मे से गुज़रने के कारण ब्रह्मपुत्र चाङपो कहलाता है। शिगर्चे उस की मुख्य बस्ती है।

( ५ ) सिकिम, भूटान, आसामोत्तर प्रदेश

काञ्चनजङ्घा के पूरब हिमालय का पानी गङ्गा के बजाय ब्रह्मपुत्र मे जाता है। तिस्ता की दूनो का प्रदेश जो नेपाल के ठीक पूरब लगा है

सिक्किम है। उसी के निचले छोर में दार्जिलिङ्ग—तिब्बतियों का दोर्जे-लिङ या वज्र-द्वीप—है। सिक्किम के पूरब भूटान—तिब्बतियों का डुग्युल[1] या बिजली का देश—है। उस में ब्रह्मपुत्र में मिलने वाली अनेक धारायें फैली हैं। उन में से तोरसा उर्फ अमो-छु[2], रइदाक उर्फ चिन छु, सङ्कोश और मनास गर्भ-शृङ्खला से निकली है, प्रत्युत मनास की एक धारा तो और ऊपर से। अमो छु की दून, जिसे चुम्बी दून कहते हैं, गर्भ-शृङ्खला की जड़ तक पहुँचती है। उस के ठीक दूसरी तरफ चाङपो की सहायक न्यङ नदी की दून है, जिसमें ग्याञ्चे शहर है। आजकल भारत से तिब्बत जाने का मुख्य रास्ता चुम्बी दून और न्यङ दून द्वारा ही है।

सङ्कोश की उपरली दून में भूटान की राजधानी पुनका है। मनास की सब से पूरबी धारा तोवाङ-छु भूटान के पूरब तोवाङ की दून से आती है। उस के प्रदेश को मोनयुल भी कहते हैं।

तोवाङ के पूरब चार छोटी छोटी जातियों के प्रदेश हैं, जिन्हें आसाम की उत्तरी सीमा पर रहने के कारण आसामोत्तर जातियाँ कहा जाता है। इन में से पहले अका या अङ्का और दूसरे दफला लोग हैं। दफला के पूरब सुबनसिरि नदी पर, जो हिमालय के पीछे से घूम कर आती है, मीरी लोग, और फिर उन के पूरब दिहोंग नदी के—अर्थात् ब्रह्मपुत्र के उत्तर-दक्खिन प्रवाह के—दोनों तटों पर अबोर लोग हैं; अबोर मीरी मिला कर एक जाति है। अबोर-मीरी के पूरब सदिया के उत्तर लोहित दून के पहाड़ों में मिश्मी लोग रहते हैं।

## § ६. उत्तरपूरबी सीमान्त

हम ने ब्रह्मपुत्र के दक्खिन मोड़ को हिमालय की पूरबी सीमा कहा था। किन्तु हिमालय की बड़ी शृङ्खला सुबनसिरी के पच्छिम ही टूट गयी है,

---

१. युल माने देश।

२. छु माने पानी।

यद्यपि अगले पहाडो को भी उस शृङ्खला का पूरबी बढ़ाव कहा जा सकता है। आसाम का मैदान ब्रह्मपुत्र के कुछ पूरब तक बढा हुआ है, और वह उत्तरपूरब तथा दक्खिन तरफ जिन पहाडो से घिरा है वे लोहित नदी के पूरब से दक्खिन घूमे है। प्राचीन भारतवासी लौहित्य को भारतवर्ष का पूरबी छोर मानते थे, उस के पूरब से हिमालय के पूरबी बढाव ने अपनी एक बाँह नामकिउ पर्वत के रूप मे दक्खिन-पच्छिम बढा दी है। पतकोई और नागा पहाड उसी का आगे बढाव सूचित करते है। भारतवर्ष की सीमान्त-रेखा उन का दामन पकडे हुए मणिपुर के पहाडो के कुछ अन्दर तक पहुँचती और वहाँ से लुशेई पहाडियो और चटगाँव की पहाडियो के आँचल के साथ समुद्र पर जा उतरती है। ब्रह्मपुत्र और सुरमा के काँठो को इरावती और चिन्दविन के काँठो से जो पर्वतशृङ्खला अलग करती है, उस के अन्दर वह विशेष नही घुसी, उस के पच्छिमी आँचल के ही साथ वह चली गई है। इसी कारण इस तरफ के सीमान्त पर कोई भारतीय पहाडी प्रदेश नही है, और चटगाँव, तिपुरा तथा मणिपुर के पहाडों मे यदि कुछ अश तक भारतीय भाषा और जनता ने प्रवेश किया है, तो उतने अंश तक उस पहाडी आँचल को आसाम या बङ्गाल का अंश माना जा सकता है। किन्तु खासी-जयन्तिया और गारो पहाडियो के रूप मे नागा पहाड की जो एक बाँह पच्छिम बढी दीखती है, वह सीमान्त के पर्वतों मे शामिल नही है। उस के और नागा पहाड के बीच उतार है, जहाँ कपिली और धनसिरी नदियो ने अपनी दूने काट रक्खी हैं।

उत्तरपूरबी सीमान्त के छोटे पहाडों को लाँघ कर परले हिन्द (Further India) की नदियो के काँठो मे जाने वाले कई प्राचीन प्रसिद्ध रास्ते हैं। बङ्गाल-आसाम के मैदान की तीन नोके सीमान्त के पहाडो के अन्दर बढ़ी हुई हैं, जिस कारण वे रास्ते स्पष्टत: तीन वर्गों मे बँटते हैं। एक चटगाँव से तट के साथ साथ आगे जाने वाले, दूसरे जो सुरमा-काँठे से मणिपुर लाँघ कर चिन्दविन काँठे मे निकलते हैं, और आगे पूरब या दक्खिन

तीसरे वे जो आसाम से पतकोई शृङ्खला के पच्छिम या पूरब छोर होते हुए चिन्द्विन या इरावती की उपरली दूनों में निकल कर वहाँ से दक्खिन या पूरब बढ़ते है। आसाम के पूरब तिब्बत के दक्खिनपूरबी छोर मे इरावती, साल्वीन, मेकोङ और लाल नदी ( सोङ कोई ) की उपरली दूनें एक दूसरे के बहुत ही नजदीक है, और उन्ही नदियो के निचले काँठों से बरमा, स्याम, कम्बुज और आनाम देश, अर्थात् समूचा परला हिन्द बना है। आसाम से आने वाला रास्ता इस प्रकार परले हिन्द की नदियों के रास्तो की उपरली जड़ को आ पकड़ता है।

## § ७. उत्तरपच्छिमी सीमान्त—अ. दरदिस्तान और बोलौर

हम ने गङ्गा के स्रोत वाली हिमालय को हिमरेखा को भारतवर्ष की उत्तरी सीमा कहा था। किन्तु पच्छिमी छोर पर भारत की सीमा उस हिमरेखा को लाँघ गयी है। हिमालय की सब से पच्छिमी चोटी नङ्गा पर्वत है। उस से दक्खिन-पूरब हिमालय की धार धार आते हुए दूसरी बड़ी चोटी नुनकुन से चालीस मील पहले एक बड़ा उतार है। वह उतार प्रसिद्ध ज़ोजी-ला अर्थात् ज़ोजी घाटा[1] है। उस के पच्छिम भारत की उत्तरी सीमा हिमालय के साथ नहीं जाती। उसी ज़ोजी-ला पर गर्भशृङ्खला से वह हरमुक शृङ्खला फूटी है जो कश्मीर की उत्तरी सीमा है। हम देख चुके हैं कि हरमुक और गर्भशृङ्खला के बीच दरद-देश की बस्तियाँ है, और वे बस्तियाँ गर्भ-शृङ्खला के उस पार सिन्ध दून मे और सिन्ध पार गिल्गित और हुञ्जा की दूनो मे भी हैं।

दरदिस्तान की दक्खिन-पूरबी और तिब्बत की दक्खिन-पच्छिमी नोके भी ज़ोजी-ला पर ही मिलती हैं। वहाँ से दरद देश की सीमान्त-रेखा आजकल

---

1. तिब्बती शब्द ला का अर्थ है घाटा या जोत।

खलचे तक उत्तर-पूरब जा कर सिन्ध और शिओक के बीच लदाख शृङ्खला के साथ पच्छिम घूम जाती है। उस के उत्तर, लदाख और कैलाश शृङ्खलाओं के बीच, बोलौर या बाल्तिस्तान—कश्मीरियों का लुख बुटुन—छोटा तिब्बत—है। उस के दक्खिन से पच्छिम घेरा करते हुए वह सीमान्त-रेखा बुञ्जी किले के सामने उत्तरमुख हो, लदाख शृङ्खला और सिन्ध को पार कर, कैलाश शृङ्खला के पच्छिमी छोर से हुञ्जा दून के ऊपर चढते हुए कारकोरम शृखला का पच्छिमी आँचल काट कर तागदुम्बाश पामीर को जा छूती है। बोलौर मे तिब्बती लोग आठवीं शताब्दी ई० के शुरू मे आये थे, उस से पहले वह प्रदेश भारतीय था। और तब भारतवर्ष की सीमान्त-रेखा जोजी-ला से सिन्ध दून तक जा कर आगे शायद आजकल सा चक्करदार रास्ता न बनाती, प्रत्युत सीधे उत्तर शिओक की दून से कारकोरम जोत पार कर रस्कम दरिया (सीता नदी) की दून होती हुई तागदुम्बाश पामीर को जा लगती थी[1]।

दरदिस्तान इस प्रकार कश्मीर का पामीर से जोड़ देता है। तागदुम्बाश पामीर पर मुज्ताग़ की पच्छिमी जड है और वहीं हिन्दूकुश की पूरबी जड़ भी। वहीं से सरीकोल पर्वत उत्तर तरफ चला गया है। दरदिस्तान की पच्छिमी बस्तियाँ—गिल्गित, यासीन, मस्तूच आदि—हिन्दूकुश के ठीक नीचे तक पहुँची है।

## ३. पच्छिम गान्धार और कपिश

हम देख चुके है कि जेहलम और सिन्ध नदियों के बीच दरद देश के नीचे हजारा या उरशा प्रदेश है। सिन्ध के पच्छिम स्वात (सुवास्तु), पञ्जकोरा

---

१. इस बात की पूरी विवेचना मैंने रघुज लाइन ऑव कौन्क्वेस्ट, तथा भारतभूमि पृ० १२२-२३ और परिशिष्ट १(२-३) में की है।

(गौरी) और कुनार नदियाँ उस के करीब समानान्तर बह कर काबुल (कुभा) मे मिलती है। सिन्ध-स्वात-दोआब का निचला अंश यूसुफजई तथा उपरला बुनेर है, बुनेर के पच्छिम पञ्जकोरा-स्वात का दोआब स्वात कहलाता है। फिर पञ्जकोरा-स्वात और कुनार के बीच के दोआब का निचला अंश बाजौर तथा उपरला दीर है। इन सब को मिला कर पञ्जाबी लोग यागिस्तान अर्थात् अराजक देश कहते है। वही प्राचीन पच्छिम गान्धार देश है, जिस की राजधानी पुष्करावती के खँडहर अब स्वात-काबुल-सङ्गम पर प्रांग और चारसद्दा की बस्तियो मे हैं। स्वात नदी की दून ही प्राचीन उड्डीयान प्रदेश थी जो पच्छिम गान्धार का एक जिला था।

बुनेर, स्वात और दीर के ऊपर सिन्ध, स्वात और पञ्जकोरा तीनों की दूने कोहिस्तान[1] कहलाती है। कुनार नदी ऊपर चितराल या काष्कार तथा और ऊपर दरद्-देश मे यारखूं कहलाती है। उस के स्रोत तागदुम्बाश पामीर के करीब ही है। कोहिस्तान के पच्छिम हिन्दूकुश के चरणो मे सटी हुई उस की दून चितराल या काष्कार[2] ही कहलाती है। उस दून के सामने हिन्दूकुश पार करने के लिए प्रसिद्ध दोरा जोत है।

दोरा से हिन्दूकुश की धार धार पच्छिम-दक्खिन चलते जायँ तो आगे प्रसिद्ध खावक घाटा आता है जिस के नीचे पञ्जशीर नदी उतरी है। खावक और दोरा के बीच हिन्दूकुश के चरणो का काबुल नदी तक का प्रदेश

---

१. कोहिस्तान का साधारण अर्थ है पहाड़ी देश। काबुल शहर के उत्तर-पच्छिम भी एक कोहिस्तान है, और सिन्धी लोग अपने खीरथर-प्रदेश को भी कोहिस्तान कह डालते हैं।

२. रघुज़ लाइन ऑव कौन्केस्ट तथा भारतभूमि परिशिष्ट १ (८) में मैंने यह सम्भावना दिखलायी है कि वही प्राचीन कारस्कर देश है।

काफिरिस्तान ( कपिश देश ) है। गान्धार और उस के बीच सीमा कुनार नदी है। कुनार से काफी दूर पच्छिम अलीशांग नाम की छोटी सी धारा है, जिस के काबुल के साथ संगम का प्रदेश लम्गान ( लम्पाक ) है। वह कपिश का दक्खिन-पच्छिमी छोर है। कपिश के पच्छिम और दक्खिन ठेठ अफगानिस्तान है।

## ७. बलख, बदख्शां, पामीर, उपरला हिन्द

दरदिस्तान, काष्कार और काफिरिस्तान का उत्तरी ढासना हिन्दूकुश-शृङ्खला से बना है। उस शृङ्खला की मुख्य रीढ़ तागदुम्बाश पामीर से पच्छिम-दक्खिन मुँह किये काबुल शहर के पच्छिम बामियाँ दून तक चली गयी है। उसके आगे कोहे बाबा और बन्दे-बाबा[1] नाम की शृङ्खलाओं ने ऊँचे पहाड़ों की उस परम्परा को हेरात तक पहुँचा दिया है। पामीर से हेरात तक मानों एक ही शृङ्खला है। वही प्राचीन ईरानियों का उपरिशएन—श्येन की उड़ान से भी ऊँचा—पहाड है।

उस शृङ्खला के उत्तर तरफ, पूरब से पच्छिम, क्रम से पामीर, बदख्शा और बलख प्रदेश हैं। हम देख चुके है कि हिन्दूकुश और मुज़ताग़ के जोड के करीब से सरीकोल पर्वत सीधे उत्तर चला गया है। चीनी बौद्ध यात्रियो ने सरीकोल का जो नाम लिखा है, वह सस्कृत कबन्ध का रूपान्तर जान पड़ता है[2]। उसके बराबर पूरब पूरब कन्दर या काशगर शृङ्खला है। वह दुहरी शृङ्खला पामीरो की धुरी है, उस के दोनो तरफ पामीर फैले हैं। उस के पच्छिम आमू नदी की, और पूरब यारकन्द काशगर नदियो की अनेक धाराये उतरती हैं। पामीर का अर्थ किया जाता है—पा-ए-मीर—पर्वतों के

---

१. बन्द माने पर्वतशृङ्खला।

२. वैटर्स—युआन् च्वाङ् २, पृ० २८५-८७।

चरण; वे उन्हीं नदियो की लम्बी दूनें हैं जो सरीकोल की रीढ़ से चक्करदार ढालो मे घूमती हुई नीचे चली जाती है।

सरीकोल के पूरब-दक्खिन यारकन्द दरिया ( सीता नदी ) में मिलने वाली कारचुकुर नदी की दून ही ताग़दुम्बाश पामीर है। हिन्दूकुश, सरीकोल और मुज्ताग़ जैसे उस पर मिलते है, वैसे ही अफगानिस्तान, रूस और चीन राज्यो की सीमाये भी। आजकल उस पर चीन और हुञ्ज़ा-राज्य दोनो का दावा है। उस के और हुञ्ज़ा-दून के बीच केवल किलिक जोत है जो साल भर खुली रहती है।

ताग़दुम्बाश पामीर के पच्छिम वखजीर जोत उसे आबे-वर्खां की दून पामीरे-वर्खां से मिलाती है। पामीरे-वर्खाँ हिन्दूकुश के ठीक उत्तर सटा हुआ है। आमू दरिया का सस्कृत नाम वंक्षु था, और उस की यह धारा तथा उस के उद्गम का प्रदेश अब तक वर्खां कहलाता है। वह अब अफग़ान राज्य मे है। उस के उत्तर छोटा पामीर भी अफगान सीमा मे है। छोटे पामीर के उत्तर बड़ा पामीर है जिस मे आमू की दूसरी धारा आबे-पञ्जा के रास्ते मे ज़ोर-कुल[1]—विक्टोरिया—झील बन गयी है। उस के उत्तर अलीचूर, ग्रुन्द, सरेज़, रङ्गकुल और कारकुल या खरगोश पामीर रूस की सत्ता मे हैं। सरेज़ पामीर आमू की एक और बड़ी शाखा मुर्गाब या अक्सू की दून है। रङ्गकुल झील जिस के नाम से रङ्गकुल पामीर का नाम पड़ा है, पुराने बौद्ध यात्रियों का नागह्रद[2] है।

पामीरों के पठार के पच्छिम बदख़्शां, और उस के पच्छिम बलख प्रदेश है। पच्छिमी पामीर, बदख़्शां और बलख तीनो का दक्खिनी ढासना हिन्दूकुश-बन्दे बाबा है, और तीनो आमू की धाराओं के प्रदेश हैं।

---

१. कुल माने झील।

२. वैटर्स—युआन् च्वाङ २, पृ० २८४।

आबे-पञ्जा को आजकल आमू की मुख्य धारा माना जाता है। उस ने पामीरो से निकल कर जो बडा उत्तरी घेरा किया है, वह पामीर और बदख्शा के बीच सीमा है। बदख्शा उस घेरे के अन्दर है। वह हिन्दूकुश के उत्तरी ढाल का पठार है। कुन्दूज़ नदी उस की पच्छिमी सीमा है। बदख्शां के दृश्य भी बिलकुल पामीरो के से हैं। वे दोनों प्रदेश प्राचीन तुखार देश या तुखारिस्तान के मुख्य अङ्ग थे। हम देखेंगे कि उन्हीं का पुराना नाम कम्बोज देश था[1]।

अक्सू नदी या अक्साब आबे पञ्जा में उस के उत्तरी मोड़ के उत्तरी छोर से कुछ ही पहले मिली है। उस मोड के कुछ ही आगे वख़ या वख़ाब नाम की एक और धारा आमू मे मिलती है। फिर उस मोड के पास से अर्थात् पामीर पठार के उत्तरपच्छिमी छोर से सीधे पच्छिम बोखारा प्रान्त की तरफ ज़रफ़्शां पर्वत-शृङ्खला बढ़ी हुई है, और ज़रफ़्शा—बाबर के समय की कोहिक—नदी उस के चरणों के धोवन को और आगे जा कर आमू मे मिलाती है। ज़रफ़्शां-शृङ्खला और बदख्शा पठार के बीच आमू को अपना खादर फैलाने के लिए बडी तङ्ग जगह मिली है।

बदख्शां के पच्छिम और ठेठ अफगानिस्तान के उत्तर बलख (वाह्लीक) प्रदेश है। उस के रास्ते बन्दे-बाबा के उत्तरी चरणो से आमू का मैदान काफी दूर है, और उन के बीच छोटी पर्वत-शृङ्खलाये उस केन्द्रिक शृङ्खला की निचली सीढ़ियो की तरह आ गयी हैं। बन्दे बाबा के लगभग समानान्तर पूरबी हिस्से मे कोहे-चङ्गड और पच्छिमी हिस्से मे बन्दे-तुर्किस्तान नाम की शृङ्खलाये हैं जिन के पच्छिमी अञ्चल को मुर्गाब धोता है। इन समानान्तर शृङ्खलाओं के बीच एक ढलता अन्त.प्रवण—अर्थात् दोनों छोर से ऊँचा, बीच मे नीचा—पठार बन गया है। कोहे-चङ्गड़ के उत्तर फिर वैसा ही एक और नीचा पठार है जिस का उत्तरी छोर एलबुर्ज पहाड़ी है।

---

१. दे० नीचे ❈ १७।

उन पहाड़ों के नीचे ताशकुर्गान और बलख नदियाँ आमू के खादर को सूचित करती है। बन्दे-तुर्किस्तान के उत्तर चोल इलाके की रेतीली टिब्बियाँ हैं, और फिर आमू का खुला मैदान।

उधर, सरीकोल पर्वत के पूरब का पामीरो का सब पानी तारीम नदी मे जाता है। उत्तरी पामीर से पूरब तरफ काशगर की धारा अपना पानी उस मे ले जाती है, और दक्खिन से रस्कम या यारकन्द (सीता) नदी कारकोरम का धोवन भी उसी मे ला मिलाती है। वह नदी जिस विस्तृत देश में से बहती है उसे हम लोग आजकल चीनी तुर्किस्तान तथा चीनी लोग सिम् कियाग् कहते है। किन्तु तुर्किस्तान मे प्राचीन युगो मे तुर्क लोग नहीं रहते थे, वह पाँचवीं शताब्दी ई० से तुर्किस्तान बना है। और सिम् कियांग् से इतने भारतीय अवशेष मिले हैं कि विद्वान् लोग दूसरी शताब्दी ई० पू० से दसवी शताब्दी ई० तक के लिए उसे उपरला हिन्द[1] पुकारते है। इसीलिए उस का यहाँ दिग्दर्शन आवश्यक है। उस के दक्खिन क्युनलुन पर्वत उसे तिब्बत से अलग करता है, उस के उत्तर थियानशान अथवा 'देवताओ के पर्वत' की परम्परा चली गई है। वह तिब्बत और पामीर दोनों के बीच किन्तु दोनों से नीचा एक पठार है, समुद्र-सतह से उस की ऊँचाई प्रायः २-३ हजार फ़ुट है, किन्तु थियानशान के उत्तर और पच्छिम के मैदानों से वह फिर भी बहुत ऊँचा है।

तारीम नदी पूरब तरफ तारीम या लोपनौर[2] नाम की एक झील में जा मिलती है। कभी उस नदी का पानी झील मे बहता है, और कभी झील का नदी मे; चारो तरफ़ ऊँचे प्रदेश होने से वह बाहर नही निकल पाता। तारीम के उत्तर, थियानशान के ढाल में, पच्छिम से पूरब आक्सू, कूचा, तुरफ़ान आदि बस्तियाँ हैं; तारीम के दक्खिन, उस के और क्युनलुन के बीच,

---

१. सरिन्दिया, Serindia

२. नौर् माने झील।

यारकन्द के पूरब से तकला मकान नाम की विस्तृत मरुभूमि फैली है। क्युनलुन और अल्तिन-ताग पर्वतों के उत्तर तरफ खोतन, केरिया, नीया, चर्चन आदि नदियाँ जो पानी ले जाती है, उस का बहुत सा अंश वही सोख लेता है। यारकन्द, खोतन आदि बस्तियाँ उस के दक्खिनी अञ्चल के साथ साथ बसी हुई है। तारीम के उत्तर और दक्खिन की बस्तियो से हो कर आने वाले रास्ते पूरब तरफ चीन की उत्तरपच्छिमी सीमा के कानसू प्रान्त में तुएन होआंग शहर पर, तथा पच्छिम तरफ़ पीमारो के पूरब काशगर पर, परस्पर जा मिलते है। खोतन से कारकोरम जोत द्वारा, अथवा यारकन्द से तागदुम्बाश पामीर द्वारा, सीधे दरद्-देश को भी पहुँच सकते हैं।

## ऋ. अफ़ग़ानिस्तान

हम देख चुके हैं कि हिन्दूकुश पर्वत तागदुम्बाश पामीर से पच्छिम-दक्खिन बामियाँ दून तक चला गया है, और आगे उसी दिशा मे बन्दे-बाबा। पामीर, बदख्शा और बलख उस शृङ्खला के उत्तर हैं, अफगानिस्तान दक्खिन। बामियाँ दून पर जहाँ हिन्दूकुश और कोहे-बाबा के कन्धे जुडते है, वहाँ एक भारी केन्द्रिक जलविभाजक है। काबुल नदी उस के पूरब, हरीरूद[1] पच्छिम, हेलमन्द दक्खिन और कुन्दूज़ उत्तर उतरी है। उन सब नदियो की उपरली दूने अफगानिस्तान का केन्द्र है।

वहाँ से पच्छिमी छोर तक अफगानिस्तान की केन्द्रिक पर्वत-शृङ्खला ने अपनी अनेक लम्बी बाहियाँ दक्खिन-पच्छिम बढ़ा दी हैं, जो हेलमन्द की विभिन्न धाराओ की दूनो को एक दूसरे से और फरारूद की दून से अलग करती हैं। कन्दहार और क्वेटा के बीच की ख्वाजा-अमरान शृङ्खला भी उन्हीं बाहियों की दिशा मे है।

अफ़गानिस्तान मे उस केन्द्रिक पर्वत-शृङ्खला से दूसरे दर्जे का पहाड़ सफेद कोह है। उस ने भी अपने पच्छिमी छोर से दो बाहियाँ दक्खिन-पच्छिम बढायी है, जिन मे से दूसरी लम्बी बाहाँ हेलमन्द और सिन्ध के बीच

१. रूद माने नदी।

जलविभाजक है। सफेद कोह और उसकी बाहिँयाँ उक्त केन्द्रिक शृङ्खला और उस की बाहिँयो के घेरे के अन्दर है, उसी प्रकार सुलेमान पहाड़ सफ़ेद कोह और उस की बाहों के घेरे मे।

सुलेमान शृंखला की गिनती मर्यादा-पर्वतो अर्थात् सीमान्त के पहाड़ों मे किसी प्रकार नही की जा सकती। ठीक ठीक कहे तो सफेद कोह भी मर्यादा-पर्वत नहीं है। वे दोनो केवल सीमान्त प्रदेशो के पहाड़ हैं। सुलेमान के पीठ पीछे बराबर शीनग़र शृंखला चली गयी है और उस के पीछे फिर टोबा और काकड़ शृंखला। उस तिहरी दीवार को बीचोबीच काट या घेर कर अनेक पच्छिमी धाराये सिन्ध नदी मे अपना पानी लाती है। सुलेमान और शीनग़र शृङ्खलाये दूर तक दक्खिन जाने के बाद अन्त मे जरा पच्छिम और उत्तर लहरा कर घूम गयी है। टोबा-काकड-शृङ्खला का रुख़ शुरू से ज़रा दक्खिन लहर के साथ पच्छिम है। उस का पच्छिमी छोर ख़्वाजा अमरान को करीब जा छूता है। ख़्वाजा अमरान के खोजक घाटे से सुलेमान-शीनग़र के अन्तिम मोड़ के सामने बोलान दर्रे तक जो रास्ता गया है वह अफ़ग़ानिस्तान की दक्खिनी सीमा को सूचित करता है।

उस सीमा के उत्तर तरफ़ सफेद कोह के उत्तरी किनारे तक और उत्तर-पच्छिम तरफ हरीरूद की दून तक उँचा तिकोना पहाड़ी पठार असल अफ़ग़ानिस्तान है। भूगोल और इतिहास की दृष्टि से वह भारतवर्ष का स्वाभाविक अङ्ग है। उस के पूरबी अश का सब पानी सिन्ध नदी मे जाता है। उस का पच्छिमी अंश हेलमन्द, फ़रारूद और हरीरूद की दूनों से बना है। किन्तु जहाँ इन दूनों के आगे वे नदियाँ खुले मे निकल आयी हैं, वे प्रदेश ठेठ अफ़ग़ानिस्तान मे नहीं हैं। कंदहार से हेरात तक पहाडो के चरणो के नीचे नीचे जो रास्ता गया है उसे अफ़गानिस्तान की पच्छिमी सीमा कहना चाहिए। उस के नीचे सीस्तान प्रदेश ठेठ अफ़ग़ानिस्तान और भारतवर्ष का अंश नही है, और हेरात के प्रदेश को भी फ़ारिस का ही हिस्सा मानना चाहिए। बन्दे-बाबा के उत्तरी ढाल का प्रदेश जो उस के और बन्दे-तुर्किस्तान के बीच है, फ़ीरोज़कोही

या कर्जिस्तान कहलाता है, और उस से अफगान लोग अपना पुराना सम्बन्ध मानते हैं।

इधर काबुल नदी काफिरिस्तान और ठेठ अफ़गानिस्तान के बीच बहुत कुछ सीमा का काम करती है। लमगान के दक्खिन, उस नदी और सफेद कोह के बीच, जलालाबाद के चौगिर्द निंग्रहार ( नगरहार ) की प्रसिद्ध दून है। जनता, भाषा और इतिहास की दृष्टि से उस का भी कपिश और पच्छिम गान्धार से अधिक सम्बन्ध है।

किन्तु काबुल नदी का उपरला पानी निश्चय से अफगान-देश का है। वह नदी काबुल शहर के पच्छिम सङ्गलख पहाड से, जो अफग़ानिस्तान के केन्द्रिक जलविभाजक का पूरबी छोर है, निकलती है। उस मे उत्तर से सब से पहले मिलने वाली धारा पञ्जशीर है जो चरीकर के उत्तर पच्छिम-पूरब से आने वाली दो धाराओ—घोरबन्द और पञ्जशीर—के सङ्गम से बनती है। वे दोनों धाराये हिन्दूकुश के ठीक चरणो को धोती आती हैं—पञ्जशीर का उद्गम खावक घाटे के पास और घोरबन्द का बामियाँ के नज़दीक है। बामियाँ सुर्खाब की एक धारा है, और सुर्खाब तथा अन्द्राब ये दो धाराये घोरबन्द तथा पञ्जशीर के ठीक बराबर हिन्दूकुश के उत्तरो चरणो को धोते हुए परस्पर मिल कर कुन्दूज़ मे उसी तरह जा मिलती हैं जैसे पञ्जशीर काबुल मे। स्पष्ट है कि उत्तर तरफ से अफगानिस्तान मे आने वाले रास्ते सुर्खाब अन्द्राब की दूनों से हिन्दूकुश पर चढ़ कर काबुल, घोरबन्द या पञ्जशीर की दूनो में उतरते हैं। अन्द्राब-सुर्खाब और पञ्जशीर-घोरबन्द के बीच सुप्रसिद्ध खावक, काओशाँ ओर चहारदर जोत हैं। बामियाँ और घोरबन्द के बीच केवल शिबर घाटा है। और बामियाँ तथा काबुल के स्रोतो के बोच अफगानिस्तान के केन्द्रिक जलविभाजक को ईराक़ और ऊनाई, जोतों द्वारा लाँघा जाता है। इस प्रकार घोरबन्द और पञ्जशीर दूनें, तथा उन के और काबुल नदी के बीच का दोआब मानों अफ़ग़ानिस्तान की गर्दन है। जनता की दृष्टि से भी वे उसी के अन्तर्गत

है, यद्यपि यह सम्भव है कि पुराने इतिहास मे वे कई बार कपिश देश मे रही हों।

## लृ. कलात और लास-बेला

ख्वाजा अमरान और दर्रा बोलान के दक्खिन कलात की अधित्यका है जिस के दक्खिन से खीरथर और हालार शृङ्खलाये समुद्र की तरफ बढ़ी हुई है । उन शृङ्खलाओं के बीच और कलात अधित्यका के नीचे हाब, पुराली और हिङ्गोल नदियाँ सीधे उत्तर से दक्खिन अपनी दूने बिछाये हैं, जिन के मुहानों पर थोड़ा मैदान भी बन गया है। खीरथर शृङ्खला की सीधी बियाबान दीवार मे चार सौ मील तक एकमात्र नाम लेने लायक दर्रा मूला नदी का काटा हुआ है, जो पिछले इतिहास मे विशेष प्रसिद्ध रहा है ।

आजकल ये प्रदेश ब्रिटिश भारत के बलोचिस्तान प्रान्त मे है। वह प्रान्त एक बनावटी रचना है और उस का नाम एक भ्रमजनक नाम । उस का उत्तरपूरबी हिस्सा—कोटा, झोब, लोरालाई—भौगोलिक दृष्टि से और जनता की दृष्टि से अफ़ग़ानिस्तान के पठार का अङ्ग है। उस के दक्खिनी भाग का पच्छिमी अंश असल मे बलोचिस्तान है, पर वह समूचा बलोचिस्तान नहीं, क्योंकि बलोचिस्तान या बलोच-देश का मुख्य अश फारिस राज्य मे है। बलोच लोग उस प्रदेश में भी कुर्दिस्तान से ग्यारहवी शताब्दी मे आये कहे जाते है । सोलहवीं शताब्दी ई० मे वे वहाँ से भारतोय सीमा के अन्दर घुसने लगे, और कलात अधित्यका तथा उस के दक्खिन हिङ्गोल , पुराली और हाब नदियो के काँठो को लाँघते हुए सिन्ध और पञ्जब के सोमान्तो पर भी जा बसे। उन की जो बस्तियाँ उन प्रान्तो की सीमा पर, विशेष कर सिन्ध के मैदान के उत्तरी बढ़ाव कच्छी गन्दावऽ मे हैं, उन के विषय मे हम आगे[1]

---

१. नीचे § १० उ (१)।

विचार करेंगे। किन्तु कलात और उस के दक्खिन की नदियों के काँठे बलोचों के प्रवेश के बावजूद भी जनता की दृष्टि से अभी तक भारतीय हैं। इसलिए उन के पच्छिम का असल बलोचिस्तान जहाँ भारतवर्ष का भाग नहीं है, वहाँ कलात और उस के दक्खिन की नदियों के प्रदेश भारतवर्ष के परम्परागत अङ्ग हैं। हाब, पुराली और हिङ्गोल नदियाँ खीरथर के पच्छिम क्रम से समुद्र मे गिरती हैं। पुराली के काँठे मे बेला शहर है जो इस प्रदेश—लास बेला—की प्रधान बस्ती है। हिङ्गोल नदी के पच्छिम तट पर प्राचीन हिंगुलाज तीर्थ है[1]।

इस प्रदेश मे भारतवर्ष की सीमान्त रेखा ख्वाजा अमरान से कलात अधित्यका के पच्छिमी छोर होती हुई हिङ्गोल दून के साथ रास ( अन्तरीप ) मलान पर समुद्र से आ लगती है।

चटगाँव की पहाडियो और लोहित नदी से आमू, हेलमन्द और हिंगोल तक भारतवर्ष की सीमान्त-रेखा यहाँ जिस प्रकार अंकित की गई है, वह हूबहू वही है जो महाकवि कालिदास ने रघु की दिग्विजय-यात्रा के बहाने बतलाई है[2]।

---

१ हिंगुलाज तीर्थ के विषय में दे० देवीभागवत पु० ७, ३८, ६; तथा ब्रह्मवैवर्त्त पु०, कृष्णजन्म खण्ड ७६, २१। अब भी कराची से ऊँटों पर चढ़ कर हिन्दू तीर्थयात्री वहाँ जाते हैं।

२ किन्तु यह बात उल्लेखयोग्य है कि इस प्रकरण-सम्बन्धी अध्ययन और खोज के पूरा होने और इस के अन्तिम परिणामों पर पहुँचने के पहले तक मुझे कालिदास के आदर्श का स्वप्न में भी पता न था। मैं इन परिणामो पर सर्वथा स्वतन्त्र रूप से आधुनिक भूगोल, भाषाविज्ञान, जनविज्ञान और इतिहास के सहारे ही पहुँचा था। कालिदास का आदर्श तो उलटा उस के बाद प्रकट हुआ। रूपरेखा का प्राचीन काल एक बार पूरा लिख चुकने पर और दूसरी बार उसे दोहराते समय मुझे पहले पहल यह सूझा कि उस की संक्षिप्त भूमिका को कुछ

## § ८. भारतीय समुद्र

हम देख चुके हैं कि समूचे जगत् में पहले-पहल सभ्यता का उदय नील नदी के तट पर, दजला-फरात के काँठो मे, गंगा सरस्वती और सिन्ध के मैदान मे तथा होआङ्-हो और याङ्च्े-क्याङ की भूमि में हुआ था। हज़ारों बरसो तक यही प्रदेश संसार की सभ्यता के मुख्य क्षेत्र रहे हैं। भारतीय समुद्र इन सब क्षेत्रों के ठीक बीच तथा इन के पारस्परिक रास्ते में पड़ता है। भूमण्डल की पुरानी दुनिया की दृष्टि से अमरीका महाद्वीप तो नई दुनिया है, दक्खिनपच्छिमी अफरीका और आस्ट्रेलिया से भी पुरानी दुनिया का सम्पर्क बहुत नया है। जिन महादेशो को हम आजकल एशिया और युरोप कहते है, उन को मिला कर जो विशाल महाद्वीप बनता है, उस का उत्तरी भाग—साइबीरिया तथा उत्तरी रूस आदि—भी सर्दी की बहुतायत के

---

बढ़ाने तथा उस में भारतवर्ष की भूमि और जातियों की, विशेष कर जातीय भूमियों की, स्पष्ट विवेचना करने की ज़रूरत है। वैसा करते समय मुझे यह जानने की इच्छा हुई कि उत्तरपच्छिमी सीमान्त की ग़लचा भाषाओं का पड़ोस की भारतीय भाषाओं से क्या सम्बन्ध है—तब तक मै उन्हें भारतवर्ष के स्वाभाविक क्षेत्र से बाहर समझता था। तभी मुझे यह सूझ पड़ा कि उन का क्षेत्र कहीं प्राचीन कम्बोज देश तो नहीं, और खोज करने पर वह अटकल ठीक निकली। कम्बोज की पहचान ने रघु के उत्तर-दिग्विजय के मार्ग को प्रकाशित किया, और तब यह देख कर मुझे अचरज और हर्ष हुआ कि महाकवि कालिदास का और मेरा भारतवर्ष का सीमाकन बिलकुल एक है। इस विषय पर पहले रूपरेखा के लिए एक टिप्पणी लिखी गई थी, पर बाद में वह विषय रघुज़ लाइन ऑव कौन्क्वेस्ट तथा भारतभूमि परिशिष्ट १ (१-४) के लिए अलग लिख दिया गया, जिस से रूपरेखा में अब उस टिप्पणी की आवश्यकता नही रही। कालिदास के समय भारतवर्ष की जो सीमायें मानी जाती थी, आज भी वही स्वाभाविक प्रतीत होती हैं, इस से भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता की स्थिरता सूचित होती है।

कारण अभी तक बहुत कम आबाद है। उस का दक्खिनी हिस्सा, अफ़रीका का उत्तरी और पूरबी तट तथा उन के पडोस के द्वीप ही पुरानी दुनिया को सब से पुरानी घनी आबाद भूमियाँ हैं। भारतीय समुद्र उन भूमियो के प्राय ठीक मध्य मे पड़ता है। इस प्रकार की स्थिति के कारण ससार के इतिहास मे भारतीय समुद्र का बहुत बडा गौरव रहा है। उस के रास्तों और व्यापार के इतिहास मे ससार के इतिहास का बहुत कुछ दिग्दर्शन हो जाता है।

भारतवासियो के जीवन और इतिहास के साथ उस का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, सो हम आगे देखेगे।

## § ९. प्राचीन पॉच "स्थल"।

ऊपर हम ने चार बड़े विभागो मे भारतवर्ष का सक्षिप्त वर्णन किया है। वे विभाग खालिस भौगोलिक दृष्टि से है। एक और प्रकार की विभाग-शैली हमारे देश मे पुराने समय से चली आती है। भारतवर्ष की जनता और इतिहास की प्रवृत्तियो को समझने के लिए वह शैली बडे काम की है।

उस के अनुसार भारतवर्ष मे पॉच स्थल थे[१]। अम्बाला के उत्तरपूरब साधौरा के पास सरसुती (सरस्वती) नदी हिमालय से उतरती है, और थानेसर होती हुई घग्घर (दृषद्वती) मे मिल कर सिरसा तक पहुँचने के बाद मरूभूमि मे गुम हो जाती है। दृषद्वती-सरस्वती के उस काँठे से कम से कम प्रयागराज तक प्राचीन भारत का मध्यदेश था। बौद्ध धर्म की आचार-पद्धति (विनय) के अनुसार आजकल का बिहार भी मध्यदेश का अश—बल्कि मुख्य अश—है, और उस की पूरबी सीमा कजगल कस्बा (संथाल परगना का काकजोल) तथा सलिलवती नदी (आधुनिक सलई[२]) है जो

---

१ विशेष विवेचना के लिए दे० ※ १।

२ महावग्ग, चम्मक्खन्धक (५)। कजगल की काकजोल से शिनाख्त, अरसा हुआ, डा० राइज़ डैविड्स ने की थी। सलिलवती = सलई शिनाख्त का श्रेय मेरे मित्र भिक्खु राहुल साकृत्यायन त्रिपिटकाचार्य को है।

झाड़खण्ड के पहाड़ो से मेदिनीपुर की तरफ बहती है। नेपाली लोग इस मध्यदेश के निवासियों को आज भी मदेसिया या मधेसिया कहते हैं, और उन के मदेसियो मे बिहार के लोग भी निश्चय से शामिल है। मध्यदेश की दक्खिनी सीमा प्रायः पारियात्र या विन्ध्याचल माना जाता था। उस मध्यदेश के पूरब, दक्खिन, पच्छिम और उत्तर के स्थल क्रमशः प्राची, दक्षिणापथ, अपरान्त या पश्चिम देश, और उत्तरापथ कहलाते थे।

जब प्रयाग तक मध्यदेश माना जाता तब काशी, मिथिला (उत्तर बिहार), मगध (दक्खिनीबिहार) और उस के पूरबी छोर पर का अंग देश (आधु० भागलपुर जिला), तथा उस के साथ बगाल, आसाम, उड़ीसा के सब प्रदेश पूरब (प्राची) में गिने जाते। अब भी पच्छिमी बिहार की भोजपुरी बोली की एक शाखा जो उस के सब से पच्छिमी हिस्से मे बोली जाती है, पूरबी कहलाती है। पच्छिम वालों के लिए वही ठेठ पूरब है। वे उस इलाके के लोगों को पूरबिया कहते है, जब कि और पूरब—बंगाल—के रहने वालो को बगाली। ठेठ नेपाल (काठमाण्डू-दून) की भी कामरूप (आसाम) के साथ साथ पूरबी देशो मे ही गिनती होती। दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) कभी पूरब में और कभी दक्खिन (दक्षिणापथ) में गिना जाता।

आड़ावळा और सह्याद्रि को एक रेखा मान लें, तो उस रेखा के पच्छिम के प्रदेश, अर्थात् मारवाड़, सिन्ध, गुजरात और कोंकण, अपरान्त या पच्छिमी आँचल मे गिने जाते। वैसे मध्यदेश और पच्छिम की ठीक सीमा देवसभ थी, किन्तु वह कौन सी जगह थी उस का पता आज हमे नहीं है। बहुत सम्भव है कि वह सरस्वती के विनशन या अदर्श (गुम होने की जगह) की देशान्तर-रेखा में कोई जगह रही हो। और सरस्वती नदी के तट पर पृथूदक नगर (कर्नाल ज़िले के पिहोवा) से 'उत्तर' तरफ के प्रदेश उत्तरापथ मे सम्मिलित थे। पिहोवा लगभग ठीक ३० उ० अक्षांश-रेखा पर है, इसलिए पृथूदक से उत्तर का अर्थ करना चाहिए ३० उ० अक्षांश-रेखा से

उत्तर। इस प्रकार उस रेखा से उत्तर के वे प्रदेश जो देवसभ की देशान्तर रेखा के पच्छिम भी थे, उत्तरापथ मे ही गिने जाते। पजाब, कश्मीर, काबुल, बलख, सब उत्तरापथ मे शामिल होते। दर्रा बोलोन पिहोवा की अक्षाश-रेखा के तनिक ही दक्खिन है, इसलिए उस के उत्तर अफगानिस्तान उत्तरापथ मे था, और उस के दक्खिन कलात प्रदेश पच्छिम मे।

मध्यदेश, पूरब और दक्खिन की सीमाओ पर एक जंगली प्रदेश की मेखला थी जो आज भी बहुत कुछ बची हुई है। वह मगह की दक्खिनी पहाडियो से शुरू हो कर मध्य गोदावरी के आचल मे बस्तर तक फैली है। पूरबी घाट का धोवन गोदावरी मे लाने वाली शबरी और इन्द्रावती नदियो के बीच का दोआब बस्तर का जगली प्रदेश है। उस के पच्छिम वेणगगा के काँठे मे आधुनिक महाराष्ट्र के चान्दा, नागपुर और भाण्डारा ज़िले है। प्राचीन काल मे वे भी जगली प्रदेश के अंश थे। छत्तीसगढ़ के द्वारा ये गोदावरी-तट के जगल-प्रदेश झाड़खण्ड या छोटा नागपुर के जगलो से जा मिलते और उस लम्बी बन-मेखला को बना देते हैं जो बिहार, उडीसा, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र और आन्ध्र ( तेलंगण ) की सीमाओ पर अब तक बनी हुई है।

विन्ध्याचल के पच्छिमी छोर पर अर्थात् मध्यदेश अपरान्त और दक्षिणापथ की अथवा आधुनिक राजस्थान गुजरात और खानदेश की सीमाओ पर भी एक जंगली प्रदेश था, जिस मे अब भी भील लोग रहते हैं।

## § १०. भारतवर्ष की जातीय भूमियाँ[१]

भारतवर्ष एक महान् देश है। यद्यपि कई अशो में उस मे समूचे मे भी जातीय एकता दीख पडती है, तो भी ठीक ठीक कहे तो वह कई छोटी उपजातियो या खण्ड-राष्ट्रो के क्षेत्रो का जोड़ है। उन जातीय क्षेत्रो या

१ अधिक विस्तृत विवेचना के लिए दे० भारतभूमि, प्रकरण ७।

जातीय भूमियो का उस के इतिहास मे धीरे धीरे विकास हुआ है। उन में से प्रत्येक का अपना अपना इतिहास है, काई अत्यन्त पुरानी है तो कोई अपेक्षया कुछ नयी—अर्थात् किसी का व्यक्तित्व इतिहास मे बहुत पहले ही प्रकट हो चुका था तो किसी का कुछ पीछे हुआ। तो भी उन सब की बुनियाद बहुत पुरानी है। भारतवर्ष की जातीय चेतना बिलकुल क्षीण हो जाने के कारण वे जातीय भूमियाँ बहुत कुछ बिसरी जा चुकी हैं, फिर भी भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओ और बोलियो का बँटवारा प्राय: उन्हीं के अनुसार है। भारतवर्ष के स्वरूप को ठीक ठीक समझने के लिए उन जातीय भूमियों या क्षेत्रों को पहचानना आवश्यक है।

## अ. हिन्दी-खण्ड

प्राचीन काल का जो मध्यदेश था आजकल उसे मोटे तौर पर हिन्दी क्षेत्र या मध्यमण्डल कह सकते हैं, यद्यपि आज का हिन्दी-क्षेत्र पुराने मध्यदेश से बड़ा है। हिन्दी को आज भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा[1] कहा जाता है, पूरब में बगाल आसाम और पच्छिम मे सिन्ध गुजरात को छोड़ कर समूचे उत्तर भारतीय मैदान और विन्ध्यमेखला मे, तथा कुमाऊँ से चम्बा तक के पहाड़ो मे, लगभग १३ करोड़[1] आदमियों के पढ़ने लिखने की वही एक भाषा है। इस समूचे देश के भिन्न भिन्न प्रदेशो मे उस की अनेक बोलियाँ[1] बोली जाती हैं। उन मे से पहाड़ी प्रदेशों का विचार हम पृथक् करेंगे; बाकी उत्तर भारतीय मैदान और विन्ध्यमेखला के जिन हिस्सों को हम ने छोड़ने को कहा है, उन के सिवा पजाब को भी हिन्दी-खण्ड मे न गिनेंगे, क्योंकि पूरबी पंजाब की पजाबी यद्यपि हिन्दी की एक अत्यन्त निकट बोली है, तो भी पच्छिमी पजाब की बोली हिन्दकी[2] उस से बहुत दूर है। उत्तर भारतीय मैदान और विन्ध्यमेखला के बाकी तमाम हिस्से को हम हिन्दी-खण्ड कहते हैं।

---

१ इन बातों की विशेष विवेचना के लिए दे० भारतभूमि परिशिष्ट २ (१)।

२. इस नाम के विषय में दे० नीचे ॐ २।

उस हिन्दीखण्ड की बोलियो मे से जिस एक खडी बोली को माँज सँवार कर पढ़ने लिखने की हिन्दी बनी है, वह ठेठ घरेलू बोली के रूप मे गगा-जमना-दोआब के उत्तरी भाग अर्थात् मेरठ के चौगिर्द इलाके मे, दोआब के पूरब रुहेलखण्ड तक, तथा पच्छिम अम्बाला जिले मे घग्घर नदी तक बोली जाती है। वही प्राचीन उत्तर पञ्चाल और स्रुघ्न देश हैं। दक्खिनपूरब इन के ठीक साथ सटा हुआ मथुरा का प्रदेश अथवा प्राचीन शूरसेन देश है जिस की बोली ब्रजभाखा है। इन प्रदेशो की बोली न केवल आज प्रत्युत हमेशा से भारतवर्ष की केन्द्रिक और मुख्य भाषा या राष्ट्रभाषा का काम देती रही है। बहुत प्राचीन काल मे वैदिक तथा लौकिक सस्कृत, और फिर शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रश, जो समूचे देश की राष्ट्रभाषाये थीं इन्हीं प्रदेशो की बोलियो का मँजा हुआ रूप थी। अम्बाला के दक्खिन आजकल का बागर और हरियाना अथवा प्राचीन कुरुक्षेत्र है, जिस की बोली बागरू खड़ी बोली मे राजस्थानी और पंजाबी छाँह पडने से बनी है। जिला गुड़गाँव मे आ कर बाँगरू ब्रजभाखा में ढल जाती है। ब्रजभाखा के पूरब कनौजा का इलाका है जो प्राचीन दक्षिण पञ्चाल देश को सूचित करता है। दोनो के दक्खिन जमना पार बुन्देली बोली है जो विन्ध्यमेखला के दक्खिनी छोर पर मराठी की सीमा तक जा पहुँची है। आजकल के नैरुक्त अर्थात् भाषाविज्ञानी इन सब बोलियों को मिला कर पछाँही हिन्दी वर्ग (अथवा ठीक ठीक कहे तो आर्यावर्त्ती भाषाओ की भीतरी उपशाखा के केन्द्रवर्ग का पछाँही हिन्दी उपवर्ग) कहते हैं।

पछाँही हिन्दी के पूरब सटा हुआ पूरबी हिन्दी का इलाका है जिस मे उत्तर से दक्खिन क्रमश अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियाँ हैं, कनौजी के सामने अवधी और बुन्देली के सामने बघेली छत्तीसगढ़ी। छत्तीसगढी हमे ठीक महानदी के काँठे और बस्तर तक ला पहुँचाती है; उस के दक्खिनपच्छिम मराठी आर दक्खिनपूरब उड़िया बोली जाती है।

भाषाओ और बोलियो के परस्पर-सम्बन्ध, भौगोलिक एकता और पिछले इतिहास मे एक रहने की प्रवृति को देखते हुए कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक का इलाका अर्थात् बाँगरू, खड़ी बोली, ब्रजभाखा, कनौजी और अवधी बोलियो का क्षेत्र एक जातीय भूमि है। वह अन्तर्वेद या ठेठ हिन्दुस्तान है। उस के दक्खिन बुन्देली, बघेली और छत्तीसगढ़ी के प्रदेशों को मिला कर एक दूसरी जातीय भूमि है जिस का पुराना नाम चेदि[1] है। अर्थात्, पछाँही और पूरबी हिन्दी के क्षेत्र को मिला कर उस का जो अश उत्तर भारतीय मैदान मे है वह अन्तर्वेद, और जो विन्ध्यमेखला मे है वह चेदि।

अन्तर्वेद के पूरब बिहार है। उस मे तीन बोलियाँ हैं—भोजपुरी, मैथिली और मगही। भोजपुरी गङ्गा के उत्तर दक्खिन दोनो तरफ है; वह प्राचीन मल्ल और काशी[2] राष्ट्रो को सूचित करती है। अपनी एक शाखा नागपुरिया बोली के द्वारा उस ने शाहाबाद से पलामू होते हुए छोटा नागपुर के दो पठारो मे से दक्खिनी अर्थात् रांची के पठार पर भी कब्ज़ा कर लिया है। मैथिली मिथिला अथवा तिरहुत ( उत्तर विहार ) की बोली है, किन्तु पूरबी छोर पर वह गङ्गा के दक्खिन भागलपुर ( प्राचीन अंग देश ) मे भी चली गई है। मगही प्राचीन मगध या दक्खिन बिहार की बोली है। छोटा नागपुर के उत्तरी पठार हज़ारीबाग़ पर भी उस का दखल हो गया है। इस प्रकार आज़मगढ़ से राजमहल और रक्सौल से रांची तक बिहारियो की जातीय भूमि है; और उस मे बिचले गङ्गा काँठे के मैदान के साथ विन्ध्यमेखला के सब से पूरबी प्रदेश—झाड़खण्ड—का मुख्य अश भी सम्मिलित है।

विन्ध्यमेखला के प्रदेशो में से बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड और छत्तीसगढ़ चेदि मे आ चुके। झाड़खण्ड का पच्छिमी अंश ( सरगुजा और उस का

---

१. नीचे §§ ४१, ८२, १२१।

२. नीचे § ८२।

पडोस ) भी छत्तीसगढ़ी बोली के क्षेत्र मे होने से उसी मे आ गया। उस का पूरबी अश बिहार मे चला गया। बाकी राजपूताना और मालवा के प्रदेश रहे। उन दोनो मे राजस्थानी बोलियाँ बोली जाती है। राजपूताना और मालवा को मिला कर अर्थात् राजस्थानी और उस से सम्बद्ध भीली बोलियो के पूरे क्षेत्र को राजस्थान कहा जाता है।

इस प्रकार समूचे हिन्दीखण्ड या मध्यमण्डल मे चार जातीय भूमियाँ है—अन्तर्वेद, बिहार, चेदि और राजस्थान।

## इ. पूरब-, दक्खिन-, पच्छिम- और उत्तरपच्छिम-खण्ड;

पूरबखण्ड मे उडीसा, बगाल और आसाम तीन भूमियाँ है। उन में से पहली दो तो उडिया और बगला भाषाओ के क्षेत्र हैं। ब्रह्मपुत्र के उपरले कोठे मे जो आसमिया भाषा का क्षेत्र है उस के उत्तर और पूरब-दक्खिन सीमान्त के पहाड हैं, तथा उस के पच्छिमार्ध के दक्खिन गारो, खासी और जयन्तिया पहाडियाँ। न केवल सीमान्त के पहाडो प्रत्युत उन पहाड़ियो मे भी भिन्न भिन्न जगली बोलियाँ बोली जाती हैं। खासी-जयन्तिया की बोलियो का सम्बन्ध तो झाड़खण्ड की मुडा बोलियो से है, किन्तु गारो पहाडियो आर सीमान्त के अन्य पहाडो की बोलियाँ तिब्बत और बर्मा की भाषाओ के परिवार की है। उन बोलियो के क्षेत्र को बगाल और आसाम मे से किस मे कितना गिना जाय अथवा उन्हे भारतवर्ष के एकदम बाहर बर्मा मे गिना जाय, सो एक समस्या है। स्पष्ट है कि गारो के समान जो प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष के अन्दर आ गये हैं, वे तो भारतवर्ष के ही भाग हैं। इस प्रकार बाडा जाति पूरी तरह आसाम के बीचोबीच आ गई है, और नागा भी बहुत कुछ उस के अन्तर्गत हैं[१]। किन्तु लुशेई की स्थिति ऐसी है कि उन्हे चाहे आसाम और भारतवर्ष मे गिना जाय चाहे बरमा मे [१]।

---

१. दे० नीचे § २२।

दक्खिन भारत का उत्तरपच्छिमी अंश मराठो की सुप्रसिद्ध जातीय भूमि है। महाराष्ट्र को वहाँ के निवासी तान हिस्सो मे बाँटते है—कोकण, घाटमाथा और देश। कोकण सह्याद्रि और समुद्र के बीच दमन से गोआ तक मैदान का फ़ीता है। घाटमाथा पच्छिमी घाट के ऊपर का प्रदेश है। देश घाटमाथा के पूरब उतार का पहाड़ी मैदान है। कोकण और घाटमाथा तो फैल नही सकते थे, लेकिन देश का कलेवर मराठी सत्ता और भाषा के साथ साथ दूर तक फैलता गया है। बराड तो मूल महाराष्ट्र था ही, किन्तु अब देश मे उस के पच्छिम खानदेश तथा उस के पूरब वर्धा, नागपुर, भाण्डारा और चान्दा ज़िले ही नहीं, प्रत्युत बस्तर का मुख्य अंश भी समा गया है। मराठी भाषा ने यह पूरबी इलाका उस प्राचीन जंगल-प्रदेश मे से काटा है, जिस का उल्लेख पीछे किया जा चुका है, और जो गुप्त-युग के अटवी-राज्यो तथा पिछले मुस्लिम ज़माने के गोंडवाना मे सम्मिलित था। आजकल का बस्तर उस का मुख्य अश है। अब उस मे महाराष्ट्र, उड़ीसा और चेदि की सीमाये परस्पर छूती हैं।

महाराष्ट्र के पूरबदक्खिन तेलुगु भाषा का समूचा क्षेत्र तेलंगण या आन्ध्र-देश है, तथा महाराष्ट्र के दक्खिन कनाडी भाषा का क्षेत्र कर्णाटक। कोडुगु ('कुर्गी') और तुलु कनाडी की ही दो बोलियाँ है। नेल्लूर के दक्खिन पूरबी तट पर तामिल भाषा का समूचा क्षेत्र तामिलनाडु या तामिलनाड[1] और पच्छिमी तट पर मलयालम का क्षेत्र केरल या मलबार है। लकऽदिव भी केरल मे सम्मिलित है।

सिंहल द्वीप के उत्तरी अंश मे तामिल बोली जाती है, और शेष में सिंहली। भूगोल और इतिहास की दृष्टि से पूरा सिहल एक ही भूमि है। मालऽदिविन अर्थात् मालऽदिव द्वीपसमूह और मिनिकोई द्वीप भी उसी मे सम्मिलित हैं।

---

1. नाडु या नाड—देश।

पच्छिमी राजस्थान के भी हिन्दी-मण्डल मे चले जाने से पच्छिम-खण्ड मे गुजरात और सिन्ध बचे । गुजरात गुजराती भाषा का क्षेत्र है। कच्छ भी उसी मे सम्मिलित है ।

सिन्ध सब दृष्टियो से एक पृथक् और स्वतन्त्र जातीय भूमि है। उसकी भाषा सिन्धी है जो आजकल के 'बलोचिस्तान' की लास-बेला रियासत मे भी बोली जाती और पच्छिमी पजाब की बोली हिन्दकी से बहुत मिलती है। सिन्धी मैदान का उत्तरपच्छिमी बढाव कच्छी गन्दावऽ भी, जो मूला, बोलान, नारी आदि बरसाती नदियो का कच्छ है, और आजकल 'बलोचिस्तान' मे शामिल है, वास्तव मे सिन्ध का अग है। उसी मे सिबी जिला या सिबिस्तान है जो बहुत पुराने समय से सिन्ध का अग समझा जाता रहा है।

प्राचीन परिभाषा मे जिसे उत्तरापथ कहा जाता था, उस के मैदान अंश मे केवल पजाब का प्रान्त बचता है, और उसे अब उत्तरपच्छिम कहना अधिक ठीक है। पजाब की भाषा विषयक स्थिति कुछ पेचीदा है। साधारण जनता मोटे तौर पर पजाबियो की बोली को पजाबी कहती और यह भी जानती है कि मुलतानी बोली साधारण पजाबी से कुछ भिन्न और सिन्धी से मिलती है। आधुनिक नैरुक्त लोग पजाबी नाम केवल उस बोली को देते है जो पूरबी पजाब मे बोली जाती है। पच्छिम पजाब की बोली को, जिस का एक रूप मुलतानी है, वे पछाँहीं पजाबी भी नही कहना चाहते, क्योकि वैसा कहने से उस का पूरबी पजाब की बोली से नाता दीख पड़ेगा जो कि है नहीं। इस पछाँहीं बोली का नाम हिन्दकी[1] है। नैरुक्तो के मत मे पजाबी तो हिन्दी की खडी बोली के इतनी नजदीक है जितनी राजस्थानी भी नहीं, लेकिन हिन्दकी इतनी दूर है जितनी बिहारी हिन्दी या मराठी। लेकिन इन बारीक भेदो के बावजूद अपनी भौगोलिक स्थिति और अपने इतिहास के कारण पंजाब की

---

१. नीचे § २ ।

जातीय एकता ऐसी स्पष्ट और निश्चित है जैसी सिन्ध या गुजरात की। और पंजाब की इस स्वाभाविक अन्दरूनी एकता के ही कारण हिन्दकी और पंजाबी आपस मे ऐसी मिल जुल गई है—और भारतवर्ष मे और कही भी एक बोली का दूसरी मे इस प्रकार चुपचाप ढलना नहीं हुआ—कि उन की ठीक पारस्परिक सीमा भी निश्चित नही की जा सकती।

व्यथ ( जेहलम नदी ) और सिन्ध के बीच का पहाड़ी हज़ारा ज़िला और सिन्ध पार के पेशावर, कोहाट, बन्नू और डेरा-इस्माइल-ख़ाँ ज़िले जो अब सरकारी सीमाप्रान्त मे है, असल मे पंजाब के ही हैं। पेशावर, कोहाट और बन्नू ज़िलों मे अब पश्तोभाषी जनता पजाबी जनता से अधिक है, तो भी उन ज़िलों का ऐतिहासिक सम्बन्ध पंजाब से है।

पजाब की पूर्वी सीमा घग्घर नदी है। अम्बाला ज़िले की खरड़ और रोपड़ तहसीले तो उस के पच्छिम सतलज-काँठे मे आ जाती हैं, पर बाकी अम्बाला ज़िला और बांगर-हरियाना प्रदेश जो सरकारी पजाब के पूरबी छोर पर टंका हुआ है, पंजाब का नही है।

हज़ारा के अतिरिक्त पंजाब के पहाड़ी अंश का विचार हम पर्वत-खण्ड में करेंगे।

## उ. पर्वत-खण्ड

### ( १ ) पच्छिम अंश—लास-बेला, कलात, 'बलोचिस्तान'

पहाड़ी सीमान्त के प्रदेशों का विचार करना बाकी रहा। उस के पच्छिमी छोर पर आजकल का सरकारी प्रान्त बलोचिस्तान है। हम देख चुके है कि उस का पच्छिमी भाग जो लास-बेला और कलात-अधित्यका के पच्छिम तरफ है, भारतवर्ष का अंश नहीं है। लास-बेला लास राजपूतों और जटो[1] का घर है, और वहाँ की बोली लासी सिन्धी का एक रूप है।

---

1. ( हिन्दी ) जाट = ( पंजाबी ) जट्ट = ( सिन्धी ) जटऽ।

इस मे सन्देह नहीं कि उस रियासत मे बलोच भी काफी आ गये है, तो भी बलोची बोलने वालो की सख्या सिन्धी बोलने वालो की एक तिहाई से कम है। इसी कारण लास बेला सिन्ध का ही एक अंग है।

उस के ऊपर कलात की स्थिति जनता और भाषा की दृष्टि से बडी विचित्र है। कलात ब्राहूई लोगो का घर है। ब्राहूई भाषा का न तो सिन्धी से कोई सम्बन्ध है, न उत्तर की पश्तो से, न पच्छिम की बलोची से, उस का सम्बन्ध दक्खिन भारत की तामिल तेलुगु आदि भाषाओ से है। कलात की अधित्यका का एक तो क्षेत्रफल ही बहुत अधिक नहीं, दूसरे उस की आबादी भी सब से घने बसे हुए उत्तरी जिलो—सरावान और बोलान—मे १० से १५ आदमी प्रति वर्गमील है, जब कि दक्खिनी ज़िले जह्लवान—मे वह ५, और पच्छिमी ज़िले खरान मे १ प्रति वर्ग मील है। इस दशा मे कलात को एक स्वतन्त्र जातीय भूमि कहना उचित नहीं। ब्राहूई लोग प्राय फिरन्दर है, और वे जाडे के मौसम मे बड़ी सख्या मे सिन्ध मे उतर आते है। इन कारणो से भाषा का भेद रहते हुए भी कलात को सिन्ध के साथ गिनना चाहिए।

हम ने देखा था कि बलोच लोग कलात के पूरब, सिन्ध और पजाब के सीमान्त पर, भी आ बसे हैं, इस कारण वहाँ एक पूरबी या भारतीय बलोचिस्तान बना हुआ है। यह पूरबी बलोचिस्तान दर्रा बोलान से शुरू हो कर उस के दक्खिन सिबी और कच्छी मे और कच्छी के ठीक पच्छिम सुलेमान और शीनगर पर्वतो के दक्खिनी छोर के घुमाव तक गया है। सरकारी बलोचिस्तान के पूरबी अश मे इस के उत्तर लोरालाई और झोब ज़िले भी हैं, पर उन के निवासी बलोच नही पठान हैं। इन प्रदेशो मे से बोलान कलात का अंश है, और आजकल वहाँ बलोची जनता ब्राहूई से कुछ ही अधिक है। कच्छी सिन्ध का अश है, और अब भी वहाँ सिन्धी बोलने वाले बलोची बोलने वालो के दूने से अधिक हैं। दोनो के बीच सिबी मे बलोची-भाषी जनता सिन्धी-भाषी जनता से दूनी है। उस के पूरब सुलेमान-शीनगर के दक्खिनी चरणो मे तो केवल फिरन्दर बलोचो के माडी और

बुग्ती क़बीले ही घूमा करते हैं, इसीलिए वह माड़ी-बुग्ती प्रदेश कहलाता है। इस प्रकार सिबी और माड़ी-बुग्ती ही असल भारतीय बलोचिस्तान है। सिबी सिन्ध का बहुत पुराना टुकड़ा है, उसे हम सिन्ध मे गिन चुके है। बाकी केवल माड़ी-बुग्ती प्रदेश रहे। बुग्ती प्रदेश मे आबादी की घनता १० प्रति वर्ग मील से कम और माड़ी में ५ प्रति वर्ग मील से कम है। वे प्रदेश सिन्ध और पंजाब के ठीक बीच हैं, उन के उत्तरी छोर पर सुलेमान के पच्छिम बृटिश बलोचिस्तान की बरखान तहसील में हिन्दकी बोलने वाले खेतरान लोगो को आबादी मुख्य है; इस प्रकार वे सिन्ध और पजाब मे बाँटे जायँगे। किन्तु दक्खिनपच्छिमी पजाब और सिन्ध मे परस्पर इतनी समानता है कि उन के बीच माड़ी-बुग्ती प्रदेश का कितना अश किस मे बाँटा जाय सो निश्चय अभी नहीं किया जा सकता।

( २ ) उत्तरपच्छिमी अंश—( क ) अफगानस्थान

दर्रा बोलान के उत्तर ब्रि० बलोचिस्तान के क्वेटा-पिशीन, लोरालाई और झोब जिले, तथा सरकारी पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त के वज़ीरिस्तान, कुर्रम, अफ्रीदी-तीराह और मोहमन्द इलाके वस्तुतः ब्रिटिश अफ़ग़ानिस्तान हैं। हम जिसे अफ़ग़ान प्रदेश कहते हैं उस मे और आजकल के अफ़ग़ानिस्तान मे गड़बड़ न हो, इस लिए हम असल अफ़ग़ानिस्तान को अफगानस्थान कहेंगे। हमारा अफगानस्थान वास्तव मे पक्थ-कम्बोज देश है। उस मे जहाँ पूर्वोक्त ब्रि० अफ़ग़ानिस्तान गिनना चाहिए, वहाँ काफिरिस्तान या कपिश देश वास्तव में उस का अंग नहीं है। हरी-रूद की दून अर्थात् ख़ास हेरात को और सीस्तान को भी फारस मे गिनना अधिक ठीक है। हिन्दू-कुश के उत्तर बलख प्रदेश अथवा अफगान तुर्किस्तान अब जनता की दृष्टि से पक्थ-कम्बोज नहीं रहा, किन्तु कम्बोज देश का जो अंश अब रूसी पंचायत-संघ मे है उसे भी अफगानस्थान मे गिनना चाहिए।

अफ़ग़ान लोगो की भाषा पश्तो या पख्तो है। वे अपने को अफ़ग़ान नहीं कहते। पश्तो या पख़्तो भाषा विभिन्न अफ़ग़ान कबीलो मे एकता का

मुख्य सूत्र है; उस के बोलने वाले पश्तान या पख्तान कहलाते हैं जिस से हमारा पठान शब्द बना है। लेकिन अफगानस्थान की जनता मे हजारा, ताजिक आदि जातियाँ भी है जो पश्तो या पख्तो नहीं बोलतीं। हजारा चगेजखाँ के साथ आये हुए मगोलो के वशज हैं। ताजिक प्राचीन कम्बोजो के वशज हैं जिन मे तुखार आदि बाद में आने वाली अनेक जातियाँ घुल मिल गई हैं[1]। वे फारसी का एक रूप बोलते है। पठान लोग अपने पडोस के उन फारसीभाषियो को पार्सीवान कहते हैं। अफगानिस्तान की राजभाषा भी फारसी है। इसी लिए हेरात जैसे प्रान्त को अफगानस्थान मे गिना जाय या फारिस मे सो कहना कठिन हो जाता है। तो भी पठानो और पार्सीवानो का देश एक है, अफगानस्थान के पार्सीवान जिन्हे फारिस वाले अफगानो मे गिनते हैं ईरानियों से भिन्न हैं।

अफगानिस्तान का काफिरिस्तान या कपिश प्रदेश जनता और इतिहास की दृष्टि से अफगानस्थान का भाग नहीं है। ठीक ठीक कहे तो काबुल नदी के दक्खिन निंग्रहार भी कपिश का ही अश है। कपिश के पूरब बाजौर, स्वात, बुनेर और यूसुफ़जई का इलाका प्राचान पच्छिम गान्धार देश है, उस का पूर्वी गान्धार अर्थात् उत्तरपच्छिमी पजाब से अत्यन्त पुराने समय से सम्बन्ध है[2]। किन्तु १५वीं शताब्दी ई० मे उस पर यूसुफजई पठानो ने पहले-पहल चढाई की, और तब से पठान लाग काबुल नदी के उत्तर बढ़ने लगे, वहाँ के पुराने निवासी स्वाती लोग हजारा चले गये। यूसुफजई इलाका अब पेशावर जिले मे है, उस मे अब भी पश्तो और हिन्दकी दोनो बोली जाती हैं। पीछे कह चुके हैं कि पेशावर, कोहाट और बन्नू जिले पंजाब का

---

१. नीचे §§ ८२, १६२, ३१७।

२. नीचे §§ ४४, ८२, १०२, १०८, ११२, ११६, १२०, १४४, १४६, १६६, १८०।

ही अंग हैं। इसी प्रकार बाजौर, स्वात और बुनेर का भी, जिन्हे मिला कर यागिस्तान कहा जाता है, कपिश से अधिक सम्बन्ध है।

जिसे हम ने कम्बोज देश कहा है, उस मे आजकल गल्चा बोलियाँ बोली जाती है, और उन का पश्तो-पख्तो से निकट सम्बन्ध है। कम्बोज उर्फ तुखार देश[1] के पच्छिमी अंश बदख्शां मे भी पहले उन से मिलती कोई बोली ही थी, लेकिन अब बदख्शी लोगो ने फारसी अपना ली है। तुखार या कम्बोज की जनता अब ताजिक कहलाती है। कम्बोज देश का मुख्य भाग आज रूसी पंचायत-सघ के अन्दर है, पर वास्तव मे वह अफगानस्थान का एक अश है।

( ख ) कपिश-कश्मीर

काफिरिस्तान या कपिश की कतो ( बशगोली ) आदि 'काफिर' बोलियो, चितराल की बोली खोवार, कोहिस्तान की बोली मैयाँ, दरद देश की शिना बोलियों और कश्मीर की कश्मोरी मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मरुवर्द्वान और कष्टवार की दूनों मे भी कश्मोरी जनता रहती और कश्मीरी भाषा बोली जाती है। इसी लिए काफिरिस्तान, चितराल, कोहिस्तान, दर्दिस्तान, कश्मीर और कष्टवार को मिला कर एक ही जातीय भूमि कपिश-कश्मीर कहना चाहिए। इन सब प्रदेशों का इतिहास की दृष्टि से भी कश्मीर से पुराना सम्बन्ध है। कोहिस्तान का कुछ अंश और दरद-देश तथा कष्टवार अब भी कश्मीर राज्य मे ही है। हुञ्जा और नगर नाम की बस्तियों के पास बुरुशास्की भाषा का छोटा सा क्षेत्र भी दरद-देश के अन्दर है।

डा० फ्रांके ने सिद्ध किया है[2] कि दरद देश की पूरबी सीमा सिन्ध दून मे लदाख के उत्तरपच्छिमी भाग मे कम से कम खलचे के पूरब

---

१. नीचे §१६२।

२. ए लैंग्वेज मैप औव कि वेस्ट तिबेत, ज० ए० सो० बं०, १६०४ भाग १, पृ० ३६२ प्र।

सस्पोला तक थी, जहाँ अब तिब्बती भाषा ने अधिकार कर लिया है। वहाँ के लोग अब भी दरद हैं, पर उन्हा ने तिब्बती रग-ढग और भाषा अपना ली है।

कष्टवार के दक्खिनपूरब भद्रवा और चम्बा से शुरू कर नेपाल के पूरबी छोर तक पहाडी बोलियाँ बोली जाती है। उन का सम्बन्ध यदि किसी भाषा से है तो हिन्दी की राजस्थानी बोली से। उन मे से भद्रवा से जौनसार तक की बोलियाँ पच्छिम पहाडी, फिर गढवाल-कुमाऊँ की मध्य पहाड़ी, और नेपाल की पूरबी पहाडी कहलाती हैं। चम्बा के दक्खिन कांगडा में पंजाबी बोली जाती है, और वहाँ से पूरब तरफ वह ऊपर पहाडों मे भी चम्बा और कुल्लू-मण्डी के बीच पच्चर की तरह जा घुसी है। इस प्रकार वह भद्रवा-चम्बा को अपने असल परिवार से अलग कर देती है। चम्बा को चमिआली बोली मे कश्मीरी झलक काफी है, और भद्रवाही तो चमिआली और कश्मीरी का मिश्रण ही है। भद्रवा तो अब भी कश्मीर राज्य में है, उस के अतिरिक्त चम्बा को भी उक्त कारण से कपिश कश्मोर मे ही गिनना उचित है।

### ( ग ) पजाब का पहाडी अश

पीछे कह चुके हैं कि हजारा जिला पजाब का अश है। मुगल जमाने के पखली इलाके मे उस के साथ साथ कृष्णगगा दून का निचला अंश भी शामिल था। वास्तव मे समूचा पखली इलाका भाषा की दृष्टि से पजाब का अश है। इस के सिवा उपत्यका के छिभाल ( अभिसार ) प्रदेश अर्थात् पुच राजौरी और भिम्भर रियासतो की बोली भी हिन्दकी है, और उस के पूरब डुगर की पजाबी। आधुनिक कश्मीर रियासत के ये दोनो प्रदेश इसी कारण वास्तव मे पजाब के हैं। डुगर के दक्खिनपूरब ठेठ कांगडा तो पजाब का अपना हिस्सा है ही। होशियारपुर के दक्खिनपूरब कहलूर को और सतलज पार नलगढ की बोली भी पजाबी है। वहाँ से उस की सीमा बघाट के नीचे पहुँच कर घग्घर के स्रोत को जा छूती और फिर मैदान मे उस नदी के साथ

साथ चलती है। अर्थात् मडो, सुकेत, क्युंठल और बघाट के नीचे की उपत्यका पंजाब मे है।

### ( ३ ) मध्य अंश

हिमालय के मध्य अश से हमारा अभिप्राय उस अश से है जो मध्य-देश या हिन्दी-खण्ड के उत्तर लगा है और जिस मे पहाड़ी बोलियाँ बोली जाती है। इन बोलियों के रिश्ते-नाते की चर्चा अभी हो चुकी है।

#### ( क ) अन्तर्वेद का अश

इस प्रदेश मे से कुमाऊँ-गढ़वाल और कनौर का अन्तर्वेद के साथ बहुत ही पुराना सम्बन्ध है। इन प्रदेशों के उत्तर-पच्छिम सतलज पार के सुकेत, मंडी और कुल्लू प्रदेशो का भी भाषा की दृष्टि से पंजाब की अपेक्षा इन्ही प्रदेशो से और हिन्दी-खण्ड से अधिक सम्बन्ध है। इसी कारण उन्हे अन्तर्वेद मे गिनना चाहिए।

#### ( ख ) नेपाल

कुमाऊँ के पूरब गोरखो का नेपाल राज्य अफगानस्थान और कपिश-कश्मीर की तरह एक स्वतंत्र जातीय भूमि है। गोरखों का नेपाल पर दखल बिलकुल आधुनिक है, और उसी दखल के कारण उस राज्य के छोटे छोटे विभिन्न प्रदेशों मे अब एकता आ गई है। उन की भाषा पर्वतिया, गोरखाली या खसकुरा कहलाती है, क्योकि खस लोग भी गोरखों के साथ साथ नेपाल मे गये हैं। तो भी समूची जनता ने अभी उस भाषा को पूरी तरह से अपनाया नहीं है। किन्तु प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास पढ़ते समय हमे याद रखना चाहिए कि तब आधुनिक नेपाल एक जातीय भूमि न थी, और गोरखा राज्य से पहले नेपाल शब्द का अर्थ नेपाल की दून ही था। यदि गोरखो की पैदा की हुई नेपाल राज्य की यह नई एकता न होती तो उस के भिन्न भिन्न प्रदेश अपने दक्खिन के मैदान के प्रान्तों मे ही गिने जाते।

( ४ ) पूरब अंश

नेपाल के पूरब सिकिम मे भी नेपाली जनता बढ रही है, और वह नेपाल मे ही गिना जा सकता है। परन्तु चुम्बी दून और भूटान तिब्बती या भोटिया प्रदेश है, वह तिब्बत का ल्होखा अर्थात् दक्खिन प्रान्त है। उन के पूरब आसामोत्तर जातियो का भी तिब्बत से ही अधिक सम्बन्ध है। ये प्रदेश केवल भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष मे गिने जाते हैं।

———

दूसरा प्रकरण

# भारतभूमि के निवासी

## § ११. भारतवर्ष की प्रमुख भाषायें और नस्लें—आर्य और द्राविड

भारतवर्ष की जातीय भूमियो की चर्चा करते हुए हम ने प्रत्येक भूमि की भाषा और बोली का उल्लेख किया है। इन भाषाओ के मूल शब्दों और धातुओ की, तथा व्याकरण के ढाँचे की—अर्थात् संज्ञाओ और धातुओं के रूप-परिवर्तन के, उपसर्गों और प्रत्ययो की योजना के और वाक्य-विन्यास आदि के नियमो की—परस्पर तुलना करने से बड़े महत्त्व के परिणाम निकले है। हिन्दी की सब बोलियो का तो आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध है ही, उस के अतिरिक्त आसमिया, बगला और उड़िया का, मराठी और सिहली का, गुजराती और सिन्धी का, पंजाबी और हिन्दकी का, तथा पहाड़ी बोलियों अर्थात् नेपाल को गोरखाली भाषा और कुमाऊँ-गढ़वाल की तथा जौनसार से चम्बा तक की सब बोलियों का—अर्थात् हिन्दीखण्ड, पूरबखण्ड, पच्छिमखण्ड और उत्तरपच्छिम-खण्ड की सब मुख्य भाषाओं, दक्खिन-खण्ड मे मराठी और सिंहली, तथा पर्वतखण्ड मे नेपाल से चम्बा तक की बालियों का—एक दूसरे के साथ गहरा नाता है। "बगाल से पंजाब तक... समूचे देश मे और राजपूताना, मध्य भारत और गुजरात में भी जनता का

समूचा शब्दकोष, जिस में साधारण बर्ताव के लगभग सब शब्द हैं, उच्चारण-भेदो को छोड कर एक ही है"[1]। इन भाषाओ और बोलियो को आधुनिक निरुक्तिशास्त्री आर्यावर्त्ती भाषाये कहते है। फिर कपिश कश्मीर और अफगानस्थान की बोलियो का भी इन आर्यावर्त्ती भाषाओ से बहुत निकट सम्बन्ध है। यह समूचा आर्य भाषाओ का परिवार है। हमारी प्राचीन भाषाये—सस्कृत, पालि, प्राकृते और प्राकृतो के अपभ्रश—जिन से कि विद्यमान बोलियाँ निकली हैं, सब उसी परिवार की थीं।

दक्खिन-खण्ड मे मराठी और सिंहली के अतिरिक्त तेलुगु, कनाडी, तामिल और मलयालम भाषाओं का हम ने उल्लेख किया है। उन मे भो, विशेष कर तेलुगु कनाडी और मलयायम मे, बहुत से सस्कृत शब्दो का प्रयोग होता है, किन्तु वे सब शब्द उधार लिए हुए है। उन के मूल धातुओं और व्याकरण के ढाँचे का आर्य भाषाओ से कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु आपस मे, कलात की ब्राहूई के साथ, तथा महाराष्ट्र उडीसा और चेदि के सीमान्त जगलों मे रहने वाले गोंड तथा कुई लोगो की बोलियो के साथ उन का सीधा और स्पष्ट नाता है। वे सब द्राविड परिवार की भाषाये हैं।

साधारण तौर पर भाषाओ से मानव वशो या नस्लो की पहचान होती है। इसी लिए आर्य और द्राविड नाम केवल भाषाओ के परिवारो या वशों को ही नहीं, प्रत्युत मानव वशो या नस्लो को भी सूचित करते हैं।

## § १२. द्राविड वंश

द्राविड भाषाये केवल भारतवर्ष मे ही पाई जाती हैं। ससार के पुराने इतिहास और इस समय की हालत को जहाँ तक खोज-पडताल हुई है, उस से भारतवर्ष के बाहर द्राविड भाषाओ का कोई निश्चित रिश्ता-नाता

1. भा० भा० प० १, १, पृ० २३।

नहीं मिला। द्राविड वंश या नस्ल का मूल और एकमात्र घर दक्खिन भारत ही है। एक द्राविड बोली, ब्राहूई, भारतवर्ष के पच्छिमी दरवाजे पर है, इस से यह कल्पना की गई थी कि द्राविड लोग भारतवर्ष मे उत्तर-पच्छिम से आये हैं। किन्तु उस कल्पना के पक्ष मे कुछ भी प्रमाण नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि ब्राहूई लोग दक्खिन भारत के समुद्रतट से पच्छिमी देशा के साथ होने वाले व्यापार के सिलसिले मे उत्तरपच्छिम जा बसे एक द्राविड उपनिवेश को सूचित करते हो।

विद्यमान द्राविड भाषायें चार वर्गों मे बँटती हैं—( १ ) द्रविड वर्ग, ( २ ) आन्ध्र भाषा, ( ३ ) बिचला या मध्यवर्ती वर्ग, और ( ४ ) ब्राहूई बोली। तामिल, मलयालम और कनाडी, तथा कनाडी की बोलियाँ तुलु और कोडगु ( 'कुर्ग' को बोली ) सब द्रविड वर्ग मे हैं। तेलुगु या आन्ध्र भाषा अकेले एक वर्ग मे है। इन परिष्कृत भाषाओ की उत्तरी सीमा महाराष्ट्र का चान्दा जिला है। बिचले वर्ग मे सब अपरिष्कृत बोलियाँ हैं जो दूसरी सभ्य भाषाओं के प्रवाह मे द्वीपों की तरह घिर कर रह गई हैं। वे किसी भी एक पूरे प्रान्त की बोलियाँ नहीं, और उन मे से बहुत सी धीरे धीरे मर रही हैं।

उन बोलियो मे से सब से मुख्य आर प्रसिद्ध गोंडी है। वह अपनी पड़ोसन तेलुगु की अपेक्षा द्रविड वर्ग की भाषाओ से अधिक मिलती है। उस के बोलने वाले गोंड लोग कुछ आन्ध्र मे, कुछ उड़ीसा में, कुछ बराड मे, और कुछ चेदि और मालवा की सीमा पर हैं, किन्तु सब से अधिक हैं चदि में। गोंड एक बहुत प्रसिद्ध जाति है, और उन की बोली गोंडी कहलाती है, जिस की न कोई लिपि है, न कोई साहित्य या वाङ्मय। परन्तु गोंडी एक भ्रमजनक शब्द है। क्योंकि बहुत से गोंड अब अपने पड़ोस की आर्य भाषा से मिली खिचड़ी बोली बोलते हैं, और साधारण बोलचाल में उन खिचड़ी बोलियों को भी गोंडी कह दिया जाता है। इसी कारण गोंडी बोलने वालों की ठीक संख्या जानना कठिन है, सन् १९२१ की गणना के अनुसार वह

संख्या १६ लाख से ऊपर थी, पर निश्चित रूप से १२।। लाख आदमी ज़रूर असल गोंडी बोलते है। गोंड लोग अपने को कोइ कहते हैं।

उन के पड़ोस मे उड़ीसा मे कुई नाम की इसी वर्ग की एक और बोली है, जिस के बोलने वालो की संख्या, ४ लाख ८४ हज़ार है। कुई लोगों मे अभी तक नर-बलि देने की प्रथा प्रचलित है। उड़िया लोग उन्हे कान्धी कहते हैं, उसी शब्द का दूसरा रूप खोंध भी है।

कुई के ठीक उत्तर छत्तीसगढ़ और छोटा नागपुर मे अर्थात् चेदि और बिहार के सीमा प्रदेशो मे कुरुख लोग रहते है जो ओराँव भी कहलाते हैं। ओराँवो की संख्या ८ लाख ६६ हज़ार, अर्थात् इस वर्ग मे गोंडो से दूसरे दर्जे पर, है। चेदि के अपने इलाके में वे लोग खेती की मजदूरी और विशेष कर जमीन काड़ने का काम करते है, इस लिए वहाँ किसान और कोड़ा शब्द कुरुख के समानार्थक हो गये है। गङ्गा के ठीक तट पर राजमहल की पहाड़ियो मे मल्तो नाम की एक जाति है, जिस की संख्या कुल ६६ हजार है। मल्तो बोली भी कुरुख की ही एक शाखा है। कुरुख और मल्तो लोग कहते हैं कि उन के पूर्वज पहले इकट्ठे कर्णाटक मे रहते थे जहाँ से वे नर्मदा दून होते हुए सोन काँठे मे आये। फिर मुसलमानो के दबाव से उन की एक टुकड़ी राजमहल चली गई और दूसरी सोन की धारा के और ऊपर छोटा नागपुर मे। यह वृत्तान्त बिलकुल ठीक है।

गोंडी, कुरुख और कुई इन तीन मुख्य बोलियो और चौथी मल्तो के सिवा कोलामी नाम की इसी वर्ग की एक और बोली पूरबी बराड मे है। उस के बोलने वाले कुल २४ हजार हैं।

सुदूर कलात मे ब्राहूई लोग रहते है जो एक द्राविड बोली बोलते हैं। वह बोली अकेली एक अलग वर्ग मे है। ब्राहूइयो के अनेक फिरकों ने अपनी बोली छोड़ कर बलोची या सिन्धी अपना ली है, और जो ब्राहूई बोलते हैं वे भी प्रायः दुभाषिये हैं। एक ही घर मे पति बलोची या सिन्धी और

पत्नी ब्राहूई बोले, ऐसी दशा भी होती है। ब्राहूई बोलने वालों की कुल सख्या १ लाख ८४ हज़ार है।

जहाँ सभ्य द्राविड भाषायें (तेलुगु, तामिल, कनाडी, मलयालम) बोलने वालों की कुल सख्या सन् १९२१ मे ६ करोड २२ लाख ९१ हज़ार थी[1], वहाँ बिचले वर्ग की अपरिष्कृत द्राविड बोलियाँ बोलने वालों की केवल ३० लाख ५६॥ हज़ार।

## § १३. आर्य वंश और आर्य स्कन्ध

हमारी आर्य भाषायें जिस वश को सूचित करती हैं, वह संसार में सब से बड़ा और विस्तृत है। प्राचीन इतिहास की और आज की सुदूर देशों की अनेक सभ्य भाषाये उस मे सम्मिलित हैं। प्राचीन पारसी, यूनानी, लातीनी, केल्त, त्यूतनी या जर्मन और स्लाव आदि भाषाओं का हमारी संस्कृत के साथ बहुत ही निकट सम्बन्ध था, और वह नाता उन की आजकल की वशजों के साथ भी चला आता है। लातीनी प्राचीन इटली की भाषा थी, और अब इटली, फ्रान्स, स्पेन आदि मे उस की वशज भाषाये मौजूद हैं। प्राचीन केल्त की मुख्य वशज आजकल की गैलिक अर्थात् आयर्लैंड की भाषा है। जर्मन, आलन्देज (डच), अंग्रेज़ी, डेन, स्वीडिश आदि भाषाये जर्मन या त्यूतनी परिवार की है, और आधुनिक रूस तथा पूरबी युरोप की भाषायें स्लाव परिवार की। इन सब भाषाओं का परिवार आर्य वंश कहलाता है। उस मे कई अन्य प्राचीन और नवीन भाषायें भी सम्मिलित हैं—अरमइनी[2] (आर्मीनियन), खत्ती या हत्ती[3], थ्रेस-फ्रुजी[4], तुखारी

---

१. अंग्रेज़ों के भारतवर्ष में ६,०८,८६,०८६+सिंहल के तामिल-भाषी १४,०५,०२३।

२. अरमइन शब्द दारयवु (दे० नीचे § १०५) के बिहिस्तूं-अभिलेख में आया है।

३. आधुनिक अंग्रेज़ी रूप Hittite.

४. Thrace-Phrygian.

आदि। अरमइनी और खत्ती प्राचीन लघु एशिया के निवासी थे, थ्रेस-फ्रुजी यूनान के उत्तरपूरब थ्रेस प्रदेश के, तुखार मध्य एशिया के।

लौकिक भाषा मे तो आर्य शब्द इस अर्थ मे बर्त्ता जाने ही लगा है, पर शास्त्रीय व्यवहार मे बहुत से विद्वान् उस का इतना विस्तृत अर्थ नहीं लेते। उन का कहना है कि केवल आर्यावर्त्त (भारतीय आर्य भूमि) और ईरान के लोग अपने को आर्य कहते थे, इस लिए आर्य शब्द उक्त समूचे वश के लिए नही प्रत्युत उस के केवल उस स्कन्ध (Sub-family) के लिए बर्त्ता जाना चाहिए जिस की आर्यावर्त्ती और ईरानी ये दो प्रमुख शाखाये हैं। शास्त्रीय परिभाषा मे प्रायः आर्य शब्द इसी हिन्द-ईरानी या भारत-पारसी स्कन्ध के लिए काम आता है। किन्तु उक्त समूचे वश के लिए भी आर्य शब्द का प्रयोग करना वैसा अशास्त्रीय नहीं है, क्योकि यद्यपि यह ठीक है कि केवल आर्य्यावर्त्त और ईरान के लोग अपने को स्पष्ट रूप से आर्य कहते थे, तो भी सुदूर आयर्लैंड या ईरन मे भी वह शब्द (aire) था, चाहे उस का अर्थ वहाँ सरदार या राजा का था। दूसरी तरफ, केवल आर्यावर्त्त और ईरान के लोगो के लिए आर्य शब्द का प्रयोग करना इन दोनो देशो की प्राचीन परिपाटी के अनुकूल है। उस दशा मे उस बडे वश के अनेक नाम गढ़े गये हैं, और उन मे से मुख्य है हिन्द-यूरुपी तथा हिन्द-जर्मन। हिन्द-यूरुपी शब्द मुझे निकम्मा लगता है, क्योकि उस मे आर्य वश के तीन मुख्य घरों—अर्थात् भारत, ईरान और युरोप—मे से दो का नाम आता है और तीसरे का रह जाता है। हिन्द-जर्मन शब्द का जर्मनी मे बहुत प्रयोग होता है, और उस मे यह गुण है कि वह आर्य वश की उन दो शाखाओ के नामो से बना है जो पूरब और पच्छिम के अन्तिम किनारो पर रहती हैं, तथा जिन मे से एक इतिहास मे उस वंश की सब से प्राचीन तथा दूसरी सब से नवीन जाति है। वह नाम पाणिनीय व्याकरण के प्रत्याहारो के नमूने पर गढ़ा गया है। रूपरेखा मे हम हिन्द-जर्मन शब्द का प्रयोग करेंगे, और यदि आर्य शब्द को

उस अर्थ मे बर्तेंगे तो वंश शब्द उस के साथ लगा कर ही। जहाँ अकेला आर्य शब्द आयगा, वहाँ उस से आर्य स्कन्ध ही समझना होगा।

हिन्द-जर्मन परिवार के सब लोग किसी बचपन के ज़माने मे एक साथ रहते थे, सो लगभग निश्चित है। वह मूल घर कहाँ था, इस विषय पर बेहिसाब विवेचना हुई है, किन्तु अभी तक उस का अन्त नहीं हुआ, और न बहुत काल तक हो सकेगा। उस वंश को विभिन्न शाखाओं के अलग हो जाने के बाद भी आर्य स्कन्ध की शाखाये बहुत समय तक एक जगह रहीं सो भी निश्चित है। वह जगह कहाँ थी, इस पर भी बेहद विवाद है जिसे हम यहाँ नहीं छेड़ सकते। इस प्रश्न पर कोई सम्मति आर्यो के समूचे इतिहास के अध्ययन के बाद ही बनानी चाहिए, न कि पहले से एक सम्मति रख कर इतिहास पढ़ने बैठना। इस लिए इस भूमिका मे हमे केवल उन्हीं परिणामो को कहने का वास्तविक अधिकार है जो इतिहास का अध्ययन करने से पहले भारतवर्ष की भाषा और नस्ल-विषयक विद्यमान स्थिति की छानबीन से ही निकल आते हैं।

आधुनिक निरुक्तिशास्त्रियो ने इस विषय मे जो सिद्धान्त निश्चित किये हैं, वे ये हैं। हिन्द-जर्मन वंश का एक बडा स्कन्ध है आर्य। उस स्कन्ध को तीन शाखाये प्रतीत होती हैं—आर्यावर्त्ती, ईरानी और दरदी या दरद्-जातीय।

## § १४. दरदी शाखा

दरदी शाखा की भाषायें अब कपिश-कश्मीर भर मे बची हैं, किन्तु पहले उत्तरपूरबी अफगानस्थान मे और अधिक फैली हुई थी, और काबुल नदी के दक्खिन भी थीं, जहाँ अब उन की एक आध बोली वज़ीरिस्तान मे बची है। उस के अतिरिक्त हिन्दकी और सिन्धी पर दरद्-जातीय भाषा का स्पष्ट प्रभाव दीखता है। पंजाबी पर वह प्रभाव अपेक्षया कम है, और राजस्थान के मालवा प्रदेश को भीली बोलियो मे भी थोड़ा बहुत झलकता है।

कश्मीरी भाषा यद्यपि दरद्जातीय है, तो भी उस मे आर्यावर्त्ती रंगत कुछ आ गई है।

आधुनिक दरद् जातीय भाषाओं के तीन वर्ग है—( १ ) कपिश या काफ़िर वर्ग ( २ ) खोवार वर्ग और ( ३ ) दरद् वर्ग। कपिश वर्ग मे कपिश या काफ़िरिस्तान की, और खोवार वर्ग मे चितराल की बोलियाँ सम्मिलित है। खास दरद् वर्ग मे शिना, कश्मीरी और कोहिस्तानी (मैयाँ) तीन बोलियाँ हैं जिन मे से शिना आधुनिक दरदों की ठेठ बोली है। कश्मीरी समूची शाखा मे सब से मुख्य और एकमात्र परिष्कृत भाषा है।

ठेठ दरद् प्रदेश मे हुञ्जा और नगर नाम की बस्तियों मे, अर्थात् गिल्गित नदी की उत्तरपूरबी धारा हुञ्जा की दूनों मे, बुरुशास्की नाम की एक बोली है। वह भाषाविज्ञानियों के लिए एक पहेली है, क्योंकि संसार भर के किसी वंश से भी उस बोली का सम्बन्ध अभी तक दीख नहीं पड़ता। उस के बोलने वालों के पूर्वज शायद दरद् प्रदेश के सब से पुराने निवासी थे।

दरदी भाषाओं मे से कपिश और खोवार वर्ग की बोलियाँ बोलने वालों का अन्दाज़ नही किया गया, बाकी दरद् वर्ग की भाषायें बोलने वाले सन् १९२१ मे लगभग १३ लाख थे।

डा० सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन का कहना है कि प्राचीन भारतीय पण्डित जिसे पैशाची प्राकृत कहते थे, और जिस मे गुणाढ्य ने बृहत्कथा नामक ग्रन्थ लिखा था, वह आधुनिक दरदों की पूर्वज भाषा थी। किन्तु डा० स्टेन कोनौ इस मत को स्वीकार नही करते[1]। उन का कहना है कि पैशाची उज्जैन के पास की एक बोली थी।

---

१. ग्रियर्सन—दि पिशाच लैंग्वेजेज ऑव नौर्थवेस्ट इंडिया ( उत्तर-पच्छिम भारत की पिशाच भाषायें ), एशियाटिक सोसाइटी के मौनोग्राफ़ (निबन्ध), जि० ८, लंडन १९०६, भा० भा० प०, जि० १, १, अ० १० तथा जि० ८, २ की भूमिका, तथा जर्मन प्राच्य परिषद् की पत्रिका, जि० ६६, पृ० ४९ आदि।

## § १५. ईरानी शाखा

ईरानी शाखा मे दो वर्ग हैं—पारसीक और मादी। पारसीक का पुराना रूप पारसी था जिस का नमूना दारयवु[1] ( ५२१-४८५ ई० पू० ) के अभिलेखो मे पाया जाता है। उसी का मध्यकालीन रूप सासानी राजाओं[2] ( तीसरी छठी शताब्दी ई० ) के समय की पहलवी थी, तथा आधुनिक रूप विद्यमान फारसी है। मादी प्राचीन माद या मन्द[3] (Media) प्रदेश की तथा ईरान के पूरबी आँचल के प्रदेशो की भाषा थी। पारसी धर्म का पवित्र ग्रन्थ अवस्ता उसी भाषा मे है। उस के मध्यकालीन रूप का कोई नमूना नही मिलता। उस की आधुनिक प्रतिनिधि कुर्दिस्तान की बोलियाँ तथा अफगानस्थान की पश्तो, गल्चा आदि हैं।

भारतवर्ष के क्षेत्र मे मादी वर्ग की मुख्यत: पश्तो और गल्चा भाषाये ही आती हैं। पश्तो के विषय मे बहुत देर तक यह विवाद रहा कि वह आर्यावर्त्ती भाषा है या मादी। सन् १८९० ई० तक आधुनिक नैरुक्तो का रुझान उसे आर्यावर्त्ती मानने का था, किन्तु उस के बाद से अब उसे निश्चित

---

कोनौ—दि होम ऑव पैशाची (पैशाची का अभिजन), ज़ाइटश्रिफ़्ट डर ड्यूशन मौर्गनलांडिशन गेस्सलशाफ़्ट (जर्मन प्राच्य परिषद की पत्रिका) जि० ६४, पृ० ६५-११८। कोनौ इस मत में हार्नली के अनुयायी हैं और ग्रियर्सन पिशल के। पिशल का मत उन के ग्रामटिक डर प्राकृत स्प्राशन (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण) नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में, तथा हार्नली का उन के ग्रन्थ कम्पैरेटिव ग्रामर ऑव दि गौडियन लैंग्वेजेज़ विद स्पेशल रिफरेन्स टु ईस्टर्न हिन्दी (गौडीय भाषाओं, विशेषतः पूरबी हिन्दी, का तुलनापरक व्याकरण) नामक ग्रन्थ में मिलेगा।

१. दे० नीचे § १०५।

२. दे० नीचे § २००।

३. दे० नीचे § १०४ अ।

रूप से मादी माना जाता है। एक गल्चा बोली युद्गा चितराल के सामने दोरा जोत द्वारा हिन्दूकुश के दक्खिन भी उतर आई है, और चितराल और दोरा के बीच लुद्खो दून मे बोली जाती है। उस की रगत चितराल की दरद-जातीय खोवार बोली मे भी कुछ पड गई है। पश्तो बोलने वालो की सख्या अन्दाज़न ४० लाख है। अफगानस्थान के पार्सीवानो और ग़ल्चा-भाषियो की ठीक संख्या नही मिल सकती, पर वह अन्दाज़न १०-१२ लाख होगी।

उन के अतिरिक्त अफगानस्थान मे शायद कुछ तुर्की बोलने वाले भी हैं। तुर्क और हूण तातारी जातियाँ है जो आर्य जाति से एकदम भिन्न है। भारतवर्ष पर उन के बहुत आक्रमण हुए हैं, पर यहाँ जो तुर्क-हूण आये उन के वशजों मे से अफगानस्थान के उक्त कुछ तुर्की भाषियो को छोड़ सब आर्य भाषाये अपना चुके हैं।

## § १६. आर्यावर्त्ती शाखा

आर्यावर्त्ती शाखा बहुत फैली हुई है। आजकल के निरुक्तिशास्त्री उसे तीन उपशाखाओ मे बाँटते हैं—भीतरी, बिचली और बाहरी। भीतरी उपशाखा के दो वर्ग हैं—केन्द्रवर्ग और पहाडी वर्ग। केन्द्रवर्ग का केन्द्र वही पछाँही हिन्दी है जिस का महत्त्व हम पिछले प्रकरण मे देख चुके हैं। पछाँही हिन्दी मे, जैसा कि कह चुके हैं, पाँच बोलियाँ हैं—कनौजी, बुन्देली, व्रजभाखा, खडी बोली और बांगरू। इन सब का भी केन्द्र व्रजभाखा है। और खडी बोली, जिस के आधार पर राष्ट्रभाषा हिन्दी बनी है, पछाँही हिन्दी का पंजाबी मे ढलता हुआ रूप है। प्राचीन वैदिक और शास्त्रीय सस्कृत तथा शौरसेनी प्राकृत भी पछाँही-हिन्दी चेत्र को बालियाँ थीं।

हम ने तमाम हिन्दी चेत्र को मध्यमण्डल कह कर उस के चारों तरफ़ भारतवर्ष की जातीय भूमियो का बँटवारा किया है। वह बँटवारा भौगोलिक और व्यावहारिक दृष्टि से है। निरुक्तिशास्त्रीय बँटवारा उस से कुछ बदलता है।

उस के अनुसार केन्द्र वर्ग मे पछाँही हिन्दी के अतिरिक्त पजाबी, राजस्थानी और गुजराती ये तीन मुख्य भाषाये आती है। पजाबी केवल पूरब पंजाब की। राजस्थानी और गुजराती के बीच भीली बोलियाँ है, उन्ही का एक रूप खानदेशी भी है। खानदेश असल मे मालवा का अङ्ग है, पर अब महाराष्ट्र में आ जाने से उस मे पढ़ने लिखने की भाषा मराठी हो गई है। भीली और खानदेशी भी केन्द्रवर्ग मे है। राजस्थानी और गुजराती चार पाँच सौ बरस पहले एक ही भाषा थीं। मारवाड़ और गुजरात के इतिहास मे भी परस्पर बड़ा सम्बन्ध रहा है।

उत्तरपूरबी राजस्थान मे दिल्ली के ठीक दक्खिनपच्छिम आधुनिक अलवर रियासत मे मेव लोग रहते है जिन के कारण वह प्रदेश मेवात कहलाता है। मेवाती राजस्थानी की एक बोली है। उस का एक रूप गूजरी है, जो राजस्थान के बाहर भी बहुत दूर दूर तक जहाँ जहाँ गूजरो की बस्तियाँ हैं बोली जाती है। इन बस्तियो का सिलसिला मेवात से उत्तर तरफ़ जमना के दोनो ओर हिमालय के चरणों तक चला गया है, और वहाँ से हिमालय की उपत्यका के अन्दर अन्दर स्वात नदी तक जा पहुँचा है। सभी जगह फिरन्दर गूजर लोग अपनी गूजरी बोली, जो मेवाती और जमना काँठे की खड़ी बोली का मिश्रण है, बोलते हैं। स्वात और कश्मीर के पहाड़ो मे उन में से जो गाय-भैंस चराते वे गूजर और जो भेड़-बकडी चराते वे अजिड़[1] कहलाते हैं।

भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास मे गूजर या गुर्जर एक प्रसिद्ध जाति रही है। वे कौन थे, कहाँ से आये, इन प्रश्नो पर बड़ा विवाद है। किन्तु वर्त्तमान भाषाविषयक स्थिति से केवल इतना निश्चित होता है कि किसी समय वे पूरबी राजस्थान से उत्तरपच्छिम ज़रूर फैले हैं।

---

१. हिन्दकी में आजड़ी।

राजस्थानी का सम्बन्ध समूचे पहाडी वर्ग से भी है। पहाडी वर्ग मे पूरबी पहाडी अर्थात् नेपाल की पर्बतिया ( गोरखाली ) या खसकुरा बोली, मध्य पहाडी अर्थात् कुमाँउनी और गढवाली, तथा पच्छिम पहाडी अर्थात जौनसार से चम्बा तक की बोलियाँ सम्मिलित हैं। ये सभी राजस्थानी से विशेष मिलती हैं। इन मे दरद रगत भी है—अर्थात् कश्मीर का प्रभाव पूरब तरफ नेपाल तक पहुँचा है। इन पहाडो की जनता मे खस जाति का एक बड़ा अश है। और ये खस खख, या खसिया लोग दरद शाखा के हैं। पहाडी बोलियो की दरद रगत का मूल कारण वही प्रतीत होते हैं।

भीतरी उपशाखा के पूरब, दक्खिन और उत्तरपच्छिम बाहरी उपशाखा की भाषाये हैं। पच्छिम तरफ़ उसे घेरने वाली कोई भाषा नहीं है, उधर गुजरात द्वारा भीतरी उपशाखा समुद्र तक जा पहुँची है। गुजरात और सिन्ध भूगोल की दृष्टि से पच्छिम-खण्ड मे हैं, किन्तु भाषा की दृष्टि से गुजरात केन्द्रवर्ग मे और सिन्ध उत्तरपच्छिम वर्ग मे है।

पूरब तरफ भीतरी और बाहरी उपशाखा के बीच एक बिचली या मध्यवर्ती उपशाखा है। उस मे एक ही वर्ग और एक ही भाषा है—पूरबी हिन्दी, जिस मे अवधी, बघेली और छत्तीसगढी बोलियाँ हैं। अवधी और बघेली वास्तव मे एक ही बोली है, केवल स्थान-भेद से उस के दो नाम हो गये हैं। प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत जिस मे जैनो का सब पवित्र वाङ्मय है इसी बिचली भाषा की पूर्वज थी।

बाहरी उपशाखा मे तीन वर्ग है—पूरबी, दक्खिनी, और उत्तरपच्छिमी। पूरबी वर्ग की भाषाये बिहारी, उडिया, बँगला और आसमिया है, जो सब मागधी प्राकृत की वशज है। दक्खिनी वर्ग मे मराठी और सिंहली हैं। महाराष्ट्री प्राकृत भी प्राचीन महाराष्ट्र की ही भाषा रही हो ऐसा निश्चय से नहीं कहा जा सकता। एक मत यह है कि वह पच्छिमी अन्तर्वेद—अर्थात् उपरले गगाकाँठे, आजकल के खडी बोली के क्षेत्र—की भाषा थी, जो कि प्राचीन आर्यावर्त्त का प्रमुख देश था। उत्तरपच्छिमी वर्ग मे सिन्धी और

हिन्दकी बोलियाँ हैं। उन का पूर्वज व्राचड अपभ्रंश था जिस की मूल प्राकृत का नाम अब मालूम नहीं है।

तमाम आर्यावर्ती भाषाये बोलने वालों की संख्या सन् १९२१ मे अन्दाज़न २३ करोड़ ४५ लाख[1] थी। यदि उस मे हम दरदी और मादी-भाषियो का पूर्वोक्त अन्दाज़ मिला दें तो तमाम आर्य-भाषियो की सख्या २४¾ करोड़ के कुछ ऊपर या नीचे होती है।

## §१७. आर्य नस्ल का मूल अभिजन और भारतवर्ष में आने का रास्ता

आर्य लोगों का आदिम घर, जहाँ आधुनिक आर्यावर्ती, दरदी, मादी और पारसीक भाषाये बोलने वालों के पूर्वज इकट्ठे रहते थे, कहाँ था? उस घर मे वे कब तक और किस दशा मे साथ रहे? फिर कैसे अलग हुए? और किन दशाओं मे, कैसे तथा किन रास्तों से अपने विद्यमान घरों मे पहुँचे? विशेष कर आर्यावर्त्त की सब से शुद्ध और केन्द्रिक भाषा उत्तर भारत के मैदान के मध्य मे कैसे आ पहुँची? इन प्रश्नो का उत्तर मिलने से इन जातियो का परस्पर सम्बन्ध समझने मे हमे सहायता मिलेगी, इस में सन्देह नहीं। किन्तु वह विवाद यहाँ छेड़ा नहीं जा सकता। यहाँ केवल उस मत का निर्देश भर किया जाता है जो कि रूपरेखा मे अपनाया गया है। वह मत एक अंश के मुख्य भेद के सिवा तथा एक गौण अंश के अलावा स्व० जस्टिस पार्जीटर का है। वह यह है कि ईसवी सन् से लगभग ३००० (पार्जीटर के अनुसार २६००)[2] बरस पहले आर्य लोगों ने इलावृत अर्थात् मध्य हिमालय या कनौर-जौनसार-गढ़वाल-कुमाऊँ के रास्ते भारतवर्ष के अन्तर्वेद मे प्रवेश किया। शायद उसी समय उन की एक शाखा या तो मध्य हिमालय

१. ब्रिटिश और रियासती 'भारतवर्ष' में २२, ९५, ६०, ५५५ तथा सिंहल के सिंहली-भाषी ३०, १६, १५६। नेपाल के गोरखाली-भाषियों की संख्या भारतवर्ष की सख्या में नहीं है; उन का पौने बीस लाख अन्दाज़ करने से उक्त जोड़ बना है। नेपाल की कुल आबादी ५२ लाख कही जाती है।

२. प्रा० अ०, पृ० १८२-१८३। दे० नीचे §१६ तथा ॐ ११।

से पच्छिम तरफ पहाडो-पहाड, अथवा पामीर से सीधे दक्खिन, कपिश-कश्मीर की ओर चली गई—वही दरद और खस लोगो के पूर्वज थे[1]। जो आर्य अन्तर्वेद मे आये वे अपने को ऐळ कहते थे। उन से पहले भी भारतवर्ष में मानव वंश के आर्य[2] आ चुके थे। ऐळ आर्य जल्द चारो तरफ बढ़ने लगे, और आधुनिक आर्यावर्त्त के तमाम प्रदेशो मे फैल गये। अन्तर्वेद मे उन के पैर जमाने के लगभग २५ पुश्त बाद उन की एक शाखा गन्धार देश अर्थात् उत्तरपच्छिमी पंजाब से पच्छिम और उत्तर तरफ हिन्दूकुश और उस के पार के प्रदेशो मे चली गई[3]।

इस वाद के सम्बन्ध मे यहाँ केवल इस बात पर ध्यान दिलाया जा सकता है कि आर्यावर्त्त की शुद्धतम और केन्द्रिक भाषा उत्तरपच्छिम न रह कर अन्तर्वेद मे कैसे चली आई, और मिश्रित भाषाये उस के चारो तरफ कैसे फैल गई, दूसरा कोई वाद इस प्रश्न का ऐसा सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकना जैसा कि यह। उत्तरपच्छिम से आर्यो का भारत मे प्रवेश मानने-वालो को इस सम्बन्ध मे बड़ी विचित्र और पेचीदा कल्पनाओ की शरण लेनी पड़ती है।

## §१८. भारतवर्ष की गौण भाषायें और नस्लें—शाबर और किरात

ऊपर की विवेचना से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भूटान और आसामोत्तर प्रदेश को छोड कर भारतवर्ष के तमाम प्रान्तो मे या तो कोई आर्य भाषा चलती है या द्राविड भाषा। दक्खिन के साढ़े चार प्रान्तो अर्थात् आन्ध्र, कर्णाटक, केरल, तामिलनाड और आधे सिहल मे सभ्य द्राविड भाषाये हैं, बाकी समूचे भारत मे आर्य भाषाये। आन्ध्र, उडीसा, बिहार, चेदि, राजस्थान और महाराष्ट्र के सीमान्तो के वन्य प्रदेशो मे तथा सिन्ध की

---

१ यह दरदों विषयक अंश पार्जीटर का नही है।

२. यही मुख्य मतभेद है, दे० नीचे * ६।

३. दे० नीचे §२३, तथा ** ४, १२।

सीमा पार कलात मे कुछ अपरिष्कृत द्राविड बोलियाँ भी हैं। किन्तु वे अपरिष्कृत द्राविड बोलियाँ ही उन मुख्य सभ्य भाषाओ का एकमात्र अपवाद नही है। विन्ध्यमेखला के पूर्वोक्त वन्य प्रदेशो तथा उन के पड़ोस मे, हिमालय के उत्तरी छोर पर तथा आसाम के सीमान्त पर कुछ और गौण बोलियाँ भी बोली जाती हैं, जिन के बोलने वालों मे से बहुतो का अभी तक सभ्यता से विशेष सम्पर्क नहीं हुआ है। उन की कुल सख्या एक करोड़ के अन्दर अन्दर है, और उन मे से करीब ४२ लाख आग्नेय वंश के है, तथा बाकी तिब्बतबर्मी या किरात परिवार के। आग्नेय वंश की मुख्यतः मुण्ड या शाबर शाखा ही भारतवर्ष मे है, और वह भी सब मुख्यत: झाड़खण्ड मे, जहाँ अब द्राविड ओराँव लोग भी जा पहुँचे हैं। तिब्बतबर्मी या किरात वश केवल हिमालय के उपरले हाशिये मे तथा मुख्यत: उत्तरपूरबी और पूरबी सीमान्त पर है। उन दोनो वंशो की हम अलग अलग विवेचना करेंगे।

## §१९. आग्नेय वंश और उस की मुण्ड या शाबर शाखा

जनविज्ञान के आचार्य द्राविड और मुण्ड नस्लो के रंगरूप की बनावट मे कोई भेद नहीं कर पाते, किन्तु भाषाविज्ञानियों (निरुक्तिशास्त्रियो) का कहना है कि द्राविडों और मुंडो की भाषाये एक दूसरे से एकदम अलग और स्वतन्त्र हैं।

मुण्ड या शाबर जाति जिस बड़े वंश की शाखा है, नैरुक्तों ने उस का नाम आग्नेय (Austric) इस लिए रक्खा है कि वह सभ्य जगत् के आग्नेय (दक्खिनपूरब) कोण मे पाया जाता है। मदागास्कर और विन्ध्यमेखला से शुरू कर प्रशान्त महासागर के ईस्टर द्वीप तक आज आग्नेय वंश फैला हुआ है, और उस की भाषा के प्रभाव के चिह्न हिमालय मे सतलज-तट के कनौर प्रदेश तक पाये गये हैं। उस वंश के दो बड़े स्कन्ध हैं—आग्नेयदेशी (Austro-Asiatic) तथा आग्नेयद्वीपी (Austronesian)। आग्नेयद्वीपी

स्कन्ध की फिर तीन शाखायें हैं—सुवर्णद्वीपी या मलायुद्वीपी (Indonesian), पपूवा-द्वीपी (Malanesian) तथा सागरद्वीपी (Polynesian)। साथ के नक्शे से उन की स्थिति प्रकट होगी।

सुमात्रा जावा आदि द्वीपपुञ्ज के आजकल युरोपी भाषाओं मे कई[1] नाम हैं, जिन मे से एक 'मलय' द्वीपावली भी है। वह नाम वहाँ की मुख्य जाति 'मलय' के नाम से पड़ा है। उसी जाति के कारण उस द्वीपावली के उत्तर तरफ का प्रायद्वीप भी 'मलय' प्रायद्वीप कहलाता है। भारतवर्ष मे मलय शब्द तामिलनाड के एक विशेष पर्वत का नाम है, और उस का मूल तामिल मलै है[2]। 'मलय' प्रायद्वीप और द्वीपावली के 'मलय' लोग अपने देश को ताना मलायु और अपनी जाति को ओराग मलायु कहते हैं। अंग्रेजी मलय उसी मलायु का रूपान्तर है। हम ताना मलायु को मलायु द्वीप कहना पसन्द करते है, क्योंकि एक तो वह शब्द का ठीक रूप है, दूसरे मलय शब्द के प्रयोग से हमारे देश मे भ्रम हो सकता है। प्राचीन भारत मे उस के मुख्य अशो को सुवर्णद्वीप और यवद्वीप भी कहते थे—यवद्वीप मे न केवल जावा प्रत्युत सुमात्रा भी शामिल होता था[3]। मलायु द्वीपो मे ओरांग मलायु के अतिरिक्त उन से मिलती जुलती और जातियाँ भी हैं, और उन सब को मिला कर हम मलायुद्वीपी या सुवर्णद्वीपी कहते है। वहाँ के थोडे से मूल निवासी, जैसे सुमात्रा के बतक, बोर्नियो के मुरुत, मलायु-प्रायद्वीप के सेमांग, उन से भिन्न हैं। भारतवर्ष मे केवल सिंहल मे १३½ हजार मलायु रहते है।

मलायु लोग अपने से पूरबी द्वीपो के निवासियो को पुवा पुवा या पपूवा कहते हैं जिस का अर्थ है गुच्छेदार केशो वाले। उन लोगो के केश

---

१. मलय आर्किपेलगो, मलैसिया, इंडियन आर्किपेलगो, ईस्ट इंडीज़, इंडोनीसिया, इंसुलिंड ( जर्मन शब्द )।

२ दे० ऊपर § ४।

३ दे० नीचे §१७१।

नीग्रो लोगों की तरह ऊन के से गुच्छेदार और रंग एकदम काला होता है, जिस कारण युरोपी लोग उन के द्वीपो को मेलानीसिया अर्थात् कालद्वीप कहते हैं; उन मे न्यू गिनी भी सम्मिलित है। हम उन्हे पपूवा द्वीप कह सकते हैं। प्रशान्त महासागर की द्वीपावली पपूवा के पूरब है।

आग्नेयदेशी स्कन्ध मे पूरबी भारत तथा परले हिन्द प्रायद्वीप के प्राचीन मुख्य निवासी सम्मिलित है, जिन की भाषाये अब उन देशो के विशेष विशेष अंशों मे बची है। उस स्कन्ध की दो बड़ी शाखाये हैं—एक मोन-ख्मेर, दूसरी मुंड या शाबर। मोन-ख्मेर के चार वर्ग हैं—(१) मोन-ख्मेर, (२) पलोंग-वा, (३) खासी, और (४) नक्कवारी। इन मे से मोन-ख्मेर मुख्य हैं। मोन या तलैंग एक मँजी हुई वाङ्मय-सम्पन्न भाषा है जो अब बर्मा के तट पर पगू, थतोन और एम्हर्स्ट ज़िलों मे पाई जाती है। ख्मेर कम्बुज देश[1] के मुख्य निवासी ख्मेर लोगो की भाषा है। उस मे भी अच्छा वाङ्मय है। मोन और ख्मेर लोग एक ही जाति के हैं। पलोग और वा उत्तर बर्मा की जंगली बोलियाँ हैं। नक्कवारी नक्कवार (निकोबार) द्वीप की बोली है, जो मोन और मुण्ड बोलियो के बीच कड़ी है। खासी बोलियाँ भी उसी शाखा की है, और वे आसाम के खासी-जयन्तिया पहाड़ो मे बोली जाती है। भारतवर्ष के क्षेत्र मे मोन-ख्मेर शाखा की केवल खासी बोलियाँ, और यदि नक्कवार को भारत मे गिनना हो तो नक्कवारी है। खासी बोलियाँ बोलने वाले केवल २ लाख ४ हज़ार, और नक्कवारी ८३ हज़ार पिछली गणना मे थे। मोन-ख्मेर शाखा के दूसरे लोगो से भी भारतवर्ष के इतिहास में हमे बहुत वास्ता पड़ेगा[2]। नक्कवार के उत्तर अन्डमान द्वीप हैं, जहाँ के लोग अभी तक

---

१. दक्खिनपूरब के इस कम्बुज को उत्तरपच्छिम के कम्बोज के साथ न गड़बड़ाना चाहिए। कम्बुज नाम अब तक प्रचलित है।

२. नीचे §§१३६ अ, १७६ आदि।

बहुत ही असभ्य दशा मे हैं, और जिन की बोली भी एक पहेली है। बुरु शास्की की तरह उस का भी संसार के किसी वश से सम्बन्ध नही दीख पडता।

मुण्ड या शाबर शाखा की बोलियाँ विन्ध्यमेखला या उस के पड़ोस मे विद्यमान हैं। उन मे से मुख्य बिहार में छोटा नागपुर तथा सन्थाल-परगने ( विन्ध्यमेखला के पूरबी छोर ) की खेरवारी बोली है, जिस के सन्ताली, मुण्डारी, हा, भूमिज, कोरवा आदि रूप हैं। खेरवारी के कुल बोलने वाले ३५ लाख है, जिन मे सन्ताली के २२ ३ लाख, मुडारी के ६¾ लाख और हो के ३.८ लाख है। ध्यान रहे कि खास सन्थाल-परगना मे सन्थाल लोग छोटा नागपुर से १८ वी शताब्दी ई० मे हो आये है। मुण्डारी बोलने वाले मुण्डा लोग ओरॉव लोगो के साथ एक ही प्रदेश मे मिले जुले रहते है। कूरकू नाम की एक दूसरी बोली, जिस के बोलने वाले कुल १ २ लाख है, विन्ध्यमेखला के पच्छिमी छोर पर मालवा ( राजस्थान ) और चेदि की सीमाओ पर, पच-मढ़ी के पच्छिम बेतूल जिले मे, तथा मेवाड मे बोली जाती है। अन्य सब मुण्ड बोलियाँ खेरवारी के पड़ोस या दक्खिन मे है। खडिया (१ ३ लाख) रॉची मे और जुआग (१० हजार) उडीसा की केदूझर और ढेकानाल रिया-सतो मे है, दोनो मरने के करीब है और आर्य भाषाओ म लुप्त हो रही है। जुआग या पतुआ लोग मुण्ड लोगो मे भी सब से असभ्य दशा मे है। उन की स्त्रियाँ अभी तक बदन के आगे पीछे पत्तो के दो गुच्छे बाँध कर नगी जङ्गलो मे फिरती हैं। शबर (१ ७ लाख) और गदबा (३३ हजार) नाम की जातियाँ और बोलियाँ उड़ीसा और आन्ध्र की सीमा पर है।

मुण्ड नाम हमारे सस्कृत वाङ्मय मे पुराना चला आता है[1], और आज तक हम मुण्डारी बोलने वाले मुण्डा लोगो को अपने लिए वही नाम बर्तता पाते हैं। मैक्समुइलर ने आजकल के नैरुक्तो की शब्दावली मे उसी

1. वा० पु० १, ४५, १२३, म० भा० ६, ५६, ६।

मुण्ड शब्द को मुण्डा रूप मे समूची शाखा के नाम के अर्थ मे फिर से चला दिया है। हिन्दी मे हम उस का मूल सस्कृत रूप मुण्ड ही रक्खेंगे, मुण्डा कहने की जरूरत नही। किन्तु शबर शब्द उस से कही अधिक प्राचीन[1] और भारतवर्ष के जनसाधारण मे अधिक सुपरिचित है। वह भी मुण्ड शब्द की तरह आज तक चला आता है। ऐसा सन्देह करने का कारण है कि प्राचीन भारत मे भी वह न केवल खास शबरो के प्रत्युत उन से मिलती जुलती अनेक जातियो के सामान्य नाम के रूप मे भी बर्ता जाता था[2]। इसी कारण आधुनिक भारतीय भाषाओ मे इस समूची वश-शाखा के जातिवाचक नाम के रूप मे बर्तने के लिए शबर का तद्धित शाबर अधिक सुबोध स्पष्टार्थक दीख पड़ता है। उत्तर भारत के ग्रामीण लोग इन जातियो को कोल कह कर भी याद करते हैं। कुछ लेखक उन्हे कोलरी ( अंग्रेजी—कोलरियन ) भी लिखने लगे थे। वह एक निरर्थक, भ्रान्त और लगब शब्द है।

---

१. दे० नीचे § ७४।

२. दूसरी शताब्दी ई० के रोमन ज्योतिषी तोलमाय के भूगोल में मर्तबान की खाड़ी से मलक्का की समुद्रसन्धि (जलग्रीवा) तक के समुद्र को सिनस् सबरिकस् कहा है। उस समुद्र के तट पर सुवर्णभूमि के मोन या तलैंग लोग रहते थे, उस के ठीक सामने भारत के पूरबी तट पर तेलंगण प्रान्त और शबरी नदी है। इस प्रकार, पूरबी भारत के आग्नेयदेशी शबरों और सुवर्णभूमि के आग्नेयदेशी मोनों, दोनों के लिए शबर शब्द का प्रयोग किया गया दीखता है, जिस से न केवल यह प्रकट होता है कि उन की सगोत्रता ज्ञात थी, प्रत्युत ऐसा भी जान पड़ता है कि शबर शब्द आग्नेय-देशी स्कन्ध की दोनों शाखाओं—मुण्ड और मोन ख्मेर—के लिए, या दोनों के विशेष अंशों के लिए, सामान्य रूप से बर्ता जाता था। अनेक शाबर जातियों की सगोत्रता को प्राचीन भारतवासी पहचानते थे, इस की विशेष विवेचना मैंने रघुज़ लाइन ऑव कौन्क्वेस्ट तथा भारतभूमि परिशिष्ट १ ( ४ ) में भी की है।

मुण्ड या शाबर बोलियाँ बोलने वालो की कुल सख्या सन् १९२१ में ३९·७३ लाख थी; उन मे खासी, सिहल के मलायुओ और नक्कवारियो की सख्या जोड देने से कुल आग्नेय-भाषियो की सख्या ४२ लाख होती है।

यह एक बडे मार्के की बात है कि पूर्वी नेपाल की तथा चम्बा से अलमोडा तक की पहाडी बोलियो मे, जिन का हम अभी उल्लेख करेंगे, मुण्ड या शाबर भाषाओ का तलछट स्पष्ट और निश्चित रूप से पकडा गया है। उन बोलियो मे सब से अधिक उल्लेखयोग्य कनौर की कनौरी या कनावरी है। आर्य और द्राविड भाषाओ पर भी शाबर प्रभाव हुआ है, विशेष कर बिहारी हिन्दी और तेलुगु मे उस की झलक प्रतीत होती है।

आग्नेय जातियो की स्थिति आज भारतवर्ष मे और परले हिन्द मे भी भले ही गौण हो, भारतवर्ष के पिछले इतिहास मे उन का बड़ा स्थान है। समूची सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीपो मे पहले वे ही फैले हुए थे, बरमी, स्यामी और आनामी लोगो के पूर्वज उस समय और उत्तर के पहाडो मे रहते थे। इन्हीं आग्नेय जातियो के बीच भारतवासियो ने अपने उपनिवेश स्थापित करा और अपनी सभ्यता और सस्कृति की कलम लगा कर उन के देश को दूसरा भारतवर्ष बना दिया था। उन की सभ्यता, उन की भाषा और उन के वाङ्मय पर भारतवर्ष की वह छाप आज तक लगी है।

## § २० चीन-किरात या तिब्बत-चीनी वंश

हिमालय के उत्तरी हाशिये और पूरबी छोर मे तथा उस के साथ लगे हुए भारतवर्ष के उत्तरपूरबी सीमान्त प्रदेश मे अनेक छोटे छोटे गिरोहो और जातियो की बोलियाँ सुनाई पडती हैं, और वे सब एक और बड़े वश की हैं। उस वश, अथवा ठीक ठीक कहे तो वशस्कन्ध, की शुद्ध नस्ल आजकल तिब्बत और बर्मा मे है।

तिब्बत शब्द न जाने कहाँ का है, स्वयं तिब्बती अपने देश को पोतयुल कहते हैं। वे लिखते पोत पर बोलते बोद है, युल माने देश। सस्कृत बौद्ध

कश्मीरी बुट्टुन, गढ़वाल कुमाऊँ और नेपाल का भोट, तथा पूरबी हिमालय का भूटान सब पोत या बोद के रूपान्तर है। लेकिन भारतवर्ष के पहाड़ी अब अपने सीमान्त के केवल उन लोगो को भोटिया कहते हैं जिन मे भारतीय रुधिर का तिब्बती के साथ मिश्रण हो चुका है। उन लोगो का घर भारत बन चुका है, पर उन का तिब्बत से सम्बन्ध भी बना हुआ है। नमूने के लिए कुमाऊँ के भोटिये हर साल गर्मी मे व्यापार के लिए गारतोक जाते, लौट कर कुछ दिन तक अपनी बस्तियों—मीलम, दार्मा आदि—मे ठहर कर अलमोडा उतर आते तथा सर्दियो मे और भी नीचे चले आते है, फिर वसन्त मे अपने गाँवो मे लौट कर खेती काटते और दूसरे साल फिर तिब्बत को रवाना होते हैं। प्रायः उन मे प्रत्येक का एक तिब्बती और एक भारतीय नाम होता है। अपनी भोटिया बोली के अतिरिक्त वे उस से मिलती जुलती असल तिब्बत की तिब्बती, कुमाऊँ की पहाड़ी, और कोई तो हिन्दी भी बोल सकते है। भोटियो के उत्तर तरफ ङरी-खोर्सुम मे जो असल तिब्बती रहते है, उन्हे हमारे देश के पहाड़ी भोटिया नही कहते। न जाने क्यो वे उन्हे हूणिया कहते हैं। हम तिब्बत को भोट कहना पसन्द करते, पर हमारे पहाडियों के भोट मे अब असल तिब्बत नही आता, इस लिए उसे तिब्बत कहना ही ठीक होगा। बर्मा का असल रूप म्यम्म है।

तिब्बत और म्यम्म-देश ( बर्मा ) के लोग एक ही नस्ल के हैं, और उसे जनविज्ञान और भाषाविज्ञान के विद्वान तिब्बत-बर्मी कहते है । तिब्बत-बर्मी स्कन्ध एक विशाल वंश का आधा हिस्सा है; उस समूचे वश का नाम है तिब्बत-चीनी। वह वश आज समूचे चीन, तिब्बत और हिन्दचीन प्रायद्वीप मे छाया हुआ है। उस के दो ही बड़े स्कन्ध है—एक तिब्बत-बर्मी जो आज तिब्बत और बर्मा मे है, तथा दूसरा स्याम-चीनी जो आज स्याम और चीन मे है। उस समूचे वंश का मूल घर ह्वोआङहो और याङ्चे़क्याङ के काँठे हैं, वहीं से उस की कई शाखायें पच्छिम और दक्खिन तरफ फैल गई हैं। हिन्दचीन और तिब्बत मे जो शाखाये आती रहीं, वे सब पहले

उक्त नदियो के निकास के प्रदेश से मेकोङ, साल्वीन और इरावती के उद्गम-प्रदेश मे आई । वहाँ मानो उन का एक अक्षय कुण्ड बना रहता, जिस मे जब बाढ आती, तब वह या तो उन नदियो के प्रवाह के साथ दक्खिन अथवा चाङ्पो ( ब्रह्मपुत्र ) की दून के साथ पच्छिम बह जाती रही। उस कुण्ड के अर्थात् दिहोग-दून के पडोस के प्रदेश—सुरमा काँठा से आसाम तक—इस प्रकार उन बाढो मे प्राय. डूबते रहे, और चाङ्पो दून के दक्खिन और पच्छिम हिमालय के घाटो मे से भी उन बाढ़ो का कुछ अश टपकता रहा। इस प्रकार तिब्बत-बर्मी स्कन्ध से तो हमारे देश को वास्ता पडता ही रहा, किन्तु स्याम-चीनी स्कन्ध भी परले हिन्द मे जाते समय क्योंकि हमारे पूरबी पड़ोस से गुज़रता रहा, इस कारण उस की भी थोड़ी बहुत बाढ एक आध बार भारतवर्ष मे आ गई।

## § २१. स्याम-चीनी स्कन्ध

स्यामचीनी स्कन्ध के दो वर्ग हैं—चैनिक ( Sinitic ) और तई। चैनिक वर्ग चीन मे है, स्यामी लोग अपने को थई या तई कहते है। उन्ही का दूसरा नाम शाम या शान भी है । हिन्दचीन प्रायद्वीप मे इस समय तई या शान नस्ल के लोग सख्या मे सब से अधिक हैं, तथा सब से अधिक प्रदेश घेरे हुए है, आसाम से ले कर चीन के काङसी प्रान्त तक अब उन का क्षेत्र है। मूल स्रोत से निकल कर बहुत ज़माने तक वे श्वेली नदी ( इरावती की पूरबी धारा ) के काँठे मे—उसी पूर्वोक्त कुण्ड मे—रुके रहे। वहाँ से उन्हों ने बहुत अर्वाचीन काल—१४वीं शताब्दी ई०—मे उतर कर मेनाम का काँठा दखल किया। करीब उसी समय—१२२८ ई० मे—उन का एक गिरोह, अहोम नामक, ब्रह्मपुत्र के काँठे मे आया। उन्हीं के कारण वह काँठा आसाम, तथा मेनाम का काँठा स्याम कहलाने लगा, बरमा के शान के नाम मे भी वही मूल शब्द है। अहोम लोग १७वीं शताब्दी ई० में पूरी तरह हिन्दू हो गये, उन की भाषा भी अब आसमिया है, उन के नाम हिन्दू है, केवल उपनामों—फूकन, बरुआ आदि—मे पुराने वश की स्मृति बची हुई है। अहोम बोली

के अतिरिक्त आसाम के पूरबी छोर और बरमा के सीमान्त पर खामती नामक एक और बोली है, जिस के बोलने वालों में से अन्दाजन ५००० आसाम की सीमा में पड़ते हैं। वह भी तई वर्ग की बोली है और १८वीं शताब्दी ई० में वहाँ पहुँची है।

सुवर्णभूमि के भारतीय उपनिवेशों के इतिहास के अन्तिम युग में स्यामचीनी स्कन्ध से विशेष वास्ता पड़ता है। इस लिए इस प्रसंग में यह भी याद रहे कि तई लोग बहुत अर्वाचीन काल में उस प्रायद्वीप में आये हैं। उस से पहले तेनासरीम के मोन और कम्बुज के ख्मेर लोगों के बीच कोई व्यवधान न था, समूचे परले हिन्द में मोनख्मेर जाति ही थी; और चीन की कोई जाति वहाँ न होने के कारण तब तक वह प्रायद्वीप हिन्दचीन भी नहीं कहलाता या कहला सकता था।

## § २२. तिब्बत-बर्मी या किरात स्कन्ध

तिब्बतबर्मी स्कन्ध का भारतवर्ष से विशेष सम्बन्ध है। उस की तीन शाखायें अभी तक मालूम हुई हैं।—( १ ) तिब्बत-हिमालयी, ( २ ) आसामोत्तरक, तथा ( ३ ) आसाम-बर्मी या लौहित्य। तिब्बत-हिमालयी शाखा में तिब्बत की मुख्य भाषायें और बोलियाँ तथा हिमालय के उत्तरी आँचल की कई छोटी छोटी भोटिया बोलियाँ गिनी जाती हैं। लौहित्य या आसाम-बर्मी शाखा के भी नाम से ही प्रकट है कि उस में बर्मा की मुख्य भाषा तथा आसाम-बर्मा-सीमान्त की कई छोटी छोटी बोलियाँ शामिल हैं। आसामोत्तरक शाखा दोनों के बीच आसामोत्तर पहाड़ों में है; उस की कल्पना और नाम अभी आरजी हैं, यह निश्चित है कि उस की बोलियाँ उक्त दो शाखाओं में नहीं समाती, किन्तु वे सब मिल कर स्वय एक शाखा हैं कि नहीं इस की छानबीन अभी नहीं हुई; वह केवल एक भौगोलिक इकाई है।

तिब्बत-हिमालयी शाखा में फिर तीन वर्ग हैं—एक तो तिब्बती या भोटिया जिस में तिब्बत की मजी सँवरी वाङ्मय-सम्पन्न भाषा और बोलियाँ

सम्मिलित हैं, और बाकी दो वर्ग हिमालय की उन बोलियो के हैं जिन की बनावट मे सुदूर तिब्बती नीव दीख पडती है।

सातवी शताब्दी ई० मे जब तिब्बत मे भारतीय प्रचारक बौद्ध धर्म ले गये तब उन्हो ने वहाँ की भाषा को भी माँजा-सँवारा और उस मे समूचे बौद्ध तिपिटक का अनुवाद किया[1]। तिब्बती भाषा में अब अच्छा वाङ्मय है, और वह है मुख्यत भारत से गया हुआ। उस भाषा की कई गौण बोलियाँ भारत की सीमा पर भी बोली जाती है। उन्हे दो उपवर्गो मे बाँटा जाता है। एक पच्छिमी, जिस मे बाल्तिस्तान या बोलौर की बाल्ती और पुरिक बोलियाँ तथा लदाख की लदाखी बोली गिनी जाती है। समूचा बोलौर तथा लदाख का पच्छिमी अश पहले दरद-देश मे सम्मिलित था, और वहाँ की भोटिया-भाषी जनता का बहुत सा अश वास्तव मे दरद है। बाल्ती-पुरिक और लदाखी के कुल मिला कर बोलने वाले १ लाख ८१ हजार हैं, लेकिन लदाख के पूरबी अश को हम ने भारतीय सीमा के बाहर गिना है। दूसरा उपवर्ग पूरबी है, जिस मे भूटान की बोली ल्होखा, सिकिम की दाञ्जोङ्का, नेपाल की शर्पा और कागते, तथा कुमाऊँ-गढ़वाल की भोटिया बोलियाँ है। इन प्रदेशो को हम ने भारतीय सीमा मे गिना है[2], पर नेपाल और भूटान की संख्यायें नहीं मिलने से इन के बोलने वालो का ठीक अन्दाज नही हो सकता।

इन सब बोलियो के बोलने वाले अपना तिब्बत से सम्बन्ध जानते हैं, उन्हे वहाँ से आये बहुत जमाना नही हुआ। किन्तु हिमालय की भोटाशक बोलियों के विषय मे वह बात नहीं है। उन के बोलने वाले बहुत पुराने समय से, तिब्बत मे तिब्बती भाषा परिपक्व होने के भी बहुत पहले से, अपने वंश से अलग हो कर हिमालय मे बसे हुए है। वे नहीं जानते कि उन का

---

१. दे० नीचे, परिशिष्ट इ ४।

२. दे० ऊपर §४ घ।

तिब्बत से कोई सम्बन्ध है भी; वह सम्बन्ध नये निरुक्तिशास्त्रियों ने खोज निकाला है। उन की बोलियों में कई लक्षण ऐसे हैं जो स्पष्ट अतिब्बतबर्मी, बल्कि अतिब्बतचीनी, हैं, और ठीक उन्हीं लक्षणों में उन की मुण्ड या शाबर भाषाओं से पूरी अनुरूपता है। इन हिमालयी बोलियों के दो वर्ग किये जाते हैं। एक वर्ग उन का जिन में धातु के रूप-परिवर्तन का एकमात्र उपाय सर्वनामों को साथ जोड़ना है, जो कि मुण्ड भाषाओं का मुख्य चिह्न है; उन्हें सर्वनामाख्यातिक ( Pronominalised ) कहते हैं। दूसरा वर्ग असर्वनामाख्यातिक ( Non-Pronominalised ) का जिन में वैसी बात नहीं होती। हम पहले वर्ग को किराँत-कनावरादि वर्ग और दूसरे को नेवारादि वर्ग भी कह सकते हैं।

पहले वर्ग के फिर दो उपवर्ग हैं—एक पूरबी या किराँत, दूसरा पच्छिमी या कनौर-दार्मा उपवर्ग। नेपाल का सब से पूरबी भाग—सप्त-कौशिकी प्रदेश—किराँत ( किरात ) देश भी कहलाता है; वहाँ की बोलियाँ पूरबी उपवर्ग की हैं। पच्छिमी उपवर्ग में मुख्य कनौर की कनौरी या कनावरी बोली, तथा उस के पड़ोस की कुल्लू चम्बा और लाहुल की कनाशी चम्बा-लाहुली मनचाटी आदि बोलियाँ एक तरफ, और कुमाऊँ के भोट प्रदेश की दार्मिया और अन्य क्षुद्र बोलियाँ दूसरी तरफ हैं। कनावरी के बोलने वाले २२ हजार हैं, तथा समूचे पच्छिमी उपवर्ग को मिला कर अन्दाजन ३० हजार होंगे।

नेवारादि वर्ग की बोलियाँ नेपाल सिकिम और भूटान की हैं। गोरखे लोग असल में मेवाड़ी राजपूत हैं, और मुसलमानी जमाने में भाग कर हिमालय में बसे हैं। उन से पहले के ठेठ नेपाल के निवासी नेवार लोग हैं, और शायद उन्हीं के नाम से नेपाल का नाम हुआ है। ठेठ नेपाल से पच्छिम प्रदेश के पहले निवासी मगर, गुरुङ्ग आदि लोग हैं। सिकिम के निवासी रोंग हैं, जिन्हें गोरखे लेपचा कह कर छेड़ते हैं। इन सब जातियों की छोटी

छोटी बोलियाँ मिला कर असर्वनामाख्यातिक नेवारादि वर्ग बनता है। इन मे से एकमात्र नेवारी वाङ्मय-सम्पन्न भाषा है, नेपाल मे बहुत पुराने समय से बौद्ध धर्म रहने के कारण उस पर आर्यावर्त्ती प्रभाव भी खूब पडा है। ध्यान रहे कि नेवारी आदि बोलियो के बोलने वाले नेपाल सिकिम भूटान की मुख्य जनता हैं। अब तक भी नेपाल मे खेती-बाड़ी व्यापार-धन्दा सब नेवारो के हाथ मे है, गोरखे खाली सैनिक और शासक हैं। तो भी गोरखाली भाषा को अब सब नेवार समझते और अधिकाश बोलते भी हैं, यद्यपि नेवार स्त्रियाँ अभी तक दुभाषिया नही बनी।

आसामोत्तरक शाखा मे उन्ही आसामोत्तर जातियो की बोलियाँ सम्मिलित है जिन का उल्लेख पीछे हो चुका है[1]।

लौहित्य या आसामबर्मी शाखा की भाषाये और बोलियाँ सात वर्गों मे बाँटी गई है। उन मे से मुख्य बर्मा या म्यम्म वर्ग है जिस मे म्यम्म (बर्मी) भाषा और उस की बोलियाँ—अराकानी, दावे[2] आदि—है जिन के सब मिला कर बोलने वाले ९३ लाख ३५ हजार है। उन के अतिरिक्त सक वर्ग और कचीन वर्ग की बोलियाँ भी सब बर्मा मे ही हैं। लोलो वर्ग चीन के युइनान प्रान्त मे है। बाकी तीन वर्गों मे से कूकी-चिन वर्ग भारत और बर्मा के सीमान्त पर पडता है, और बाड़ा वर्ग तथा नागा वर्ग पूरी तरह भारतवर्ष के अन्दर।

बाडा या बोडो लोग आसाम की अनार्य भाषी जनता मे सब से मुख्य हैं। कोच उन्हीं का एक फिरका है, जिस का राज्य कभी पूर्णिया जिले के पच्छिम तक होता था। किन्तु अब उन का कोच-बिहार या कूच-बिहार प्रदेश

---

१ ऊपर § ५ इ (५)।

२ दावे को अंग्रेजी में बिगाड़ कर Tavoy लिखते हैं।

बँगला-भाषी है। उस मे और उस के साथ लगे ग्वालपाड़ा और कामरूप ज़िलों की जनता मे अब १० फी सदी संख्या बाड़ा-भाषियों की है, गारो पर्वत पूरी तरह उन के दखल मे है। ब्रह्मपुत्र के दक्खिन नौगाँव ज़िले मे, शिवसागर जिले के मजूली द्वीप मे, उत्तर लखीमपुर की दिक्रोग नदी पर, कछार, पहाड़ी त्रिपुरा और चटगाँव की पहाड़ियों मे, जहाँ चटगाँउनी लोग उन्हे म्रुग कहते है, तथा ढाका मयमनसिंह की सीमा के मधुपुर जंगलो मे उन की बस्तियाँ है। इस प्रकार की भौगोलिक स्थिति सूचित करती है कि किसी युग मे मणिपुर और नागा पर्वतों के पच्छिम सुरमा काँठे मे और खासो-जयन्तिया के ऊँचे पहाड़ो के सिवाय समूचे पच्छिमी आसाम मे बाड़ा जाति की सत्ता थी। बगला भाषा त्रिपुरा और गारो के बाडा प्रदेश के बीच सुरमा काँठे मे एक फाने की तरह धँस गई है, उसी प्रकार ब्रह्मपुत्र काँठे मे बगला और आसमिया जा घुसी हैं। प्रायः सभी बाड़ा लोग अब दुभाषिये है, कोच लोग तो पूरी तरह बँगला-भाषी ही हैं। मधुपुर जंगलों के बाड़ा-भाषी छोटे कोच सूचित करते हैं कि कूचबिहार के बडे कोच भी मूलतः बाड़ा है, अन्यथा वे पूरी तरह आर्य-भाषी है। बाड़ा-भाषियों की कुल सख्या अब ७ लाख १५ हज़ार है।

नागा बोलियो और नागा जातियो का घर उत्तर कछार से पतकोई पहाड़ों तक अर्थात् नागा पहाड़ो के अन्दर है। नागा वर्ग मे लगभग ३० छोटी छोटी बोलियाँ हैं जिन के सब मिला कर बोलने वाले कुल ३ लाख ३९ हजार हैं। पूरबी सीमान्त के नागा तो अभो बिलकुल असभ्य दशा में है, और नगे घूमते हैं।

कूकी-चिन वर्ग आधा भारत मे और आधा बरमा मे पड़ता है। कछार, तिपुरा और चटगाँव के पूरब के पहाड़ियो को बंगाली और आसमिया लोग कूकी कहते हैं। उधर बरमी लोग अपने इन सीमान्त निवासियों को चिन या ख्येग कहते है। कूकी-चिन बोलियों का वर्ग दो उपवर्गों में बाँटा जाता

है—एक मेईथेई, दूसरा चिन। मेइथेई भाषा मणिपुरियो की है, कुल बोलने वाले ३ लाख ४३ हजार। लुशेई और चिन पहाडो तथा पडोस के प्रदेश मे चिन बोलियाँ हैं जिन मे से मुख्य लुशेई है। भारतवर्ष की विद्यमान राज-नैतिक सीमा के अनुसार यदि लुशेई पहाडो को भारतवर्ष मे गिना जाय तो मेईथेई-समेत कूकी चिन वर्ग की बोलियाँ बोलने वालो की कुल सख्या हमारे देश में ४ लाख ९६ हजार है।

इस प्रकार कुल लौहित्य भाषाये बोलने वाले भारतवर्ष मे १५ लाख ५० हजार है, जिन का कुछ अश बगाल मे किन्तु अधिकाश आसाम मे है। उन के मुकाबले मे आर्य आसमिया-भाषियो की कुल सख्या १७ लाख २७ हजार है। आसामोत्तर प्रदेश, भूटान और नेपाल के अङ्क न मिलने से तिब्बतबर्मी-भाषियो का ठीक अन्दाज नही किया जा सकता, तो भी मेरा अन्दाज है कि उन की कुल सख्या ५० और ६० लाख के बीच होगी। और उन की बोलियो मे नेवारी जैसी एक परिष्कृत भाषा भी सम्मिलित है जिस पर आर्य्यावर्ती सस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओ को पूरी पूरी छाप लग चुकी है।

तिब्बतबर्मी शब्द आधुनिक नैरुक्तो और जनविज्ञानियो का है। उस शब्द के प्रयोग से ऐसा भ्रम होता है कि मानों तिब्बतबर्मी नस्ल का प्राचीन आदिम घर तिब्बत और बर्मा मे ही रहा हो। असल बात यह है कि बरमा मे वह बहुत नये समय मे आई है। इसी कारण पुराने इतिहास मे तिब्बतबर्मी शब्द का प्रयोग करना बहुत असुविधाजनक है। किन्तु बरमा का उत्तरी और भारत का उत्तरपूरबो छोर इस जाति का सनातन घर कहा जा सकता है। हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे स्पष्ट और निश्चित रूप से भारत के उस उत्तरपूरबो सीमान्त के निवासियो को किरात कहा गया है। नेपाल का पूरबी अश तो अब भी किराँत-देश कहलाता ही है; कूचबिहार उस के पडोस में ही है। प्राचोन किरात शब्द स्पष्ट रूप से नेपाल के कियतियों के लिए नहीं,

प्रत्युत पूरबी सीमान्त के सभी अनार्यभाषियो के लिए है[१]। साथ ही वह हिमालय पार के तिब्बतियो के लिए भी प्रयुक्त होता था[२]। इसी लिए तिब्बतबर्मी की अपेक्षा किरात शब्द कहीं अच्छा है। इस प्रकार तिब्बत-चीनी वंश को चीन-किरात वश कहना अधिक उचित होगा।

## § २३ भारतीय वर्णमाला और वाङ्मय

भारतवर्ष की पूर्वोक्त सभ्य भाषाये किन किन लिपियों मे लिखी जाती हैं, उस ओर ध्यान देने से हम एक बड़े महत्त्व के परिणाम पर पहुँचते हैं।

भारतवर्ष की प्रमुख भाषा हिन्दी मुख्यतः नागरी लिपि मे लिखी जाती है। भारतवर्ष के पच्छिमोत्तर आँचल पर अरबी लिपि आ गई है। हिन्दी को अरबी लिपि मे भी लिखा जाता है और तब उसे उर्दू कहते है। हिन्दी और उर्दू अलग अलग भाषाये नही, केवल दो शैलियाँ है। ऐसा भी नही कि किसी प्रान्त मे केवल उर्दू शैली ही चलती हो या किसी मे केवल हिन्दी। हिन्दी के अतिरिक्त सिन्धी भाषा पर भी अरबी लिपि का प्रभाव पड़ा है। उसे कुछ लोग नागरी लिपि मे लिखते है, पर आजकल उसे अरबी लिपि मे लिखने की चाल अधिक है। दोनों लिखावटे क्रमशः नागरी-सिन्धी और अरबी-सिन्धी कहलाती है। पश्तो अभी तक केवल अरबी लिपि मे ही लिखी गई है। गल्चा बोलियाँ लिखित भाषाये नहीं है, और उसी प्रकार

---

१. दीपो ह्युपनिविष्टोऽयं म्लेच्छैरन्तेषु नित्यश.।
पूर्वे किराता ह्यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः॥
वा० पु० ४५, ८२।

पूर्वे किराता यस्य स्युः पश्चिमे यवनाः .....
वि० पु० २, ३, ८।

२. रघुवंश ४, ७६; दे० भारतभूमि, परिशिष्ट १ (२-५), तथा रघुज़ लाइन ऑव कौन्केस्ट।

काफिरिस्तान की काफिर बोलियाँ तथा कलात की ब्राहूई। हिन्दकी की भी प्राय. वही हालत है।

हिन्दी की सभी बोलियाँ—राजस्थानी, पछाँही, पहाडी, पूरबी और बिहारी परिवारो की—जब कभी लिखी जाती है नागरी लिपि या उस के किसी विकृत रूप ( जैसे कैथी या महाजनी ) में ही। बोलियों को अलग रख कर हम परिष्कृत भाषाओ पर ही ध्यान दे तो हिन्दी, मराठी और पर्बतिया (गोरखाली) इन तीन भाषाओ की लिपि हूबहू एक है—वही नागरी। इस के अलावा भारतवर्ष के सभी प्रान्तो मे ही नहीं प्रत्युत समूचे जगत् मे सस्कृत प्राय. नागरी अक्षरो मे ही लिखी पढ़ी जाती है। इस प्रकार नागरी का क्षेत्र हिन्दी-क्षेत्र से बहुत अधिक विस्तृत है।

पूरब तरफ बगला और आसमिया दोनो एक ही लिपि मे लिखी जाती हैं, जिसे बगला कहते हैं। उडिया की अपनी अलग लिपि है, जिस की विशेष पहचान वर्णों के सिर पर की चक्करदार पगडी है, ताडपत्र पर लोहे की कलम से जब लिखना पडता था तब सिर की सीधी रेखा पत्ते की धारी के बराबर जा कर उसे फाड़ देती, इसी कारण गोल रेखा का चलन हुआ, किन्तु आजकल छापे के जमाने मे वह बहुत ही बेढब और बोझल दीखती तथा प्रत्येक अक्षर के असल रूप को छिपा देती है, उस घेरेदार पगडी को हटा देने से उडिया वर्णों का निचला भाग नागरी से बहुत कुछ मिलने लगता है। पच्छिम की भाषाओं मे से सिन्धी का उल्लेख हो चुका है। गुजराती की गुजराती लिपि असल मे कैथी नागरी है, उस का और नागरी का अन्तर बिलकुल नाम मात्र का है, नागरी वर्णों की सिर की लकीर हटा देने से प्रायः गुजराती वर्ण बन जाते हैं। उत्तरपच्छिम तरफ, कश्मीरी की अपनी लिपि शारदा है, उसी के आधार पर सिक्ख गुरु अगददेव ने गुरमुखी लिपि तैयार की थी, पंजाब मे सिक्ख लोग पजाबी भाषा को गुरमुखी लिपि मे लिखते हैं।

दक्खिनी भाषाओं में से तेलुगु और कनडी की अलग अलग लिपियाँ हैं, लेकिन उन मे परस्पर वैसो ही सदृशता है जैसी नागरी और गुजराती मे।

इसी प्रकार तामिल और मलयालम की लिपियों मे परस्पर गहरी समानता है। सिंहली लिपि मे न केवल आधुनिक सिंहली की प्रत्युत प्राचीन पालि भाषा की भी पुस्तकें छपती है, जिस प्रकार संस्कृत की नागरी मे। पालि के ग्रंथ बर्मा की बर्मी और स्याम की स्यामी लिपि मे भी छपते हैं।

भारतवर्ष की सब लिपियों का हम परस्पर मिलान करें तो एक बड़े महत्त्व की बात सामने आती है। हमारे बहुत से पाठक बगला, गुजराती या गुरमुखी लिपियो से परिचित होंगे। उन्हे मालूम है कि नागरी और इन लिपियो की अक्षरमाला या वर्णमाला एक ही है, केवल उन अक्षरों के चिन्ह बदलते है। वह वर्णमाला की समानता केवल नागरी, बंगला, गुजराती और शारदा मे ही नहीं, प्रत्युत उड़िया, तेलुगु, कनडो, तामिल, मलयालम और सिंहली में भी है। इतना ही नहीं। भारतवर्ष के बाहर तिब्बती, बर्मी, स्यामी, और कम्बुजी लिपियो की, तथा कम्बुजी से निकली हुई मलायु द्वीपावली की छः पुरानी लिपियो—रेचग, कवि, लम्पोग, बत्तक, बुगि और मकस्सर—की भी वही अक्षरमाला है। अ आ इ ई . .... क ख ग आदि वर्ण इन सब लिपियो मे एक से हैं; स्वर-व्यञ्जन-विभाग, स्वरो का क्रम, व्यञ्जनो का वर्गी-करण, स्वरों की मात्रा बनाने का कायदा आदि सब कुछ एक ही है। किसी मे दो एक उच्चारण अधिक है तो किसी में कम; जो भेद हैं वे बिलकुल नाम के। इतिहास से हम जानेंगे[1] कि वह वर्णमाला मूलतः आर्यावर्ती भाषाओं की थी, और उन से द्राविड और अन्य भाषाओं ने अपनाई। भारतवर्ष की लिपियो मे चाहे जितने परिवर्तन होते रहे, वर्णमाला लगभग वह एक ही रही। आज वह समूचे भारत, तिब्बत, बर्मा, स्याम और कम्बुज की तथा अशतः मलायु द्वीपावली की भी वर्णमाला है। किसी समय परले हिन्द के और मलायु द्वीपावली के बाकी अशो, अफगानस्थान और मध्य एशिया की भी वही वर्णमाला थी। इस प्रकार वर्णमाला के सम्बन्ध मे आर्य और द्राविड

---

1. दे० नीचे §§ ७३ इ, १०१, ११०, १८९, तथा ❀ १४।

का भेद कुछ नहीं है, आर्य वर्णमाला को द्राविड भाषाओं ने भी अपना लिया है। और वही वर्णमाला भारतवर्ष के पडोस की किरात भाषाओं (तिब्बती, नेवारी), स्यामी भाषा और आग्नेय भाषाओं (तलैंग, कम्बुजी, जावा द्वीप की कवि आदि) ने भी अपना ली है।

एक और बात बडे मार्के की है। हिन्दी, बगला, मराठी, गुजराती आदि को जब नये पारिभाषिक शब्दों की जरूरत होती है, वे सस्कृत से लेती है, सिहली सस्कृत और पालि दोनो से। सस्कृत और पालि इस प्रकार आर्यावर्त्ती भाषाओं को अक्षय खानें हैं, जिन मे से धातु निकाल कर नये शब्द टकसाले जाते है[1]। किन्तु आर्य भाषाओं के सिवा द्राविड भाषायें भी, विशेषत. तेलुगु कनाडी और मलयालम, उसी सस्कृत की खान की शरण लेती है। इन भाषाओं के साहित्यिक रूपों मे आधे के करीब तक भी सस्कृत-मूलक शब्द बर्ते जाते हैं। इस प्रकार इस अश मे भी आर्य और द्राविड का कुछ भेद नही रहा। भारतवर्ष के बाहर बर्मी स्यामी और कम्बुजी भाषायें पालि या सस्कृत से नये शब्द लेने मे सकोच नही करती, तथा मलायु भाषाओं के शब्दकोष पर भी सस्कृत की पूरी पूरी छाप लग चुकी है। तिब्बती का लगभग समूचा वाङ्मय यद्यपि भारतीय वाङ्मय का अनुवाद है, तो भी अनुवाद करते समय वहाँ भारतीय व्यक्तियों और स्थानो के नामो तक का अनुवाद कर दिया जाता है। मगोल भाषा का पुराना वाङ्मय भी भारतीय वाङ्मय का अनुवाद है, यद्यपि उस भाषा ने भारतीय वर्णमाला नही अपनाई, तो भी उस की शब्दावली मे काफी सस्कृत शब्दों के विकार आ गये है।

पारिभाषिक शब्दावली से आगे बढ कर हम इन सब भाषाओं के साहित्यों और वाङ्मयों का मिलान करते है तो फिर वही बात पाते है कि समूचे भारतवर्ष का साहित्य और वाङ्मय लगभग एक ही है—उस के विषयों का विस्तार और उस की विचारपद्धतियाँ सब एक हैं। और वह वाङ्मय भी वर्णमाला की तरह भारतवर्ष की सीमाओं को लांघ गया है।

---

१, उर्दू इस अश में भी अपवाद बन रही है, यद्यपि वह है आर्यावर्त्ती भाषा।

## § २४. भारतीय जनता की मुख्य और गौण नस्लें

ऊपर की विवेचना से यह प्रकट है कि भारतवर्ष की जनता मुख्यत: आर्य और द्राविड नस्लों की बनी है, और उस मे थोड़ा सा छौंक शाबर और किरात ( मुण्ड और तिब्बतबर्मी ) का है। उस मे कुल ७६·४ फी सदी आर्य-भाषी, २०·६ फी सदी द्राविड-भाषी तथा ३·० फी सदी शाबर- और किरात-भाषी हैं[1]। जो आर्यभाषी नहीं हैं उन पर भी आर्यों ने अपनी पूरी पूरी छाप लगा दी है। भारतवर्ष की मुख्य और गौण तमाम नस्लें इस वर्गीकरण में आ गईं, केवल मुट्ठी भर अण्डमानी और बुरुशास्की बचे जो नगण्य है। उन के सिवा यदि कोई उल्लेखयोग्य अंश बचा तो वह अफ-गानस्थान के तुर्की-भाषियों का है, और बलख प्रान्त को भारतवर्ष में न गिनने से उन की सख्या भी नगण्य रह जाती है। तुर्क या हूण तातारी वंश की एक शाखा है, और उस वंश का मूल घर अल्ताई पर्वत के उस पार इर्तिश और आमूर नदियों के बीच उत्तरपूरबी एशिया मे है।

ध्यान रहे कि भाषा से नस्ल की ठीक ठीक पहचान हमेशा नहीं हो सकती। नमूने के तौर पर भील लोग अब केन्द्र वर्ग की एक आर्य भाषा बोलते हैं, पर उन का रंग-रूप बतलाता है कि वे सम्भवत: द्राविड या शबर-जातीय हैं। उन से अधिक निश्चित दृष्टान्त अहोमों का है, जो एक आर्य भाषा—आसमिया—बोलते हैं, पर जिन का मूल चीनकिराती रंगरूप अब तक बना हुआ है। आज जो लोग भारतवर्ष मे आर्य भाषायें बोलते हैं, उन मे काफी अंश ऐसा है जो मूलत: आर्य नहीं हैं, किन्तु जिस ने आर्य भाषायें अपना ली है। आर्यावर्त्ती वर्णमाला और वाङ्मय को तो समूचे द्राविड भारत ने पूरी तरह अपना ही लिया है। किन्तु केवल आर्यों का ही

---

१. २४·२५ करोड़ आर्य, ६·२५ करोड द्राविड, ·४२ करोड़ आग्नेय, और ·२३ करोड़ चीन-किरात।

प्रभाव अनार्यों पर हुआ हो, अथवा सदा अनार्यों ने ही आर्यों के ससर्ग मे आने पर अपनी भाषा छोड दी हो, सो बात नही है। भारतवर्ष की प्राय सब आर्य भाषाओ मे, किसी मे थोडा किसी मे बहुत, द्राविड तलछट विद्यमान है। दूसरे, आज के द्राविड भाषी लोगों मे उन आर्यो के वशज भी शामिल हैं जो द्राविड प्रदेश में पहले पहल आर्यावर्ती वर्णमाला, वाङ्मय, सभ्यता और सस्कृति ले गये थे, और जिन के प्रयत्न से ही द्राविड भाषाये पहले पहल लिखी जाने लगीं और माँजी-सँवारी गई थी[1]। बाद मे भी द्राविड प्रान्तो में जा कर जो आर्य बसते रहे वे प्राय अपनी भाषा छोडते रहे। हम देखेंगे कि आन्ध्रों के राजा सातवाहन लोग सम्भवत, और तामिलो के राजा पल्लव लोग निश्चय से, शुरू मे आर्यभाषी थे। इस समय भी उत्तरी कर्णाटक के कनाडी-भाषियो मे से काफी ऐसे है जो नस्ल से मराठे हैं।

तब नस्ल की ठीक पहचान क्या है? रग-रूप? किन्तु जहाँ नस्लों का मिश्रण हो चुका हो वहाँ उस की कसौटी भी सदा सफल नहीं होती। नमूने के लिए अहोमों के विषय मे रगरूप की कसौटी सफल हुई थी, पर उन्हीं के भाईबन्द कोच लोगो की तरफ हम ध्यान दें तो भाषा की कसौटी की तरह वह भी विफल होती है। कोच न केवल बँगला बोलते हैं, प्रत्युत उन का रग रूप भी लगातार के मिश्रण से बँगालियो का सा हो गया है। नेपाल के गोरखो और खसो की मूल नस्ल को उन की भाषा ठीक ठीक सूचित करती है, वे आर्यभाषी है, किन्तु तीन चार शताब्दियो के अन्दर ही खसों के रग-रूप मे बहुत कुछ, और गोरखों के मे भी काफी, परिवर्तन हो गया है। किन्तु वह परिवर्तन भी तो असल मिश्रण का सूचक है।

भारतवर्ष में आजकल जात-पाँत के जो विवाह-बन्धन हैं उन्हे देख कर यदि किसी का विचार हो कि यहाँ मिश्रण नही होता रहा तो यह बिलकुल गलत है। मध्य काल के इतिहास मे हम देखेंगे कि जात-पाँत की ठीक जात-

---

१ दे० नीचे §§ १०६, १८४।

पाँत के रूप मे स्थापना दसवीं शताब्दी ई० तक आ कर हुई है, और उस के बाद भी मिश्रण पूरी तरह बन्द नहीं हो गया। शहाबुद्दीन गोरी के समय तक हम हिन्दू जातों मे बाहर के लोगों को सम्मिलित होता देखते हैं। सन् ११७८ ई० मे गुजरात के नाबालिग राजा मूलराज दूसरे की माता से हार कर गोरी की मुस्लिम सेना का बडा अंश कैद हो गया था। उन कैदियो की दाढ़ी-मूँछ मुँडवा कर विजेताओ ने सरदारो को तो राजपूतों मे शामिल कर लिया था, और साधारण सिपाहियों को कोलियो, खाँटों, बाब्रियो और मेड़ों मे[1]। दूसरे, यह सोचना भी कि जात के बाहर विवाह न करने से मूल नस्ल की शुद्धता बनी रहती है, ठीक नहीं है। मूल नस्ल एक एक तुच्छ जात की अलग अलग तो नही, प्रत्युत बहुत सी जातों की एक ही है। गति, प्रवाह और व्यायाम के बिना, और सँकडे दायरे मे बन्द हो जाने से अच्छी से अच्छी नस्ल मे भी सडाँद पैदा हो जाती है, और जहाँ उसे बाहर की छूत से बचाया जाता है वहाँ उसे अन्दर का घुन ही खा जाता है। भारतवर्ष में आज जैसी जात-पाँत है वह उस के प्राचीन इतिहास मे कभी न थी। हम देखेगे कि यवन (यूनानी), शक आदि अनेक बाहरी जातियाँ भारतवर्ष में आ कर यहाँ की जनता मे ऐसी घुल मिल गई हैं कि आज उन के नाम-निशान का भी पता नहीं है। बहुत खोजने मे केवल एक आध यूनानी शब्द कपिश प्रदेश की भाषा मे मिला है।

मूल नस्लें आज हैं कहाँ? क्या उन के मिश्रण से सब जगह नई नस्लें तैयार नही हो गईं? और क्या मूल नस्लें भी किसी मिश्रण का परिणाम रही हो सो नहीं हो सकता? भारतीय जनविज्ञान के एक विद्वान् का

---

१ तारीखे-सोरठ (बर्जेस कृत अंग्रेज़ी अनु०) पृ० ११२-१३; बेली—हिस्टरी ऑव गुजरात पृ० ३५, तथा बम्बई गज़ैटियर १८९६, जि० १, भाग १, खण्ड २ (कर्नल वाटसन तथा खाँ साहेब फज़लुल्लाह लतफुल्लाह फ़रीदी कृत गुजरात का मुस्लिम काल का इतिहास) पृ० २३१ पर उद्धृत।

कहना है कि भारतवर्ष की मूल नस्लो मे इतना मिश्रण हो चुका है कि सब भारतीय अब एक नस्ल है [१]। यह कथन तो अतिरंजित है, किन्तु हम ने जिन्हें भारतवर्ष की जातीय भूमियाँ कहा है उन मे से प्रत्येक की जनता मे रंगरूप के नमूने की भी बहुत कुछ एकता दीख पडती है।

किन्तु आज यदि कोई मिश्रित नई नस्ले बन भी गई हैं, तो वे भी मूल नस्लों से बहुत भिन्न नहीं हैं, और उन्हीं के आधार पर हैं। इस लिए उन मूल नस्लों के मुख्य मुख्य लक्षण हमे जान लेना चाहिए। रंग-रूप की नाप-जोख वैसी सरल नहीं है जैसी भाषा की। तो भी जनविज्ञानियो ने कुछ मोटी मोटी कसौटियाँ बना ली हैं, और इस नाप-जोख की एक अलग विद्या—मानुषमिति ( Anthropometry )—बन गई है।

सब से पहली कसौटी रग की है। किन्तु रग बदल भी जाता है। पंजाबियो की शिकायत है कि बिहार-बगाल की तरफ जा रहने से उन का रग मैला होने लगता है, और कुलीन बगालियों का कहना है कि पंजाब जाने से उन का रग फिर चमक उठता है। फिर गोरे और पक्के काले के बीच रंगों की इतनी छाँहे हैं कि कहाँ एक रग समाप्त हो कर दूसरा शुरू हुआ सो कहना कठिन है। तो भी एक कश्मीरी और एक हब्शी के रंग मे स्पष्ट अन्तर दीख पडता है, और रग की पहचान को बिलकुल निकम्मा नहीं कहा जा सकता।

खोपडी की लम्बाई चौडाई भी एक अच्छी परख है। एक पजाबी या अन्तर्वेदिये की अपेक्षा एक बगाली का सिर देखने से ही चौडा दीख पड़ता है। यदि खोपड़ी की लम्बाई को १०० माना जाय और चौडाई उस के मुकाबले मे ७७·७ या उस से कम हो तो मानुषमिति वाले उसे दीर्घ-कपाल ( dolichocephalic ) नमूना कहते हैं, यदि चौडाई ८० तक हो तो मध्यकपाल ( mesati-cephalic ), और यदि अधिक हो तो ह्रस्वकपाल

---

१. नेस्फ़ील्ड का मत रिस्ली की पीपल ऑव इण्डिया पृ० २० पर उद्धृत।

या वृत्तकपाल ( brachy-cephalic )। १०० लम्बाई पर जितनी चौड़ाई पड़े उसे कपाल-मान ( cephalic index ) कहा जाता है।

इसी प्रकार एक नासिका-मान ( nasal index ) है। नाक की लम्बाई को १०० कहे, तो चौड़ाई जो कुछ होगी वही नासिका-मान है। वह मान जिन का ७० से कम हो, अर्थात् नाक नुकीली हो, वे सुनास ( leptorrhine ) कहलाते हैं, ७० से ८५ तक मध्य-नास ( mesorrhine ), और ८५ से अधिक वाले स्थूल-नास या पृथु-नास ( platyrrhine )। चौड़ी या नुकीली नाक के खुले या तंग नथनों का अन्तर साधारण आँखो को भी सरलता से दीख जाता है।

दोनो आँखो के बीच नाक के पुल का कम या अधिक उठान भी उसी तरह मनुष्य की मुखाकृति मे झट नज़र आ जाता है। कई जातियों की नाके ऊपर चिपटी सी होती हैं। नाक के उस चिपटेपन को सस्कृत में अवनाट[1] कहते हैं, उस से उलटा प्रनाट और दोनो के बीच का मध्यनाट शब्द गढ़ा जा सकता है। दोनो आँखो की थैलियाँ जिन हड्डियो मे हैं, उन के मध्य मे दो बिन्दु लगा कर उन बिन्दुओं के बीच की दूरी को १०० कहा जाय, और फिर नाक के पुल के ऊपर से वही दूरी मापने से उस का पहली दूरी से जो अनुपात आय, उसे अवनाटमान (orbitonasal index) कहते हैं। वह ११० से कम हो तो अवनाट (platyopic) चेहरा, ११२·९ तक हो तो मध्यनाट (mesoopic)। यह हिसाब खास भारतवर्ष के लिए रक्खा गया है, अन्यथा १०७·५, ११०·०, और उस से ऊपर, ये तीन विभाग हैं। अवनाट का चेहरा स्वभावत: चौड़ा दीखता है, और गालो की हड्डियाँ उभरी हुई।

---

१. नते नासिकाया. संज्ञाया टीटञ्नाटज्भ्रटचः, पाणिनीय अष्टाध्यायी, ५, २, ३१।

आदमो का कद या डील भी मानुषमिति की एक परख है। १७० शतांशमोतर ( ५ फुट ७ इच ) से अधिक हो तो लम्बा, १६५ ( ५' ५" ) स १७० तक औसताधिक, १६० ( ५' ३" ) से १६५ तक औसत से नीचे, और १६० से कम हो तो नाटा।

मुँह और जबडे का आगे बढ़ा या न बढा होना एक और लक्षण है। एक प्रकार समहनु (orthognathic) है जहाँ जबडा माथे की सीध से आगे न बढा हो या बहुत कम बढा हो, दूसरा प्रहनु (prognathic) जहाँ वह बढ़ा हुआ हो।

संसार भर की जातियो मे तीन मुख्य नमूने प्रसिद्ध है। एक गोरी जातियाँ, जिन मे आर्य या हिन्द्-जर्मन वश, सामी (Semitic) और हामी (Hamitic) सम्मिलित हैं। सामी के मुख्य प्रतिनिधि अरब और यहूदी तथा कई प्राचीन जातियाँ हैं जिन का प्रसगवश उल्लेख किया जायगा[1]। हामी के मुख्य प्रतिनिधि प्राचीन मिस्र ( ईजिप्ट ) के लोग थे। गोरे रग के सिवा ऊँचा डील, भूरे या काले मुलायम सीधे या लहरदार केश, दाढी-मूँछ का खुला उगना, प्राय दीर्घ कपाल, नुकीला चेहरा, नुकोली लम्बी नाक, सीधी आँखे, छोटे दाँत और छोटा हाथ उन के मुख्य लक्षण है। गोरा रग जलवायु के भेद से गेहुँआ भी हो जाता है। दूसरी पोली या मगोली जातियाँ है। उन मे चीन-किरात, मगोल, तातारी ( तुर्क-हूण ) आदि सम्मिलित है। उन के सीधे रूखे केश, बिना दाढी-मूँछ के चौडे और चपटे चेहरे, प्राय. वृत्त कपाल, ऊँची गाल की हड्डी, छोटी और चिपटी नाक ( अवनाट ), गहरी आँखे, पलकों का झुकाव ऐसा जिस मे आँखे तिरछी देख पडे, तथा मध्यम दाँत होते हैं। तीसरा नमूना काला, हब्शियो या नीग्रोई (Negroid)[2]

---

१ नीचे §§ ६८ अ, ८४ उ, १०३; तथा ❀❀ १२, १४, १८।

२. नीग्रोई (Negroid) अर्थात् नीग्रो-जातीय, जिन में नीग्रो तथा उन के सदृश सभी लोग सम्मिलित हैं। इसी प्रकार मंगोली माने मगोल-जातीय।

नस्ल का है। उन के ऊन जैसे गुच्छेदार काल केश, दीर्घ कपाल, बहुत चौड़ी ( स्थूल ) चिपटी नाक, मध्यम दाढ़ी-मूँछ, मोटे बाहर निकले हुए होठ, बड़े दाँत और लम्बा हाथ मुख्य लक्षण है। अफ़्रीका के अतिरिक्त नीग्रोई नस्ल प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपो मे है। भारतवर्ष मे उन के प्रतिनिधि केवल अण्डमानी है जो अत्यन्त नाटे है। लेकिन वे वृत्तकपाल हैं।

उक्त तीन मुख्य नमूनो का उलटफेर दूसरी अनेक जातियों मे हैं। कपालमिति (Craniometry) के तजरबो से यह पाया गया है कि एक ही वंश की कुछ शाखाये दीर्घकपाल और दूसरी वृत्तकपाल हो सकती है; लेकिन जिस का जो लक्षण है वह स्थिर रहता है। आर्य वंश मे ही स्लाव और केल्त लोग वृत्तकपाल हैं। पीली जातियाँ मुख्यत: वृत्तकपाल है, पर उन्हीं मे अमेरिका के एस्कीमो दीर्घकपाल हैं।

भारतीय आर्य और द्राविड दोनो दीर्घकपाल है। किन्तु बंगाल और उत्तरपूरबी सीमान्त पर वृत्तकपाल अधिक हैं जो किरात प्रभाव के सूचक है। उस के सिवा सिन्ध और दक्खिन भारत के पच्छिमी तट पर भी वृत्तकपाल हैं, तथा बिहार मे मध्यकपाल।

आर्यावर्त्ती आर्यों का सब से अच्छा निर्विवाद नमूना अन्तर्वेद और पंजाब के अरोडे, खत्री, ब्राह्मण, जाट, अराई आदि हैं। औसत से अधिक डील, गोरा या गेहुँवा रग, काली आँखे, दीर्घ कपाल, ऊँचा माथा, लम्बा नुकीला सम चेहरा, सीधी नुकीली नाक उन के मुख्य लक्षण हैं, लेकिन वह नाक बहुत लम्बी नही होती।

द्राविडो का शुद्ध खालिस नमूना नीलगिरि और आनमलै पर्वतो की कुछ जंगली जातियाँ हैं। उन के विशेष चिन्ह है—कद औसत से कम, रंग पक्का काला, केश घने कभी कभी घुघराने की प्रवृत्तियुक्त किन्तु नीग्रोइयों की तरह गुच्छेदार कभी नही, नाक बहुत ही चौड़ी—जो कि द्राविड का मुख्य चिन्ह है—, कभी कभी अवनाट, किन्तु चेहरा कभी किरात की तरह चपटा

नही, कपाल दीर्घ, हाथ बडा। ससार की मुख्य नस्लो मे किस मे द्राविड को गिनना चाहिए सो अभी तक अनिश्चित है। ब्राहूइया मे छोटे कद के सिवा कोई भी द्राविड लक्षण नहीं बचा।

द्राविड और शाबर मे भारतीय जनविज्ञानी भेद नहीं करते, पर मेरा विचार है कि अधिक खोज होने पर कुछ भेद अवश्य निकलेगा। शाबर का सब से खालिस नमूना शबर, मुण्डा और सन्ताल हैं, जिन का मूल अभिजन झाडखण्ड और पूरबी प्रान्त हैं। उन के लक्षण द्राविडो के से हैं, किन्तु कपाल प्राय मध्यम होता है, और प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो मे जो खर्वटास्य—छोटे चेहरे वाले—निषादो का वर्णन है[१], वह भी मेरे विचार मे उन्हीं का या किसी मिश्रित द्राविड शाबर जाति का है। इस प्रसग मे खासी-जयन्तिया पहाड़ियों के खासी लोगो का उल्लेख करना जरूरी है। या तो ऊँची ठडी पहाडियो पर रहने और या पडोस के किरातो के मिश्रण के कारण उन का रग-रूप शाबरो से बहुत कुछ भिन्न हो गया है। उन का रग प्राय. गोरा, गेहुँवां, या लाली लिए हुए बादामी, और स्त्रियो का चेहरा विशेष कर सुन्दर गोलमठोल भरा हुआ होता है।

किरातों मे मंगोली नस्ल के सब लक्षण हैं। कद छोटा या औसत से कम, रग पिलाहट लिये हुए, दाढी-मूँछ न के बराबर, आँखे तिरछी, नाक नुकीली से चौडी तक सब किस्म की किन्तु चिपटी अवनाट, गाल की हड्डी उभरी हुई, और चेहरा नाक-गाल की इस बनावट के कारण चपटा।

अफगानो और पजाब के जाटो आदि मे आर्य्यावर्त्ती आर्य्यो की अपेक्षा विशेष लम्बी नाक पाई जाती है। अफगानो से मराठों तक पच्छिम की सब जातियों में वृत्त कपाल भो पाया जाता है। वृत्तकपाल किरातो तथा

---

१. त्रि० पु० १, ३, ३४-३५। यह वर्णन जनविज्ञानियों के लिए विशेष काम की वस्तु है।

पच्छिमी छोर के इन वृत्तकपालों का मुख्य भेद यह है कि किरात जहाँ अव-नाट हैं, वहाँ ये पच्छिमी जातियाँ प्रनाट हैं। उत्तर-पच्छिम की विशेष लम्बी नाक और समूचे पच्छिम के वृत्त कपालों की व्याख्या शक मिश्रण से की जाती है। शकों का वृत्तान्त हमारे इतिहास में यथास्थान आयगा। नई खोज ने बतलाया है कि वे भी एक आर्य जाति थे[1]। आजकल उन का खालिस नमूना कहीं नहीं बचा; मध्य एशिया में वे हूणों-तुर्कों में घुल मिल कर नष्ट हो गये हैं, और भारतवर्ष और ईरान में अपने बन्धु आर्यों में। उन के सिक्कों आदि पर उन के जो चित्र मिलते हैं उन में असाधारण लम्बी नाक शकों का विशेष चिन्ह दीख पड़ता है। वे हूणों के पड़ोस में रहते थे। या तो उन से मिश्रण होने के कारण और या आर्यों की कई अन्य शाखाओं की तरह शायद वे वृत्तकपाल थे। शकों की भाषा का कोई चिन्ह विद्यमान भारतीय भाषाओं की पड़ताल से अभी तक कहीं नहीं मिला, किन्तु मानुष-मिति उन की याद दिलाती है।

पच्छिमी तट पर सामुद्रिक व्यापार से अरब, हब्शी आदि जो जातियाँ आती रही हैं, उन का प्रभाव भी वहाँ हुआ है। अमरीका की युरोपी बस्तियों में युरोपी लोग जैसे अफरीका के नीग्रो गुलामों को बड़ी संख्या में ले जाते रहे, जिन के वंशज आज अमरीका की जनता में धीरे धीरे घुल मिल रहे हैं, उसी प्रकार प्राचीन भारत के पच्छिमी तट पर अरब तथा फारस-खाडी के गुलाम और पच्छिमी देशों की गोरी बाँदियाँ ला कर सूरत, भरुच आदि बन्दरगाहों में बेची जाती रहीं[2]। उन की नस्ल का प्रभाव भी हमें ध्यान में रखना होगा।

मोटे तौर पर हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचते हैं। पंजाब, राजस्थान और अन्तर्वेद में आर्यावर्त्ती आर्य का खालिस नमूना पाया जाता

---

१. दे० नीचे §§ १०४ इ, १११, तथा ❀ २८।

२. नीचे § ११३।

है, उत्तरपच्छिमी छोर पर उस मे शक लक्षण और कभी कभी हूण-तुर्क लक्षण भी दीख पडते है। अन्तर्वेद मे ही समाज के निचले दर्जों मे, और पूरब तरफ, शाबर झलक आने लगती है। बिहार और बगाल मे शाबर अंश आर्य से अधिक होने लगता है, और उत्तरपूरब से किरात लहर उस मे आ मिलती है। राजस्थान से मालवा, चेदि और उडीसा की तरफ शाबर और द्राविड अश बढता जाता है। महाराष्ट्र की तरफ भी आर्य द्राविड का मिश्रण है, किन्तु उस मे शक लक्षणो की झलक भी है। गुजरात मे महाराष्ट्र की अपेक्षा द्राविड अंश कम है। कर्णाटक के दक्खिन भाग से और उधर आंध्र के उत्तरी छोर से द्राविड रगरूप मुख्य हो जाता है, वहाँ केवल ऊँचे दर्जों मे आर्य झलक भर है। सिंहल के दक्खिन भाग मे फिर आर्य-द्राविड मिश्रण है।

भारतीय जनविज्ञान, मानुषमिति और कपालमिति का अध्ययन अभी बिलकुल आरम्भिक दशा मे है। अभी इतिहास के अध्ययन को उस से वैसा प्रकाश नहीं मिल सकता जैसा भाषाओ की पडताल से मिला है। मोटे तौर पर भाषाओ की पड़ताल हमे जिन परिणामो पर पहुँचाती है, जनविज्ञान और मानुषमिति उन मे विशेष भेद नहीं डालतीं।

## § २५. भारतवर्ष की विविधता और एकता, तथा उस का जातीय चैतन्य

भारतवर्ष एक विशाल देश है। ऊपर के परिच्छेदो मे हम ने उस की भूमि और उस के प्रदेशो, उस की भाषाओ, नस्लो, लिपियो, वर्णमाला, और वाङ्मय का विवेचन और दिग्दर्शन किया है। उस दिग्दर्शन से उस की विविधता प्रकट है। उस के विभिन्न प्रान्तो और प्रदेशो मे से कोई समथर मैदान है तो कोई पठार या पहाड़ी दून, कोई अत्यन्त सूखा रेगिस्तान है तो किसी में हद से ज्यादा पानी पडता है। अनेक किस्म के जलवायु, वृक्ष-वनस्पति और पशु-पक्षी उस मे पाये जाते हैं। उस मे रहने वाले लोग, उन का रहन-सहन और उनकी बोलियाँ भी अनेक प्रकार की हैं।

भारतवर्ष के इन भेदो के रहते हुए उस मे गहरी एकता भी है। डिब्रू-गढ़ से डेरा इस्माइलखाँ तक समूचा उत्तर भारत एक ही विशाल मैदान है। फसल के मौसम मे हम उस के एक छोर से दूसरे छोर तक लहलहाते खेतो मे ऐसे रास्ते से जा सकते है जिसे एक भी ककर या पत्थर का टुकड़ा कण्टकित न करे। यह तो उकता देने वाली एकता है। उस के अतिरिक्त, दक्खिन मे समुद्र और उत्तर मे हिमालय होने के कारण सारे भारत मे एक ख़ास किस्म की ऋतु-पद्धति भी बन गई है। गर्मी की ऋतु मे समुद्र से भाप बादल बन कर उठती और हिमालय की तरफ जाती है, हिमालय की ऊँचाई को बादल पार नही कर पाते, वे लौट कर बरस जाते या हिमालय मे तुषार बन बैठ जाते और फिर गर्मियो मे नदियो की धाराये बन समुद्र को वापिस जाते है। समुद्र और हिमालय की एक दूसरे पर पानी फेकने की इस सनातन खेल से हमारी बरसात होती है और नदियो मे पानी आता है। बरसात के अनुसार और ऋतुएँ आती है। यह ऋतुओ का खास सिलसिला भारतवर्ष मे ही है, और हमारे सारे देश मे एक सा है। भारतवर्ष की उस सुन्दर हद-बन्दी का जिस के कारण समूचा देश स्पष्टत: एक दीख पड़ता है, पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। हिमालय और समुद्र की उस हदबन्दी से ही ऋतु-पद्धति की यह समानता पैदा होती है।

भारतवर्ष की जनता की जॉच मे हम ने देखा कि उस मे मुख्यत: आर्य और द्राविड दो नस्लो के लोग है, किन्तु उन दोनो का सम्मिश्रण खूब हुआ है, और उस मिश्रण मे थोड़ा सा छौंक शाबर और किरात का भी है। आज भारतवर्ष की कुल जनता मे से आर्यभाषी अन्दाज़न ७६.४ फी सदी, द्राविड-भाषी २०.६ फ़ी सदी, और शाबर-किरात-भाषी मिला कर ३.० फी सदी हैं। किन्तु जनता और भाषाओ की विवेचना मे हम ने यह भी देखा कि द्राविड भाषाये आर्य साँचे मे ढल गई हैं, और उन्हो ने आर्यावर्त्ती वर्णमाला अपना ली है। यह देश मुख्यत: आर्यों का है, और उन्हों ने इसे पूरी तरह अपना कर इस पर अपनी सस्कृति की पूरी छाप लगा दी है। दूसरी सस्कृतियाँ,

विशेषत: द्राविड, नष्ट नही हो गईं, पर आर्यों के रंग मे पूरी तरह रँगी गई हैं। बाद मे जो जातियाँ आती रहीं, वे तो आर्यों के अन्दर बिलकुल हजम ही होती गई। आर्य और द्राविड का भारतवर्ष के इतिहास मे इतना पूरा सामञ्जस्य हो गया है कि आज सारे भारत की एक वर्णमाला और एक वाङ्मय है, जो सभ्यता और संस्कृति की एकता का बाहरी रूप है। हम यों कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति का प्राण आर्य है तो उपादान द्राविड, और आज उन दोनो को अलग नही किया जा सकता। भारतीय संस्कृति एक है, और इसलिए भारतीय जाति एक है।

किन्तु यदि भारतीय जाति एक है तो उस की एकता आज उस के सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे प्रकट क्यों नही होती ? भारतवर्ष के प्रदेशों, भाषाओं और जनता की विद्यमान अवस्था की छानबीन से जहाँ हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यहाँ संघातमक राष्ट्रीय एकता की बढ़िया सामग्री उपस्थित है, वहाँ उस की विद्यमान राजनैतिक और सामाजिक अवस्था पर जो कोई भी ध्यान देगा, उसे कहना होगा कि उस की जनता मे राष्ट्रीय एकता या जीवन का प्राय अभाव है। ऐसा जान पडता है मानो वह बत्तीस करोड का जमघट तुच्छ जातों, फिरकों और कबीलों का एक ढेर है, जिस समूचे ढेर मे अपनी एकता का कोई चैतन्य और सामूहिक जीवन की कोई वेदना नही है। बहुत लोग इस स्थिति को देख कर कह देते है कि यह एक देश और एक जाति नहीं है। तो फिर क्या यह छोटे छोटे प्रदेशों या कबीलों का समुच्चय है ? क्या उन छोटे छोटे प्रदेशों मे भी, जिन मे भौगोलिक और अन्य दृष्टियों से पूरी एकता है, सचेष्ट सामूहिक जीवन के कोई लक्षण है ? यदि किसी छोटे से प्रदेश मे भी वह उत्कट सचेष्ट सामूहिक जीवन होता तो वह अपनी स्वाधीनता को संसार की बडी से बडी शक्ति के मुकाबले मे भी बनाये रख सकता। यह बात नही है कि भारत मे छोटे छोटे जीवित समूह हो और उन सब को मिला कर जिस जन-समुदाय को भारत कहा जाता है केवल उसी मे एकता का अभाव हो। सामूहिक जीवन की मन्दता

न केवल उस समूचे समुदाय मे प्रत्युत उस के प्रत्येक टुकड़े में भी वैसी ही है ।

जब हम भारतीय जनता की विद्यमान अवस्था की पड़ताल कर रहे हैं, तब इस बात को आँखो से ओझल कैसे कर सकते है कि आज ससार की सब सभ्य जातियो के बीच वही एकमात्र मुख्य गुलाम जनता है ?

इस अवस्था का कारण क्या है ? भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र का प्रत्येक विचारशील विद्यार्थी मुँह से कहे या न कहे, कुछ न कुछ कारण इस अप्राकृतिक अवस्था का अवश्य मन मे सोचता है, और उसी के अनुसार भारतीय इतिहास की व्याख्या करता है। बहुतो का यह विश्वास प्रतीत होता है कि भारतीय नस्ल मे या जलवायु मे कोई सनातन त्रैकालिक दुर्बलता है। यदि ऐसी बात है, यदि सामूहिक जीवन इस भूमि या इस नस्ल मे कभी पनप हो नहीं सकता है, तो राष्ट्रीयता की वह उत्कृष्ट सामग्री जिस का हम ने ऊपर उल्लेख किया है क्या केवल घुणाक्षर-न्याय से पैदा हो गई है ? चेतन और निरन्तर सामूहिक चेष्टाओ के बिना वे अवस्थाये कभी उत्पन्न न हो सकती थी। किन्तु वैसी सामूहिक चेष्टाओ के रहते फिर विद्यमान दरिद्रता कैसे आ गई ?

इन्ही समस्याओं का उत्तर पाने के लिए हमे भारतीय इतिहास की सावधानी और सचाई से छानबीन करने की जरूरत है। यहाँ इस विवाद को विस्तार के साथ नही उठाया जा सकता, केवल संक्षेप से और आग्रह के बिना मै अपना मत कहे देता हूँ। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास—लगभग ५५० ई० तक—एक जिन्दा जाति के सचेष्ट जीवन का वृत्तान्त जान पड़ता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की दृढ़ नींवे उसी काल मे रक्खी गई। उस के बाद मध्य काल मे धीरे धीरे भारतीय जाति की जीवन-धारा मन्द हो गई, उस मे प्रवाह और गति न रही[1]। प्रवाह के अभाव से सड़ाँद पैदा होने

---

१. इस के एक नमूने के लिए दे० नीचे * ४ उ, ओ।

लगी, और सडाँद से कमजोरी। अनेक प्रकार के सचेष्ट और जीवित आर्थिक व्यावसायिक राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक आदि समूह, जिन के समुच्चय से वह जाति बनी थी, पथरा कर निर्जीव और अचल जाते बनने लगे। प्रवाह गति तथा पारस्परिक विनिमय ज्यो ज्यो और क्षीण होते गये, त्यो त्यो उन जातो के और टुकड़े होते गये, और एक सजीव जाति का पथराया हुआ पजर बाकी रह गया जिसे कि जात-पाँत म जकडा हुआ विद्यमान भारतीय समाज सूचित करता है। ऐसा निर्जीव समाज-सस्थान बाहर के हमलो का मुकाबला न कर सकता था, और इस के वे परिणाम हुए जिन का होना कभी टल न सकता था।

किन्तु ध्यान रहे कि वह समाज सस्थान रोग का निदान नही प्रत्युत लक्षण है, असल रोग तो जीवन की क्षीणता और गति का बन्द हो जाना ही है। वह समाज सस्थान एक प्राथमिक समाज की अवस्था को सूचित नही करता, प्रत्युत एक परिपक्व समाज के जीर्ण पथराये सूख गये देह को, और इसी कारण उसे प्राथमिक समाज समझ कर उस की जितनी व्याख्याये की गई है वे सब उस के स्वरूप को स्पष्ट नही कर सकी। उस समाज-सस्थान के पक्ष मे यह कह देना आवश्यक है कि उसी ने भारतीय जाति के देह और सस्कृति के तन्तु को—सूखे पथराये रूप मे ही सही—जैसे तैसे बनाये रक्खा है, और यह भारतीय जाति और सस्कृति के व्यक्तित्व की मजबूती और दृढता का ही परिणाम था कि अपने जीवन की मन्दता के समय भी उस ने अपने ऊपर इस समाज-सस्थान के रूप मे एक ऐसा खोल चढ़ा लिया जो इसे शत्रुओ के मुकाबले मे जैसे तैसे बचाये और बनाये रख सका। उस सूखे खोल के अन्दर भारतीय जाति की दुर्बल जीवन-धारा चौदह पन्द्रह शताब्दियो तक जैसे तैसे बनी रही है। उस बीच, विशेष कर १५ वीं, १६ वीं, १७ वीं शताब्दी ई० मे, उस के भिन्न भिन्न अगो मे परस्पर विनिमय और प्रवाह कर उस मे फिर से एक व्यक्तित्व पैदा करने की चेष्टाये हुई —उन्ही को हम मध्यकालीन पुनर्जीवन कहते हैं। किन्तु जीवन की मन्दता ऐसी थी

कि ये नई लहरे भी थोड़े ही समय मे गति-शून्य हो गईं। समूची जाति को एक बनाने की चेष्टाये कुछ नई जाते और नये फिरके पैदा कर के ठढी हो गईं। उस जाति मे जीवन जगाने के लिए उस के जीवन के प्रत्येक पहलू मे विक्षोभ पैदा कर देने की जरूरत थी, जो ये लहरे न कर सकी। उस प्रकार का विक्षोभ पिछली डेढ़ शताब्दी की बाहर की चोटो से और पच्छिम की तरुण आर्य जातियो के ससर्ग से पैदा हो गया है, और आज वह फिर से अपने अन्दर अपने प्राचीन जीवन के स्रोत को उमड़ता और प्रकट होता अनुभव करती है।

इस प्रकार भारतवर्ष की आन्तरिक एकता और उस की विद्यमान छिन्न-भिन्न जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे कोई विरोध नही है। विद्यमान छिन्न भिन्नता जातीय जीवन के अत्यन्ताभाव को नही प्रत्युत उस की मूर्च्छा को सूचित करती है। राष्ट्रीय एकता की प्रसुप्त सामग्री प्राचीन इतिहास की सामूहिक चेष्टाओं का परिणाम है, वह सामग्री आज अपना प्रभाव नही दिखाती क्योंकि वह मूर्च्छित और निश्चेष्ट हुई पड़ी थी।

## § २६. भारतीय जाति की भारतवर्ष के लिए ममता

हम ने देखा कि भारतीय जाति की एकता—आर्य और द्राविड का सामञ्जस्य—शताब्दियो की कशमकश का, और देश को एक बनाने की चेतन चेष्टाओ का, परिणाम है। उन्ही चेष्टाओ से भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति मे, प्रथाओ और संस्थाओ मे, एव जनता के रहन-सहन रीति-रिवाज मे बहुत कुछ एकता पैदा हो चुकी है। सच बात तो यह है कि केवल भौगोलिक एकता से, या जनता की भी एकता से किसी देश के इतिहास में सजीव एकता या एक जीवन का ताँता पैदा नही होता, जब तक कि उस देश की जनता उस देश को ममतापूर्वक अपना देश और एक देश न समझती रही हो। उस प्रकार की ममता हमारे पुराने पुरखों की भारत-

वर्ष मे सदा रही है। वे उसे सदा अपनी मातृभूमि और देवभूमि मानते रहे हैं। समूचे भारत मे एक छोर से दूसरे छोर तक उन्हो ने तीर्थों और देवस्थानों की स्थापना की थी। हिन्दू लोग भारतवर्ष के पर्वतो जगलों और नदियो को पवित्र मानते हैं। हिन्दुओं के भिन्न भिन्न सम्प्रदायो मे इतनी विविधता है कि हिन्दू शब्द का लक्षण करना भी आज बहुत कठिन समझा जाता है। सच बात यह है कि हिन्दुओ के अनेक और नानारूप धार्मिक सम्प्रदायो मे एकमात्र एक लक्षण यही है कि प्रत्येक हिन्दू सम्प्रदाय की पवित्र भूमि और देवभूमि भारतवर्ष है। यही हिन्दूपन की एकमात्र पहचान है। मुसलमानो के भी अनेक पीरो, औलियो, विजेताओ, बादशाहो और शहीदो की स्मृति भारतवर्ष के भिन्न भिन्न स्थानो के साथ जुडी हुई है। हमारे सब तीर्थ और पवित्र स्थान इसी देश मे है। हम मे से जो सनातनी हिन्दू हैं, वे प्रतिदिन प्रात काल स्नान करते समय भावना करते है—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु॥
[ यमुना गोदावरी नर्मदा कावेरी सरस्वती गङ्ग,
सिन्धु साथ ले मेरे जल मे सातो छोडे प्रीति-तरग ! ]

उसी प्रकार अपने व्याह-शादी और अन्य सस्कारों मे वे भारतवर्ष की सब नदियो से असीसे माँगते हैं। जो इस प्रकार भावना नही करते वे भी भारतवर्ष को उसी प्रकार अपनी मातृभूमि और अपने पुरखों की लीलाभूमि और कर्मस्थली कर के जानते हैं। हमारे पुरखो ने तप, त्याग, दान, विचार और वीरता आदि के जो महान् अनुष्ठान किये थे, वे सब इसी भूमि मे। भारतवर्ष की चप्पा चप्पा भूमि उन के महान् कार्यों की याद दिलाती है। हमारे पुरखा भी इसी प्रकार अपने पुरखो की याद इस देश के साथ साथ करते आये हैं। बहुत प्राचीन युग मे उन के ये गीत थे—

जिस पे वीर नाचते गाते झूलें जय-दुन्दुभी बजाय,
सुखदा हो सो भूमि हमारी मेट वैरियों का समुदाय।[१]

❀ ❀ ❀ ❀

ये हेमाद्रि पहाड़ियाँ जगल तरु-सम्पन्न
हैं पृथ्वी हम को करे दे सुख-दान प्रसन्न ।[२]

❀ ❀ ❀ ❀

जिस पे भूतपूर्व पुरुषों ने सफल किये विक्रम के काम,
जिस पर देवों ने असुरों को जीता अपना कर यश नाम,
जिस पे धेनु अश्व-गण पक्षी करते हैं सुख-भोग निवास,
तेज सौंप हम को कर देगी वह भू बड़भागी सविलास ।[३]

❀ ❀ ❀ ❀

---

१. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्या वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥
—अथ० १२, १, ४१ ॥

२. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
—वही, १२, १, ११ ।

३. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्त्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥
—वही १२, १, ५ ।

इसी प्रकार अगले युग मे वे फिर कहते थे—

पुण्यश्लोक प्रतापी उन को बतलाते है देव उदार
स्वर्ग-मुक्ति-दाता भारत मे जन्मे जो मनुष्य-तन धार।[४]

❀ ❀ ❀ ❀

धर्म और संस्कृति के आचार्यों की तरह कालिदास जैसे कवियों ने भी भारतीय एकता का आदर्श बनाये रक्खा। कर्मठ राजनीतिज्ञ, सैनिक, योद्धा और शासक उस आदर्श को किस प्रकार चरितार्थ करने का जतन करते रहे, सो इतिहास पढने से पता चलेगा।

## § २७. उन की अपने पुरखों और उन के ऋण की याद

अपनी मातृभूमि को उक्त प्रकार से अपने पुरखो की कर्मस्थली के रूप मे याद करना अथवा अपने देश के साथ साथ अपने पुरखो की याद करना राष्ट्रीय एकता और इतिहास की एकता का दूसरा आवश्यक लक्षण है।

केवल भूमि की ममता से, उसे अपना देश और एक देश समझने से, इतिहास मे एक-राष्ट्रीय जीवन पैदा नहीं होता, जब तक कि उस भूमि मे अपने से पहले हो चुके पुरखों की अनेक पीढियो को भी ममतापूर्वक अपना समझ कर याद न किया जाय, और अपने बाद आने वाले वंशजो की पीढ़ियों के लिए भी वही ममता अनुभव न की जाय। क्योकि इतिहास एक मनुष्य-समाज के किसी एक समय के खड़े जीवन का ही वृत्तान्त नही है, किन्तु अनेक पीढियो की सिलसिलेवार और परम्परागत जीवनधारा का

---

४ गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूय पुरुषाः सुरत्वात्॥
—वि० पु०, २, ३, २४।

चित्र है। और पिछली पीढ़ियों का जीवनकार्य और चरित हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू मे बुनियाद के रूप मे विद्यमान है।

हम ज़रा सा भी सोचे तो हमारे पुरखों का हम पर कितना एहसान दीखता है! अपने देश की यह जो शकल आज हम देखते हैं सो उन्हीं की मेहनत का नतीजा है। जिस भूमि से हमे अपना भोजन मिलता और जो हमे रहने के लिए शरण देती है, उसे पहले पहल उन्ही ने अपने भुजबल से जीता और खेती के लायक बनाया था। आज भी दो चार बरस हम उस की सम्भाल करना छोड़ दे तो जंगली घास और बूटियाँ उसे घेर ले और जगली जन्तु उस पर मँडराने लगे! भारतवर्ष की हरी भरी भूमि जिस मे आज हज़ारो लाखों खेत, बगीचे, तालाव, नहरे, गाँव, बस्तियाँ शहर, रास्ते, किले, कारखाने, राजधानियाँ, बाज़ार और बन्दरगाह विद्यमान है, कभी उसी तरह के डरावने जगलों से घिरी थी, और उसे हमारे पुरखो ने साफ किया और बसाया था। प्रत्येक पीढ़ी प्रयत्नपूर्वक उस की सम्भाल और रक्षा न करती आय तो उसे फिर जगल घेर ले या पराये लोग हथिया ले। सार यह कि अपने देश की जो बाह्य शकल आज हमे दीख पड़ती है, वह हमारे पुरखों के लगातार अनथक परिश्रम और जागरूकता का फल है।

और क्या केवल बाह्य भौतिक वस्तुओं के लिए हम अपने पुरखों के ऋणी हैं? हमारे समाज-संगठन, हमारी प्रथाओं और संस्थाओ, हमारे रीति-रिवाजों, हमारे जीवन की समूची परिपाटी, नहीं नही, हमारी भाषा, हमारी बोलचाल और हमारी विचारशैली तक पर हमारे पुरखों की छाप लगी है। जिन विद्याओं और विज्ञानों को सीख कर आज हम शिक्षित कहलाते हैं उन के लिए भी तो हम उन्हीं के ऋणी हैं।

यह ऋण का विचार, धार्मिक रग मे रँगा हुआ, हमारे देश मे बहुत पुराना[1] चला आता है। हम पर देवों, पितरों, ऋषियों और मनुष्यों[1] का

१. दे० नीचे §७६। बाद में केवल तीन ऋण गिने जाते थे, पर शुरू में चौथा—मनुष्यों या पड़ोसियों का—भी था।

ऋण है—ऋषियो का ऋण हमारे ज्ञान की पूँजी के रूप मे—, और उस ऋण को चुकाने का उपाय यह है कि हम अपनी सन्तति पर वैसा ही ऋण चढा दे। लेकिन पूर्वजों का ऋण वशजो को दे कर चुकाया जा सकता है इस विचित्र कल्पना से सूचित होता है कि पूर्वजों और वशजो के सिलसिले मे एक ताँता—एक धारावाहिक एकात्मकता—जारी है। ऋण पाने और उतारने का यह ताँता हमारे राष्ट्रीय जीवन की एकसूत्रता को और हमारे इतिहास की एक धारा को बनाये रखता है[1]।

और अपने उस ऋण का ठीक ठीक व्यौरा हमे अपने इतिहास ही से मिलेगा।

---

1 दे० नीचे ❀ २।

# टिप्पणियाँ

## ❀ १. प्राचीन भारत का स्थल-विभाग

जब हम साधारण रूप से प्राचीन भूगोल की कोई परिभाषा बर्त्तते हैं, तब यह याद रखना चाहिए कि प्राचीन काल कुछ थोड़े से दिनो या बरसो का न था, और उस समूचे काल मे भारतवर्ष के भौगोलिक विभाग और प्रदेशों के नाम एक से न रहे थे। जातिकृत और राजनैतिक परिवर्त्तनो के अनुसार भौगोलिक संज्ञाये और परिभाषाये भी बदलती रही है। तो भी बहुत सी सज्ञाये और परिभाषाये अनेक युगो तक चलती रही है, और यद्यपि उन के लक्षण भी भिन्न भिन्न युगो मे थोड़े बहुत बदलते रहे है तो भी उन विभिन्न लक्षणो की भी मानो एक औसत निकाली जा सकती है। मैने साधारणतया प्राचीन भूगोल की जो परिभाषाये बर्त्ती है, वे वही है जो प्राचीन काल के अनेक युगो मे थोडी बहुत रद्दो-बदल के साथ लगातार चलती ही रही है, और उन परिभाषाओ का प्रयोग भी मैने उन के "औसत" अर्थ मे ही किया है।

यहाँ मुझे विशेष कर प्राचीन भारत के स्थल-विभाग के विषय मे कहना है। प्राचीन भारत के नव भेदा करने की भी एक शैली थी। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता अ० १४ मे मध्यदेश के चौगिर्द आठो दिशाओ मे एक एक विभाग रख कर कुल नौ विभाग किये है। किन्तु उस वर्णन मे बहुत गोलमाल है। नमूने के लिए विदर्भ ( बराड ) को आग्नेय कोण मे ( श्लोक ८ ) और कीर ( कांगड़ा ), कश्मीर, अभिसार, दरद को ईशान ( उत्तरपूरब ) कोण में ( श्लो० २९ ) रख डाला है। मैं ज्योतिष से एकदम अनभिज्ञ हूँ, इस लिए कह नही सकता कि यह वराहमिहिर का निरा अज्ञान है या फलित

ज्योतिष मे किसी विशेष प्रयोजन से जिस जनपद का जो ग्रह अधिपति है उस के अनुसार विभाग करने से ऐसा हो गया है। जो भी हो, वराहमिहिर के नौ विभाग तथा पुराणों के नव भेदा (वा० पु० ४५, ७८) जिन के नाम मात्र कवि राजशेखर ने उद्धृत किये है ( काव्यमीमासा पृ० ६२ ) एक ही वस्तु नहीं है। वे नव भेदा है —

> इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णी गभस्तिमान्।
> नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः ॥ ७६ ॥
> अयं तु नवमस्तेषा द्वीप सागरसवृतः।

इन मे से ताम्रपर्णी स्पष्ट ही सिंहल है, और नौवाँ जो 'यह द्वीप' है, उस मे फिर महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र ये सात कुल-पर्वत कहे गये हैं, जिस से स्पष्ट है कि वह विन्ध्यमेखला और दक्खिन भारत है, अथवा हिमालय-हिन्दूकुश के बिना समूचा भारत। बाकी सात कहाँ रहे? सब से पहला श्लोक इस पर कुछ प्रकाश डालता है —

> भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदाः प्रकीर्त्तिता.।
> समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ॥ ७८ ॥

ये नौ भेद भारतवर्ष के है, किन्तु एक दूसरे के बीच समुद्र होने से परस्पर ( स्थलमार्ग से ) अगम्य है। यह सूचना बडे महत्त्व की है, और इस से प्रतीत होता है कि ये नौ भेद बृहत्तर भारत के थे। और उस अर्थ मे भारत शब्द का प्रयोग चीनी और यूनानी-रोमन लेखक भी करते थे— दूसरी शताब्दी ई० के भूगोल-लेखक तोलमाय ने परले हिन्द प्रायद्वीप को गगा पार का हिन्द कहा है ( दे० नीचे § १८८ इ ), तथा पाँचवी शताब्दी ई० के चीनी लेखक फ़ा-ह्ये के अनुसार भारतवर्ष काबुल से आनाम तक था ( § ०२८ )।

दूसरी तरफ जिन्हे राजशेखर पञ्च स्थलम् कहता है, वे मुख्यतः ठेठ भारत के विभाग जान पड़ते है। काव्यमीमासा मे उन्हीं का विस्तृत वर्णन है, और रघुवश के रघु-दिग्विजय प्रकरण मे भी उन्हीं की तरफ निर्देश है। य्वान च्वाङ और अन्य चीनी यात्रियो के पॉच इन्दु (हिन्द) भी वही थे[1]। भरत के नाट्यशास्त्र (अ०१३, श्लो० २५) की चार प्रवृत्तियाँ भी उन्हीं पाँच के अनुसार हैं—औड्र-मागधी=प्राच्य, आवन्ती=पाश्चात्य, दाक्षिणात्या, तथा पाञ्चाली या पाञ्चालमध्यमा=मध्यदेश और उत्तरापथ की। राजशेखर ने पाँच स्थलों के नाम दिये हैं—पूर्वदेश, दक्षिणापथ, पश्चाद्देश, उत्तरापथ और मध्यदेश (पृ०९३-९४)। वायुपुराण के नाम है—मध्यदेश, उदीच्य, प्राच्य, दक्षिणापथ और अपर जनपद (श्लो० १०९-१३१)। इस से स्पष्ट है कि अपर जनपद= पश्चाद्देश। अपर जनपदों की कुल गिनती के अन्त मे पाठ है—इत्येते सम्परीताश्च, जिस के बजाय एक प्रति मे है—इत्येते ह्यपरान्ताश्च, जिस से स्पष्ट है कि अपरान्त =पश्चाद्देश। रघुवश मे अपरान्त मे कोंकण के साथ केरल की भी गिनती है (सर्ग ४, श्लो०५३-५४), शायद वहाँ अपरान्त शब्द केवल पच्छिमी तट के अर्थ मे है।

किन्तु वायु पुराण मे उक्त पाँच विभागों के जनपदों को गिनाने के बाद विन्ध्यवासिन (१३१) या विन्ध्यपृष्ठनिवासिन (१३४) तथा पर्वताश्रयिण. (१३५-१३६), अर्थात् विन्ध्य और हिमालय के ऊपर रहने वाले राष्ट्रों, को अलग गिनाया है—शायद ठीक वैसे ही जैसे हम ने सरलता की खातिर पर्वतखण्ड के प्रान्तों को अलग गिना दिया है। दूसरे सब पुराणों मे भी वैसा ही है। इस प्रकार पुराणों के भूगोल मे भारतवर्ष के कुल सात विभाग

---

१. कनिंगहाम—एन्श्येन्ट ज्यौग्रफ़ी ऑव इण्डिया (भारत का प्राचीन भूगोल) पृ० ११-१२।

किय जाते हैं। दीघनिकाय के अन्तर्गत महागोविन्द सुत्त (१९) में भी भारत के सात विभागों की तरफ संकेत है—

इम महापठविम् उत्तरेण आयत दक्खिनेन सकटमुख सत्तधा सम सुविभत्त

[ इस महापृथिवी को जो उत्तर तरफ चौड़ी, दक्खिन तरफ छकड़े के मुँह सी, और सात हिस्सों में बराबर बँटी है ]

(रोमन संस्क०, जि० २, पृ० २३४)

क्या सुत्त वाङ्मय के ये सात विभाग वही हैं जो पुराणों के ?

मध्यदेश की पूरबी सीमा काव्यमीमासा में वाराणसी कही है, किन्तु कभी कभी वह प्रयाग तक होती थी, और काशी 'पूरब' में गिनी जाती थी (बृहत्संहिता १४, ७)। आज भी भोजपुरी बोली की पच्छिमी उपबोली पुरबी कहलाती है, क्योंकि अन्तर्वेदियों की दृष्टि में बिहार के पच्छिमी छोर से पूरब शुरु हो जाता है। परन्तु बौद्ध विनय में विदेह और मगध निश्चित रूप से मध्यदेश में हैं (महावग्ग, ५), और पतञ्जलि के महाभाष्य (२, ४, १०) में भी धर्मसूत्रों (वासिष्ठ १,८, बौधायन १, १, २५) के अनुसार कालकवन को आर्यावर्त्त की पूरबी सीमा कहा है। कालकवन सम्भवत संथाल-परगना का जगल है, और यदि वैसा हो तो मध्यदेश के दो लक्षणों का अन्तर बौद्ध और अबौद्ध लक्षणों का अन्तर नही, प्रत्युत पुरानी और नई परिभाषाओं का अन्तर है।

दक्षिण कोशल (छतीसगढ) काव्यमीमासा के अनुसार प्राच्य देश में था, किन्तु नाट्यशास्त्र में कोशलों की 'प्रवृत्ति' (रंग-रूप वेषभूषा) दाक्षिणात्या गिनी गई है। असल में वह पूरब और दक्खिन की सीमा पर है।

पृथूदक के उत्तर उत्तरापथ है, इस की स्पष्ट व्याख्या पहले पहल रूपरेखा और भारतभूमि में की जा रही है। जान पड़ता है कि राज-

शेखर का यह कथन पुरानी परिपाटी के अनुसार था, जो कालिदास के समय भी प्रचलित थी। मध्यदेश की पच्छिमी सीमा देवसभ का स्थान-निश्चय नही किया जा सका, पर पतञ्जलि ने पूर्वोक्त प्रकरण मे अदर्श को आर्यावर्त्त की पच्छिमी सीमा कहा है, और वासिष्ठ तथा बौधायन धर्मसूत्र मे वही अदर्शन (सरस्वती का विनशन) है, इस कारण देवसभ कही उसी की सीध मे—उसी की देशान्तर रेखा मे—रहा होगा।

## § २. पच्छिम पंजाब की बोली—हिन्दकी

पच्छिम पजाब की बोली का नाम अग्रेज़ लेखकों ने[1] लॅंहदा रक्खा है। लॅंहदा का शब्दार्थ है उतरता, और उस का दूसरा अर्थ है सूरज के उतरने की दिशा अर्थात् पच्छिम। भा० भा० प० १, १, पृ० १३६ टि० २ मे ग्रियर्सन लिखते है कि ठीक नाम लॅंहदोचड़ बोली, लॅंहदे दी बोली, या डिलाही

---

१. भारतभूमि में इसी विषय की चर्चा करते हुए मैंने अज्ञानवश इस नामकरण का दायित्व सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन पर डाला था। उक्त पुस्तक की पहुँच स्वीकार करते हुए उन के मन्त्री ने मुझे लिखा कि वे इस दायित्व से अपने को बरी करते हैं, यह नाम अंग्रेज़ी में चालीस बरस से चलता था इस लिए उन्हों ने अपना लिया। साथ ही उन्हों ने अपना एक लेख लॅंहदा और लॅंहदी (बुलेटिन ऑव दि स्कूल ऑव ओरियंटल स्टडीज़, लंडन, जि० ५)—भेजने की कृपा की। लॅंहदा शब्द पहले पहल मि० टिस्डाल ने चलाया था। डा० ग्राहेम बेली को वह शब्द खटका, और उन्हों ने लॅंहदी शब्द चलाना चाहा, उसी के विरुद्ध सर ग्रियर्सन का उक्त लेख है। उस के अन्त में वे कहते हैं—"यदि भारतीय विद्वान् (पच्छिमी पजाब की) इस नई चीन्ही गई भाषा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करें, और इस के लिए कोई नाम चाहे, तो उन्हें स्वयं वैसा नाम गढ़ना होगा"। मैं उसी माँग को पूरा कर रहा हूँ, और वह भी अपनी नई गढ़न्त से नहीं, पर एक पुराने नाम की सार्थकता पहचान कर। हिन्दकी मेरी मातृभाषा है।

होना चाहिए, लँहदा केवल सक्षिप्त सकेत है। अंग्रेजी मे वह सकेत भले ही चल सके, पर हिन्दी मे उसे लँहदा कहना ऐसा ही है जैसे पछाँही हिन्दी को पच्छिम या पछाँह कहना। तो भी कुछ मक्खी पर मक्खी मारने वाले भारतीय लेखकों ने वह शब्द बर्त्त डाला है। पच्छिम पजाब मे पूरब पच्छिम को डिभार, डिलाह ( डी-उभार, डी-लाह, डी=दिन ) भी कहते है। इस लिए डिलाही शब्द भी अच्छा है। पर वह उतना प्रचलित नहीं है। दूसरे, पूरबी पजाब वाले उसे डिलाही कह सकते है, न कि स्वय वहाँ के निवासी। डिलाही की टकसाली बोली शाहपुर ( प्राचीन केकय देश) की है। उस के सिवाय मुलतानी या उच्ची, थली, उत्तरपच्छिमी, उत्तरपूरबी बोलियाँ है, और एक गौण बोली खेतरानी-जाफरी सुलेमान की पहाडियों मे है। इन मे से शाहपुरी तो हिन्दकी कही नही कहलाती, पर थली को डेरा-इस्माइलखाँ मे, और मुलतानी को मुजफ्फरगढ डेरा-गाजीखाँ मे हिन्दकी कहते है। सिन्ध मे मुलतानी सिराइकी हिन्दकी अर्थात् उपरली हिन्दकी कहलाती है। उत्तरपच्छिमी बोली हजारा मे और उत्तरपूरबी कोहाट मे हिन्दको कहलाती है, जो हिन्दकी शब्द का दूसरा रूप है। इस प्रकार पाँच मुख्य बोलियों मे से चार हिन्दकी कहलाती हैं। उस शब्द की व्याख्या यह की जाती है कि सिन्ध नदी के पच्छिम पठानों की बोली पश्तो तथा हिन्दुओं की डिलाही है, जो हिन्दुओं की होने के कारण हिन्दकी कहलाती है। खेद है कि डा० ग्रियर्सन ने भी असावधानी की झोंक मे यह व्याख्या स्वीकार कर ली है ( वही पृ० १३६ )। यह व्याख्या ऐसी ही है जैसे टक्करी ( लिपि )=ठाकुरों की ( ज रा ए सो १९११, पृ० ८०२-८०३ ), या कोल ( मुडा जाति )=सुअर[1]। हिन्दकी को बोलने वाले हिन्दुओं की

---

[1] टक्करी का वास्तविक अर्थ है टक्क देश—स्यालकोट के चौगिर्द—की। मुंड जाति के लोग अपने लिए जो नाम बर्तते हैं, उसी का आर्य रूपान्तर है कोल; मुंड भाषा में उस शब्द का अर्थ है मनुष्य।

अपेक्षा डिलाही मुसलमान अधिक हैं। और पठानों के देश में हिन्दुओं को होने के कारण ही यदि वह हिन्दकी कहलाती है तो सिन्ध में उस के हिन्दकी कहलाने का क्या कारण हो सकता है? हिन्दू और हिन्दकी का मूल भले ही एक है—सिन्धु। स्पष्टतः वह सिन्धु-काँठे की बोली होने के कारण हिन्दकी कहलाती है, और यह भी ठीक है कि वह हिन्दुओं की अर्थात् सिन्धु-काँठे के निवासियों की बोली है। सचमुच वहाँ हिन्दू शब्द का यही अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि दूसरे अर्थ में तो उस इलाके में किराड़ शब्द प्रयुक्त होता है। सिन्धी भी सिन्ध-काँठे की है, इस लिए सिन्ध में हिन्दकी को सिन्धी से भिन्न करने के लिए सिराइकी हिन्दकी—अर्थात् उपरले सिन्ध-काँठे की—कहा जाता है। हिन्दकी प्राचीन केकय, गान्धार और सिन्धु देशों की बोली है, जिन में से सिन्धु देश के नाम से उस का नाम हिन्दकी पड़ा है। सिन्धु देश उसी बोली के क्षेत्र का पच्छिम-दक्खिनी प्रदेश था, जब कि आजकल का सिन्ध सौवीर देश कहलाता था ( दे० नीचे §§ ३४, ५४, १०५ )। इसी लिए मैंने लॅहदा या डिलाही को सब जगह हिन्दकी कहा है।

## * ३. ऋणों के सिद्धान्त में राष्ट्रीय कर्तव्य का विचार

चार ऋणों के सिद्धान्त की इस प्रकार की व्याख्या शायद यह पहली बार की जा रही है। बेशक इस व्याख्या में पुराने शब्दों में आधुनिक विचार डाल दिये गये हैं। किन्तु प्रत्येक नया व्याख्याकार और सम्पादक पुराने सिद्धान्तों की व्याख्या या सम्पादन करते समय सदा उन्हें नये रंग में और नई दृष्टि से प्रकट करता ही है, और उस के वैसा करने पर तब तक आपत्ति नहीं की जाती जब तक उस की व्याख्या सिद्धान्त के मूल अभिप्राय के प्रतिकूल न हो। यह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि ऐसी व्याख्या मूल सिद्धान्त के अभिप्राय के अनुकूल है। भले ही ऋणों का सिद्धान्त धार्मिक विचारों या अन्ध विश्वासों में भी लिपटा रहा हो, तो भी वह अपने मानने

वालों में समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य का विचार पैदा किये बिना न रह सकता था। उस को मानने वाले के लिए अपने को एक सामाजिक और राजनैतिक प्राणी या एक समूह का अग समझना आवश्यक था, जिस समाज और समूह मे वह अपने पूर्वजो और वशजों को भी गिनता था। इस प्रकार के समाज को ही हम जाति या राष्ट्र कहते हैं। विशेष कर ऋषि-ऋण का विचार जिस कर्त्तव्य-भावना को पैदा करता था उसे तो आधुनिक दृष्टि से भी एक ऊँची भावना मानना होगा।

——.०.——

# ग्रन्थनिर्देश

## अ. भौगोलिक विवेचन के लिए

होल्डिक—इंडिया ( भारतवर्ष ), आक्सफ़र्ड १९०४,—ब्रिटिश विश्वकोष ( इन्सा-इक्लोपीडिया ब्रिटानिका ) १३ संस्क० में एशिया के प्रदेशों विषयक अनेक लेख।

इंडिया ऐंड ऐडजेसेंट कंट्रीज़ ( भारत और पड़ोसी देश), सदर्न एशिया ( दक्खिनी एशिया ), तथा हिमालय रिजन्स ( हिमालय-प्रदेश ) सीरीज़ों के नक्शे, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित।

मध्य एशिया की ऐटलस कोकुर्युकइ, तमेइके (Tameıke), अकसका, तोकियो से प्र०। इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा सुनी है, पर अनेक जतन करने पर भी मुझे अभी तक देखने को नहीं मिली।

ईलियट—क्लाइमैटोलैाजिकल ऐटलस ऑव इंडिया ( भारत की ऋतु और जलवायु-सम्बन्धी ऐटलस ), भारत-सरकार द्वारा प्रका०, १९०६।

जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतभूमि और उस के निवासी ( भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार का २ संस्क० ), आगरा १९८८, पहला खण्ड।

मेजर साल्ट कृत मिलिटरी जिऑग्रफ़ी ऑव दि ब्रिटिश कौमनवेल्थ ( ब्रिटिश साम्राज्य का सामरिक भूगोल ); मेजर मेसन कृत रूटस् इन दि वेस्टर्न हिमालय, कश्मीर एटसेटरा ( पच्छिमी हिमालय, कश्मीर आदि के रास्ते ), सर्वे ऑव इंडिया द्वारा प्रका० १९२२; रायसाहेब पतिराम कृत गढ़वाल;

स्वेन हेडिन कृत ऐक्रौस दि हिमालयज ( हिमालय के आरपार ), शेरिंग कृत ङरी आर दि वेस्टर्न टिबेट ( ङरी अथवा पच्छिमी तिब्बत ), यंगहस्बैण्ड कृत ल्हासा आदि अनेक पुस्तकों को भी मैंने सरसरी तौर से देखा है । सत्यदेव परिव्राजक कृत मेरी कैलाशयात्रा से भोटियों के जीवन, कुमाँउनी गल शब्द तथा अलमोड़ा से तिब्बत के रास्ते का सब से पहला परिचय मुझे मिला था । राहुल साकृत्यायन की तिब्बतयात्रा विद्यापीठ ( काशी विद्यापीठ के त्रैमासिक ) में प्रकाशित होने से पहले मैंने सुनी है, और उन की ज़बानी मुझे उत्तरी नेपाल, तिब्बत और लदाख का बहुत कुछ परिचय मिला है।

## इ. भाषाओं और जनता की पड़ताल के लिए

ग्रियर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया ( भारतवर्ष की भाषाविषयक पड़ताल ), कलकत्ता १९०३-१९२८ ( एक आध जिल्द निकलना अभी बाकी है ), विशेष कर पहले भाग का पहला खण्ड तथा प्रत्येक भाषा-वर्णन की भूमिका ।

सेंसस ऑव इंडिया ( भारतीय मनुष्यगणना ) १९२१, भाग १ रिपोर्ट अ० ९-भाषा, तथा भाग ४-बलोचिस्तान ।

रिस्ली—दि पीपल ऑव इंडिया ( भारत के लोग ), २ संस्क०, कलकत्ता और लंडन १९१५ ।

रमाप्रसाद चन्द—इंडो-आर्यन रेसेज ( आर्यावर्त्ती नस्लें ) भाग १, राजशाही १९१६ ।

आ मेले और मार्सल कोआ—ले लाँगे दु मौंद ( संसार की भाषायें ), परी १९२४ ।

[ A Meillet et Marcel Cohen—Les Langues du Monde Paris 1924 ]

हैडन—रेसेंज ऑव मैन ( मनुष्य की नस्लें ) ।

भारतभूमि, खण्ड २ ।

ओझा—प्राचीन भारतीय लिपिमाला, २ संस्क०, अजमेर १९१८ ।

राधाकुमुद मुखर्जी—फंडेमेंटल यूनिटी ऑव इंडिया ( भारतवर्ष की बुनियादी एकता ), लंडन १६१४।

## ७. प्राचीन भूगोल के लिए

राजशेखर—काव्यमीमांसा ( गा० ओ० सी०, सं० १ ) अ० १७।

वराहमिहिर—बृहत्संहिता ( विजयनगरम् संस्कृत सीरीज़, सं० १२ ) सुधाकर द्विवेदी सम्पा०, अ० १४।

मार्कण्डेय पुराण ( जीवानन्द प्रका० ), तथा पार्जीटर कृत अनुवाद बिब्लिओथिका इंडिका सीरीज़ में, अ० ५४-५७।

वायुपुराण ( आनन्दाश्रम प्रका० ), अ० ४५।

विष्णुपुराण ( जीवानन्द ), अंश २, अ० ३।

श्रीमद्भागवत पुराण ( श्रीवेंकटेश्वर ) स्कन्ध ५, अ० १६, १७, १६।

भरत—नाट्यशास्त्र ( काव्यमाला सं० ४२, निर्णयसागर ) अ० १३, १७।

कालिदास—रघुवंश, सर्ग ४।

कनिंगहाम—एन्श्येन्ट जिओग्रफी ऑव इंडिया (भारतवर्ष का प्राचीन भूगोल), लंडन १८७१।

वैटर्स—ऑन यवान च्वाङ्स ट्रैवल्स् (युवान च्वाङ की यात्रा), लंडन १६०४।

स्टाइन—कल्हणज़ क्रौनिकल ऑव दि किंग्स् ऑव कश्मीर ( कल्हण की राजतरंगिणी का अंग्रेज़ी अनुवाद ), लंडन १६००, भाग २, भूगोल-सम्बन्धी परिशिष्ट।

सुरेन्द्रनाथ मजूमदार शास्त्री—कौन्ट्रीब्यूशन्स् टु दि स्टडी ऑव दि एन्श्येंट जिओग्रफ़ी ऑव इंडिया ( भारत के प्राचीन भूगोल के अध्ययन-परक लेख ), इं० आ० १६१५, पृ० १५ प्र। बहुत ही प्रामाणिक और अच्छा उद्योग था जो कि लेखक की अकाल मृत्यु से अधूरा रह गया।

भारतभूमि, परिशिष्ट १।

नन्दलाल दे—जिओग्राफ़िकल डिक्शनरी ऑव एन्श्येन्ट एंड मैडीवल इंडिया ( प्राचीन और मध्यकालीन भारत का भौगोलिक कोष ),

२ संस्क०, लडन १६२७। इस कोष के संकलन में जितना श्रम किया गया है यदि उतने ही विवेक से भी काम लिया गया होता तो यह एक अमूल्य संग्रह होता। विद्यमान रूप में इस की प्रामाणिकता पर निर्भर नहीं किया जा सकता। लेखक की विवेचना के कुछ नमूने ये हैं। "काली नदी ( पूरबी )—कुमाऊँ में पैदा होने वाली एक नदी जो गंगा में मिलती है ' कन्नौज पूरबी काली नदी के पच्छिम तट पर है उस के गगा से संगम से ३-४ मील।' " कुमाऊँ में पैदा होने वाली काली नदी कन्नौज को अपने पच्छिम रखते हुए गगा में मिलना चाहे तो उसे गोमती, रामगगा और गगा के ऊपर से फाँद कर गगा-जमना-दोआब में आना होगा ! स्पष्ट है कि दे महाशय कुमाऊँ की काली ( शारदा ) और दोआब की काली को एक समझ बैठे हैं। "केकय—व्यास और सतलज के बीच एक देश दे० गिरिव्रजपुर ( २ )।" "गिरिव्रजपुर ( २ )—केकय की राजधानी । कनिंगहाम ने गिरिव्रज की जलालपुर से शिनाख़्त की है।" किन्तु कनिंगहाम ने जिस जलालपुर से केकय की शिनाख्त की है, वह जेहलम ज़िले में है न कि व्यास-सतलज के बीच। "बाहीक—व्यास और सतलज के बीच केकय के उत्तर । बाहीक लोग सतलज और सिन्ध के बीच रहते थे, विशेष कर रावी और आपगा नदियों के पच्छिम, 'उन की राजधानी शाकल थी।" शाकल ( स्यालकोट ) और रावी के पच्छिम का देश व्यास-सतलज के बीच है यह मनोरंजक आविष्कार है ! "जावालीपुर—जबलपुर "। किन्तु अभिलेखों में जालोर का नाम जावालिपुर है—एपि० इ० ६, पृ० ५५, पृ० ७७। इत्यादि।

# प्राचीन काल

दूसरा खण्ड—

# आर्य राज्यों के उदय से महाभारत-युद्ध तक

## तीसरा प्रकरण

# मानव और ऐल वंश

### § २८. मनु की कहानी

हमारे देश का इतिहास बहुत पुराना है। किन्तु बहुत पुराने समय मे भी हमारे देश मे घटनाओ के वृत्तान्त रखने की प्रथा थी, और उन वृत्तान्तो अथवा ख्यातों की—जिन्हें पूर्वजों से वशजो तक एक परम्परा मे चले आने के कारण हम अनुश्रुति[1] कहते हैं—महाभारत युद्ध के समय के करीब एक सहिता ( संकलन ) बनाई गई, जिसे पुराण-सहिता अर्थात् पुरानी ख्यातों का सग्रह कहा गया। बाद की घटनाओं

---

1. इस अर्थ के लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में श्रुति और श्रुत शब्द का अधिक प्रयोग होता था, किन्तु वे शब्द अब धार्मिक श्रुति के लिए परिमित हो गये हैं। परम्परागत ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख "इत्येवमनुशुश्रुम—हमने ऐसी बात परम्परा से आती सुनी है" आदि मुहावरों से भी प्रायः किया जाता था (प्रा० अ० पृ० १८ )। अनु-श्रु में अगलों से सुनने का ठीक भाव भी आ जाता है, इसी लिए मैंने अनुश्रुति शब्द गढ़ लिया है, यद्यपि भाववाची संज्ञा के रूप में इस शब्द का प्रयोग प्राचीन वाङ्मय में नहीं मिलता।

विषयक अनुश्रुति भी उस संहिता मे पीछे दर्ज होती रही, और एक पुराण-संहिता के अनेक रूप होते गये। हमारा प्राचीनतम इतिहास उसी पौराणिक अनुश्रुति से जाना जाता है[1]। यद्यपि हाल मे कुछ बहुत पुराने सभ्यता के अवशेष भी हड़पा ( जि० मटगुमरी अथवा साहीवाल, पंजाब ) और मोहन जो दड़ो[2] ( जि० लारकानो, सिन्ध ) आदि स्थानों की खुदाई में पाये गए हैं, तो भी उन अवशेषो की अभी तक पूरी व्याख्या नहीं हो पाई, और उन के आधार पर शृङ्खलाबद्ध इतिहास अभी नहीं बन सकता। फलत प्राचीनतम इतिहास के लिए हमारा एकमात्र सहारा अभी तक पौराणिक अनुश्रुति ही है। वह अनुश्रुति अब हमे जिस रूप मे मिलती है, वह अत्यन्त विकृत और भ्रष्ट है। तो भी आधुनिक विद्वानो ने अपनी बारीक छानबीन और तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति से उस के सत्य अंश को मिथ्या मिलावट से सुलझाने का जतन किया है। वैसा करने वाले व्यक्तियो में अंग्रेज विद्वान् पार्जीटर का प्रमुख स्थान है। अगले पॉच प्रकरणों में भारतवर्ष के प्राचीनतम राजनैतिक इतिहास का एक खाका मुख्यत पार्जीटर के तीस बरस की मेहनत के बाद लिखे ग्रन्थ एन्श्येंट इंडियन हिस्टौरिकल ट्रैडीशन ( प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति ) के आधार पर दिया जाता है।

पुरानी अनुश्रुति मे बहुत सी कल्पित कथायें भी मिली हुई हैं। इन कथाओं के अनुसार हमारे देश मे सब से पहला राजा मनु वैवस्वत था। कहते हैं उस से पहले कोई राज्य न था, अर्थात् मनुष्यों मे कोई ऐसी शक्ति न थी जो सब को नियम में रखती। लोगों की दशा मछलियों की सी थी, अर्थात् बलवान् निर्बल को निगल जाता, और उसे भी अपने से अधिक बलवान्

---

१. दे० नीचे ❀ ४।

२. मोहन जो दड़ो अर्थात् मोहन का खेड़ा। कुरुक्षेत्र में खेड़ा पुरानी बस्ती के भग्नावशेष ढेर को कहते हैं, वह ठेठ हिन्दी शब्द है। इसी अर्थ में हिन्दकी में भिड शब्द प्रचलित है।

का डर बना रहता। इस दशा से तग आ कर लोगों ने मनु को राजा चुन लिया, और उस के अधीन नियमों से रहना स्वीकार किया। राज्य-प्रबन्ध का खर्चा चलाने के लिए प्रजा ने उसे अपनी खेती की उपज मे से छठा भाग देना स्वीकार किया।[1]

इस सारी कहानी पर हम विश्वास करे या न करे, इस मे इतनी सचाई अवश्य है कि कोई समय था जब हमारे पुरखा राज्य मे सगठित हो कर रहना न जानते थे, और उस के बाद एक समय आया जब कि वे उस प्रकार रहना सीख गये। लोगों ने एक दिन बैठ कर सलाह की और उसी दिन राज्य-व्यवस्था शुरू कर दी, यह बात हम भले ही न माने, पर यह तो मानना होगा कि धीरे धीरे हमारे पूर्वजों ने राज्य मे रहना सीख लिया, और जिस समय से हमारे इतिहास का आरम्भ होता है उस समय तक वे यह सीख चुके थे। साथ ही इस कहानी से प्रकट है कि वे तब खेती करना भी जानते थे।

## § २९. मनु का वंश

मनु के नौ या दस बेटे बताये जाते हैं, और, कहते हैं, उस ने सारे भारत के राज्य को अपने उन बेटों मे बॉट दिया। उन मे से सब से बड़े

---

१ मनु के साथ प्रजा के ठहराव की बात के लिए दे० अर्थ० १, १३। राज्य-संस्था का आरम्भ कैसे हुआ, इस विषय पर दार्शनिक विचारकों ने बहुत चिन्तन और कल्पनायें की हैं। ठहराव का सिद्धान्त जैसे आधुनिक युरोप के राजनीतिशास्त्र में प्रसिद्ध है, वैसे ही वह प्राचीन भारत में भी था। मनु के साथ ठहराव वाली बात भी प्राचीन हिन्दू राजनीतिशास्त्रियों की एक कल्पना मात्र है, उसे ऐतिहासिक घटना मानने को कोई प्रमाण नहीं है। स्वयं मनु एक प्रागैतिहासिक व्यक्ति है। यह भी ध्यान रहे कि राज्य के उद्भव के सम्बन्ध मे भारतीय विचारकों की वह एकमात्र कल्पना न थी (दे० नीचे § ६७ अ)।

बेटे इक्ष्वाकु को मध्यदेश का राज्य मिला, जिस की राजधानी अयोध्या थी। इक्ष्वाकु के वंशज मानव वंश या "सूर्य वंश" की मुख्य शाखा थे। एक बेटे को पूरब की तरफ आजकल के तिरहुत (उत्तरी बिहार) मे राज्य दिया गया। इस वंश मे बहुत समय पीछे जा कर एक राजा विशाल हुआ जिस ने उस राज्य की एक नयी राजधानी वैशाली बसाई। वैशाली नगरी आगे चल कर बहुत प्रसिद्ध हुई। बाद की वैशाली के खँडहर उत्तरी बिहार मे मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ गॉव मे मौजूद है। सुभीते के लिए हम राजा विशाल के पूर्वजों को भी वैशाली का राजवंश कहेंगे।

मनु के एक और पुत्र करूष के वंशज करूष या कारूष क्षत्रिय कहलाये। वे ढीठ लडाके प्रसिद्ध थे। उन का राज्य सोन (शोण) के पच्छिम और गंगा के दक्खिन आधुनिक बघेलखण्ड और शाहाबाद मे था, जिस से वह प्रदेश प्राचीन काल मे करूष या कारूष देश कहलाता था।

शर्याति नाम के एक और पुत्र का राज्य आधुनिक गुजरात की ओर था। शर्याति का पुत्र हुआ आनर्त्त और आनर्त्त के फिर तीन पुत्र हुए— रोचमान, रेव और रैवत। पुत्र का मतलब सम्भव है वंशज हो। आनर्त्त के कारण उस देश का नाम आनर्त्त हुआ, और रेवा (नर्मदा) नदी तथा रैवत (गिरनार) पर्वत अब तक हमे रेव और रैवत का नाम याद दिलाते है। आनर्त्त देश की राजधानी कुशस्थली (द्वारिका) थी। कहते है आगे चल कर पुण्यजन राक्षसों ने उस राज्य को नष्ट कर दिया।

इन चार प्रसिद्ध राज्यों के अतिरिक्त मनु के पुत्रो मे से एक का राज्य यमुना के पच्छिमी तट पर कही था, और दूसरे एक बेटे धृष्ट के वंशज धार्ष्ट क्षत्रिय पंजाब मे राज्य करते थे।

इक्ष्वाकु के भी फिर बहुत से पुत्र बताये जाते है। किन्तु उन मे से मुख्य दो थे। बडा बेटा विकुक्षि या शशाद अयोध्या के राज्य का उत्तराधिकारी बना। फिर उस का पुत्र राजा ककुत्स्थ हुआ, जिस के कारण यह वंश काकुत्स्थ वंश भी कहलाया।

इक्ष्वाकु के छोटे बेटे निमि ने अयोध्या और वैशाली के बीच विदेह देश मे सूर्यवंशियों का एक और राज्य स्थापित किया, जिस मे उस के वंशज राजा मिथि जनक ने मिथिला नगरी स्थापित की। इस वंश के सब राजा आगे चल कर जनक कहलाने लगे। सदानीरा ( राप्ती ) नदी अयोध्या और विदेह के राज्यों को अलग करती थी।

इस प्रकार हम देखते है कि हमारे इतिहास का पहला पर्दा जब हमारे सामने खुलता है, तब अयोध्या विदेह तथा वैशाली मे, कारूष देश मे, आनर्त्त मे, यमुना के पच्छिमी तट पर तथा पंजाब मे कई राज्य थे, जो सब मनु के "पुत्रों" अर्थात् वंशजों[1] के थे। मनु नाम का कोई राजा वास्तव मे हुआ है कि नहीं, सो कहना कठिन है। और इन सब राज्यों के प्रथम पुरुष एक ही आदमी के पुत्र थे, यह भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही पीढ़ी मे एक वंश का इतनी दूर तक फैलना कठिन है। किन्तु इतनी बात तो निश्चित है कि उक्त सब राज्य एक ही वंश के थे जिसे हम मानव वंश या मनु का वंश ( अथवा सूर्य वंश ) कहते हैं।

## § ३०. ऐल वंश या चन्द्र वंश

किन्तु इक्ष्वाकु के समय के लगभग ही मध्यदेश मे एक और प्रतापी राजा भी था जो मानव वंश का नहीं था। उस का नाम था पुरूरवा ऐळ, और उस की राजधानी थी प्रतिष्ठान। प्रयाग के सामने झूसी के पास अब भी

---

१. वंशज या अनुयायी के अर्थ में पुत्र शब्द समूचे भारतीय वाङ्मय में पाया जाता है। ठीक बेटा-बेटी के अर्थ में उस के मुकाबले का अपत्य शब्द है। नमूने के लिए सुत्तनिपात की ९९१वीं गाथा में यह बात बिलकुल स्पष्ट होती है—

पुरा कपिलवत्थुम्हा निक्खन्तो लोकनायको।
अपच्चो ओक्काकराजस्स सक्यपुत्तो पभंकरो॥

एक गाँव है पोहन, जो उस प्रतिष्ठान का ठीक स्थान समझा जाता है। कहते हैं पुरूरवा की रानी उर्वशी अप्सरा थी। उन का वंश ऐळ वंश[1] या चन्द्र-वंश कहलाता है। ऐळ वंश ने शीघ्र ही बड़ी उन्नति की और दूर दूर के प्रदेशों तक अपने राज्य स्थापित कर लिए। उस की शाखाएँ प्रतिष्ठान के ऊपर और नीचे गंगा के साथ साथ बढ़ने लगी। पुरूरवा के एक पुत्र ने ऊपर की ओर गंगा-तट पर कान्यकुब्ज ( कन्नौज ) में एक नया राज्य स्थापित किया। प्रतिष्ठान वाले मुख्य वंश में पुरूरवा का पोता राजा नहुष हुआ जिस के पुत्र का नाम ययाति था। ययाति के एक भाई ने नीचे गंगा के किनारे वाराणसी में एक नया राज्य स्थापित किया, जो बाद में उस के वंशज राजा काश के नाम से काशी का राज्य कहलाने लगा।

## § ३१. ययाति और उस की सन्तान

ययाति भारी विजेता था। उस ने प्रतिष्ठान के पच्छिम, दक्खिन और दक्खिनपूरब के प्रदेश जीते, और उत्तरपच्छिम तरफ सरस्वती नदी तक सब देश अधीन किया। इसी कारण उसे चक्रवर्ती कहते, क्योंकि उस के रथ का चक्र अनेक राज्यों में निःशङ्क घूमता था। वह आर्यावर्त्त के इतिहास में सब से पहला चक्रवर्त्ती था। उस के पाँच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। पुरु के पास प्रतिष्ठान का राज्य रहा, और उस के वंशज पौरव कहलाये उस के दक्खिनपूरब का प्रदेश तुर्वसु को मिला, अर्थात् उस ने कारूषों को, जो पहले उस देश में थे, अपने अधीन किया। उस के पच्छिम केन, बेतवा

---

[1] एक ऊटपटाँग कहानी प्रसिद्ध है कि मनु की लड़की इळा थी जिस ने सोम ( चन्द्रमा ) के बेटे बुध से समागम कर पुरूरवा को जन्म दिया था। वह कहानी केवल ऐळ शब्द की व्याख्या करने को गढ़ी गई दीखती है। ऐळ शब्द का इळावृत शब्द से सम्बन्ध होना सम्भव है, और यह सम्भव है कि ऐळ लोग पहले इळावृत ( मध्य हिमालय ) से आये हों ( प्रा० भा० ऐ० अ०, पृ० २९७—३०० )।

और चम्बल नदियों के काँठों का प्रदेश यदु को दिया गया। चम्बल के उत्तर और जमना के पच्छिम का प्रान्त द्रुह्यु को मिला, तथा उस के पूरब गगा-जमना-दोआब का उत्तरी भाग अर्थात् अयोध्या से पच्छिम का प्रदेश अनु के हिस्से आया। यदु के वंशज यादव आगे चल कर बहुत प्रसिद्ध हुए, और उन की शाखाये आगे दक्खिन की ओर फैलने लगी। उन की एक शाखा हैहय वश कहलाई जिस ने यादवों के भी दक्खिन बढ़ कर अपना राज्य स्थापित किया।

## § ३२. सम्राट् मान्धाता

कुछ समय बाद यादव वंश मे शशबिन्दु नाम का प्रतापी चक्रवर्त्ती राजा हुआ। जान पड़ता है उस ने अपने पड़ोस के द्रुह्यु और पौरव राज्यों को जीत लिया। पौरव वंश की कोई बात इस समय के बाद देर तक नही सुनाई देती। शशबिन्दु की लड़की बिन्दुमती ने अयोध्या के राजा मान्धाता से व्याह किया। मान्धाता इक्ष्वाकु से उन्नीस-एक पीढ़ी बाद हुआ। वह चक्रवर्त्ती और सम्राट् तथा इस युग का सब से प्रसिद्ध राजा था। उस ने चारों तरफ दिग्विजय किया। अड़ौस-पड़ौस के सब राज्य उस के अधीन हो गये। सम्राट् शब्द पहले पहल उसी के लिए बर्ता गया। "जहाँ से सूरज उगता और जहाँ जा कर डूबता था, वह समूचा यौवनाश्व[1] मान्धाता का क्षेत्र कहलाता था।"

---

[1] प्राचीन आर्य नामों के विषय में एक छोटी सी बात समझ लेने की है। प्राय: पिता के नाम से प्रत्येक पुरुष या स्त्री का नाम बनाया जाता है। पिता के नाम के पहले स्वर की प्राय: वृद्धि हो जाती और अन्त में कोई प्रत्यय लग जाता है, जैसे युवनाश्व का बेटा यौवनाश्व, अमूर्त्तरयस् का आमूर्त्तरयस, कृतवीर्य का कार्त्तवीर्य, अत्रि का आत्रेय, ऊर्व का और्व, जमदग्नि का जामदग्न्य, दशरथ का दाशरथि। बहुत बार माता के नाम से या वंश या देश के नाम से भी उपनाम

पौरवो का देश और कन्नौज का राज्य मान्धाता ने जीत लिया। जान पडता है आनवों ( अनु की सन्तान ) के राज्य पर भी उस ने आक्रमण किया, और यह तो निश्चित है कि पजाब की सीमा पर द्रुह्यु वश के राजा अगार को उस ने एक बडे लम्बे युद्ध के बाद हराया और मार डाला। यादव लोग मान्धाता के सम्बन्धी थे, उन्हे उस ने नहीं छेड़ा, किन्तु दक्खिन मे हैहयों के प्रदेश को उस ने या उस के पुत्रों ने अवश्य जीता। मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स की रानी का नाम नर्मदा था, और शायद उसी के नाम से रेवा नदी नर्मदा कहलाने लगी। नर्मदा नदी के बीच एक टापू पर पारियात्र और ऋक्ष पर्वतों के चरणों मे पुरुकुत्स के भाई मुचुकुन्द ने एक नगरी बसाई। आजकल भी उस जगह को मान्धाता कहते है।

किन्तु उस सुदूर प्रदेश को वह देर तक अधीन न रख सका, हैहय राजा महिष्मन्त ने उसे जीत कर उस सुन्दर नगरी का नाम माहिष्मती रक्खा। माहिष्मती सैकडों बरसों तक प्राचीन व्यापार का बडा भारी केन्द्र रही। महिष्मन्त के उत्तराधिकारी भद्रश्रेण्य ने उलटा उत्तर भारत पर चढाई की, और काशी तक को जीत लिया, जिस का वृत्तान्त हम आगे कहेंगे।

उधर पुरुकुत्स के बाद अयोध्या की अवनति के समय कान्यकुब्ज का राज्य भी कुछ समय के लिए चमक उठा। तभी वहाँ जन्हु नाम का राजा हुआ जो हैहय महिष्मन्त का समकालीन था।

---

बनाते हैं, जैसे पृथा का बेटा पार्थ, शिवि वश या देश की कन्या शैव्या, केकय की कैकेयी, मद्र की माद्री। इतिहास मे जहाँ एक ही नाम के कई प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हों, वहाँ उन मे फ़रक करने के लिए उपनाम साथ लगाने से सुभीता होता है, जैसे कार्त्तवीर्य अर्जुन और पाण्डव या पार्थ अर्जुन, राम जामदग्न्य और राम दाशरथि, भरत दौष्यन्ति और भरत दाशरथि, इत्यादि। बहुत व्यक्तियों का असल नाम इतिहास में भूला जा चुका है और हम उन्हें खाली उपनाम से जानते हैं, जैसे शैव्या, माद्री, कैकेयी आदि।

## § ३३. गान्धार राज्य की स्थापना

मान्धाता के विजयों के कारण आनव और द्रुह्यु लोगों को पंजाब की तरफ खसकना पड़ा। द्रुह्यु वंश में इसी समय राजा गान्धार हुआ जिस के नाम से आधुनिक रावलपिंडी के उत्तरपच्छिम का प्रान्त गान्धार देश कहलाने लगा। द्रुह्यु क्षत्रिय बड़े दृढ़ और वीर थे। कहते हैं, गान्धार के पाँच पीढ़ी बाद उन्हों ने पच्छिम के देशों को भी जीत कर उन में अपने कई राज्य स्थापित किये।[1]

## § ३४. पंजाब में उशीनर, शिवि और उन के वंशज

आनव वंश में इस समय उशीनर नाम का एक बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ। उस के वंशज सारे पंजाब में फैल गये। उन में से यौधेय क्षत्रिय बहुत प्रसिद्ध हुए। यौधेयों का राज्य दक्खिनपच्छिमी पंजाब में अनेक शताब्दियों तक बना रहा, उन की वीरता के वृत्तान्त हम आगे बहुत सुनेंगे। उन के वंशज अब जोहिये कहलाते हैं। नीली बार अर्थात् नीली (निचली सतलज) के तट का बांगर अब भी उन के नाम से जोहिया बार कहलाता है।

उशीनर का पुत्र शिवि उस से भी अधिक प्रसिद्ध हुआ। वह भी चक्रवर्ती राजा था। दक्खिनपच्छिम पंजाब में शिविपुर नाम का एक प्राचीन शहर था, जिसे आजकल शोरकोट सूचित करता है[2]। उस का नाम शिविपुर

---

१. दे० नीचे * ५।

२. शिवि, अम्बष्ठ, सिन्धु और सौवीर की स्थिति रूपरेखा में पार्जीटर के नक्शे के प्रतिकूल रक्खी गई है। शिवियों और अम्बष्ठों की स्थिति सिकन्दर के आक्रमण-वृत्तान्त से जानी जाती है (दे० नीचे §§ १२०-१२१)। लाहौर अद्भुतालय में एक देगचा पड़ा है जो डा० फ़ोगल को शोरकोट के खँडहरों से मिला था; उस पर गुप्त-लिपि में एक पंक्ति लिखी है जिस से सूचित होता है कि वह शिविपुर के भिक्खुओं के विहार के लिए दान किया गया था। शिविपुर और शोरकोट की अभिन्नता उसी से निश्चित हुई है (जर्नल ऑव दि पंजाब हिस्टौरिकल सोसाइटी, जि० १, पृ० १७४)। सिबिस्तान का इलाका भी दक्खिनपच्छिम पंजाब से बहुत दूर नहीं है। दे० नीचे § ५८।

शिवि या उस के वशजों के कारण ही हुआ। शिविपुर का प्रदेश प्राचीन काल मे आजकल की तरह बार (जगली रेगिस्तान) न था, उस मे अनेक हरी भरी बस्तियाँ थी, जिन के निशान अभी तक पाये जाते है। उस के अतिरिक्त सिन्ध प्रान्त के उत्तरपच्छिमी कोने मे दर्रा बोलान के ठीक नीचे भी सिवि या सिविस्तान प्रदेश है[1]।

शिवि के वशजो की मुख्य शाखा तो शिवि ही कहलाती रही, किन्तु उस के कुछ पुत्रों ने अलग हो कर कई और राज्य भी स्थापित किये। इन मे से मद्र या मद्रक और केकय या कैकेय बहुत प्रसिद्ध है, तथा अम्बष्ठ और सुवीर के वशज अम्बष्ठों और सौवीरों का नाम भी हम आगे अनेक बार सुनेगे। मद्र-राष्ट्र पजाब के मध्य भाग मे रावी और चिनाब के बीच और शायद रावी के पूरब भी था। केकय मे चिनाब के उस पार जेहलम तक तथा कुछ जेहलम के पच्छिम का प्रान्त भी, अर्थात् आजकल के गुजरात जेहलम शाहपुर जिले, सम्मिलित थे। अम्बष्ठों का राज्य चिनाब के निचले काँठे पर था[2]। उन के साथ लगता हुआ सिन्धु-राष्ट्र था, जिस मे आजकल का डेराजात[3] और सिन्धसागर दोआब का दक्खिनी भाग सम्मिलित था[4]। सिन्धु और सौवीर का नाम प्राय इकट्ठा ही आता है। सौवीर देश सिन्धु देश के दक्खिन समुद्रतट पर था[4]। यौधेय, शिवि, मद्रक, कैकेय, गान्धार, अम्बष्ठ, सिन्धु और सौवीर आदि लोगों के राज्य सैकडों बरसों तक पजाब मे बने रहे। आगामी इतिहास मे हम बार बार उन के नाम सुनेगे।

---

१ दे० पिछली पादटिप्पणी।

२. दे० नीचे § १२१।

३ डेरा-गाज़ीखाँ, डेरा-इस्माइलख़ाँ ज़िले।

४. पार्जीटर तथा अन्य अनेक विद्वान् सौवीरो को सिन्धु के उत्तर रखते हैं, परन्तु सौवीर देश महासमुद्र के तट पर था—मिलिन्दपञ्हो (ट्रेंकनर सम्पा०, पुनर्मुद्रण, लंडन, १९२८), पृ० ३५९। दे० डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी कृत पोलिटिकल

## § ३५. पूर्वी आनव राज्य तथा मगध में आर्यों का प्रथम प्रवेश

आनव राजा उशीनर का एक और भाई था—तितिक्षु। वह भी उसी के समान प्रतापी था। उस ने पूरब की ओर प्रयाण कर वैशाली के पूरब-दक्खिन आधुनिक मुंगेर और भागलपुर ज़िलों मे एक राज्य स्थापित किया। तितिक्षु के दूसरे या तीसरे वंशज के समय कान्यकुब्ज के राजा कुश का छोटा बेटा अमूर्त्तरया हुआ, और उस का बेटा गय। गय आमूर्त्तरयस एक

---

हिस्टरी ऑव एन्श्येंट इण्डिया पृ० ३१८, टि० १ भी। किन्तु रायचौधुरी का यह विचार ठीक नहीं है कि सौवीर आधुनिक सिन्ध प्रान्त का केवल दक्खिनी भाग था, तथा सिन्धु उत्तरी भाग। सौवीर देश में आधुनिक समूचा सिन्ध प्रान्त सम्मिलित था, क्योंकि उस की राजधानी रोरुव या रोरुक नगरी थी (दीघनिकाय, रोमन संस्क०, जि० २, पृ० २३५), जो आधुनिक उत्तरी सिन्ध का रोरी शहर है। सौवीर के उत्तर आधुनिक सिन्धसागर दोआब का दक्खिनी अंश तथा डेराजात प्रदेश सिन्धु नदी का काँठा होने से सिन्धु कहलाता था। संस्कृत सैन्धव और पालि सिन्धव शब्द घोड़े के वाची हैं। कुण्डककुच्छिसिन्धव जातक (२५४) से यह पाया जाता है कि उत्तरापथ के व्यापारी बनारस में सिन्धव बेचने आते थे। भोजाजानीय जातक (२३) में भी सिन्धव शब्द है, पर वहाँ उस के उत्तरापथ से आने की बात नहीं है, तण्डुलनालि जातक (५) में उत्तरापथ के अस्सवाणिजा: का उल्लेख है, पर वहाँ अस्स (घोड़े) के लिए सिन्धव शब्द नहीं है। तो भी जातक २५४ से यह सिद्ध है कि सिन्धव उत्तरापथ से आते थे; फलतः सिन्धु देश उत्तरापथ में था। आधुनिक सिन्ध पच्छिम में है न कि उत्तर में (दे० ऊपर § ६)। पंजाब के नमक के लिए भी संस्कृत में सैन्धव शब्द है, जो हिन्दी में सेंधा बन गया है। नमक की पहाड़ियाँ सिन्धसागर दोआब के उत्तरी भाग में हैं। इस प्रकार पौराणिक और पालि दोनों वाङ्मयों में सिन्धु देश से डेराजात और उस के साथ लगा सिन्धसागर दोआब का पच्छिमी और दक्खिनी अंश ही समझना चाहिए।

साहसी व्यक्ति था। वह अपने प्रताप से चक्रवर्ती राजा बना। उस ने काशी के पूरब के जंगली प्रदेश में, जो आगे चल कर मगध कहलाया, पहले पहल एक राज्य स्थापित किया। किन्तु वह राज्य देर तक टिका नहीं।

हमारे देश के इतिहास के सब से पहले राज्यों का यह संक्षिप्त वृत्तान्त है। मनु या इक्ष्वाकु से ले कर उशीनर, शिवि आदि के कुछ पीछे तक के समय को कृत युग कहते हैं। हमारे ये पुरखा जिन का प्रारम्भिक वृत्तान्त हम ने कहा है अपने को आर्य[1] कहते, और अपने देश को आर्यावर्त्त। ऊपर के वृत्तान्त से प्रकट है कि आर्यावर्त्त में अनेक छोटे छोटे राज्य थे, और उन की नई नई शाखायें फूट फूट कर आर्यावर्त्त की सीमाओं को निरन्तर आगे बढ़ाती जाती थीं। अपने पड़ोस के कई राज्यों से जो राजा अधीनता मनवा लेता वह चक्रवर्ती कहलाता, और जो समूचे आर्यावर्त्त को अधीन कर लेता वह सम्राट् होता।

---

[1] दे० ※ ६।

चौथा प्रकरण

# हैहय वंश तथा राजा सगर

## § ३६. कार्त्तवीर्य अर्जुन

पिछले प्रकरण में हम देख चुके है कि हैहय लोगो का राज्य उस प्रदेश म था जिसे आजकल दक्खिनी मालवा कहते है, अयोध्या के राजा मान्धाता या उस के पुत्रों ने नर्मदा नदी तक उन के प्रदेश को जीत लिया था, किन्तु वह विजय चिरस्थायी न रहा, और हैहय राजा महिष्मन्त ने पुरुकुत्स के हटते ही अपने प्रदेशो को वापिस ले माहिष्मती नगरी को अपना नाम दिया था। महिष्मन्त के पीछे हैहयों की और भी समृद्धि हुई, और उन्हो ने मध्यदेश (गंगा-यमुना-काँठे) तक को कई बार विजय किया। अयोध्या के वंश मे मान्धाता से उन्नीसवीं पीढ़ी पर राजा सगर हुआ; मान्धाता के तीन पीढ़ी बाद हैहयों ने उत्तर भारत पर जो आक्रमण शुरू किये वे सगर के समय तक जारी रहे। महिष्मन्त का उत्तराधिकारी राजा भद्रश्रेण्य हुआ, उस ने पूरब तरफ काशी राज्य तक को जीत लिया। काशी के राजा दिवोदास (प्रथम) ने भद्रश्रेण्य के लड़कों के समय अपना प्रदेश वापिस ले लिया। किन्तु कुछ ही समय बाद उसे वाराणसी छोड़ कर गोमती के किनारे एक नई राजधानी बसानी पड़ी। क्षेमक राक्षस ने इस अव्यवस्था में काशी पर कब्जा कर लिया, और उसे हटा कर हैहय राजा दुर्दम ने फिर काशी पर अधिकार किया।

गय आमूर्त्तरयस के जिस राज्य का ऊपर ( § ३५ ) उल्लेख कर चुके है, वह इस समय के बाद स्थापित हुआ था। उधर गुजरात में मानव वश के शार्यातो का जो प्राचीन राज्य था, वह लगभग इसी समय नष्ट हो गया। शार्यातो की राजधानी कुशस्थली पुण्यजन राक्षसो ने छीन ली, शार्यात क्षत्रिय भाग कर अन्य देशो मे चले गये, और वहाँ की जातियो मे मिल गये। उन का मुख्य समूह हैहयो की एक शाखा बन गया।

कुछ समय बाद हैहय वश मे राजा कृतवीर्य हुआ। उस का पुत्र अर्जुन जिसे कार्त्तवीर्य अर्जुन कहते हैं एक भारी विजेता था। नर्मदा के प्रदेशो मे भार्गव ब्राह्मण रहते थे। वे कृतवीर्य के पुरोहित थे, और दान-दक्षिणा आदि के रूप मे उस से विशेष सत्कार पाते थे। किन्तु अर्जुन ने उन के साथ कुछ बुरा व्यवहार किया और दत्त आत्रेय को अपना पुरोहित बनाया। भार्गव लोग उत्तर तरफ मध्यदेश को भाग गये। अर्जुन एक दिग्विजयी सम्राट् था। उस ने नर्मदा से ले कर हिमालय के चरणो तक अपने विजयो का विस्तार किया। दक्षिण के एक राजा "रावण"[1] को भी उस ने कुछ समय के लिए माहिष्मती के किले मे कैद कर के रक्खा।

## § ३७. विश्वामित्र, हरिश्चन्द्र और परशुराम

भार्गवो के मुखिया ऋचीक और्व ऋषि ने मध्यदेश मे आ कर कन्नौज के राजा गाधि की कन्या सत्यवती से विवाह किया। उन का पुत्र जमदग्नि हुआ। जमदग्नि का मामा अर्थात् गाधि का बेटा विश्वरथ था। उसे अपने यौवन मे ही राजकीय जीवन की अपेक्षा ज्ञान विचार और तप का जीवन अच्छा जँचा, और इस लिए उस ने ब्राह्मण वृत्ति धारण कर ली। वही प्रसिद्ध विश्वामित्र ऋषि हुआ।

---

१ पार्जीटर के अनुसार रावण किसी एक विशेष व्यक्ति का नाम नहीं, प्रत्युत एक जातिवाचक संज्ञा थी, जिस का अर्थ था राजा। राक्षसो के सभी राजा रावण कहलाते थे।

अयोध्या का राज्य जिस की सीमा तक हैहयों के आक्रमण पहुँच चुके थे, इस समय एक और संकट में पड़ गया। राजा त्रय्यारुण ने अपने इकलौते बेटे सत्यव्रत त्रिशंकु को राज्य से निकाल कर अपने पुरोहित देवराज वसिष्ठ[1] के हाथ में राज्य सौंप दिया। विश्वामित्र के कड़ बरस के प्रयत्न के पीछे वसिष्ठ का पराभव हुआ, और सत्यव्रत को राज्य वापिस मिला। सत्यव्रत ने केकय देश की एक राजकुमारी से विवाह किया। इसी सत्यव्रत का पुत्र प्रसिद्ध राजा हरिश्चन्द्र हुआ, जिस की रानी एक "शैब्या" अर्थात् शिवि वंश की राजकन्या थी। हरिश्चन्द्र, "शैब्या" और उन के पुत्र रोहित का उपाख्यान बहुत प्रसिद्ध है।

जमदग्नि का विवाह अयोध्या के राजवंश की एक कुमारी रेणुका से हुआ। उन के बेटों में सब से छोटा राम था। राम जामदग्न्य परशुराम के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है, क्योंकि वह एक प्रसिद्ध योद्धा था, और उस का मुख्य शस्त्र परशु ( कुल्हाड़ा ) था।

कार्त्तवीर्य अर्जुन के समृद्ध दीर्घ शासन के अन्त में उस ने या उस के पुत्रों ने जमदग्नि ऋषि को अपमानित किया। राम ने उन से बदला लेने की ठानी, और सम्भवतः अयोध्या और कान्यकुब्ज के राजाओं की सहायता से उन्हें हराया और अर्जुन का वध कर डाला। इस पराजय ने हैहयों को कुछ समय के लिए दबा दिया। कहते हैं परशुराम इस के बाद दक्षिण महासागर के तट पर चला गया। कोई कहते हैं वह शूर्पारक देश ( आधुनिक सोपारा, जि० ठाना, कोंकण ) को चला गया, कोई कहते हैं केरल में जा बसा, और किन्हीं का कहना है कि उस ने अपना शेष जीवन उड़ीसा में महेन्द्रगिरि पर बिताया। कल्पना ने उस के वृत्तान्त पर बहुत रंग चढ़ा दिया है। परशुराम और विश्वामित्र के वंशज भी बहुधा उन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं, इस बात को न समझ कर अनुश्रुति में जहाँ जहाँ उन के नाम आते हैं उन्हें एक ही आदमी मान लेने से भी बड़ा गोलमाल हो जाता है।

---

१. याद रहे वसिष्ठ एक वंश का नाम था, न कि एक ही ऋषि का।

## § ३८. हैहय तालजघों की बढ़ती, मरुत्त आवीक्षित

हैहय लोग बहुत देर चुप न रहे। कार्त्तवीर्य अर्जुन के पोते तालजङ्घ के समय वे फिर बढने लगे। तालजङ्घ अयोध्या के राजा रोहिताश्व (या रोहित) के समय मे था। उस के वशज तालजङ्घ कहलाने लगे, और उन के फिर कई वश हो गये, जिन मे से वीतिहोत्र, भोज, शार्यात और अवन्ति वश के नाम ध्यान मे रखने लायक हैं। राजस्थान के जिस प्रदेश को अब हम मालवा कहते हैं उस का पुराना नाम अवन्ति ही था। इस प्रदेश मे विदिशा नगरी ( ग्वालियर राज्य मे आधुनिक बेसनगर ) हैहयो की एक राजधानी थी। हैहय-तालजङ्घो की भिन्न भिन्न शाखाये खम्भात की खाडी से ले कर गगा-जमना-दोआब तक और वहाँ से काशी तक सब प्रदेशो पर फिर धावे करने लगीं। कन्नौज का राज्य समाप्त हो गया। अयोध्या पर भी हमला हुआ। इस अव्यवस्था मे जंगली जातियाँ भी उठ खड़ी हुई और लूटमार करने लगी। अयोध्या के राजा बाहु को ( जो रोहिताश्व से पाँचवी पीढी पर था ) गद्दी छोड जगल को भागना पडा, और उस ने और्व ( ऊर्व के वशज ) भार्गव ऋषि अग्नि के आश्रम मे शरण ली। उसी आश्रम मे उस के सगर नाम का बेटा हुआ, जिसे ऋषि ने शिक्षा द कर बडा किया।

हैहयों की विजयरेखा विदेह और वैशाली राज्य की सीमा तक जा पहुँची। वैशाली के राजा करन्धम ने बहुत देर तक घिरे रहने के बाद हैहयो को मार भगाया। करन्धम के बेटे अवीक्षित, और पोते मरुत्त के समय मे भी वैशाली का राज्य बडी समृद्धि पर रहा। मरुत्त आवीक्षित ने दूर दूर तक अपना आधिपत्य स्थापित किया, वह चक्रवर्ती और सम्राट् था।

## § ३९. मेकल, विदर्भ और वत्स राज्य

इसी समय यादवों ने भी दो नये राज्य स्थापित किये। पीछे देख चुके हैं कि हैहयों का राज्य दक्खिन मालवा मे था, विन्ध्याचल और सातपुडा के पच्छिमी भाग उन के अधीन थे। करन्धम के समय यादव राजा परावृट

हुआ जिस की सन्तान ने विन्ध्य और ऋक्ष शृङ्खला का पूर्वी भाग मेकल पर्वत तक अधीन किया, और उस के दक्खिन एक नया राज्य स्थापित किया, जिस का नाम परावृट् के पोते विदर्भ के नाम पर विदर्भ हुआ। यह विदर्भ देश प्राचीन इतिहास मे बहुत प्रसिद्ध रहा; इसी को हम आजकल बराड़ कहते हैं।

इसी बीच काशी के राजा लगातार हैहयों का मुकाबला कर रहे थे, और अन्त मे राजा प्रतर्दन ने उन से अपना देश वापिस ले लिया। प्रतर्दन के बेटे वत्स ने प्रयाग के पड़ौस का प्रदेश, जहाँ पुराने समय मे पौरवों का राज्य था, अधीन किया, और तब से वह प्रान्त वत्स देश कहलाने लगा।

## § ४०. राजा सगर

किन्तु इतने से भी हैहयो की शक्ति नष्ट न हुई। काशी के राजा प्रतर्दन के समय तक राजा सगर भी यौवन प्राप्त कर चुका था। उस ने अयोध्या को ही तालजङ्घ-हैहयो के पंजे से नही छुड़ाया, प्रत्युत हैहयो के अपने देश मे घुस कर उन की शक्ति का ऐसा विध्वस किया कि फिर उन के विषय मे कुछ सुनाई नहीं पड़ता। आगे बढ़ कर उस ने विदर्भ पर चढ़ाई की, जहाँ के राजा ने अपनी कन्या केशिनी उसे ब्याह मे दे कर सन्धि की। सगर की गिनती चक्रवर्त्ती राजाओ मे है। उस का राज्यकाल भी बहुत दीर्घ था। उस के बेटे असमंजस ने यौवराज्य के समय मे ही प्रजा पर अत्याचार किये, इस लिए सगर ने उसे राज्य से निकाल दिया, और अपने पोते अंशुमान को अपने पीछे गद्दी दी।

कहते हैं कि हैहयों के हमले कृत युग और त्रेता युग की सन्धि मे हुए थे, और सगर के समय से त्रेता युग का आरम्भ होता है। वास्तव मे राजा सगर के राज्य से हमे एक नया युग आया प्रतीत होता है। उस के दीर्घ शासन में उत्तर भारत ने बहुत देर बाद शान्ति पाई, और उस के समय से हमें आर्यावर्त्त के राज्यों का एक नया चित्र दिखाई देता है।

## § ४१. चेदि और अग देश, बगाल के राज्य

विदर्भ के यादवो ने सगर की मृत्यु के बाद उत्तर ओर बढ कर हैहयो के प्रदेशो पर भी अपना अधिकार फैला लिया, और इस प्रकार यमुना से तापी तक समूचा प्रदेश यादव वशो की सत्ता मे आ गया। राजा विदर्भ के पोते चिदि के नाम से चर्मण्वती (चम्बल) और शुक्तिमती ( केन ) के बीच का यमुना के दक्खिनी काँठे का प्राचीन यादव प्रदेश चेदि कहलाने लगा। वही आजकल का बुन्देलखड है। कान्यकुब्ज का राज्य मिट चुका था, और पौरवो का प्राचीन प्रतिष्ठान अब काशी के साथ वत्स भूमि मे सम्मिलित था। पूर्वी आनव वश मे सगर का समकालीन राजा बलि हुआ, जिस के बेटे अग के नाम से उस देश का नाम अग पडा। कहते है कि अंग के चार और भाई थे, जिन्हा ने और भी पूरब और दक्खिन की ओर राज्य स्थापित किये, जो कि उन्हीं के नाम से वग, कलिङ्ग, पुण्ड्र और सुह्म कहलाये। वग गगा के मुहाने अथवा पूरबी बगाल का नाम था, पुण्ड्र उस के उत्तर था, सुम्ह पच्छिम—आधुनिक मेदिनीपुर जिला, तथा कलिंग उस के दक्खिनपच्छिम आधुनिक उडीसा का समुद्रतट। इन सब प्रदेशो को एक ही राजा के बेटो ने एक साथ जीत लिया, और उन्ही के नाम से इन के नाम पडे, इस अनुश्रुति पर सन्देह किया जा सकता है। तो भी यह बात सर्वथा सगत है कि जिस समय मालवा के यादव आर्यो ने विन्ध्यमेखला को बीच से पार कर विदर्भ मे अपनी पहली बस्ती बसाई, उसी समय अग देश के आनव आर्यो ने विन्ध्यमेखला के पूरबी छोर का चक्कर काट कर कलिग तक अपनी सत्ता जमाई। विदर्भ और कलिग तब आर्यो के अन्तिम उपनिवेश थे।

---

पाँचवा प्रकरण

# राजा भरत और भारत वंश

## § ४२. पौरव राजा दुष्यन्त

पिछले प्रकरण मे हम ने देखा कि पौरवो की प्राचीन राजधानी प्रतिष्ठान वत्सभूमि मे सम्मिलित हो चुकी थी, जो इस समय काशी राज्य का एक भाग थी। पौरव लोग गुमनाम रूप मे थे। इन्ही पौरवो मे इस समय दुष्यन्त नामक व्यक्ति हुआ। वह तुर्वसुओ के देश मे रहता था जहाँ के राजा मरुत्त ने उसे अपना उत्तराधिकारी बना लिया था। राजा सगर की मृत्यु के बाद दुष्यन्त ने पौरव सत्ता को फिर से स्थापित किया; किन्तु उस का राज्य अब गंगा-जमना-काँठे के उत्तरी भाग मे था। कई कहते हैं उस की राजधानी वही थी जिस का नाम आगे चल कर हस्तिनापुर हुआ। मेरठ जिले के उत्तर-पूरब कोने मे आजकल गगा के पाँच मील पच्छिम हसनापुर नाम से एक कस्बा है जो प्राचीन हस्तिनापुर के स्थान को सूचित करता है। दुष्यन्त प्रतापी राजा था। अपने यौवन के दिनो मे वह एक बार सेना के साथ शिकार को जाता था। शिकार खेलते खेलते, कहते है, वह सेना हिमालय की तरफ़ एक योजनो विस्तृत सघन निर्जन बन मे जा निकली, जो खैर, आक, बेल, कैथ ( कपित्थ ) आदि वृक्षो से लदा और पहाड़ी चट्टानो से घिरा था। उस के

बाद एक और वैसे ही बीहड़ जंगल को पार कर एक बड़े शून्य मे आ निकली, जिस के आगे एक बड़ा मनोरम बन दिखाई दिया। इस बन के एक छोर पर मालिनी नदी बहती थी, और उस के किनारे किसी ऋषि का आश्रम बसा जान पड़ता था।

## § ४३. आर्यों के आश्रम

प्राचीन भारतवर्ष के इन बनों और आश्रमो का कुछ परिचय देना आवश्यक है। उत्तर भारतवर्ष के विस्तृत मैदान आरम्भ मे घने जगलो से ढके थे, और हमारे आर्य पुरखो ने उन्हे साफ कर आबाद किया था। यह सब काम एक दिन का नही था, कई युग इस मे लग गये। किस प्रकार आर्य लोग धीरे धीरे उत्तर भारत मे फैले, और विन्ध्याचल पार तक पहुँचे, इस की कुछ झलक हमे पिछले दो प्रकरणो मे मिल चुकी है। आर्यो के इस फैलाव मे उन की प्रत्येक बस्ती और राजधानी के नजदीक पुराने जगल, जिन्हें वे अटवी कहते थे, विद्यमान थे। आर्यो की बस्तियाँ उन अटवियो के बीच टापुओ की तरह थीं। उन अटवियो मे या तो जगली जानवर रहते थे, या पुरानी जंगली मनुष्यजातियाँ। वे जगली जातियाँ खेती-बाडी न जानती और प्राय शिकार और फलाहार से गुजारा करती[१]। इन मे से कई नरभक्षक भी थीं। शायद कई जातियाँ आग का प्रयोग भी न जानती और कच्चा मांस खाती। आर्यो के पडोस मे रहने से कुछ अधिक सभ्य हो जाती, और फल मूल वनस्पति शहद लाख ऊन मृगछाला आदि जगल की उपज आर्यो की बस्तियो मे ला कर उस के बदले मे अनाज वस्त्र आदि ले जातीं। आर्य लोग जगलो का एकदम ध्वस और जगली जातियो का एकदम उन्मूलन नहीं करते। वैसा करने से देश उजड जाता, बसता नहीं। जहाँ तक बनता वे इन जातियो को अपने प्रभाव मे ला कर सभ्य बनाते। किन्तु यह स्पष्ट है कि अपनी राजधानियाँ और नगरियाँ बसाते समय उन्हे इन अटवियो की स्थिति

---

१ वै० ७ ।

का विशेष ध्यान रखना होता था[१]। जहाँ पड़ौसी अटवियों के निवासी बहुत ही खूँख्वार और उपद्रवी हों वहाँ विशेष प्रबन्ध के बिना रहना न हो सकता था। आर्यों की राजनीति पर इन अटवियों का कई प्रकार से प्रभाव होता। जैसा कि हम पिछले प्रकरणों मे देख चुके है, उस समय के आर्य अदम्य दुःसाहसी होते। जहाँ एक घर मे चार छः भाई हुए वे आपस मे कमीनी छीनझपट न कर के दूर दूर के अज्ञात देशों को खोजते और उन मे जा बसते।

वे भोजन और ऐश-आराम की तुच्छ दौड़धूप मे भी हमेशा न लगे रहते थे। जहाँ इन बातों से छुट्टी पाई, वे विज्ञान, दर्शन और कला के विचार और मनन मे अपना समय बिताते। वे विचारशील और प्रतिभाशाली लोग थे। ज्ञानी, विद्वान् और विचारवान् व्यक्तियों का उन के समाज मे विशेष आदर था। बड़े बड़े राजा तक उन के सामने विनय से झुकते। हम देख चुके हैं कि अनेक राजकुमार भी राज्य छोड कर ज्ञान और विचार का मार्ग पकड़ लेते थे। अनेक स्त्रियाँ भी पुरुषो की तरह इस ओर प्रवृत्त होती। प्राचीन आर्यों मे पर्दा एकदम न था, और स्त्रियाँ प्रत्येक कार्य्य मे स्वतन्त्रता से पुरुषों का हाथ बटातीं।

आर्यों के राजकीय जीवन मे जिस प्रकार जंगलों का एक विशेष स्थान था, उसी प्रकार उन के विद्या-विज्ञान-विषयक जीवन मे भी जंगलो का बड़ा भाग था। ये विद्यारसिक तपस्वी[२] लोग विजयोत्सुक राजकुमारो से भी अधिक साहसी प्रतीत होते है। वे बस्तियो की कलकल से बहुत दूर रम्य बनों मे प्रकृति की खुली गोद मे जा कर अपने डेरे जमा लेते, और अध्ययन और मनन मे अपना जीवन बिताते। जहाँ एक प्रतिभाशाली विद्वान् ने इस प्रकार आसन जमाया, वहाँ सैकड़ो ज्ञान के प्यासे विद्यार्थी उस से पढ़ने

---

१. दे० ※ ८।

२. दे० ※ ६।

को इकट्ठे हो जाते। ये विद्यार्थी अपने गुरुओं की गौवें पालते, उन के लिए जंगल से फलमूल ले आते, और सब प्रकार से उन की सेवा करते। इस प्रकार उन विद्वानों के चारों तरफ सुदूर बनों में जो बस्तियाँ सी बस जातीं वे आश्रम कहलातीं। जंगल के फल-मूल और आश्रम की गौओं का दूध-दही उन के निर्वाह के लिए बस न होता तो पड़ोसी गाँवों से उन्हें अपने निर्वाह की सब सामग्री भिक्षा में मिल जाती। आश्रम के इन विद्वानों की स्त्रियाँ और कन्यायें भी सुदूर बनों में इन्हीं के साथ आ रहतीं। यही आश्रम हमारे पूर्वजों की सब विद्या, विज्ञान, दर्शन और वाङ्मय की जन्मभूमि थे। आर्यों के लिए वे पवित्र स्थल थे। लड़ने वाले योद्धा आश्रमों के निकट लड़ाई बन्द कर देते, और यदि एक आश्रम में शरण ले लेता तो दूसरा उस पर आक्रमण न करता। हम देख चुके हैं कि राजा बाहु और्व ऋषि के आश्रम में ही पला था।

आश्रमों के निवासी पुरुष और स्त्रियाँ इन सुदूर जंगलों में संकट में रहतीं, पर संकट में ही तो उन के जीवन का रस था। कोई कोई तो उन में ऐसे दु:साहसी होते कि आर्यों की बस्ती से बहुत ही दूर एकदम अज्ञात स्थानों में जा बसते। हम देख चुके हैं कि परशुराम अपने अन्तिम जीवन में दक्खिनी महासागर के तट पर कहीं जा बसा था। इन आश्रमों पर जब कोई आपत्ति आती, आर्य राजा उन की रक्षा के लिए फौरन तैयार हो जाते। बहुत बार तो नये देशों में आर्यों का परिचय और प्रवेश इसी प्रकार होता। आर्य ऋषि और मुनि अपनी दु:साहसी प्रकृति के कारण प्रायः सुदूर जंगलों में जा बसते, उन पर आपत्ति आने की दशा में आर्य राजाओं को उन के देशों को हस्तगत करना पड़ता।

## § ४४. शकुन्तला का उपाख्यान

हमारी कहानी का तन्तु तो बीच में ही रह गया। मालिनी नदी के किनारे जो रमणीक स्थल राजा दुष्यन्त को दिखाई दिया वह कण्व ऋषि का

आश्रम था। मालिनी को आजकल मालिन कहते हैं,[१] और गढ़वाल ज़िले मे हिमालय की तराई मे चौकी-घाटा के उत्तर आज भी लोग उस के तट पर किनकसोत नाम का एक कुञ्ज दिखाते और उसे कण्व के प्राचीन आश्रम का स्थान कहते है। किसी विद्वान् ने इस बात की सचाई को परखा नही, तो भी कुछ अचरज नही कि कण्व का आश्रम ठीक वहीं रहा हो। मालिन की धारा आज भी हिमालय के आँचल मे सुहावनी पहाड़ी दूनों का चक्करदार रास्ता काटती, चित्रपट के समान बदलते दृश्यो से घिरी, सफ़ेद बालू के पुलिनो के बीच कहीं चुपचाप भूमि के अन्दर लुप्त हो जाती, और फिर कुछ दूर बाद कहीं एकाएक कलकल करते स्रोत-रूप मे प्रकट हो कर ऐसी मनोहर अदा से झरती है, और उस के किनारे बालू के पुलिनो में सुन्दर पक्षियों का किलोल करना आर चहचहाना और हरे बनो मे अनेक प्रकार के मृगो का विनोद करना आज भी ऐसा मनोरम है कि यात्री का मन मुग्ध हुए बिना नहीं रहता।

आश्रम को देख राजा दुष्यन्त ने सेना बाहर छोड़ दी और कुछ एक साथियों के साथ पैदल आगे बढ़ा। कण्व ऋषि के ठोक स्थान पर पहुँच कर वह बिलकुल अकेला रह गया। वहाँ उसे "सूखे पत्तो मे खिली कली के समान" तापसी वेष मे एक युवती दीख पडी। कण्व फल लाने को बाहर गये थे; वे एक दो दिन बाहर ही रहे। उन की अनुपस्थिति मे उन की इस पुत्री शकुन्तला ने ही राजा का आतिथ्य किया। दुष्यन्त और शकुन्तला का परस्पर प्रेम और विवाह हो गया। कण्व के लौट आने पर शकुन्तला संकोच। मे बैठो थी। उन का बोझा उतारने को वह आगे नही बढ़ी। किन्तु सब बात जान लेने पर पिता ने उसे आशीर्वाद दिया।

---

१. वह गढ़वाल में तराई के पहाड़ों से निकल कर नजीबाबाद के पच्छिम बहती हुई बिजनौर ज़िले के पच्छिमी तट के मध्य भाग में गंगा में जा मिलती है। नजीबाबाद और मुअज़्ज़मपुर-नारायण स्टेशनों के बीच ईस्ट इंडियन रेलवे का जो पुल है वह उसी पर है।

## § ४५. सम्राट् भरत

शकुन्तला की कोख से एक बडा वीर और प्रचण्ड बालक पैदा हुआ। वही प्रतापी राजा भरत था। सरस्वती से गगा तक और गगा के पूरब पार शायद अयोध्या राज्य की सीमा तक सब प्रदेश भरत के सीधे राज्य मे आ गया। वह चक्रवर्त्ती, सम्राट् और सार्वभौम अर्थात् सारे आर्यावर्त्त का अधि-पति कहलाता था। भरत के वशज भारत कहलाये, और आगामी दो युगो मे भारतो की अनेक शाखाये उत्तर भारत पर राज्य करती रहीं।

ऐसा सोचने का प्रलोभन होता है कि हमारे देश का नाम भारतवर्ष भी इसी भरत के नाम से हुआ। किन्तु वह नाम एक और प्राचीन राजा ऋषभ के पुत्र भरत के नाम से बतलाया जाता है। और वह भरत या तो कल्पित व्यक्ति है या प्रागैतिहासिक।

भरत के तीन पुत्र हुए, पर उन की माताओ ने उन्हे मार डाला, क्योंकि वे जैसे चाहिएँ वैसे न थे। इस प्रकार वह नि सन्तान रह गया।

## § ४६. भरत के वंशज

वैशाली के प्रतापी राजा मरुत्त का उल्लेख किया जा चुका है। आंगि-रस वश के ऋषि उस के कुलपरम्परा से पुरोहित थे। इस समय उस वश मे बृहस्पति ऋषि और उस का भाई था। बृहस्पति का भतीजा दीर्घतमा एक बहुत प्रसिद्ध ऋषि था। दीर्घतमा जन्म से अन्धा था, और यौवन मे उस का आचरण भी कुछ प्रशसनीय नही रहा। उस के एक अपराध के कारण उस के भाई ने उसे गगा मे बहा दिया, और बहते बहते वह पूरबी आनव देश मे जा पहुँचा, जहाँ राजा बलि ने उसे शरण दी। आचरण दूषित होते हुए भी दीर्घतमा एक प्रतिभाशाली ऋषि था और उस की दीर्घ आयु थी। उस का उपनाम गोतम या गौतम भी था।

राजा भरत के समय तक दीर्घतमा विद्यमान था, और भरत का महा-भिषेक उसी ने कराया। उस के चचा बृहस्पति का पुत्र भरद्वाज काशी के पूर्वोक्त प्रसिद्ध राजा दिवोदास दूसरे का पुरोहित था। भरद्वाज के पुत्रो और

वशजों को भी प्राय: भरद्वाज या भारद्वाज ही कहते है। इन सब आंगि-रस ब्राह्मणो का मूल स्थान वैशाली था जहाँ के राजा "मरुत्त" ( मरुत्त के वशज ) थे। भरत को एक पुत्र की आवश्यकता थी। उस ने एक यज्ञ रचा। शायद दीर्घतमा की सलाह से उस ने उस मे विदथी भरद्वाज को अपना पुत्र बनाया। "मरुत्तो" ने उसे यज्ञ मे यह पुत्र प्रदान किया। भरत के वंशज भारत क्षत्रिय वास्तव मे इसी भारद्वाज के वशज थे।

## § ४७. हस्तिनापुर और पञ्चाल देश

भरत के वश मे छठी पीढ़ी मे राजा हस्ती हुआ। उसी ने प्रसिद्ध हस्तिनापुर की स्थापना की, या यदि वह पहले से विद्यमान था तो उसे बढ़ाया और अपना नाम दिया। हस्ती का पुत्र राजा अजमीढ़ था; उस के समय से भारत वश की कई शाखाये हो गई, जिन शाखाओ की आगे चल कर और प्रशाखाये हुई। मुख्य शाखा हस्तिनापुर मे रही, पर कुछ गुमनाम हो गई। गंगा-जमना दोआब मे दो और शाखाओ के राज्य बने। इन शाखा-राज्यो मे आगे चल कर एक राजा के पांच राजकुमार हुए, जिन्हे हँसी मे पञ्चाल कहा जाता। उन के नाम से उन के देश का नाम भी पञ्चाल देश हो गया। वत्सभूमि के ऊपर गगा-जमना-दोआब का दक्खिनी भाग, जहाँ पहले कान्यकुब्ज का राज्य था, अब दक्षिण पञ्चाल कहलाने लगा। उस की राजधानी काम्पिल्य थी, जिसे फर्रुखाबाद जिले का काँपिल गाँव सूचित करता है। दक्षिण पञ्चाल से लगा हुआ गंगा के उत्तर का इलाका उत्तर पञ्चाल कहलाता, और उस की राजधानी अहिच्छत्रा (बरेली जिले मे आधुनिक रामनगर ) थी। इस उत्तर पञ्चाल के भारत वश मे राजाओ के अतिरिक्त अनेक प्रसिद्ध ऋषि भी पैदा हुए। पन्द्रह सोलह पीढ़ी तक यह वश प्रसिद्ध रहा।

## § ४८. इस युग के अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति, अलर्क, लोपामुद्रा

इस सारे युग मे अयोध्या के इक्ष्वाकु वश के राज्य में क्या कुछ होता रहा ? प्रत्येक युग के वृत्तान्त मे अयोध्या के राजवंश की तरफ़ ध्यान देना आवश्यक होता है। क्योंकि अयोध्या के समान स्थायी राज्य प्राचीन

आर्यावर्त्त मे दूसरा कोई रहा नहीं दीखता। अनुश्रुति के प्राचीन विद्वानों ने किसी वंशावली को इतना सुरक्षित नहीं रक्खा जितना अयोध्या के इक्ष्वाकुओं की वंशावली को। वह वंशावली बडी पूर्ण है, उस मे से शायद ही कोई नाम गुम हुआ हो। इसी कारण जब हम किन्हीं घटनाओं के बीच के समय का अन्दाज़ करना चाहते हैं, तब यही देखते है कि उस अवधि मे अयोध्या के वंश मे कितनी पीढ़ियाँ हुई। ऐक्ष्वाकु वंश की पीढियाँ मानो प्राचीन इतिहास का पैमाना है।

राजा सगर इक्ष्वाकु स ३९ वी या ४० वी पीढ़ी पर हुआ था। पूर्वी आनव राजा बलि, काशी के राजा वत्स का पिता प्रतर्दन, और दुष्यन्त को गोद लेने वाला तुर्वसु राजा मरुत्त अन्दाज़न उस के समकालीन थे। काशी का राजा दिवोदास दूसरा, वैशाली का विजयी सम्राट् मरुत्त आवीक्षित तथा यादव राजा विदर्भ उस से उपरली पीढी मे थे।

सगर ने अपने बेटे असमंजस को हटा कर पोते अंशुमान् को राज्य दिया था। उसी अंशुमान् के समय काशी का प्रसिद्ध राजा अलर्क हुआ जो प्रतर्दन का पोता और वत्स का पुत्र था। अलर्क पर लोपामुद्रा की बडी कृपा थी, कहते है उसी के वर से अलर्क का शासन समृद्ध और दीर्घ हुआ। लोपामुद्रा एक विदर्भ राजा की कन्या और अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी। वह एक ऋषि की पत्नी ही नही, प्रत्युत स्वयं एक प्रसिद्ध ऋषि थी।

## § ४९. ऋषि और ऋचायें

ऋषि शब्द को आजकल हम बहुत बार ठीक उस परिमित अर्थ मे नही बर्त्तते जो उस का प्राचीन अर्थ था। हम हिन्दू लोग वेदों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते है। हम मे से बहुत से उन्हे ईश्वर की रचना मानते हैं। संसार के वाङ्मय में ऋग्वेद अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। वेदों के अन्दर जो एक एक पद्य होता है, उसे ऋच् या ऋचा कहते हैं। उसी प्रकार गद्य के एक एक सन्दर्भ को यजुष्, और गीतात्मक ऋच् या

गीति को साम कहा जाता है। ऋचो या सामों के एक छोटे समूह को जो एक पूरी कविता हो, सूक्त कहते है। सूक्त माने अच्छी उक्ति ( सु-उक्त ) या सुभाषित। प्रत्येक ऋच् यजुष् या साम के साथ किसी न किसी ऋषि का नाम लिखा रहता है। हम मे से जो लोग वेदों को ईश्वर का रचा मानते हैं, उन का कहना है कि वेद-मन्त्रो अर्थात् वैदिक ऋचो, यजुषो और सामों के अर्थों को समाधि मे विचार किये बिना नही समझा जा सकता, और जिन विद्वानों ने पहले पहल समाधिस्थ हो कर मत्रों का साक्षात्कार या "दर्शन" किया, और उन का भाव फिर जनता को समझाया, उन विद्वानो को ऋषि कहते हैं। ऋषि का अर्थ है उन के मत मे "मन्त्रद्रष्टा"। जिस विद्वान् ने जिस मन्त्र ( ऋच्, यजुष् या साम ) का साक्षात्कार किया, वह उस मन्त्र का ऋषि है, और उस का नाम उस मन्त्र पर लिखा रहता है।

हम मे से बहुत से ऐसे भी है जो वेदों को बनाने का गौरव परमेश्वर को न दे कर अपने पूर्वजो को ही देते हैं—अर्थात् वे वेदो को परमेश्वर का नहीं प्रत्युत आर्य लोगों का बनाया हुआ मानते है। उन के मत मे ऋषि वे प्रतिभाशाली कवि थे जिन्हो ने ऋचाओ की ( एवं यजुषो और सामों की ) रचना की। जो भी हो, ऋषियो का ऋचाओ से विशेष सम्बन्ध है। जो महानुभाव मंत्रों के कर्त्ता या द्रष्टा नहीं थे, किन्तु फिर भी थे बड़े विद्वान् और विचारवान्, उन्हे हम ऋषि नही, मुनि कहते हैं। लोपामुद्रा इस प्रकार एक ऋषि की पत्नी थीं, और स्वयं भी एक ऋषि थीं। जिस युग का वृत्तान्त कहा जा रहा है, जितने ऋषि उस मे पैदा हुए, और किसी युग मे उतने नहीं हुए। उस समय तक ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अलग अलग सकलन न हुआ था। वेद-सहितायें (संकलन) न बनी थीं, फुटकर सूक्त ही थे।

## § ५०. भागीरथ, दिलीप, रघु; यादव राजा मधु

अयोध्या के राजाओं का वृत्तान्त फिर बीच में रह गया। राजा अंशुमान् का पोता प्रसिद्ध चक्रवर्ती और सम्राट् भगीरथ हुआ, जिस के नाम से

गगा की एक शाखा का नाम भागीरथी[1] हुआ। भगीरथ का पोता नाभाग था, और नाभाग का बेटा अम्बरीष नाभागि फिर एक चक्रवर्त्ती राजा था। किन्तु उस के बाद अयोध्या की समृद्धि मन्द पड गई।

जिन पाठको और पाठिकाओ ने नल-दमयन्ती का उपाख्यान ध्यान से सुना है, उन्हे याद होगा कि नल से पहली पीढी मे विदर्भ का राजा भीम, तथा नल के समय मे चेदि राजा सुबाहु और अयोध्या का राजा ऋतुपर्ण था। ऋतुपर्ण भगीरथ का छठा उत्तराधिकारी था। नल निषध देश का राजा था। ऋक्ष ( सातपुडा ) पर्वत के पच्छिमी सीमान्त पर निषध नाम का एक छोटा सा राज्य इसी समय उठा था।

ऋतुपर्ण से तीसरी पीढ़ी पर राजा मित्रसह कल्माषपाद हुआ, जो बडी उम्र मे पागल हो गया। उस के बाद के पॉच राजा भी बडे कमजोर हुए, और इस समय जब कि हस्तिनापुर और पञ्चाल देश मे भारत वश अपनी पूरी समृद्धि पर था, अयोध्या के राज्य की बड़ी दुर्गति हो गई थी। किन्तु छ: पीढियो के इस ग्रहण के बाद राजा दिलीप के समय ऐक्ष्वाकु वश फिर चमक उठा। दिलीप चक्रवर्त्ती राजा था। उस के समय के लगभग ही विदर्भ-यादवो मे राजा मधु हुआ, जिस के वशज होने से भगवान् कृष्ण को माधव कहा जाता है। यादवो के इस समय जितने छोटे छोटे राज्य थे, सब को मिला कर मधु ने गुजरात से जमना तक एकच्छत्र राज्य स्थापित किया। दिलीप का पोता चक्रवर्त्ती रघु हुआ जिस के नाम से यह वश राघव वश भी कहलाने लगा। उस के पुत्र अज तथा पोते दशरथ का नाम सुप्रसिद्ध है। दशरथ के पुत्र रामचन्द्र का नाम कौन हिन्दुस्तानी बच्चा भी नहीं जानता होगा ? किन्तु भगवान् रामचन्द्र के समय मे ऐसे महत्त्व की घटनाये हुईं कि एक युग-परिवर्त्तन सा हुआ जान पडा। इसी से उन घटनाओ का वृत्तान्त एक अलग प्रकरण मे कहना उचित है।

---

१ भागीरथी गगा की वह धारा है जो गगोत्तरी और गोमुख से निकल कर टिहरी में भिलगना को मिलाती हुई देवप्रयाग पर गंगा की मुख्य धारा अलखनन्दा में आ मिलती है।

## छठा प्रकरण

# महाराजा रामचन्द्र

### § ५१. रामचन्द्र का वृत्तान्त

दिलीप, रघु, अज आदि के समय अयोध्या का प्रदेश कोशल कहलाने लग चुका था। जिस समय राजा दशरथ कोशल की राजगद्दी पर बैठे, आर्यावर्त्त के उस समय के राज्यों का दिग्दर्शन भी पिछले प्रकरण मे किया जा चुका है। कोशल के पूरब विदेह, वैशाली तथा अंग के राज्य थे। दक्खिन मे वत्स देश ( काशी का राज्य ), तथा पच्छिम मे गगा-जमना कॉंठो मे उत्तर पञ्चाल, दक्षिण पञ्चाल और हस्तिनापुर के अतिरिक्त भारत लोगो का कम से कम एक और राज्य अवश्य था जो उत्तर पञ्चाल तथा कोशल के ठीक बीच पड़ता था। जमना के दक्खिन गुजरात तक और विन्ध्याचल तथा सातपुड़ा के पार विदर्भ तक यादवो की सत्ता थी। यदि प्रतापी मधु का बनाया हुआ साम्राज्य टूट न चुका हो तो दशरथ के समय तक उस समूचे देश मे एक ही राज्य रहा होगा, नहीं तो कई छोटे छोटे यादव राज्य रहे होगे। सिन्ध-सतलज के कॉंठों मे मद्र, केकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर आदि राज्य पहले की तरह थे।

रामचन्द्र के उपाख्यान से कौन भारतीय पाठक परिचित नहीं है ? राजा दशरथ की तीन रानियाँ थीं—कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा। कौशल्या और कैकेयी नाम नहीं हैं, वे शब्द केवल यह सूचित करते हैं कि उन में से एक कोशल तथा दूसरी केकय देश की थी। दशरथ के चार पुत्र हुए। कौशल्या से रामचन्द्र, कैकेयी से भरत, तथा सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न। बड़े होने पर रामचन्द्र का स्वयवर विवाह विदेह के राजा सीरध्वज जनक की कन्या सीता से हुआ। राजा दशरथ बूढ़े हो चुके थे, और वे युवराज रामचन्द्र को तिलक दे राजकाज से छुट्टी पाना चाहते थे। लेकिन ठीक जब राजतिलक की तैयारी हो चुकी, रानी कैकेयी के षड्यन्त्र से रामचन्द्र को सीता और लक्ष्मण के साथ चौदह बरस के लिए दण्डक वन जाना पड़ा, और अयोध्या की राजगद्दी पर भरत का बैठना तय हो गया। राम सीता और लक्ष्मण बन को चले गये, लेकिन राजा दशरथ उन के वियोग को सह न सके, और ससार से चल बसे। उधर भरत अपनी ननिहाल मे सुदूर केकय देश (उ० प० पजाब) मे था। उसे बुलाया गया, और कोशल पहुँच कर जब उस ने सब वृत्तान्त सुना तो अपनी माता की करतूत पर बहुत लज्जित और दुःखी हुआ। वह जगल मे अपने भाई के पास गया, और उसी की आज्ञा से उस के प्रतिनिधि रूप में अयोध्या का शासन करने लगा।

इधर प्रयाग पर गगा पार कर रामचन्द्र सीता और लक्ष्मण चित्रकूट (आधुनिक बुन्देलखण्ड मे) पहुँचे। चित्रकूट से चल कर वे गोदावरी के किनारे पञ्चवटी पहुँचे और वहाँ अपने बनवास का कुछ समय काटा। पञ्चवटी का स्थान आधुनिक नासिक माना जाता है, वहाँ अब भी एक पर्वत रामसेज नाम का है। पञ्चवटी से वह मण्डली गोदावरी के निचले काँठे को गई, जहाँ जनस्थान नाम की राक्षसों की एक बस्ती थी। वह आधुनिक छत्तीसगढ़ के रास्ते जनस्थान पहुँची होगी, शायद इसी कारण उस प्रदेश का नाम दक्षिण कोशल पड़ गया। लका मे राक्षसो का एक राज्य था, और जनस्थान की बस्ती शायद वहीं के प्रवासी लोगों की थी। रामचन्द्र के बनवास के दस

बरस बीत चुके थे जब उन की जनस्थान में राक्षसो के साथ छेड़छाड हो गई, और राक्षसों का राजा दशग्रीव "रावण" सीता को लका ले भागा। राम और लक्ष्मण सीता की तलाश करते नैर्ऋत दिशा मे पम्पा सरोवर पर पहुँचे जहाँ उन की सुग्रीव और उस के मन्त्री हनुमान से भेंट हुई। वहाँ किष्किन्धा नाम की वानरो की बस्ती थी, और सुग्रीव उसी बस्ती के राजा वाली का निर्वासित भाई था। आधुनिक कर्णाटक मे हैदराबाद रियासत के अनगुडी नामक स्थान को प्राचीन किष्किन्धा का सूचक माना जाता है। राम ने वाली को मार सुग्रीव को वानरों का राजा बनाया, उस की तथा हनुमान की सहायता से वानरो और ऋक्षों की एक बडी सेना के साथ लका मे प्रवेश किया, और "रावण" को मार कर सीता को वापिस लिया। सिहल द्वीप मे [1] आधुनिक पोलोननरुआ (पौलस्त्यनगर) लका की प्राचीन राजधानी के स्थान पर बतलाई जाती है।

## § ५२. राक्षस और वानर

कल्पना ने इस सीधे सादे वृत्तान्त पर बेहद रगत चढ़ा दी है। राक्षस शब्द मे अब बड़ी घृणा का भाव आ गया है, और कल्पना ने राक्षसो को विचित्र रंग-रूप दे दिया है। वास्तव मे राक्षस और वानर प्राचोन दक्खिन की दो मनुष्यजातियाँ थीं, और आर्य लोग राक्षसो के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध और व्यवहार करते थे।

रावण शायद राक्षसों के राजाओं का परम्परागत नाम था। जिस रावण को राम ने मारा, उस के अपने नाम का सस्कृत रूप दशग्रीव जान पड़ता है, और उसी नाम ने शायद इस कल्पना को जन्म दिया कि उस के दस सिर थे। राक्षस लोग आर्यों की तरह सुन्दर न रहे हों, पर कोई ऐसे कुरूप भी न होते थे जैसा कल्पना ने उन्हे बना दिया है। उन मे भी अपने किस्म का सौन्दर्य था। दशग्रीव की रानी मन्दोदरी एक सुन्दर स्त्री थी। आर्य

---

१. दे० * ७।

लोग भी रामचन्द्र से पहले और बाद भी राक्षस-कन्याओ पर अनेक बार मुग्ध हो कर उन से विवाह करते और राक्षसो को अपनी कन्याये भी देते थे। पाण्डव भीम और हिडिम्बा राक्षसी के व्याह की बात महाभारत के उपाख्यान मे प्रसिद्ध है, वैसी अनेक घटनाओ का उल्लख प्राचीन ग्रन्थो मे है। यही दशग्रीव रावण पुलस्य का वशज था, और पुलस्त्य को वैशाली के सूर्य-वशी राजा तृणबिन्दु ने अपनी कन्या इलविला व्याह मे दी थी। राजा तृणबिन्दु हस्तिनापुर के सस्थापक भारत राजा हस्ती और अजमीढ के, तथा अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के समय के लगभग था, और वैशाली नगरी का प्रसिद्ध सस्थापक राजा विशाल उसी का पोता था। पुलस्त्य और इलविला का बेटा वैश्रवस ऐलविल एक ऋषि था। आर्यों की वैदिक भाषा सीखे बिना और उस का पण्डित हुए बिना कोई आदमी ऋषि कैसे बन सकता था? हम देख चुके है कि अगस्त्य ऋषि दक्षिण भारत मे हुआ था, और उस के वशज भी अगस्त्य कहलाते थे। पुलस्त्य के कई बेटे थे, तो भी उस ने एक अगस्त्य के बेटे को भी गोद ले लिया था। इस से प्रतीत होता है कि आर्य ऋषियो और आर्य कन्याओ के साथ साथ वैदिक भाषा और साहित्य का ज्ञान भी राक्षसो मे पहुँच रहा था। स्वय दशग्रीव भी तो ऋचाओ का ज्ञाता था।

वानर और ऋक्ष भी दक्षिण भारत की जातियाँ थी। जो जातियाँ आरम्भिक सभ्यता की दशा मे रहती है वे प्राय पशुओ, वनस्पतियो आदि की पूजा किया करती हैं। भारतवर्ष के जगली प्रदेशो मे रहने वाली बहुत सी द्राविड और मुड (शाबर) जातियाँ, अमेरिका के प्राचीन निवासी लाल इडियन तथा आस्ट्रेलिया और पपूवा द्वीपो के नीग्रोई लोग अब तक वैसा करते हैं। उन के भिन्न भिन्न कुल या गिरोह भिन्न भिन्न पशुओ और वनस्पतियों की पूजा करते, तथा उन के चित्रो से अपने शरीर को ऑकते है। जिस गिरोह के लोग जिस जन्तु वा वनस्पति के चिन्ह से अपने देह को आँकते हैं वे उसी के नाम से पुकारे जाते हैं। इस प्रकार के नामो को अमेरिका के लाल इडियनों की भाषा में टोटम कहते है। टोटम मानने वाली जातियो के विवाह भी टोटमों

के अनुसार ही होते हैं। ऐसे नियम उन मे पाये जाते हैं कि कोई टोटम-गिरोह अपने अन्दर विवाह न करे, और अमुक टोटम अमुक टोटम मे ही विवाह करे और अमुक मे न करे। प्रचीन भारत के वानर, ऋक्ष, नाग आदि भी ऐसी ही जातियाँ थीं।[१]

## § ५३. आर्यों का दक्खिन-प्रवेश

रामचन्द्र के उपाख्यान पर से कल्पना की रंगत उतार दी जाय तो वह सुदूर दक्खिन भारत मे आर्यों के पहले साहसिक प्रयाण का सीधा सादा वृत्तान्त रह जाता है। उस का परिणाम हुआ पहले पहल दक्खिन का रास्ता बनाना, न कि उस का स्थायी रूप से आर्यों के अधीन हो जाना। हम देख चुके हैं कि दक्षिण भारत के वायव्य कोने अर्थात् महाराष्ट्र तक यादव आर्य पहुँच चुके थे। परशुराम, अगस्त्य आदि अनेक मुनि और उन के वंशज दक्खिन मे बस चुके, और वहाँ के लोगो के साथ मेलजोल पैदा कर चुके थे। आर्यों के विवाह-सम्बन्ध भी दक्खिनी जातियो मे होने लगे थे। किन्तु यह सब आटे मे नमक के समान था। कहते हैं "अगस्त्य" मुनि ने तामिल भाषा को पहले-पहल लेखबद्ध किया, और उस का व्याकरण बनाया था। पर वह अगस्त्य निश्चय से पहले अगस्त्य का कोई सुदूर वंशज था, और रामचन्द्र के समय के बहुत पीछे। रामचन्द्र के समय तक दक्षिण भारत के वायव्य प्रान्त के सिवाय और कही आर्यों की कोई बड़ी बस्ती न थी। सारे दक्खिन मे दण्डक बन फैला हुआ था, और केवल दो बड़ी बस्तियाँ थीं—जनस्थान और किष्किन्धा। दक्खिन भारत मे रामचन्द्र ने पहले पहल साहसिक प्रयाण किया। उस से आर्यों के लिए दक्खिन का रास्ता खुल गया।

## § ५४. पंजाब में भरत का राज्य—राजगृह, तक्षशिला, पुष्करावती

चौदह बरस बाद रामचन्द्र अयोध्या वापिस आये और कोशल

---

१. दे० ॐ ७।

का राज्य सम्भाला। उन का शासनकाल दीर्घ और समृद्धिशाली था। वे अपने समय के चक्रवर्त्ती राजा थे। उन के भाई भरत को अपने ननिहाल का केकय देश का राज्य मिला। आधुनिक गुजरात, शाहपुर और जेहलम जिले प्राचीन केकय देश को सूचित करते है। उस की राजधानी उन दिनो राजगृह या गिरिव्रज थी, जिसे जेहलम नदी के किनारे आजकल गिरजाक (जलालपुर) बस्ती सूचित करती है[1]। केकय के साथ सिन्धु देश (डेराजात तथा सिन्धसागर दोआब का दक्खिन भाग) भी भरत के अधिकार में था[2]।

भरत के पुत्र तक्ष और पुष्कर थे। उन दोनो ने गान्धार देश जीता, और तक्षशिला और पुष्करावती नगरियाँ बसाई। उन की सन्तान आगे चल कर गान्धार-द्रुह्यु लोगो मे घुल मिल गई। तक्षशिला नगरी बडे नाके पर बसाई गई थी, वह पजाब मे कश्मीर तथा पजाब से कपिश देश जाने वाले रास्ते को काबू करती थी। आगे चल कर वह विद्या व्यापार और राजनीति का एक प्रसिद्ध केन्द्र रही। रावलपिडी से २० मील उत्तर-पच्छिम शाहढेरी नाम की जगह मे अब भी तक्षशिला के खँडहर मौजूद है। उन में से जो भीर गाँव के नीचे हैं, वे तक्षशिला की सब से पुरानी बस्ती के हैं। पुष्करावती नगरी कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात) नदी के संगम पर थी। पेशावर से १७ मील उत्तरपूरब आजकल के यूसुफजई प्रदेश मे प्राग और चारसद्दा नाम की बस्तियाँ उस के स्थान को सूचित करती है। उत्तर भारत के मैदान से कपिश और उड्डीयान (स्वात की उत्तरी दून) जाने वाला रास्ता पुष्करावती हो कर जाता था।

---

१ कनिंगहाम—एन्श्येंट ज्यौग्रफी ऑव इण्डिया, पृ० १६४।

२ रामायण के अनुसार भरत दाशरथि को अपने ननिहाल का केकय देश मिला था, रघुवश के अनुसार सिन्धु देश भी, पार्जीटर दोनों में विरोध देखते हैं (प्रा० भा० ऐ० अ०, पृ० २७८)। वास्तव में दोनों में पूरा सामञ्जस्य है, क्योंकि केकय और सिन्धु साथ लगे हुए देश थे (दे० ऊपर § ३४ पर टिप्पणी)।

## § ५५. भीम सात्वत, मथुरा की स्थापना, शूरसेन देश

लक्ष्मण के दो लडको को भी हिमालय की तराई मे प्रदेश मिले। शत्रुघ्न ने शायद प्रयाग की ओर से चक्कर लगा कर यमुना के पच्छिम सात्वत-यादवो पर आक्रमण कर उन का देश जीत लिया। यादवो मे सम्राट् मधु के पीछे चौथी पीढ़ी मे सत्वन्त नाम का प्रतापी राजा हुआ, जिस के वशज सात्वत कहलाने लगे। सत्वन्त का पुत्र भीम सात्वत रामचन्द्र के ठीक बाद हुआ। यमुना के पच्छिम शत्रुघ्न ने जिस स्थानीय यादव शासक को मार कर उस का प्रदेश छीना, उस का नाम लवण था। उस प्रदेश मे एक विस्तृत अरण्य था, जिस का नाम सम्राट् मधु के नाम से मधुवन पड गया था। उसे काट कर शत्रुघ्न ने मधुरा या मथुरा नगरी बसाई। शत्रुघ्न के दो पुत्र हुए—सुबाहु और शूरसेन। दूसरे के नाम से इस प्रदेश का नाम शूरसेन हो गया। राम और शत्रुघ्न की मृत्यु के बाद भीम सात्वत ने अपना प्रदेश वापिस ले लिया। भीम सात्वत के पुत्रो मे से अन्धक और वृष्णि बहुत ही प्रसिद्ध हुए। अन्धक वश मे महाभारत-युद्ध के समय कंस और वृष्णि वश मे कृष्ण पैदा हुए।

रामचन्द्र के पुत्र कुश और लव थे। वे उन के उत्तराधिकारी हुए। लव को कोशल का उत्तरी भाग मिला जिस की राजधानी श्रावस्ती थी। कुश अयोध्या का राजा हुआ। उन के समय मे मथुरा का राजा अन्धक था।

रामचन्द्र वास्तव मे अयोध्या के अन्तिम बड़े सम्राट् थे। उन के बाद आगामी युग मे आर्यावर्त्ती इतिहास की रंगस्थली मे यादव और पौरव मुख्य पात्र रहे, अयोध्या ने कुछ नहीं किया। रामचन्द्र के बाद इस प्रकार एक नये युग का आरम्भ हुआ, और उस का नाम है द्वापर युग। रामचन्द्र इक्ष्वाकु से लगभग ६४ वीं पीढ़ी पर थे, उन के समय की घटनाये वास्तव में युगान्तर-कारी थी। इसी से यह कहा जाता है कि वे त्रेता और द्वापर युगों की सन्धि में हुए।

## § ५६. वाल्मीकि मुनि

रामचन्द्र के समान महापुरुष हमारे देश मे बहुत कम हुए हैं। मनुष्य निर्दोष नहीं हो पाता, और राम दाशरथि मे भी कोई दोष रहे होंगे जो अब हमे समय की दूरी के कारण नही दीख पडते। किन्तु एक आदर्श पुरुष मे जो गुण होने चाहिएँ, भारतवासियो को उन के चरित्र मे वे सब दीख पडते हैं, इसी कारण वे उन्हे मर्यादापुरुषोत्तम कहते है।

रामचन्द्र के समय वाल्मीकि नाम का भार्गव वश का एक मुनि था। उस ने या उस के किसी वशज ने सब से पहले रामचन्द्र के उपाख्यान को श्लोकबद्ध किया। वाल्मीकि की वह रचना शायद एक सीधी-सादी ख्यात थी जिस के आधार पर बाद की 'वाल्मीकीय रामायण' लिखी गई। वाल्मीकि को आदि-कवि कहा जाता है। ऋचाओं के रूप मे कविता करने वाले ऋषि तो कुछ पहले से हो रहे थे, पर ऐसा जान पडता है कि लौकिक उपाख्यानमयी कविता का आरम्भ पहले पहल शायद वाल्मीकि ने ही किया।

—o—

सातवाँ प्रकरण

# यादव और भारत वंश की उन्नति तथा महाभारत-संग्राम

## § ५७. अन्धक, वृष्णि तथा अन्य यादव राज्य

द्वापर युग का इतिहास वास्तव मे यादवो और पौरवों का इतिहास है। यादवों का विशाल साम्राज्य भीम सात्वत के पुत्रो के समय चार पाँच राज्यो मे बँटा दीखता है। एक यादव राज्य जिस पर अन्धक शासन करता था मथुरा मे था, वृष्णि की राजधानी सम्भवतः द्वारका रही हो, और उस के एक भाई की राजधानी पर्णाश (आधुनिक बनास) नदी पर मार्त्तिकावत नगर था जो कि शाल्व देश (आबू के चौगिर्द प्रदेश) के अन्तर्गत था। इन के अलावा विदर्भ, अवन्ति, दशार्ण[1] आदि के यादव राज्य थे, और शायद माहिष्मती में एक छोटा सा हैहय राज्य भी था।

## § ५८. राजा सुदास, संवरण और कुरु

इसी समय उत्तर पञ्चाल मे राजा सृञ्जय, उस का पुत्र च्यवन-पिजवन तथा उस का पुत्र सुदास-सोमदत्त नाम के प्रसिद्ध राजा हुए। च्यवन बड़ा

---

१. दशार्णा = बेतवा की पूर्वी शाखा; दशार्ण = उस के काँठे का प्रदेश अर्थात् बेतवा-केन के बीच का प्रदेश। अब भी उस नदी और प्रदेश का नाम धसान है।

योद्धा था। सुदास के समय उत्तर पञ्चाल वश अपनी समृद्धि के शिखर पर पहुँच गया। दक्खिन ओर दक्षिण पञ्चाल, तथा पूरब ओर कोशल की सीमा तक का प्रदेश उन्हो ने जीत लिया। हस्तिनापुर के राजा सवरण को सुदास ने उस की राजधानी से मार भगाया, और यमुना के किनारे फिर उसे हार दी। सुदास के विजयो के कारण उस के विरुद्ध सब पडोसी राजाओ का एक जमघट उठ खडा हुआ, जिस मे पौरव सवरण के अतिरिक्त मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि, पक्थ, भलाना (भलानस्), अलिन, विषाणी आदि लोगो के राजा भी सम्मिलित थे[1]। मत्स्यो का देश शूरसेन देश के ठीक पच्छिम लगता था, वह आजकल का मेवात (अलवर) है। तुर्वसु शुरू मे तो कारूष देश (बघेलखण्ड) के निवासी थे, पर उन की कोई शाखा पच्छिम चली गई हो सो भी हो सकता है। द्रुह्यु गान्धार देश के, और शिवि या शिब उन के दक्खिन दक्खिनी पजाब और उत्तरी सिन्ध के निवासी थे। शिवियो के साथ लगा हुआ[2] पक्थो अर्थात् आधुनिक पश्तो-पख्तो-भाषी पठानों के पूर्वजो का देश था, विषाणी और अलिन भी उन्ही के वर्ग के कोई लोग प्रतीत होते है, और भलानसो के विषय मे यह अन्दाज किया गया है कि उन्ही के नाम मे दर्रा और नदी बोलान का नाम पडा है। परुष्णी (रावी) नदी के किनारे सुदास ने इन सब को इकट्ठे हार दी। सवरण ने भाग कर सिन्धु नदी के किनारे एक दुर्ग मे शरण ली।

सुदास के पुत्र का नाम सहदेव तथा पौत्र का सोमक था। उन के समय संवरण ने अपना राज्य ही नहीं वापिस ले लिया, प्रत्युत उत्तर पञ्चाल को भी जीता। सवरण का पुत्र सुप्रसिद्ध प्रतापी राजा कुरु हुआ। उस ने दक्षिण

---

१. ऋ० ७,१८।

२. सिबी के पठान लोग अब भी अपने देश की परम्परागत सीमा मानते हैं, और यहाँ ऋग्वेद के इस सन्दर्भ में भी हम शिवि और पक्थ का उल्लेख साथ साथ पाते हैं। इसी लिए सिबी या सिबिस्तान भी प्राचीन शिवि जाति का उपनिवेश जान पड़ता है।

पञ्चाल को भी जीत कर प्रयाग के परे तक अपना अधिकार स्थापित किया। उसी के नाम से सरस्वती के पड़ोस का प्रदेश कुरुक्षेत्र कहलाने लगा। उस के वंशज कौरव कहलाये।

## § ५९. वसु का साम्राज्य, कौशाम्बी और पूर्वी राजगृह

किन्तु कुरु के पीछे हस्तिनापुर का राज्य फिर अवनत हो गया। उस के तीन पुत्र थे। सब से छोटे पुत्र के वंश मे चौथी-पाँचवीं पीढ़ी पर वसु नाम का एक प्रतापी राजा हुआ। वसु ने यादवों का चेदि राज्य जीत लिया। इस लिए उसे चैद्योपरिचर (चैद्य-उपरिचर=चैद्यों के ऊपर चलने वाला) की पदवी मिली। उस ने शुक्तिमती (केन) नदी पर शुक्तिमती नगरी को, जो आधुनिक बाँदा के करीब कहीं थी, अपनी राजधानी बनाया। उस ने मध्यदेश के दक्खिन-दक्खिन मत्स्य से मगध तक के प्रदेश अधीन किये। इसी कारण वह सम्राट् और चक्रवर्ती कहलाया। निश्चय से वह अपने समय का सब से बडा राजा था। वसु से पहले मगध मे एक वार आर्यों का एक राज्य स्थापित हुआ, पर वह देर तक टिक न सका था (§§ ४०-४१)। मगध मे पहला स्थायी राज्य वसु ही ने स्थापित किया; वह आगे चल कर सारे भारत का केन्द्र बन गया।

वसु का साम्राज्य उस के पाँच पुत्रों मे बँट कर पाँच भाग हो गया। वे पाँच भाग थे—मगध, कौशाम्बी, कारूष, चेदि और मत्स्य। काशी और अंग के बीच के प्रदेश अर्थात् आधुनिक दक्खिनी बिहार का नाम मगध था। इस से पहले भी आर्यों की कई गौण शाखायें उसे अधीन कर चुकी थीं। इस समय वसु के पुत्र बृहद्रथ ने वहाँ जिस बार्हद्रथ वंश की स्थापना की, वह आगे चल कर बहुत प्रसिद्ध हुआ। बृहद्रथ की राजधानी गिरिव्रज या राजगृह ( आधुनिक राजगिर ) थी। पीछे कह चुके हैं कि केकय देश की राजधानी का भी ठीक यही नाम था; शायद मगध की राजधानी का नामकरण उसी के अनुसार हुआ। वसु के तीसरे पुत्र का नाम कुशाम्ब था; उस ने प्रसिद्ध कौशाम्बी नगरी को बसाया या अपना नाम दिया।

कौशाम्बी अनेक युगों तक वत्स देश की राजधानी रही। इलाहाबाद जिले मे जमना के किनारे कोसम गॉव अब उसे सूचित करता है। कारूष देश कौशाम्बी के दक्खिन था, उस का परिचय दिया जा चुका है, उसी प्रकार चेदि और मत्स्य देश का भी। मगध मे बृहद्रथ ने जो वंश स्थापित किया उसी में आगे चल कर जरासन्ध, तथा चेदि वाले वश मे शिशुपाल हुआ।

## § ६०. शन्तनु और उस के वंशज

कुरु से चौदहवी या पन्द्रहवीं पीढ़ी पर हस्तिनापुर मे राजा प्रतीप हुआ। उस के पुत्र देवापि और शन्तनु थे। देवापि ऋषि हो गया, शन्तनु राजगद्दी पर बैठा। प्रतीप और शन्तनु के समय से हस्तिनापुर का राज्य फिर चमक उठा। शन्तनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र का विवाह एक "गान्धारी"—अर्थात् गान्धार देश की राजकुमारी—से हुआ, और उन के दुर्योधन, दुःशासन आदि अनेक पुत्र हुए। पाण्डु की बडी रानी कुन्ती से तीन पुत्र थे—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन, छोटी रानी "माद्री' अर्थात् पजाब के मद्र देश की राजकुमारी से नकुल तथा सहदेव नामक दो पुत्र हुए।

## § ६१. जरासन्ध का साम्राज्य

इसी समय मगध का राजा जरासन्ध हुआ जिस ने चारो तरफ दिग्विजय किया। उस ने पूरब तरफ अग, वग, कलिग और पुण्ड्र का विजय किया, और पच्छिम तरफ कारूष देश के राजा वक्र और चेदि के राजा शिशुपाल को अपना मित्र तथा अधीनस्थ बनाया। कारूष के दक्खिन विन्ध्याचल के पूर्वी भाग के राजा भी सम्भवत. उस के वश मे थे। मध्य देश मे काशी और कोशल भी शायद उस के प्रभाव मे थे। पूर्वोत्तर सीमा पर किरात राजा भगदत्त भी उस की मानता था। चेदिराज शिशुपाल जरासन्ध के समूचे साम्राज्य का प्रधान सेनापति था। चेदि के पश्चिमोत्तर शूरसेन मे अन्धक-यादवो का राज्य था, जहाँ का राजा कस जरासन्ध का दामाद था। कस ने जरासन्ध को अपना अधिपति भी माना, और उस की सहायता के भरोसे प्रजा पर अत्या-

चार आरम्भ किया। प्रजा ने वृष्णि-यादवों की सहायता माँगी जिन मे इस समय वसुदेव का पुत्र कृष्ण भी था। कृष्ण ने कंस को मार डाला। जरासन्ध का कोप कृष्ण और मथुरा-वासियो पर उमड़ पड़ा। मथुरा के यादव देर तक उस का मुकाबला न कर सके, और प्रवास कर द्वारका चले गये, जहाँ कृष्ण उन का नेता बना।

## § ६२. अन्धक-वृष्णि-संघ

काठियावाड़ के इन अन्धक-वृष्णि यादवो मे एक राजा का राज्य न होता। अन्धक-वृष्णियो का एक संघ था, और उस सघ के दो मुखिया चुने जाते जो सघमुख्य कहलाते। प्राचीन भारत मे जिन राज्यो के राजा वशागत न होते और चुने जाते थे, उन्हे सघ या गण कहते। गुजरात मे यादव-संघ के अतिरिक्त पंजाब में यौधेय, मद्रक, मालव आदि जो राज्य थे वे भी शायद संघ-राज्य[1] ही थे। चुने हुए मुखिया भी प्रायः राजा ही कहलाते। अन्धक-वृष्णि-सघ के दो मुखियो मे से एक इस समय कृष्ण था और दूसरा उग्रसेन।

## § ६३. इन्द्रप्रस्थ की स्थापना, पाण्डवों की बढ़ती

इसी समय उत्तर पञ्चाल का राजा द्रुपद यज्ञसेन था। कौरवो (धार्तराष्ट्रो) और पाण्डवो के गुरु द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की सहायता से उत्तर और दक्षिण पञ्चाल जीत लिया, किन्तु पीछे द्रुपद को दक्षिण पञ्चाल दे दिया। द्रुपद के साथ ही सञ्जय और सोमक वंश के लोग भी दक्षिण पञ्चाल मे जा बसे। इसी द्रुपद यज्ञसेन की बेटी कृष्णा द्रौपदी से पाण्डवो का विवाह हुआ।

कौरवो (धार्तराष्ट्रों) और पाण्डवों मे बचपन से ही बड़ी जलन थी। बड़े हो कर पाण्डवों ने राज्य मे अपना हिस्सा चाहा। दुर्योधन उन्हे कुछ न

---

१. दे० ॐ १०।

देना चाहता था। अन्त मे यह तय हुआ कि यमुना पार कुरुक्षेत्र के दक्खिन का जंगल उन्हे दिया जाय, और उसे वे बसा लें। वहाँ पर उस समय तक एक भयकर और घना जंगल था जिसे खाण्डव वन कहते थे। हम देख चुके हैं कि करीब अट्ठाईस पीढ़ी पहले रामचन्द्र के समय यमुना के दाहिने ज़रा और नीचे इसी प्रकार मधुवन फैला हुआ था जिसे साफ कर शत्रुघ्न ने मधुरा नगरी बसाई थी। खाण्डव वन को जला कर पाण्डवो ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया जिसे आधुनिक देहली के पास का इन्दरपत गाँव सूचित करता है।

इन्द्रप्रस्थ की समृद्धि शीघ्र बढने लगी। पाण्डव भी महत्त्वाकाक्षी थे, चुपचाप बैठने वाले न थे। उन के प्रदेश के साथ लगता शूरसेन देश था जिस मे जरासन्ध की तूती बोलती थी। इस दशा मे जरासन्ध और पाण्डवों मे वैर होना स्वाभाविक था, और दुर्योधन की जरासन्ध से सहानुभूति होना तथा कृष्ण का पाण्डवो की तरफ होना भी। कृष्ण की सहायता से भीम और अर्जुन ने जरासन्ध को मार डाला। इस प्रकार उत्तर भारत मे सब से शक्तिशाली मगध के सम्राट् को मार देने से पाण्डवो की धाक जम गई, और मगध के विशाल साम्राज्य मे उथलपुथल मच गई। पाण्डवो ने मगध की गद्दी पर जरासन्ध के पुत्र सहदेव को बैठाया, पर उस के कई प्रतिद्वन्द्वी थे, और पाण्डवो की सहायता होने पर भी वह केवल पश्चिमी मगध पर अधिकार रख सका, गिरिव्रज और पूर्वी भाग पर उस का अधिकार न रहा। अग देश का शासक दुर्योधन ने कर्ण को बनवाया था। कर्ण के हाथ मे वंग, पुण्ड् आदि पूर्वी राज्यो की नायकता आ गई। उधर चेदि का राजा शिशुपाल अपने पड़ौसी कारूष आदि राज्यो मे प्रमुख हो उठा।

प्राचीन समय मे महत्त्वाकांक्षी राजा दिग्विजय कर राजसूय यज्ञ किया करते थे। पाण्डवों ने भी वैसा किया। कइयो ने प्रसन्नता से, कइयो ने अनिच्छुकता से उन की सत्ता मानी, और राजसूय में भाग लिया। धार्तराष्ट्रो को अपने भाइयो के इस विजयोत्सव मे सम्मिलित होना पडा, पर उन का दिल ईर्ष्या से जला जाता था। जरासन्ध के मित्र चेदि के राजा शिशुपाल को वृष्णि-

यादवों के नेता कृष्ण से विशेष चिढ़ थी। उन की स्पर्धा यहाँ तक बढ़ी कि कृष्ण को राजसूय यज्ञ के बीच ही शिशुपाल का वध करना पड़ा। इस प्रकार मगध-साम्राज्य की भग्न इमारत का एक और स्तम्भ टूट गया।

## § ६४. महाभारत युद्ध

पाण्डवा की कीर्त्ति और समृद्धि से धार्तराष्ट्र और पाण्डवो के दूसरे दुश्मन बहुत चिढ़े। दुर्योधन के मामा गान्धार देश के शकुनि ने उन के पराभव का एक रास्ता ढूँढ निकाला। प्राचीन आर्य क्षत्रियों मे जुआ खेलने का बड़ा व्यसन था। युद्ध में मुँह मोड़ना जैसे पाप समझा जाता, द्यूत के आह्वान से मुँह मोड़ना भी वैसे ही निन्दित माना जाता था। शकुनि और दुर्योधन ने देखा वे युद्ध मे पाण्डवों का मुकाबला नहीं कर सकते, तो उन्हो ने उन्हे जुआ खेलने का निमंत्रण दिया। पाण्डवो को उस मे हार कर बारह बरस बनवास और तेरहवे बरस अज्ञात वास का दण्ड भोगना पड़ा।

उन की अनुपस्थिति मे दुर्योधन ने धीरे धीरे अपनी शक्ति सगठित की। मत्स्य देश के राजा विराट् के यहाँ पाण्डवो का अज्ञात वास का बरस समाप्त हुआ ही चाहता था, जब दुर्योधन और कौरवो ने त्रिगर्त्त देश[1] (उत्तरपूर्वी पजाब) के राजा सुशर्मा के साथ मिल कर मत्स्यों पर एक धावा किया, और उन के डंगर लूट ले चले। पाण्डवो की सहायता से विराट् ने उन्हे हराया।

अज्ञात वास की समाप्ति पर पाण्डवो ने अपना राज्य वापिस माँगा, पर दुर्योधन ने कहा कि मै युद्ध के बिना सुई की नोक भर ज़मीन भी न दूँगा। दोनो पक्षों मे युद्ध ठन गया। आर्यावर्त्त के एक छोर से दूसरे छोर तक के राजा और जातियाँ उस मे एक पक्ष या दूसरे पक्ष की ओर से लड़ीं। जो वृत्तान्त

---

१. त्रिगर्त्त देश में आधुनिक कांगड़ा, सतलुज-ब्यास के बीच का "द्वाबा", तथा द्वाबे के साथ लगता ब्यास-रावी के बीच का प्रदेश सम्मिलित था।

हम महाभारत मे सुनते हैं, उस से यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता कि भारत वश के दो भाइयों के लडको की यह घरेलू आग किस प्रकार देश भर मे फैल गई, और भिन्न भिन्न राजाओ या जातियो ने क्योंकर एक पक्ष या दूसरा पक्ष ग्रहण किया।

कहते हैं धार्तराष्ट्र और पाण्डव दोनो पक्षो ने आर्यावर्त्त के एक एक राजा को अपनी ओर खीचने का भरसक जतन किया, और तूफान आने की ऐसी तैयारी हो चुकी थी कि इस तुच्छ से बहाने पर भारत का लगभग प्रत्येक राजा एक या दूसरे पक्ष की ओर से लडने को झटपट उठ खडा हुआ। पहले हम उन राजाओ और जातियो की बात करेंगे जिन का जरासन्ध के साम्राज्य से सम्बन्ध था। पश्चिमी मगध का राजा सहदेव पाण्डवो की ओर था, किन्तु पूर्वी मगध, विदेह, अग, बग, और कलिंग आदि सब राज्य कर्ण की नायकता मे कौरवो की तरफ थे। पूर्वोत्तर सीमान्त के राजा भगदत्त की पहले पाण्डवो से सहानुभूति थी, पर अब वह भी अपनी किरात[1] सेना के साथ उधर ही था। इस प्रकार सारा पूरब कौरव पक्ष मे था। किन्तु मध्यदेश मे पाण्डवो के मित्र अधिक थे। जरासन्ध के दबाव से मुक्त कराने के कारण काशी का राजा शायद पाण्डवो का कृतज्ञ था। पूर्वी कोशल लोग भी जरासन्ध से बहुत तंग हुए थे, यहाँ तक कि उन मे से बहुत से अपना देश छोड छोड दक्षिण कोशल

---

१. म० भा० का अनुसरण करते हुए पार्जीटर ने भगदत्त की सेना में किरातों के साथ चीनों के होने का उल्लेख किया है। सुदूर पूर्व के देशों से भारत-युद्ध के समय तक आर्यों का ससर्ग न हुआ था, विद्यमान म० भा० में उन का नाम बाद में मिला दीखता है। किरात पूर्वी हिमालय के पहाड़ी लोग हैं, और उन का भाड़े के सिपाही रूप में युद्ध में होना सम्भव है, किन्तु चीन शब्द आसाम के पूरब की किसी जाति या देश के अर्थ में हमारे वाङ्मय में बहुत पीछे आया दीखता है, दे० नीचे § १३६ अ तथा ❀ २६। भारत-युद्ध के समय आर्यावर्त्त का उत्तरपूरबी सीमान्त उत्तरी बगाल से अधिक पूरब नहीं हो सकता।

या महाकोशल मे जा बसे थे। काशी और कोशल (पूर्वी) इस समय पाण्डवो की ओर थे, पर कोशल राजा बृहद्‌बल कौरवो की तरफ था, और उसी प्रकार वत्स लोग भी न जाने क्यों उसी तरफ थे। जरासन्ध के बेटे सहदेव की तरह शिशुपाल का बेटा चेदिराज धृष्टकेतु भी पाण्डव पक्ष मे था। चेदि के पडोसी कारूष और दशार्ण देश भी उसी ओर थे, किन्तु शूरसेन (मथुरा) के यादव कौरवों की तरफ। पाञ्चालो के सभी वश—सृञ्जय, सोमक आदि—द्रुपद के साथ स्वभावतः पाण्डवो के पक्षपाती थे।

शूरसेन के प्रसग से अब हम पच्छिमी यादवो की तरफ आते है। अवस्था ऐसी नाजुक थी कि कृष्ण भी खुल्लमखुल्ला एक पक्ष से लड़ने को तैयार न हुए। वे निःशस्त्र सलाहकार के रूप मे पाण्डवो की तरफ हुए। कृष्ण के भाई बलराम भी तटस्थ रहे। गुजरात के सब वृष्णि-यादव युयुधान, सात्यकि आदि की नायकता मे पाण्डवो की तरफ से लड़े। किन्तु उन के पड़ौस मे माहिष्मती का राजा नील और अवन्ति के दो राजा थे। ये तीनो, यादव कृत-वर्मा, और नील की नायकता मे विदर्भ और निषध के राष्ट्र भी कौरवो की ओर हुए। कहते हैं नील की सेना मे अनेक आन्ध्र और द्राविड सैनिक भी थे[1]। शाल्व देश (आबू के चौगिर्द) का राजा शिशुपाल का घनिष्ठ मित्र था। शिशुपाल के वध के बाद वह कृष्ण से लडा और हार गया था; वह भी इस समय कौरवों की तरफ गया।

पंजाब और उत्तर-पश्चिम की लगभग समस्त शक्ति कौरवो की ओर थी। जान पड़ता है, उस समय पंजाब मे सिन्धु-सौवीर के राजा जयद्रथ ने

---

१. पार्जीटर ने म० भा० की इस बात पर विश्वास कर लिया है कि पाण्ड्य राजा सारगध्वज पाण्डवों की तरफ़ से लड़ा था। द्राविड और आन्ध्र लोग माहिष्मती के आर्य राजाओं की ओर से भाड़े के सिपाही-रूप में लाये गये हों, यह सम्भव है, किन्तु पाण्ड्य राष्ट्र की स्थापना ही ५ वीं शताब्दी ई० पू० के बाद हुई थी। दे० नीचे § १०६ और ❀ २४।

अपनी बडी सत्ता जमा रक्खी थी, और बाकी सब राष्ट्र उस के वशवर्त्ती थे। जयद्रथ दुर्योधन का बहनोई था। गान्धार और त्रिगर्त्त भी दुर्योधन के सहायक थे। ये तीनो राज्य पजाब-सिन्ध के तीन किनारो को काबू करते, और बाकी समूचा पजाब इन के बीच पडता था। इन तीनो के साथ केकय, शिवि आदि पजाब की अन्य शक्तियाँ भी उसी पक्ष मे गईं। यहाँ तक कि पाण्डवो के मामा मद्र देश के राजा शल्य को भी उसी ओर होना पडा। मद्र और वाल्हीक का नाम प्राय इकट्ठा आता है, सम्भवत. वे दोनो जातियाँ मिल कर एक राष्ट्र थी। क्षुद्रक और मालव नाम की दो जातियाँ रावी की निचली धारा के दोनो ओर रहती थीं[1]। मद्र-वाह्लीक, क्षुद्रक मालव, कैकेय, शिवि, अम्बष्ठ आदि पजाब की सभी जातियाँ कौरवो की ओर गईं। काम्बोज देश (गान्धार के उत्तर)[2] का राजा सुशर्मा भी उसी पक्ष मे रहा कहा जाता है। केवल एक अभिसार देश का राजा पाण्डवो की तरफ से लड़ा। आधुनिक कश्मीर रियासत का पच्छिमदक्खिनी भाग, जिस मे पुच राजौरी और भिम्भर रियासतें हैं, अभिसार कहलाता था।

इस प्रकार पाण्डवों की ओर पञ्चाल, मत्स्य, चेदि, कारूष, मगध, काशी-कोशल, और गुजरात के यादव थे, और कारवो की तरफ समस्त पूरब, समस्त उत्तरपच्छिम, पच्छिमी भारत मे से माहिष्मती अवन्ति और शाल्व के राजा तथा मध्यदेश मे से भी शूरसेन वत्स और कोशल के राजा थे। एक प्रकार से मध्य देश और गुजरात पाण्डवो की ओर था, और पूरब (बिहार,

---

१. मालवों को पार्जीटर ने आधुनिक मालवा में रक्खा है, और क्षुद्रक भी उन के साथ साथ थे। यह स्पष्ट गलती है। ये दोनों जातियाँ उस समय पंजाब में थीं, मालवा पीछे गई हैं, दे० नीचे §§ १२३, १४७। पा० की इन गलतियों को सुधार देने से भारत-युद्ध में दोनो पक्षों की जातियों की स्थिति में बहुत कुछ स्पष्टता आ जाती है, तथा युद्ध की व्याख्या भी कुछ अच्छी हो जाती है।

२. दे० नीचे ※ १७।

बंगाल, उड़ीसा), उत्तरपच्छिम (पंजाब) तथा पच्छिमी विन्ध्य (मालवा) कौरवों की तरफ।

पाण्डवो की सेनाये मत्स्य की राजधानी उपप्लव्य के पास आ जुटीं; कौरव सेना पंजाब के पूरबी छोर से कुरुक्षेत्र के उत्तर होते हस्तिनापुर तक फैली थी। सन्धि की बातचीत निष्फल होने पर पाण्डव सेना उत्तर को बढ़ी और कुरुक्षेत्र पर दोनो सेनाओ के प्रवाह आ टकराये। केवल १८ दिन के संक्षिप्त युद्ध में हार-जीत का फैसला हो गया। पाण्डवो की जीत हुई और वे कुरु देश के राजा तथा भारतवर्ष के सम्राट् हुए।

## § ६५. यादवों का गृह-युद्ध

भारत-युद्ध के कुछ ही बरस बाद गुजरात के यादवो ने घरेलू लड़ाइयों से अपना नाश कर लिया, और भगवान् कृष्ण स्वर्ग सिधार गये। अर्जुन के नेतृत्व मे वे लोग गुजरात छोड़ मध्यदेश को वापिस आये। राह मे उन्हे पच्छिमी राजपूताना के जंगली आभीरो के हमलो का मुकाबला करना पड़ा। अर्जुन ने उन्हे मार्त्तिकावत (शाल्व देश) मे, सरस्वती नदी पर तथा इन्द्रप्रस्थ मे बसा दिया।

यह तो स्पष्ट है कि भारत-युद्ध से हमारे इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित हो गया। ठीक कृष्ण के देहान्त के दिन से द्वापर की समाप्ति और कलि का आरम्भ गिना जाता है।

आठवाँ प्रकरण

# आरम्भिक आर्यों का जीवन सभ्यता और संस्कृति

## § ६६. प्राचीन इतिहास का युगविभाग

### अ. राजनैतिक—कृत, त्रेता और द्वापर

आर्य राज्यों के उत्थान-काल से महाभारत-युद्ध तक का, अथवा दूसरे शब्दो मे, इक्ष्वाकु और पुरूरवा के समय से कौरव-पाण्डवो के समय तक का राजनैतिक वृत्तान्त पिछले पाँच प्रकरणो मे सक्षेप से कहा गया है। इक्ष्वाकु से पाण्डवों के समय तक का कुल काल ९४-एक पीढी का है।

पीछे कहा गया है कि अनुश्रुति मे यदि कोई वशावली सब से अधिक पूर्ण है तो अयोध्या की। अयोध्या के वंश मे इक्ष्वाकु से ले कर महाभारत-कालीन राजा बृहद्बल तक करीब नव्वे-इकानवे राजाओ के नाम हैं। इक्ष्वाकु से मान्धाता तक बीस पीढ़ी होती हैं, हरिश्चन्द्र तक इकतीस, सगर तक अढ़तीस या उनतालीस, और रामचन्द्र तक बासठ या तिरसठ। राम से बृहद्बल तक अट्ठाईस पीढ़ियाँ और हैं। बीच मे जहाँ अयोध्या के राज्य में गोलमाल हो गया था, जैसे राजा सगर से पहले, वहाँ एकाध पीढ़ी का नाम गुम हुआ हो सकता है। इसी प्रकार जहाँ किसी एक राजा का राज्यकाल अधिक लम्बा हो गया हो, जैसे रामचन्द्र का, वहाँ हम उस राज्यकाल को

दो औसत पीढ़ियो के बराबर मान सकते है। इस तरह पार्जीटर ने कुल पचानवे पीढ़ियाँ गिनी हैं।

दूसरे वंशों मे पीढ़ियो की सख्या कम है, तो भी उन में ऐसी बाते हैं जिन से उन वशो का अयोध्या के वश के साथ साथ चलना निश्चत होता है। दृष्टान्त के लिए, यादव राजा शशबिन्दु की लड़की बिन्दुमती राजा मान्धाता को ब्याही थी। इस लिए शशबिन्दु को मान्धाता से ठोक एक पीढ़ी ऊपर होना चाहिए। इसी प्रकार यादव राजा विदर्भ को अयोध्या के राजा सगर से एक या दो पीढ़ी ऊपर होना चाहिए। पार्जीटर ने ऐसी बातों की बड़ी सावधानी से खोज की है। वशावलियों के जिन व्यक्तियो का समय इस प्रकार निश्चत हो पाया है, वंशतालिका मे उन्हे छोटे अक्षरों मे छापा गया है। मान्धाता से सगर तक हमारे हिसाब से बीस पीढ़ियाँ हैं, लेकिन यादव वंशावली मे शशबिन्दु और विदर्भ के बीच केवल दस नाम बचे हैं। इस कारण उन दस को दोनों निश्चित पीढ़ियों के बीच अन्दाज़ से फैला दिया गया है। वंशतालिका मे यह सब स्पष्ट दीख पड़ेगा। इस प्रकार अयोध्या का वंश हमारा मुख्य पैमाना है, और अन्य सब घटनाओ का समय उसी पैमाने पर रक्खा गया है।

प्राचीन अनुश्रुति के विद्वान् इस समूचे इतिहास को कृत, त्रेता और द्वापर नाम के तीन युगो मे बाँटते है। ये युग असल मे भारतीय इतिहास के युग थे, जैसे आधुनिक इतिहास मे मुग़ल-युग, मराठ-युग आदि। किन्तु ज्योतिषियों और सृष्टि की उत्पत्ति-प्रलय आदि का विचार करने वालों ने पीछे अपनी कालगणना में भी इन्हीं नामो को ले लिया, और इन युगों की लम्बी लम्बी अवधियाँ निश्चित कर दीं।

अनुश्रुति के हिसाब से राजा सगर कृत युग की समाप्ति और त्रेता के आरम्भ में हुआ, रामचन्द्र त्रेता के अन्त मे, और भारत-युद्ध के बाद कृष्ण का देहान्त द्वापर की समाप्ति का सूचक था। इस प्रकार १ से ४० पीढ़ी तक कृत युग था, ४१ से ६५ तक त्रेता, ६६ से ९५ तक द्वापर। यदि सोलह बरस

प्रति पीढ़ी[1] गिने तो कृत युग अन्दाजन साढे छ सौ बरस का, त्रेता चार सौ का तथा द्वापर पौने पाँच सौ का था। तीनो युगो की कुल अवधि अन्दाज़न १५२० बरस रही। अनुश्रुति के अनुसार भारत-युद्ध १४२४ ई० पू० मे हुआ था। यदि वह बात ठीक हो तो भारतीय इतिहास का आरम्भ २९४४ ई० पू० या अन्दाज़न २९५० ई० पू० से हुआ। उस से पहले प्रागैतिहासिक काल था।

मोटे अन्दाज़ से २९५० से २३०० ई० पू० तक कृत युग, २३०० से १९०० तक त्रेता, और १९०० से १४२५ तक द्वापर रहा।

## इ. वाङ्मयानुसार—प्राग्वैदिक युग, ऋचा-युग और संहिता-युग

यह तो हुआ राजनैतिक इतिहास को युगविभाग, वाङ्मय के इतिहास मे इसी काल ( २९५०—१४२५ ई० पू० ) को प्राग्वैदिक युग, ऋचा-युग और सहिता-युग मे बाँटा जा सकता है।

उक्त ९५ पीढ़ियो मे से उनतीस पीढी बीतने के बाद ऊर्व, दत्त आत्रेय, विश्वामित्र, जमदग्नि आदि पहले पहले वैदिक ऋषियो ने जन्म लिया। दो एक ऋषि भले ही पहले भी हो चुके थे, पर ऋषियो की लगातार परम्परा उसी समय से शुरू हुई। और वह परम्परा राजा सुदास ( ६८वीं पीढ़ी ) और सोमक ( ७०वी पीढी ) के वशजो के समय—लगभग ७३वी पीढी—तक जारी रही। एकाध ऋषि जरूर इस के बाद भी हुए, पर मुख्य सिलसिला वहाँ सामाप्त हो गया। उस के बाद, जैसे कि आगे बतलाया जायगा, ऋचाओं यजुषो और सामो की सहितायें बनने लगीं, अर्थात् उन का वेद-रूप मे सग्रह या सकलन होने लगा जो भारत-युद्धके पहले तक जारी रहा। ऋचाये जब से प्रकट होने लगीं, और जब तक अन्त मे उन की सहिताये बनीं, उन अवधियो के बीच का समूचा समय वैदिक युग है। इस प्रकार जिन ९५ पीढ़ियों का

---

१. दे० ❀ ११।

वृत्तान्त हम ने कहा है, उन मे से पहली उनतीस पीढ़ी का समय ( अन्दाज़न २९५८—२४७५ ई० पू० ) प्राग्वैदिक युग है; ३०वी से ७३वीं पीढ़ी तक का समय ( अन्दाज़न २४७५—१७७५ ई० पू० ) प्रथम वैदिक या ऋचा-युग, और ७४वी से ९५वी पीढ़ी तक का समय ( अन्दाज़न १७७५—१४५५ ई० पू० ) अपर वैदिक या सहिता-युग। प्राग्वैदिक युग पौने पाँच सौ बरस रहा, ऋचा-युग सात सौ, और संहिता-युग साढ़े तीन सौ बरस। पूरा वैदिक युग साढ़े दस सौ बरस जारी रहा।

आरम्भिक आर्यों के आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को जब हम समझना चाहते है, तो हमे अनुश्रुति से भी कहीं अधिक सहायता श्रुति अथवा वेदो से मिलती है, क्योंकि श्रुति मे उस समय के आर्य विचारको के विचार और कथन ज्यो के त्यो उन्ही की भाषा मे सुरक्षित हैं। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस सवा पन्द्रह सौ बरस के समय मे—पौने पाँच सौ बरस के प्राग्वैदिक तथा साढ़े दस सौ बरस के वैदिक युग मे—लगातार एक सी अवस्थाये नहीं रहीं। समाज के जीवन की प्रत्येक सस्था और प्रथा मे क्रमविकास होता रहा। ऋचाओ और सामों की अपेक्षा यजुष् सब पीछे के हैं, और भिन्न भिन्न ऋचाये भी भिन्न भिन्न युगो को सूचित करती हैं। सामान्य रूप से वैदिक वाङ्मय से आर्यों के समाज के विषय मे जो कुछ जाना जाता है, उसी का उल्लेख नीचे किया जाता है।

## § ६७. समाज की बुनियादें

### अ. जीविका अवस्थिति और स्थावर सम्पत्ति

आरम्भिक मनुष्य का गुज़ारा शिकार से या फलमूल बीन कर होता है। उस के बाद पशुपालन का ज़माना आता है, और फिर धीरे धीरे मनुष्य खेती करने लगता है। पशुपालन के युग मे जंगम और फिर कृषि के युग में स्थावर सम्पत्ति का उदय होता है, और स्थावर सम्पत्ति होने से समाज

मे स्थिरता आती है। शिकारियों की टोलियाँ या पशुपालको के गिरोह किसी एक जगह टिक कर नहीं रहते, कृषक समाज स्वभावत एक निश्चित प्रदेश मे टिक जाता है। समाज के इस प्रकार स्थिर या अवस्थित होने पर ही राज्य का उदय होता है, और फिर सभ्यता का विशेष विकास।

वैदिक आर्यो का समाज पशुपालकों और कृषको का था, बल्कि प्राग्वैदिक युग मे—इक्ष्वाकु और पुरूरवा के समय मे—भी वे पशुपालक और कृषक ही थे, केवल शिकार पर जीने के युग को पीछे छोड चुके थे। तो भी उस युग की याद अभी ताजा थी जब कि लोग अनवस्थित—अनवस्थिता विश—थे, अर्थात् जब आर्य लोग केवल पशुपालक थे, और कृषक जीवन उन्हो ने अपनाया न था।

## इ. जन विशः और सजाताः

विवाह की और पितृमूलक (Patriarchal)[1] परिवार की सस्था भी उन मे चल चुकी थी, बल्कि समूचा समाज ही परिवार के नमूने पर था। वैदिक समाज का संघटन कबीलो (Tribes) के रूप मे था। उन कबीलो को वे लोग जन[2] कहते थे। एक जन की समूची जनता विश[3] (विश् का बहु-

---

१. युरोपियन भाषाओं का पैट्रिआर्केट (Patriarchate) शब्द अथवा पैट्रिआर्कल (patriarchal) विशेषण दो परस्पर-सम्बद्ध किन्तु विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। जहाँ वह शासन या राज्यसंस्था (polity) के अर्थ में हो उसे पितामह-तन्त्र कहना चाहिए, patriarch के लिए हमारे यहाँ प्राचीन शब्द है पितामह। जहाँ वह परिवार या समाज के अर्थ में मैट्रिआर्केट (matriarchate) के मुकाबले में बर्ता जाय, उसे पितृमूलक परिवार या समाज कहना चाहिए; वहाँ पितामह की प्रधानता दिखाने का अभिप्राय नहीं होता, प्रत्युत समाज या परिवार पिता पर केन्द्रित है यह दिखाने का।

२. अथ० १२, १, ४५।

३. वहीं १५, ८, १-२।

वचन) कहलाती थी। जन या विशः का ही राजा होता, और राजनैतिक रूप से सगठित विशः अर्थात् जिस प्रजा का अपना देश हो और राजा हो, राष्ट्र[1] कहलातीं।

संसार के इतिहास में जहाँ कहीं और जब कभी जन रहे हैं, उन की कल्पना एक परिवार के नमूने पर होती रही है। वैदिक आर्यों के जनो की कल्पना भी वैसी ही थी। अर्थात् प्रत्येक जन के लोग (विश) यह समझते थे कि हमारा मूल पूर्वज एक जोड़ा था,[2] उस की सन्तान हुई, सन्तान की फिर सन्तान हुई, इस प्रकार सयुक्त परिवार बढ़ता और फैलता गया, उस की अनेक खाँपें होती गईं। और जिस प्रकार एक छोटे परिवार का सब से बुजुर्ग व्यक्ति—पिता या पितामह—शासन करता है, उसी प्रकार जन नामक बड़े परिवार का भी एक बुजुर्ग या पितामह शासन करता था। वह जन का मुखिया या राजा भले ही निर्वाचन द्वारा चुना जाता हो या रिवाज से मुकर्रर होता हो। जन के सब लोग सजात या सनाभि होते, अथवा कम से कम अपने को सजात और सनाभि मानते। एक जन के सब लोग परस्पर स्व (अपने) भी कहलाते। अपने जन के बाहर के सब लोग उन के लिए अन्यनाभि, निष्ठ्य (निकाले हुए) अथवा अरण (जिन के साथ बातचीत—रण शब्दे—या रमण न हो सके) होते[3]। इस प्रकार की राज्यसंस्था को जिस मे सब लोग परस्पर सजात या सनाभि हों, तथा जिस का राजा पितामह की तरह समझा जाय, हम पितामह-तन्त्र (Patriarchal) कहते हैं। वैदिक आर्यों की राज्य-संस्था ठीक पितामहतन्त्र थी।

जन मे सजातता का विचार होना आवश्यक है, वह सजातता फिर

---

१. ऋ० १०, १७३, १, १०, १७४, ५।

२. अथ० ८, १० (१) में यही विचार दीखता है कि विराट्—अराजकता—के बाद पहले गृहपति का शासन खड़ा हुआ, उस से सभा और समिति का विकास हुआ।

३. वही १,१६,३; १,३०,१; ३,३,७; ५,२२,१२; ५,३०,२; ६,६,३; ६,४३,१; २०,११६,१।

भले ही वास्तविक हो चाहे कल्पित। सच बात यह है कि सजातता कम से कम दो अशो में अवश्य कल्पित होती थी। एक तो इस अश मे कि विश मे या जन मे बाहरी लोग समय समय पर सम्मिलित होते रहते थे। हम देख चुके है[1] कि हैहयो के अनेक वशो या कुलो मे से एक शार्यात भी थे, यद्यपि वस्तुत शार्यात हैहय तो क्या ऐळ भी न थे। किन्तु जिस प्रकार परिवार मे बाहरी व्यक्ति को गोद ले लिया जाता है, उसी प्रकार कभी कभी जन मे भी बाहरी व्यक्ति या समूचा कुल भी शामिल हो कर 'सजात' बन जाता था।

## उ. व्यक्तिगत विवाह परिवार तथा सम्पत्ति का विकास

दूसरे, आरम्भ मे जन का पूर्वज एक ही जोडा था, यह बात कभी सच नहीं हो सकती, क्योकि एक जोडा कभी अकेला रह नहीं सकता था, मनुष्य का आर्थिक जीवन या जीवन की कशमकश ही उसे शुरू से ही जत्थों या टोलियो मे रहने को बाधित करती है। एक छोटे जत्थे के बढ़ने और फैलने से जन बन जाय, यह बात पूरी तरह सम्भव है। किन्तु छोटे जत्थों के फैलने से जिस प्रकार जन बने, उसी प्रकार छोटे जत्थे भी एक एक मिथुन ( जोड़े ) से बने, यह कल्पना गलत है। कारण कि आरम्भ मे स्थायी मिथुन ही न थे, विवाह की सस्था ही न थी, और उस हालत मे भीशिकारी मनुष्यो की आर्थिक जरूरतें उन्हे अचिरस्थायी जत्थो मे बाँट देती थी। उन आरम्भिक अस्थायी जत्थों से जन तक विकास होने की प्रक्रिया बडी पेचीदा थी।

बिलकुल आरम्भिक दशा मे शिकारी मनुष्यों मे स्थिर विवाह की प्रथा न हो सकती थी, स्वाभाविक प्रवृत्ति से अल्पकालिक समागम होते थे। स्थिर परिवार भी न थे, बच्चा बड़ा होने पर परिवार टूट जाता था। वास्तव मे उन मिथुनो और टोलियो को परिवार या कुटुम्ब कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि परिवार मे पिता या माता की मुख्यता होती है, उन टोलियों मे पिता का शासन इस कारण न चलता था कि वह पिता था, प्रत्युत इस कारण कि वह बलिष्ठ था। जब उस के बच्चो

१, दे० ऊपर §§ ३६, ३८।

मे से कोई उस से अधिक बलिष्ठ हो जाता, वह पिता को खदेड़ सकता और टोली की स्त्रियाँ उस के अधीन हो सकती थीं। इस प्रकार ये टोलियाँ बनतीं और टूटती रहती थी। वह आरम्भिक संकर ( Promiscuity ) की दशा थी।

स्त्री-पुरुष के स्थायी समागमों का मूल प्ररक भले ही काम रहा हो, किन्तु आर्थिक सहयोग और श्रमविभाग ( Division of labour ) की आवश्यकताये उन समागमो को धीरे धीरे स्थायी बनाने लगती हैं। इस प्रकार आर्थिक जीवन के विकास के साथ साथ स्थायी विवाहो की प्रवृत्ति होती है। किन्तु आरम्भिक संकर या प्रमिश्रणा के बाद सीधे विवाह तथा पितृमूलक परिवार की अवस्था आ गई हो सो बात नही है। प्रमिश्रणा और पितृमूलक परिवार के बीच हम सभी जातियो के इतिहास मे मातृमूलक ( Matriarchal ) परिवार को उदय और अस्त होता देखते हैं। मातृमूलक परिवार अनेक प्रकार के थे। उन का एक निम्नलिखित नमूना आधुनिक जगली द्राविड जातियो के समाजशास्त्रीय अध्ययन से अन्दाज़ किया गया है। आरम्भिक द्राविड समाज सम्भवतः इसी नमूने का था।

एक एक टोटम को पूजने या मानने वाले लोगो की एक एक टोली थी। प्रत्येक टोटम-टोली की जंगल मे अस्थायी बस्ती या डेरा था। एक बस्ती के स्त्री-पुरुष परस्पर बहन-भाई होते, पुरुष एक तरफ़ और स्त्रियाँ दूसरी तरफ़ रहती, उन मे आपस मे सम्बन्ध न हो सकता, और उस नियम को तोड़ने वाले को कठोर दण्ड—प्रायः निर्वासन—मिलता। छोटे बच्चे स्त्रियो के पास और बड़े पुरुषो के पास रहते। बच्चा अपनी माँ को जान सकता, पिता को नही, टोली के सभी बड़े आदमियो को वह पिता कहता। वह एक सामूहिक परिवार था, जिस मे एक एक मिथुन का अलग अलग कुटुम्ब नहीं था। बच्चे भी सामूहिक थे। आर्थिक जीवन भी सामूहिक था, अर्थात् शिकार और फल ला कर समूची टोली डेरे के बीच शायद एक बड़े पेड़ के नीचे एक साथ भोजन करती; और जो स्त्रियाँ बाहर जाने लायक न होतीं, उन

की चिन्ता भी कोई एक व्यक्ति नही प्रत्युत समूची टोली करती। वसन्त के उत्सवो मे या अन्य वैसे किन्ही अवसरो पर भिन्न भिन्न टोलियो का जमघट होता। उन नाच-गान के उत्सवो मे स्त्रियो के गर्भ रह जाते। किन्तु प्रत्येक स्त्री का काई विशेष पति होता हो, और स्त्री उस उत्सव के समय उसी से समागम करती हो, सो बात न थी। नियम इतना ही था कि एक टोटम की स्त्री अपने टोटम मे समागम न कर सकती थी, उसी प्रकार जिन टोटमो मे परस्पर शत्रुता होती उन मे समागम न हो सकते, विशेष टोटमों की स्त्रियाँ विशेष टोटमो ही के पुरुषो से समागम कर सकती। किन्तु अनुकूल टोटम मे अमुक स्त्री अमुक पुरुष से ही मिले सो नियम न था, उतने अश मे संकर या प्रमिश्रण जारी रही, और विवाह भी सामूहिक रहा। उत्सवो के बाद सब अपनी अपनी टोलियो मे वापिस चले जाते। आरम्भिक सकर मे जहाँ स्वाभाविक प्रवृत्ति ही स्त्री-पुरुष-समागम का एकमात्र नियामक थी, वहाँ इस समाज मे उस प्रवृत्ति को मनुष्य-कृत नियमो ने कुछ अश मे नियन्त्रित कर दिया था। किन्तु उस मातृमूलक समाज के नियन्त्रण मे और पितृमूलक परिवार की विवाह-सस्था मे बहुत भेद है।

प्रत्येक समाज मे विद्रोही भी होते रहे है। उक्त समूहपन्थी समाज मे जिन व्यक्तियों मे अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति अधिक जगी, और जिन्हो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति रखनी चाही, या व्यक्तिगत विवाह करना चाहा, उन्हे प्राय निर्वासित होना पडा। अनेक उन निर्वासनो से नष्ट होते रहे, किन्तु धीरे धीरे शायद उन निर्वासितो के भी कई जत्थे बन खड़े हुए। नियमित टोलियो की अपेक्षा इन विद्रोही जत्थो के लोग अधिक प्रक्रमशील और दु.साहसी तो थे ही। साधारण टोलियो को लूटना-खसोटना, उन की तुच्छ सम्पत्ति और सुन्दरियो को छीन लाना, इन मे से कइयों का व्यवसाय हो गया। लूटमार के काम मे सब से अधिक साहसी व्यक्ति जत्थे का मुखिया बनता रहा। इस प्रकार इन विद्रोही टोलियों मे व्यक्तिगत शासनाधिकार या राज्यशक्ति का आरम्भ हुआ। सामू-

हिक लूट व्यक्तियों मे बाँट ली जाती, मुखिया शायद सब के परामर्श से वह बँटवारा करता। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत परिवार शुरू हुए। धीरे धीरे इन नये नमूने के जत्थो ने पुराने समूहाश्रित जीवन के जत्थो को समाप्त कर दिया, और इस प्रकार उस मातृमूलक समाज (Matriarchate) मे से ही यह नया पितृमूलक समाज (Patriarchate) उठ खड़ा हुआ। इन नये पितृमूलक जत्थों के विकास से जन बन गये। और जनों में विवाह की सस्था ऐसी जड़ पकड़ गई कि आरम्भिक मातृमूलक परिवारो की उन को याद भी न रही, और वे यह समझने लगे कि विवाह की संस्था अनादि है और हम सब सजात लोग एक ही मिथुन के वंशज हैं।

वैदिक जन भले ही पितृमूलक परिवार पर निर्भर थे, तो भी माता से अनेक बार अपना गोत्र खोजना और बहुपतिक विवाह (Polyandry) आदि की पुरानी प्रथायें मातृमूलक समाज के अवशेषो और स्मारक चिन्हो के रूप में उन में चली आतीं या कभी कभी प्रकट हो जाती थी। विवाह की संस्था में भी शिथिलता थी, वह इतनी दृढ़ न थी जितनी बाद में हो गई। अनुश्रुति में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि दीर्घतमा ऋषि के समय (४१ वीं पीढ़ी) तक विवाहपद्धति स्थिर न हुई थी[1]। किन्तु प्रागैतिहासिक काल मे आर्यों मे किस नमूने का मातृमूलक परिवार था, सो नहीं कहा जा सकता।

## ऋ. जन का सामरिक संघटन—ग्राम और सं-ग्राम, जानराज्य

प्रत्येक जन मे अनेक खाँपे या टुकड़ियाँ होतीं जो ग्राम कहलाती थीं। ग्राम का अर्थ था जत्था या टुकड़ी, बाद मे ग्राम जिस स्थान मे बस गया वह स्थान भी ग्राम कहलाने लगा। लेकिन शुरू मे ग्राम मे स्थान का विचार न था, बल्कि अनवस्थित ग्राम भी होते थे; शर्याति मानव के अपने ग्राम के साथ

---

1. म० भा० १, १०४, ३४-३६। दे० नीचे * १३।

भटकने फिरने की कहानी वैदिक वाङ्मय मे प्रसिद्ध है[१]। कह चुके हैं कि अनवस्थिता विश की स्मृति लुप्त न हुई थी।

ग्राम का नेता ग्रामणी कहलाता। वह नेतृत्व पहले युद्ध मे ही शुरू हुआ, वही शान्ति-काल मे भी काम आने लगा। आपत्ति के समय या आक्रमण के लिए जन के भिन्न भिन्न ग्राम इकट्ठे होते, वह समूचे जन का ग्राम ग्राम कर के जुटना ही स-ग्राम कहलाता। उसी से युद्ध का नाम ही सग्राम हो गया। स-ग्राम मे पदाति और रथी होते, जन के सभी जवानो का वह स-ग्राम या ग्रामश' जमाव ही जन की सेना होती। प्रत्येक सैनिक अपने शस्त्रास्त्र लाता, और रथी अपने अपने रथो मे आते। रथ प्राय बैल के चाम से मढ़े होते[२]। धनुष, भाला, बर्छा, कृपाण और फरसा लडाई के मुख्य शस्त्र थे, योद्धा लोग वर्म या कवच पहन कर लडते। वाण या शर प्राय: सरकण्डे के होते, उन की अनी सींग हड्डी या धातु की होती। जहरीले वाणो का प्रयोग भी होता था[३]। वैदिक आर्यो को अपने धनुष-वाण पर कैसा भरोसा था, सो उन की इस कविता से प्रकट होता है—

> धनुष से हम गौवे जीते, धनुष से युद्ध जीते, धनुष से तीव्र लडाइयाँ जीते। धनुष शत्रु की कामनाये कुचलता है, धनुष से हम सब दिशाये जीते। धनुष की ज्या अपने प्यारे सखा ( वाण ) को छाती से लगाये हुए, मानो कान मे कुछ कहने को नज़दीक आती है। यह लडाई मे पार लगाने वाली धनुष पर चढ़ी हुई कान मे युवती की तरह क्या फुसफुसाती है !

---

१. श० ब्रा०, ४, १, ५, २।

२. यजुः २६, ५२ ; ऋ० ६, ४७, २६।

३. अथ० ४, ६, ४-५।

धनुष के दोनों छोर स्त्री आर उस के दिल-लगे की तरह परस्पर मिल कर गोदी मे बेटे ( बाण ) को लिये हुए है। वे दोनों फुरते-फड़कते हुए शत्रुओ अमित्रों को बींध गिरावे[1]।

युद्ध मे जन का नेता राजा होता था। बल्कि वैदिक वाङ्मय मे यह विचार पाया जाता है कि राजत्व का आरम्भ युद्ध मे ही हुआ। "देव और असुर लड़ते थे, देवो को असुरो ने हरा दिया। देवो ने कहा—हम राजा-रहित होने से हार गये, हम भी राजा कर ले। सब सहमत हो गये और कर लिया[2]।" शान्ति-काल मे भी राजा जन का या विशः का राजा होता, न कि भूमि का, राज्य जान-राज्य[3] कहलाता और वह एक किस्म का ज्यैष्ठ्य[3]—प्रमुखता या नेतृत्व—मात्र था न कि मलकीयत।

## लृ. आर्य और दास

युद्ध बहुत बार आर्यों के जनो मे परस्पर भी होते[4], पर प्रायः जंगली लोगो—दासों—से होते, जो अपने पुरों या कोटो मे रहते थे[5]। विभिन्न जनो के सब लोग मिल कर आर्य जाति है, और दास लोग उन से अलग हैं, उन से नीचे दर्जे के हैं, और सदा आर्यों से हारना[6] और लूटे सताये जाना ही उन का काम है, यह विचार भी आर्यो मे भरपूर था। दासों का रूप-रंग भी आर्यों से भिन्न था; वे भिन्न वर्ण[6] के—काली त्वचा वाले[7]—और अनास.[8]

---

१. यजुः २६, ३९-४१।
२. ऐत० ब्रा० १, १४।
३. यजुः ६, ४०।
४. अथ० ४, ३२, १।
५. वहीं २०, ११, १।
६. अथ० २०, ३४, ४; ऋ० १, १३०, ८।
७. ऋ० १, १३०, ८।
८. वहीं ५, २९, १०।

—बगैर नाक के—अर्थात् कुछ चिपटी नाक वाले होते, वे मृध्र[1] अर्थात् अव्यक्त बोली बोलते थे। गोरा रग, उभरा माथा, नुकीली नाक, स्पष्ट ठोडी आर्यो की विशेषताये थी। विभिन्न जनो के सब आर्यो को मिला कर पञ्च जना अर्थात् 'सब जातियाँ' भी कहा जाता था।

## § ६८. आर्थिक जीवन

### अ. श्रम और सम्पत्ति के प्रकार, सम्पत्ति का विनिमय

कह चुके है कि पशुपालन और खेती जनता की मुख्य जीविकाये थी। उन के अतिरिक्त मृगया ( शिकार ) भी काफी प्रचलित थी। कृषि केवल वर्षा पर निर्भर न थी, सिंचाई भी होती थी[2]। तो भी वैदिक आर्यों की खेती आरम्भिक दर्जे की थी। खादो का विशेष प्रयोग वे न जानते थे, खेती की उपज मुख्यत अनाज ही थे, कपास का उल्लेख वैदिक वाङ्मय मे कहीं नही पाया जाता, और न बगीचों की सत्ता ही उस समय प्रतीत होती है।

जनता का धन मुख्यत उन के डगरो के रेवड और दास-दासियाँ ही होती। भूमि भी व्यक्तिगत पारिवारिक सम्पत्ति मे शामिल थी। पालतू पशुओं मे सब से मुख्य गाय बैल और घोडा थे, उन के अतिरिक्त भैंस भेड बकरी गधा और कुत्ता भी काफी पाले जाते थे, किन्तु बिल्ली का उल्लेख नहीं मिलता। गौओं के रेवड तो गृहस्थो की सब से मुख्य सम्पत्ति थी। वैदिक आर्यों का जीवन गाय पर निर्भर सा था। यहाँ तक कि वैदिक ऋषि इन्द्र देवता के लिए अपनी प्रार्थनापूर्ण कविता की तुलना बछडे के लिए गाय के रँभाने से करता है।[3] युद्ध मे जीतने के बाद शत्रु को भूमि, दास-दासियाँ और डगर विजेताओ को खूब मिलते, तो भी भूमि का स्वामी राजा न होता था, जीती हुई भूमि जन मे बँट जाती होगी। दास-दासी यद्यपि सम्पत्ति मे सम्मिलित

---

१ वहीं।

२ वहीं १०, १०१, ४, अथ० ११, ३, १३।

३. वहीं २०, ९, १।

होते तो भी समाज का जीवन उन की मेहनत पर निर्भर न था; जीवन के सभी साधारण कार्य जन के स्वतन्त्र गृहस्थ स्वयं करते।

भूमि यद्यपि व्यक्तिगत सम्पत्ति मे सम्मिलित थी, तो भी उस का विनिमय और व्यापार न के बराबर होता। नई भौमिक सम्पत्ति दाय-भाग द्वारा पायी जा सकती, या जंगल आदि साफ कर बनाई या पैदा की जा सकती थी, किन्तु ज़मीन खरीदने का रिवाज नही के बराबर था। दूसरी तरफ जंगम सम्पत्ति का लेन-देन काफी था। मुद्रा नही के समान थी, वस्तु-विनिमय ही चलता था[१]। विनिमय मे गाय लगभग सिक्के का काम देती थी[२]। निष्क नाम का एक सोने का टुकड़ा जरूर चलता था, जो शुरु मे शायद एक आभूषण-मात्र था[३]; किन्तु वह भी अधिकतर दान मे ही दिया जाता[४], व्यापार मे मुद्रा के तौर पर कम चलता। पीछे चल कर वही मुद्रा का आधार बना।

ऋण देने लेने की प्रथा भी थी[५]। जुआ खेलने का रिवाज बुरी तरह था, और वही प्रायः ऋण का कारण होता। ऋण न चुकाने से ऋणी दास बन सकता था।

## इ. शिल्प

कृषि और पशुपालन के सिवाय कुछ शिल्प भी प्रचलित थे। बढ़ई या रथकार[६] का काम बड़े महत्व का था, क्योंकि वही युद्ध के लिए रथ और

---

१. वहीं ४, ७, ६।

२. ऐत० ब्रा० १, ५, २७।

३. अथ० ५,१७,१४।

४. वहीं २०,१२७,३।

५. वहीं ६,११७,१-३; ६,११९,१-३।

६. यजुः ३०, ६; अथ० ३,५,६।

कृषि के लिए हल और गाडी बनाता। युद्ध और कृषि का सामग्री तैयार करने के कारण लोहार ( कर्म्मार[1] ) का काम भी बड गौरव का था। वह जिस धातु से सब औजार-हथियार तैयार करता उस का नाम अयस् था, किन्तु अयस् का अर्थ उस जमाने मे लोहा था या ताँबा इस पर मतभेद है। कई विद्वानो का विचार है कि अयस् लाल धातु थी, इस लिए उस से ताँबा ही समझना चाहिए। चमड़ा रँगने[2] और ऊनी कपडा बुनने[3] के शिल्पो का भी बडा गौरव था। स्त्रियाँ चटाई आदि भी बनाती थी। यह विशेष ध्यान देने की बात है कि शिल्पियो की स्थिति साधारण विश से कुछ ऊँची ही थी। प्रत्येक ग्राम मे कृषको के साथ साथ सूत (रथ के सारथी ) आदि भी थे, वे बुद्धिमान और मनीषी माने जाते, और उन की स्थिति लगभग ग्रामणी के बराबर होती[4]।

## उ. पणि लोग और व्यापार, नागरिक तथा नाविक जीवन

वैदिक काल मे नगरो और नागरिक जीवन की सत्ता विशेष नही दीख पडती। पुर से अभिप्राय प्राय· परकोटे से घिरे हुए बडे गाँव से ही है। व्यापार भी बहुत नहीं चलता था। पणि नामक विनिमय करने वाले व्यापारियो का उल्लेख जरूर मिलता है। पर वे पणि प्रायः असुर या अन्य अनार्य प्रतीत होते है, जिन्हे आर्यो और उन के देवताओ से सदा हारना और लुटना पडता था[5]। कही कही देवपणियों का भी उल्लेख आया है[6]। नदियाँ पार करने के लिए तो नावे खूब चलती थी, किन्तु समुद्र मे जाने वाली नावे भी होती थीं कि नही इस पर बडा विवाद है। सिन्धु

---

१. वहीं।
२. यजु. ३०,१५।
३. वहीं १६,८०; अथ० १४,१,४५।
४. वहीं ३,५,६ ७।
५. वहीं ४,२३,५, २०,६१,६, ऋ० १०,१०८।
६. यजु: २,१७।

और समुद्र मे जाने वाली नावो[1] का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु कई विद्वान् सिन्धु और समुद्र का अर्थ केवल बड़ी नदी करना चाहते हैं। उन का कहना है कि वेद मे नावो के केवल अरित्रों[2] अर्थात् डांडों का उल्लेख है, पतवार पाल लगर और मस्तूल[3] का नाम नहीं मिलता। दूसरी तरफ अनेक विद्वानो की धारणा है कि आर्यों की नावे समुद्र के किनारे किनारे फारिस की खाड़ी तक जाती थी, और वहाँ के देशों से उन का सामुद्रिक सम्बन्ध था। दूसरे मत मे अधिक सचाई दीख पडती है[4]।

## ऋ. विदेशों से सम्पर्क—बाबुल और काल्दी

आजकल जिसे हम फारिस की खाड़ी कहते हैं, उस के ऊपर दजला और फरात नदियो के काँठों मे बहुत प्राचीन काल में सभ्यता का उदय हुआ था। अन्दाज़न साढ़े तीन पौने चार हजार ई० पू० में वहाँ दो प्रसिद्ध बस्तियाँ थी जिन्हे उन के निवासी केङ्गि और उरि-की कहते, जो बाद मे बाबुली भाषा मे शुमेर और अक्काद कहलातीं, और जिन के निवासियों को अब हम सुमेरी कहते हैं। सुमेरी लोग किस जाति के थे सो अभी जाना नही जा सका; एक मत यह भी है कि वे द्राविड थे। वे अच्छे सभ्य लोग थे, अनेक शिल्पों का उन्हें ज्ञान था। बाइबल के पूर्वार्ध मे जो गाथा-मिश्रित ऐतिहासिक वृतान्त पाया जाता है, और उस मे जो देवगाथाये (Mythology) है, वे मूलत: सुमेरी लोगो की ही हैं।

---

१. ऋ० १०,१५५,३।

२. वहीं १०,१०१,२।

३. सीलनिसंस जातक (१९०) में मस्तूल के लिए कूपक, रस्सों के लिए योत्त (योक्त्र), तख्तों के लिए पदर, और लंगर के लिए लकार शब्द है (जातक जि० २, पृ० ११२)।

४. दे० § ९२।

सुमेरी जाति के बाद वहाँ सामी या सेमेटिक वश की कई जातियाँ आईं। बाबुल या बाबेरु ( मूल, बाब इलि=दरवाजा देवता का ) उन की मुख्य बस्ती थी, जिसे अब बगदाद के ७० मील दक्खिन हिल्ला का खेडा सूचित करता है। सामी आर्यो की तरह एक बडा वश है, अरब उस का मूल स्थान समझा जाता है, आधुनिक अरब और यहूदी उसी मे से हैं, तथा प्राचीन बाबुली आदि लोग भी उसी के अश थे। बाबुली लोगों के आने से पहले प्राचीन सुमेरों के देश को काल्दी लोगो ने जीत लिया था। ये काल्दी लोग भी सम्भवत सामी जाति के थे, किन्तु उन का जातिनिर्णय अभी तक निर्विवाद नहीं है। बाद मे बाबुली और काल्दी लोग मिल कर बिलकुल एक जाति हो गये और दोनो शब्द पर्यायवाची समझे जाने लगे। करीब २५०० ई० पू० से बाबुलियो की दजला फरात काँठो मे प्रभुता स्थापित हो गई। आजकल जिसे हम एशिया कहते है उस के पच्छिमी छोर तक अनेक बार उन का साम्राज्य फैल गया, और अनेक नई बस्तियाँ उन प्रदेशों में उन्हों ने स्थापित कीं। उन मे से समुद्रतट पर की एक बस्ती कानान ( या फिनीशिया ) बहुत ही प्रसिद्ध रही, वह १६०० ई० पू० से पहले जरूर स्थापित हो चुकी थी। कानानी लोगो ने बाद मे नाविक विद्या और व्यापार आदि मे बड़ी उन्नति की।

बाबुली राज्यो और बस्तियों के पच्छिम नील नदी के काँठे मे मिस्र देश मे हामी या हेमेटिक वश के, जो सामी या सेमेटिक की तरह मनुष्यों की एक अलग नस्ल ही है, सभ्य राज्य सुमेर-अकाद और बाबुल-काल्दी के समकालीन चले आते थे।

पच्छिम 'एशिया' के प्राङ्गण मे कई दूसरी जातियाँ भी रहती थीं और आती रहीं। बीच बीच मे कभी कभी उन मे से किसी किसी ने बाबुलियों को दबा कर उस समूचे देश पर या उस के हिस्सों पर अपनी प्रभुता जमाई। उन मे से विशेष उल्लेखयोग्य हत्ती या खत्ती[1] नाम की

१. हिब्रू भाषा में हेथ, मिस्री में खेत, आधुनिक अंग्रेज़ी रूप Hittite।

एक प्रबल जाति थी, जो पच्छिमी एशिया की मुख्य निवासी थी, और २००० ई० पू० के पहले से ६०० ई० पू० तक अनेक उतार-चढ़ावो के बावजूद जिस की सत्ता किसी न किसी रूप मे बनी रही। खत्ती या हत्ती जाति किस नस्ल की थी इस पर भी बड़ा विवाद रहा है, पर अब यह निश्चय हो चुका है कि वह आर्य थी[1]।

२२५० ई० पू० से भी पहले बाबुली लोगों ने दजला के पच्छिम तट पर मध्य भाग मे अश्शुर नाम की एक बस्ती बसाई थी। उस नगरी का नाम उन के मुख्य देवता अश्शुर के नाम से रक्खा गया था। १३०० ई० पू० के करीब उस अश्शुर नगरी के राजा शाल्मनेसर (प्रथम) ने समूचे बाबुली साम्राज्य को जीत लिया और तब से वह साम्राज्य भी बाबुल के बजाय अश्शुर ही कहलाने लगा। अश्शुर या अस्सुर लोग इमारत बनाने मे खास तौर से निपुण होते थे।

बाबुली और काल्दी लोगों के साथ वैदिक आर्यों का जल-मार्ग से सम्पर्क था, और दोनो जातियो की सभ्यता और ज्ञान में परस्पर आदान प्रदान भी चलता था, यह बात बहुत अधिक सम्भव है[2]।

## § ६९. राज्य-संस्था

### अ. राजा का वरण

वैदिक आर्यों की राज्यसंस्था पर कुछ प्रकाश पीछे पड़ चुका है। जन का मुखिया राजा होता था सो कह चुके हैं। राज्यकार्य मे उस का मन-माना स्वेच्छाचार न चलता; वह पूरी तरह नियन्त्रित था। विश् या प्रजा राजा का वरण करती[3]। वरण का यह अर्थ है कि उत्तराधिकारी के

---

१. भा० भा० प० १,१, पृ० ९७।

२. दे० ❀ १२।

३. अथ० ३, ४, २।

अभाव मे तो विश ही नये राजा को चुनती, और उत्तराधिकारी होने पर भी वे उस के राजा बनने की विधिवत् स्वीकृति देती। वह स्वीकृति या वरण होने से ही उस का राज्याभिषेक होता और वह राज पद का अधिकारी हो सकता। वरण के द्वारा प्रजा के साथ राजा का एक तरह का ठहराव या इकरार हो जाता, राजा को राज्य के रूप मे एक ज़िम्मा या थाती सौंपी जाती, अभिषेक द्वारा उस ठहराव या थाती सौंपने के कार्य का विधिवत् सम्पादित किया जाता, और यदि राजा 'सच्चा' न निकले अर्थात् अभिषेक के समय की हुई प्रतिज्ञा को तोड दे, तो विश उसे पदच्युत और निर्वासित भी कर देती[1]। निर्वासित राजा का वे कई बार फिर से भी वरण कर लेती[2]।

## इ. समिति

विश अपने इन अधिकारो का प्रयोग समिति नाम की संस्था द्वारा करती। समिति समूची विश की संस्था थी[3], और राज्य की बागडोर वस्तुत. उसी के हाथ मे रहती[4], राजा को वह चाहे जैसे नचाती। समिति की नाराज़गी राजा के लिए सब से बडी विपत्ति समझी जाती। समिति का एक पति या ईशान होता और राजा भी समिति मे जाता। राजा का चुनाव, पद-च्युति, पुनर्वरण सब समिति ही करती। तमाम राजकीय प्रश्नो पर विचार और निर्णय करना, राज्य का मन्त्र अर्थात् नीति निर्धारित करना, उसी के हाथ मे था। राजनैतिक विषयो के अतिरिक्त अन्य सामूहिक बातो की भी उस मे विवेचना होती। आरम्भिक काल मे उस मे वैसा होता था कि नहीं कह नहीं सकते, किन्तु वैदिक काल मे उस मे स्वतंत्र वाद-विवाद पूरी शान्ति

---

१. वहीं, ६, ८७, १।
२. वहीं ३, ३, १-७।
३. ऋ० १०, १६६, ४।
४. अथ० ७, १२।

से होता, वक्ता लोग युक्तियों से और वक्तृत्व-कला[1] से सदस्यों को अपने अपने पक्ष मे करने का जतन पूरी स्वतंत्रता से करते, और प्रत्येक को अपना मत प्रकट करने की छूट रहती। समिति के सदस्य कौन होते थे, सो कहना सुगम नही है। वह थी तो समूची प्रजा (विशः) की सस्था, किन्तु उस मे जन का प्रत्येक जवान उपस्थित होता था अथवा कुछ प्रतिनिधित्व था सो निश्चय करना कठिन है। इतना निश्चय है कि उस मे ग्रामणी, सूत, रथकार और कर्मार[2] (लोहे या तांबे के हथियार बनाने वाले) अवश्य सम्मिलित होते थे। इस प्रकार कुछ अंश मे ग्रामो का प्रतिनिधित्व रहा प्रतीत होता है। प्रत्येक ग्राम के ग्रामणी और शिल्पी तो उस मे शायद आते ही थे, और कौन आते थे सो कहा नहीं जा सकता। आरम्भिक काल मे नहीं तो वैदिक काल मे तो अवश्य ग्राम ही समिति के आधार थे।

## उ. सभा सेना और विदथ

समिति के अतिरिक्त एक और संस्था होती जो सभा कहलाती थी। समिति और सभा में क्या भेद था, और दोनों का कार्यविभाग कैसे होता था, उस का कुछ ठीक पता नही चलता। केवल अटकल से कुछ अन्दाज़ किये गये हैं। इतना निश्चय है कि समिति और सभा दो पृथक् संस्थायें थीं और समिति सभा से ऊँची सस्था थी[3]। शायद सभा एक चुनी हुई छोटी सी सस्था थी और समिति तमाम विशः की संस्था। यह निश्चित है कि राष्ट्र के न्यायालय का कार्य सभा ही करती थी[4]। शायद प्रत्येक ग्राम के सब व्यक्तियों की सस्था भी सभा कहलाती थी। यह भी निश्चित है कि सभा में

---

१. वहीं १, ३४, २-३।

२. वहीं ३, ५, ६-७।

३. वहीं ८, १०।

४. यजुः ३०, ६।

केवल वृद्ध लोग नहीं प्रत्युत जवान भी सम्मिलित होते थे। उस में आवश्यक कार्यों के बाद विनोद की बातें भी होतीं, और तब वह गोष्ठी का काम देती थी। गौवों की चर्चा सभाओं का एक खास लक्षण था। गोष्ठियों में जुआ भी चलता था[1]। किन्तु ये ग्रामों की सभायें और राष्ट्र की या जन की सभा दो भिन्न भिन्न संस्थायें रही होंगी।

समिति और सभा के अतिरिक्त सेना—अर्थात् युद्ध के लिए जमा हुए सजातों (प्रजा)—की भी कुछ सामूहिक शक्ति शायद थी[2]। उन के अतिरिक्त विदथ[3] नाम की एक और संस्था भी थी। जान पडता है शुरू में सब सजातों के जमाव का नाम ही विदथ था, उसी विदथ से समिति और सभा निकली, और तब विदथ केवल एक धार्मिक जीवन की—यज्ञ-यागादि-विषयक—संस्था रह गई।

## ऋ. राज्याभिषेक

राज्याभिषेक एक बडा अर्थपूर्ण कार्य होता, जिस के द्वारा प्रजा तथा उस की समिति राजा को राज्य की थाती सौंपती थी। भरत दौष्यन्ति के महाभिषेक का उल्लेख पीछे[4] कर चुके हैं। वे आरम्भिक अभिषेक कुछ सीधे सादे होते होंगे, किन्तु उन्हीं के भाव को ले कर बाद में अभिषेकों का सांकेतिक क्रियाकलाप बहुत विस्तृत हो गया। उस पिछले काल के क्रिया-कलाप से हम आरम्भिक काल के अभिषेकों के भाव को भी समझ पाते हैं।

राज्य के मुख्य अधिकारी—पुरोहित, सेनापति, ग्रामणी आदि—राजानो राजकृत (राजा बनाने वाले राजा) कहलाते थे। वे सभी 'राजा' थे, और

---

१. ऋ० १०, ३४, ६।

२. अथ० १५, ६।

३. ऋ० १, १३०, १।

४. § ४६।

राजा उन मे से एक और मुख्य था। वे राजकृत —राजा के कर्त्ता-धर्त्ता— तथा सूत,ग्रामणी, रथकार, कर्मार आदि अभिषेक के समय इकट्ठे होते, और राजा को पलाश वृक्ष की एक डाल, जो पर्ण और मणि कहलाती, देते थे[1]। वह 'मणि' ही राज्य की थाती का सांकेतिक चिन्ह था।

पिछले काल मे इसी 'मणि' या रत्न को देने वाले राजकृतः रत्नी कहलाते। राजसूय यज्ञ रच कर प्रस्तावित राजा पहले प्रजा के प्रतिनिधि-रूप इन रत्नियों को पूजा करता। तब वह पृथ्वी माता से अनुमति माँगता। उस के बाद पवित्र जलो का सग्रह किया जाता; गंगा, सरस्वती आदि निर्दिष्ट नदियों के जलो के अतिरिक्त जहाँ का वह राजा हो उस भूमि के एक क्षुद्र जलाशय का पानी लेने से वह संग्रह पूरा होता। उन मिश्रित जलो से राजा का अभिषेचन किया जाता। उस के बाद उसे किरीट आदि पहनाया जाता, और तब उस का अभिषेक होने की आवित् या घोषणा की जाती। तब वह प्रतिज्ञा करता कि यदि मै प्रजा का द्रोह करूँ, तो मै अपने जीवन, अपने सुकृत ( पुण्य कर्म के फल ), अपनी सन्तान, सब से वंचित किया जाऊँ। यह शपथ लेने के बाद वह लकड़ी की आसन्दी ( चौकी ) पर, जिस पर बाघ की खाल बिछी रहती, चढ़ता, और चढ़ते समय पुरोहित उस पर फिर पानी का अभिषेचन करते ( छिड़कते ) हुए कहता—हे देवताओ, इसे, अमुक माँ बाप के बेटे और अमुक विशः के राजा को बड़े क्षत्र ( राज-शक्ति ) के लिए, ज्यैष्ठ्य ( बड़प्पन ) के लिए, जान-राज्य के लिए······शत्रुहीन करो[2]।

वह चौकी पर चढ़ जाता तो पुरोहित उसे कहता—यह राज्य तुम्हें कृषि के लिए, क्षेम के लिए, समृद्धि के लिए, पुष्टि के लिए दिया गया; तुम इस के संचालक ( यन्ता ) नियामक ( यमन ) और ध्रुव धारणकर्त्ता हो[3]।

---

१. अथ० ३, ४।

२. यजुः ६, ४०।

३. वहीं ६, २२।

इन वाक्यो से राज्य की थाती सौंपी जाती। बाद कुछ फुटकर रस्मे होतीं, जिन मे से एक यह थी कि राजा को पीठ पर दण्ड से हलकी हलकी चोट की जाती, यह बतलाने को कि वह दण्ड से ऊपर नही है। वह पृथ्वी माता को नमस्कार करता और उसे सब नमस्कार करते। उसे तलवार दी जाती और वह राजकृतो और ग्रामणियो के हाथ उसे बारी बारी दे कर उन का सहयोग माँगता।

इस प्रकार अभिषेक के द्वारा राजा पर एक जवाबदेही डाली जाती थी। उस जवाबदेही को निभाने के लिए उसे प्रजा से बलि[1] या भाग ( कर ) लेने का अधिकार होता।

## ऌ. अराजक राष्ट्र

समिति का जहाँ राज्य में इतना अधिकार था, वहाँ यह भी कुछ कठिन न था कि कही पर बिना राजा के समिति ही राज्य करे। इस प्रकार, अराजक जन भी वैदिक आर्यों मे थे। यादवो मे वीतिहोत्र जन का उल्लेख किया जा चुका है (§ ३८)। वे वीतिहोत्र या वैतहव्य लोग एक प्रसिद्ध अराजक[2] जन थे।

## ए. साम्राज्य आधिपत्य और सार्वभौम चक्रवर्त्तित्व

अनेक प्रतापी राजा अपनी शक्ति अपने जानराज्य के बाहर तक भी फैला लेते थे। वे सम्राट् कहलाते। सम्राट् का यह अर्थ न होता कि पडौसी राजा उस के सर्वथा अधीन या वशंवद रहे। साम्राज्य वास्तव मे शायद कुछ राज्यों का समुदाय या समूह होता, जिन मे से एक मुखिया मान लिया गया हो—एक प्रकार का राज्य-संघ। इस प्रकार की मुख्यता शायद उन मे से एक छोटे राज्य को भी मिल सकती। साम्राज्य के बाद एक दूसरी राज्यपद्धति भी चली

---

१. ऋ० १०, १७३, ६।

२. अथ० ५, १८, १०।

जिसे आधिपत्य कहते। जैसा कि उस शब्द से ही सूचित होता है अधिपति की अपने पड़ोसियो पर प्रभुता होती। अन्त मे सार्वभौम राजा का आदर्श चला। सार्वभौम का अर्थ था समूचे आर्यावर्त्त का अधिपति। वैदिक काल के बाद उस का लक्षण किया जाता था—समुद्रपर्यन्त पृथिवी (आर्यावर्त्त) का एक-राजा। वह चक्रवर्त्ती भी कहलाता था। चक्रवर्त्ती का अभिप्राय यह था कि उस के रथ का चक्र भिन्न भिन्न राज्यों मे निर्बाध चल सकता था।

आरम्भिक आर्यावर्त्त के इतिहास मे जो सम्राट्, चक्रवर्त्ती आदि हुए उन का यथास्थान उल्लेख हो चुका है।

## § ७० धर्म-कर्म

आर्यों का धर्म-कर्म आरम्भ मे बहुत सरल और सीधा था; पीछे पुरोहितों की चेष्टाओं से वह कुछ पेचीदा हो गया। तो भी आधुनिक हिन्दू धर्म के विस्तृत पूजा-पाठ और क्रियाकलाप, जप-तप, मंत्र-तत्र आदि के गोरखधन्धे के मुकाबले में वह अत्यन्त सरल था। देवपूजा और पितृपूजा वैदिक धर्म के मुख्य अंश थे। वह पूजा यज्ञ मे आहुति देने से होती। देवताओ की मूर्त्तियाँ उस काल मे रही हों, इस की कुछ भी सम्भावना नहीं दीखती।

वैदिक देवता प्रकृति की बड़ी शक्तियों के कल्पनात्मक मूर्त्त मानव रूप थे, अथवा यों कह सकते हैं कि वैदिक कवि जगत् की एक ही मूल महाशक्ति को प्रकृति की भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियों के अधिष्ठातृ-देवताओं के अनेक रूपों में देखते थे। आर्यों को उस देवकल्पना मे धार्मिक प्रवृत्ति के साथ साथ बहुत कुछ अंश काव्यकल्पना का भी था। वह कल्पना मधुर और सौम्य थी, घिनौनी और डरावनी कभी नहीं। आर्यों के सभी देवता स्तोता और उपासक को वर देने वाले, असीस देने वाले, स्तुति प्रार्थना और आहुति से तृप्त और प्रसन्न होने वाले थे। उन में घिनौनी डरावनी और अश्लील मूर्त्तियाँ नहीं थीं। वैदिक ऋषि उन से डरते हुए, अदब रखते हुए, प्रार्थना नहीं करते, प्रत्युत उन्हें वैसे ही पुकारते थे जैसे थन भरे हुए

'गाय रँभाती हुई अपने बछड़े को पुकारती है'।[1] आर्यों की जीवन-यात्रा जैसे अपने देवताओं पर निर्भर थी, वैसे ही उन के देवताओं का जीवन भी आर्यों पर निर्भर था। जिसे भक्ति-भाव कहना चाहिए, वह स्पष्ट रूप से वेद मे नही पाया जाता—द्यौ. मेरा पिता है, ( ऋ १, १६४, ३३ ) इस तरह की उक्तियो मे से यदि भक्तिभाव खींच कर निकाला जाय तो दूसरी बात है।

वैदिक देवताओं की गणना द्यावापृथिवी ( द्यौ. और पृथिवी ) से शुरू करनी चाहिए। द्यौ का अर्थ आकाश। वरुण भी द्यौः का ही एक रूप है, उस की ज्योति का सूचक। वरुण धर्मपति है, वह धार्मिक भलाई का, पुण्य का देवता है। वह मनुष्यो के सच-झूठ को देखता रहता है, दो आदमी एकान्त मे बैठ कर जो मन्त्रणा करते हैं, वरुण उसे भी जान लेता है[2]। वह पाशधर है, नदियो और समुद्रो का वही अधिपति है[3]। उस का पाश पापी को पकड़ने के लिए, अथवा जल का देवता होने के कारण हो सकता है। किन्तु द्यावापृथिवी और वरुण की अपेक्षा इन्द्र की महिमा बहुत अधिक है। वह वृष्टि का अधिष्ठातृ-देवता और इस कारण सब सम्पत्ति का मूल है। उस के हाथ मे बिजली का वज्र रहता है, जिस से वह वृत्र का—अर्थात् अनावृष्टि के दैत्य का—सहार करता है। इन्द्र वरुण जैसा पुण्यात्मा नहीं,

---

१. अथ० २०, ६, १।

२. वहीं १, ३३, २, ४, १६, २।

३. वहीं ५, २४, ४। सक्खर ( सिन्ध ) में आज भी बरना पीर की पूजा होती है। वह नदी का देवता है, यह इसी से प्रकट है कि उस का पुराना स्थान सिन्ध नदी के बीच एक टापू पर है, और उस मन्दिर की दीवारों पर भी मगर आदि जल-जन्तुओं के चित्र हैं। सिन्धी जनता और उस स्थान के पुजारी जब से मुसलमान हो गये तब से वरुण देवता बरना पीर बन गया। वास्तव में वह पुराना 'काफ़िर' देवता है, जिसे सिन्धी आर्य जनता मुसलमान बनने पर भी छोड़ नहीं सकी।

प्रत्युत शक्तिशाली देवता है, जो वृत्र को मार कर सदा आर्यों का उपकार करता और युद्ध मे भी उन का पक्ष ले कर उन्हे जिताता है।

सूर्य के भिन्न भिन्न गुणों से कई देवताओं की कल्पना हुई थी। प्रभात समय उषा एक सुन्दरी देवी के रूप मे प्रकट होती है, और सूर्य उस का उसी तरह अभिगमन करता है जैसे एक जवान किसी स्त्री का(ऋ० १, ११५, २)। उदय होता हुआ सूर्य ही मित्र है—वह सौहार्दपूर्ण देवता मनुष्यों को नींद से उठाता और अपने अपने धन्धे मे जुटाता है ( ऋ० ७, ३६, २ )। मित्र का नाम प्रायः वरुण के साथ मित्रावरुणौ रूप मे लिया जाता है। और सूर्य जब पूरी तरह उदय हो कर समूची पृथिवी और अन्तरिक्ष में अपनी बाहुएँ ( रश्मियाँ ) फैला कर जगत् को जीवन देता है, तब वही सविता देवता है ( ऋ० ४, ५३, ३ )। मित्र जैसे सूर्य के तेज का सूचक है, सविता वैसे ही उस की जीवन शक्ति का ( अथ० १४, २, ३९ )। सविता और पूषा दोनो उस की उत्पादक शक्ति को भी सूचित करते हैं (वहीं ५, २४, १; १४, २, ३८) । पूषा पशुओ और वनस्पतियो का देवता है ( वहीं १८, २, ५४ ), वह सब दिशाओ और रास्तो को जानता है, इसी से फिरन्दर टोलियों का पथप्रदर्शक भी है ( वहीं १८, २, ५३ और ५५; ७, ९, १-२ )। प्रत्यक्ष सूर्य भी एक देवता है ( ऋ० ७, ६०, १ ); कौशीतिकि ब्राह्मण मे उस की त्रिकाल पूजा का विधान है। अश्विनौ शायद प्रातःकाल और सायंकाल के तारे हैं।

विष्णु की कल्पना सूर्य की क्षिप्र गति से हुई दीखती है। वेद में उस की स्तुति के मन्त्र थोड़े हैं, तो भी उस का बड़ा गौरव है। उस के तीन पद हैं, जिन मे से तीसरा अथवा परम पद मनुष्यो को नही दीख पाता। उन तीन पदों से वह समूचे जगत् को व्याप लेता है। बाद मे जब विष्णु प्रमुख देवता हो गया, तब उस के परम पद का अर्थ परमेश्वर का परम स्थान हो गया।

प्रकृति मे जो कुछ भयंकर और घातक है, उस सब का अधिष्ठातृ-देव रुद्र है। गाज और तूफ़ान के रूप मे वह भूमि और अन्तरिक्ष पर अपने आयुध फेंकता है, जिन से गौओं और मनुष्यो का संहार होता है ( ऋ० १,

११४; ७, ४६ )। दोपायो और चौपायो की रक्षा करने की उस से प्रार्थना की जाती है। उन प्रार्थनाओ से उस के प्रसन्न होने से, अथवा प्रकृति के नियम से, जब पशु नही मरते, तब वह पशुप रूप मे प्रकट होता है। बच्चो को बीमार न करने की भी उस से प्रार्थना की जाती है। जब उस के प्रसाद से ग्रामो मे बीमारी नही आती, तब वही वैद्यो का वैद्य कहलाता है (ऋ० २, ३३, १३)। मरुत या वायुवे भी तूफान की देवता और रुद्र की सहायक हैं।

यजुर्वेद के शतरुद्रिय प्रकरण ( अ० १६ ) मे रुद्र की कल्पना और अधिक मूर्त्त रूप पा गई है। वह गिरिश अर्थात् पहाड मे सोने वाला है। खुली चरागाहो मे घूमने वाले ग्वाले और बाहर पानी भरने वाली स्त्रियाँ जब वह ( घनघोर घटा के रूप मे ) भागता है, तब उस की लाल रगत लिये ( बिजली से चमक उठने वाली ) नीली गर्दन को देखती हैं। खुले खेतो, जंगलों, बीहडों, रास्तो और उन मे रहने-विचरने वाले जानवरो, वनेचरो और चोर-डाकुओ का वह स्वामी है। वह पशुपति और दिशाओ का पति है। वह शर्व—शर या बाण धारण करने वाला—है। वह कपर्दी अर्थात् जटाधारी है, क्योंकि अग्नि-रूप मे उस की ज्वालाये ही जटाये सी दीख पड़ती हैं। वह खाल ओढ़े—कृत्तिं वसान—रहता है—जगलो मे विचरने वाले के लिए खाल ओढ़ना स्वाभाविक है। प्रसन्न होने पर वह अपने मंगल रूप—शिवा तनू—को प्रकट करता है, तब वह शम्भु, शकर और शिव होता है।

शतरुद्रिय मे अनेक रुद्रो की कल्पना और उन के दूर बने रहने की प्रार्थना को गई है—तब रुद्र एक बुरी सत्ता प्रतीत होती है। दूसरी जगह रुद्रों को गण और गणपति कहा है, और कुम्हारों, रथकारों, कर्मारों, निषादों आदि को बहुवचन मे रुद्र कहा है। अथर्व मे रुद्र-शिव की कल्पना और अधिक परिपक्व हो गई है, भव, शर्व आदि जो उस के विशेषण और नाम थे उन का उस मे अलग अलग देवता के रूप मे वर्णन है।

अग्नि और सोम की महिमा केवल इन्द्र से ही कम है। अग्नि के तीन रूप हैं—सूर्य, विद्युत् और अग्नि या मातरिश्वा। सोम मूलतः वनस्पति था,

पीछे उस मे चद्रमा का अर्थ भी आ गया (अथ० १४, १, ३), क्योंकि चन्द्रमा का वनस्पति पर प्रभाव होता है, और शायद सोम लता पर विशेष रूप से होता था। प्रजापति शुरू मे सोम और सविता का विशेषण मात्र है, पीछे वह भी एक मूर्त्त देवता हो जाता है। बहुत से गण देवता भी हैं, जैसे मरुत ( वायुवे ), आदित्या ( सूर्य के विविध रूप ), वसव· ( वसु-देवता ), रुद्रा· आदि ।

सरस्वती, नदियॉ, रात्रि, ओषधियॉ, पर्जन्य(बादल) आप (जल), उषा आदि का भी देवता-रूप से वर्णन है। किन्तु इन सब देवताओ के मूर्त्त रूप धार्मिक कल्पना के बजाय काव्यकल्पना की उपज हैं। इसी प्रकार श्रद्धा, मन्यु आदि भाव-रूप देवताओ का सम्बोधन भी कई ऋचाओ मे है।

यह समझ लेना चाहिए कि देवता का अर्थ वेद मे बहुत बार केवल सम्बोध्य पदार्थ होता है। उदाहरण के लिए, जहाँ ( ऋ. १०, ९५ ) पुरूरवा ऐळ और उर्वशी का संवाद है, वहाँ एक ऋचा का ऋषि पुरूरवा है तो देवता उर्वशी, दूसरी की ऋषि उर्वशी तो देवता पुरूरवा। न तो पुरूरवा ही कोई आराध्य देव या प्रकृति की शक्ति है और न उर्वशी ही। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं। दूसरे, कई देवता बिलकुल कवि के उपजाऊ मस्तिष्क की सृष्टि हैं। तीसरे, इन्द्र, वरुण, सविता, अग्नि आदि की साधारण धार्मिक देव-कल्पना मे भी कुछ न कुछ काव्यकल्पना चुपचाप मिली हुई है। वह दृष्टि जो अनावृष्टि में वृत्र का प्रकोप, वर्षा मे इन्द्र का प्रसाद और शस्य-समृद्धि में सविता की असीस देखती थी, अन्ध विश्वास ही से प्रेरित न होती थी, उस मे कवि के स्निग्ध हृदय की झलक और अन्तर्दृष्टि का प्रतिबिम्ब भी था।

और आर्यों की उस अन्तर्दृष्टि ने उन्हे तत्त्वचिन्ता की ओर भी प्ररित किया था। इसी कारण सब देवताओ में एक-देव-कल्पना ( ऋ. १, ८९, १० ) और सृष्टि-विषयक चिन्ता ( ऋ १०, १२९ ) भी वेद में थोड़ी बहुत पायी जाती है। वही बाद की ब्रह्मविद्या और दर्शन का आरम्भ थी वेद के उस प्रकार के कई सृष्टिविषयक विचारों से बाद की बहुत सी देव-गाथाओं को भी जन्म मिला है। उदारहण के लिए वेद में एक यह विचार

है कि यह सब संसार पहले जल-( आप ) मय था। "द्यौः से परे, पृथिवी से परे, देवों और असुरो से परे जो है। ( वहाँ ) किस गर्भ को आप धारे हुए थी, जहाँ उन्हे सब देवो ने देखा ?—उसी गर्भ को आप धारे हुए थीं, जहाँ सब देवता जा कर जुटे। वह अज की नाभि मे रक्खा था, उस मे सब भुवन स्थित थे ( ऋ. १०, ८२, ५-६ )।" दूध के सागर मे शेष की शय्या पर सोने वाले विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति की कल्पना की जड़ इसी वैदिक चिन्तन मे है।

देवताओ की पूजा के अतिरिक्त टोटम-पूजा, या पशु-पूजा ( साँप आदि की पूजा ) ऋग्वेद मे नही पायी जाती। किन्तु यह देव-पूजा, जो त्रयी अर्थात् ऋक् यजु. और साम वेद मे पाई जाती है, समाज की ऊँची कक्षाओ के विचारो को सूचित करती है। साधारण जनता मे जादू-टोना, कृत्या और अभिचार-विषयक विश्वास प्रचलित थे, जिन का सग्रह हम अथर्ववेद मे पाते हैं। लोकमान्य बाल गगाधर टिळक के मत मे अथर्ववेद के मन्त्र-तन्त्र तथा काल्दी लोगो के जादू टोने मे परस्पर सम्बन्ध था। अथर्व ५, १३ के साँप का विष उतारने के मन्त्रो मे तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगूला, ताबुव आदि शब्दो को उन्हो ने काल्दी सिद्ध किया है[1]।

ऋक् ७, २१, ५ मे इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि शिश्नदेवाः ( शिश्न जिन का देवता है वे लोग ) हमारे यज्ञ को न बिगाडे। दूसरी जगह शिश्न-देवो के गढ़ ( पुर ) के इन्द्र द्वारा जीते जाने की चर्चा है। सर रामकृष्ण गो० भण्डारकर का मत था[2] कि शिश्नदेवा से अभिप्राय किसी आरम्भिक अनार्य जाति से है, जिस में उस इन्द्रिय की पूजा प्रचलित रही होगी। वैदिक

---

१. भडारकर-स्मारक १९१७, पृ० २९ प्रभृति।

१. वैष्णविज़्म्, शैविज़्म् ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, ( स्ट्रासबर्ग १९१३ ), पृ० ११५।

काल मे आर्य लोग उस जाति से घृणा करते थे, पर पीछे उन के वंशजों ने उसी की वह लिंगपूजा स्वयं अपना ली !

देवताओं की तृप्ति यज्ञ मे आहुति या बलि दे कर की जाती थी। दूध, घी, अनाज, मांस और सोम-रस (एक लता का बृंहण या मादक रस) इन सभी वस्तुओं की आहुति देवताओं के लिए दी जाती। वैदिक काल के अन्तिम अंश में यज्ञो मे पशु-बलि देने के विरुद्ध एक लहर चल पड़ी। ऐसी अनुश्रुति है कि राजा वसु चैद्योपरिचर के समय इस विषय पर बड़ा विवाद उठा। ऋषि निरे अन्न की आहुति देना चाहते, पर देवता बकरे की माँगते थे ! वसु से फ़ैसला माँगा गया; उस ने देवताओ के पक्ष मे फैसला दिया, क्योंकि पुरानी पद्धति वही थी। किन्तु चाहे उस ने पुरानी पद्धति के पक्ष मे फैसला दिया तो भी वह स्वयं सुधार का पक्षपाती था। उस ने ऐक अश्वमेध यज्ञ किया, और उस में आरण्यको—अर्थात् जगल मे रहने वालों मुनियों—की बताई विधि के अनुसार सब आहुतियाँ अन्न की ही दी गई। कहते हैं, उस यज्ञ मे हरि ने वसु के पुरोहित बृहस्पति आंगिरस को दर्शन न दिये, और न उन ऋषियो को जिन्हों ने बरसों तप किया था, हरि के दर्शन केवल वसु को मिले। ऋषियो ने उक्त फैसले के कारण वसु को शाप दे दिया था; उस शाप से भी हरि ने उस का उद्धार किया।

इन कहानियों से इतना ऐतिहासिक तथ्य स्पष्ट निकल आता है कि वसु के समय एक धार्मिक सुधार की लहर चली जो यज्ञों मे पशु के बजाय अन्न की आहुति देने के पक्ष मे थी, तथा जो कर्मकाण्ड और तप के बजाय भक्ति पर बल देती थी। यज्ञों को इन नये सुधारको ने बिलकुल छोड़ दिया हो सो बात न थी। यह लहर हमारे वाङ्मय मे एकान्तिक धर्म कहलाती है, क्योंकि एकमात्र हरि मे एकाग्रता से भक्ति करने का भाव इस मे मुख्य था।

बाद के वृत्तान्तों में इस पूजाविधि को सात्वत विधि भी कहा है, और इस के साथ वासुदेव कृष्ण, कृष्ण के भाई संकर्षण, संकर्षण के पुत्र प्रद्युम्न और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का नाम जुड़ा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि

वसु के समय से अहिंसा और भक्तिप्रधान एकान्तिक धर्म की जिस नई लहर ने सिर उठाया, वासुदेव कृष्ण और उन के भाई उसी के अनुयायी थे। उन के उसे अपना लेने से उस पद्धति को बडी पुष्टि मिली, और सात्वतो मे उस का विशेष रूप से प्रचार हो गया।

तो भी वैदिक काल मे आर्यों के धर्म का मुख्य चिन्ह यज्ञ ही रहे। यज्ञो का आडम्बर बहुत बढ़ जाने पर उन का करना धनाढ्यो का काम हो गया। वे यज्ञ पुरोहितो के द्वारा होते थे। उन मे ऋचाये पढ़ी जाती, साम गाये जाते और अनेक रस्मो के साथ आहुतियाँ दी जाती। यज्ञो के विकास के साथ साथ पुरोहितो की एक श्रेणी बनती गई। साधारण आर्य अपनी अग्नि मे दैनिक आहुति पुरोहित की सहायता के बिना स्वय भी दे लेता। देवो के अतिरिक्त पितरो का तर्पण वा श्राद्ध भी वह स्वय करता। श्राद्ध की प्रथा, कहते हैं, पहले पहल दत्त आत्रेय ऋषि ( अयोध्या राजवश की ३० वीं पीढ़ी के समकालीन ) के बेटे निमि ने चलाई थी। मृतक को जलाने, और यदि बच्चा हो तो दफनाने अन्यथा राख को दफनाने का रिवाज था। मृत्यु के बाद मनुष्य कहाँ जाता था, उस विषय मे कुछ विशेष स्पष्ट विचार न हुआ था।

यह ध्यान देने की बात है कि वैदिक देवताओ का मुख्य लक्षण बल, सामर्थ्य और शक्ति है। पुण्यात्मता और भलाई का विचार एक वरुण के सिवाय किसी देवता मे नही है। वे मुख्यत. शक्ति और मजबूती देने वाली मूर्त्तियाँ हैं, धर्म-भीरुता और भक्ति की प्रेरणा करने वाली बहुत कम। परलोक-चिन्ता हम वैदिक धर्म मे विशेष नहीं पाते, और निराशावाद की तो उस मे गन्ध भी नही है। आर्य उपासक अपने देवताओ से प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मवर्चस—सभी इस लोक की वस्तुएँ—माँगता[1]। उस की सब से अधिक प्रार्थना यही होती कि मुझे अपने शत्रुओ पर विजय कराओ, मेरे शत्रुओ का

---

१. आश्वलायन गृह्य सूत्र १,१०,१२।

दलन करो। संयम और ब्रह्मचर्य[1] की जरूरत भी उसे शक्त और बलिष्ठ बनने के लिए ही होती। जैसा लहू और लोहे का, खोज और विचार का, विजय और स्वतन्त्रता का, कविता और कल्पना का, मौज और मस्ती का उस का जीवन था, उस का धर्म भी उस जीवन के ठीक अनुकूल ही था।

## § ७१. सामाजिक जीवन

### अ. विवाह-संस्था और स्त्रियों की स्थिति

आर्यों का सामाजिक जीवन भी उन के आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन के अनुरूप ही था। विवाह-संस्था के विषय मे कहा जा चुका है। अनुश्रुति मे यह याद मौजूद है कि एक समय विवाह का बन्धन न होता था, और सब स्त्रियाँ अनावृत (खुली) थी। दीर्घतमा ऋषि के समय तक वही दशा थी; कहते हैं दीर्घतमा ने विवाह का नियम जारी किया[2]। दूसरी जगह अनावरण हटाने का श्रेय श्वेतकेतु औद्दालकि को दिया गया है[3] जिस का समय भारत-युद्ध के बाद का है। ऐसा जान पड़ता है कि श्वेतकेतु ने भी विवाह-संस्था मे कुछ सुधार अवश्य किया, किन्तु जो बात पहले दीर्घतमा के विषय मे याद की जाती थी, वह श्वेतकेतु के नाम भी भ्रम से मढ़ी गई[4], क्योंकि पिछले वैदिक काल मे विवाह की संस्था साधारण रूप से जारी रही दीखती है। बेशक, वैदिक युग का विवाह आजकल के हिन्दू विवाह की तरह पत्थर की लकीर न होता था। बहुपत्नीत्व या बहुपतित्व से भी वैदिक आर्य अपरिचित न थे, परन्तु एकविवाह साधारण नियम था। भाई-बहन का विवाह

---

१. दे० * ६।

२. म० भा० १, १०४, ३४-३६।

३. वहीं १, १२२, ४–१८।

४. दे० * १३।

जिस जमाने मे हो जाता था, उस की स्मृति बनी हुई थी, तो भी वैदिक काल मे वह निषिद्ध था[1]।

आर्यों के समाज का जो चित्र हम वेदो मे पाते है, उस मे युवक-युवतियो के परिपक्व आयु मे ही विवाह होने की प्रथा दीखती है, बाल-विवाह का कही चिन्ह भी नही है। कन्याओ और स्त्रियो को समाज मे पूरी स्वतन्त्रता थी, वे प्रत्येक कार्य मे पुरुषो का हाथ बँटाती। पर्दे का नाम भी न था। स्त्रियाँ पुरुषो की तरह ऊँची शिक्षा पाने—ब्रह्मचर्य धारण करने—मे स्वतन्त्र होती, और वैसी शिक्षा—ब्रह्मचर्य—से उन्हे पति खोजने मे सुविधा होती[2]। अनेक स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी और ऋषि भी होती। युवको और युवतियो को अपना साथी चुनने की पूरी स्वतन्त्रता रहती। सामाजिक समागम और विनोद के स्थानो मे उन्हे परस्पर परिचय और प्रेम करने के भरपूर अवसर मिलते। मर्य अर्थात् जवाँ-मर्द का योषा अर्थात् युवती के तई अभ्ययन[3] और अभिमनन[4]—पीछे पडना, मनाना, रिझाना—, कल्याणी युवतियो के साथ मर्यो का मोद और हर्ष[5] करना, रीझने और प्रीत होने पर कन्या का मर्य को परिष्वजन (आलिगन) देना,[6]—दूसरी तरफ योषाओं और कन्याओं का अपने जारों (प्रेमियो) के लिए अनुवसन[7]—ये सब समाज मे बहुत साधारण बाते थी। वैदिक कवि आर्य मर्यो और कन्याओ के उन अभ्ययनों और अभिमननों के अनेक सुन्दर नमूने हमारे लिए छोड गये है। युवक अपनी प्रेमिका से कहता

१. ऋ० १०, १०, १० प्र।
२ अथ० ११, ५, १८।
३. ऋ० १, ११५, २।
४ वही ४, २०, ५।
५. वही १०, ३०, ४।
६. वही ३, ३३, १०।
७. वही ६, ३२, ५, ६, ५६, ३।

है—जैसे इस भूमि पर वायु तृणों को मथ डालता है, वैसे ही मै तेरे मन को मथता हूँ । . चित्त समान हो व्रत समान हों । जो अन्दर है वह बाहर आ जाय, जो बाहर है वह अन्दर हो जाय···!"[१] "काम की जो भयानक इषु है, उस से तुझे हृदय मे बीधता हूँ ।"[२] "जैसे वृक्ष को लता चारो तरफ से परिष्वजन करती है, ऐसे मुझे परिष्वजन कर.. । जैसे पक्षी उड़ कर भूमि पर पंख पटकता है, ऐसे मै तेरे मन पर. । जैसे द्यौः और पृथिवी को सूर्य घेर लेता है, ऐसे मै तेरे मन को घेरता हूँ.. ।"[३] अगले सूक्त[४] मे युवक का हृदय और मूर्त्त रूप मे प्रकट हुआ है ।

कन्यायें भी अपने प्रेमपात्रों को उसी तरह रिझाती थीं । "रथ से जीतने वालो का—रथ से जीतने वालो की सन्तान अप्सराओ का यह स्मर है; देवताओ (इस) स्मर को भेजो, वह मेरा अनुशोचन करे । वह मेरा स्मरण करे—प्रिय मेरा स्मरण करे; देवताओ स्मर को भेजो ·· । ·····मरुतो उन्मादित करो ! अन्तरिक्ष, उन्मादित कर ! अग्नि तू उन्मादित कर, वह मेरा अनुशोचन करे ।"[५]

जैसा कि अभी कहा गया, वैदिक समाज मे कुमारो और कुमारियो को परस्पर मिलने, अभ्ययन-अभिमनन करने और प्रेम मे फँसने के भरपूर अवसर मिलते थे । सभाओ, विदथों और ग्राम-जीवन के अन्य समागमों आदि के अतिरिक्त वसन्त ऋतु मे समन[६] नाम के उत्सव होते, जिन में नाच-गान घुड़दौड़ और क्रीडायें ही मुख्य होती । योषायें उन समनो मे सजधज

---

१. अथ० २, ३०, १-५ ।

२. वहीं ३, २५, १ प्र ।

३. वही ६, ८, १-३ ।

४. वहीं ६, ९ ।

५. वहीं ६, १३० ।

६. वहीं, १४, २, ५९-६१ ।

कर पहुँचती थी[१]। अनेक बार वे समन रात रात जुटे रहते, और उषा ही आ कर उन का विसर्जन कराती[२]। उन समनो मे प्राय. कुमारियाँ अपने लिए वर पा जाती[३]। माता पिता, भाई-बन्धु अपनी बेटियो और बहनो को सिगारने-सँवारने और अनुकूल वर खोजने मे न केवल पूरी स्वतन्त्रता प्रत्युत सहायता भी देते। भाई इस काम मे बहनो के विशेष सहायक होते। जो अभागी कन्याये अभ्रातृका होती, उन्हे इसी कारण विशेष साहसी बनना पडता[४], वे प्राय भड़कीले लाल कपडे पहन कर सभाओ मे सम्मिलित होतीं[५] और युवकों का ध्यान अपनी तरफ खीचती। राजपुत्रियो के स्वयवर तो स्वय बड़े उत्सव से होते थे, अनेक वैसे स्वयवरो के वर्णन हमारी अनुश्रुति और साहित्य मे प्रसिद्ध है।

आर्यों मे युवको-युवतियो का मिलना-जुलना जैसा स्वस्थ और खुला होता था, वैसा ही उन का विवाह का आदर्श उज्ज्वल और ऊँचा था। वेद मे सूर्या के विवाह का वर्णन[६] अत्यन्त मनोरञ्जक और हृदयग्राही है। विवाह एक पवित्र और स्थायी सम्बन्ध माना जाता। पर वह आजकल के हिन्दू विवाह की तरह जड, अन्धा और निर्जीव गँठजोडा न था। विधवायें देर तक विधवा न रहतीं। उन्हे फिर से अपना प्रेमी खोजने और विवाह करने—पुनर्भू होने—मे कोई रुकावट न थी। प्राय वे अपने देवर से विवाह कर लेती[७]। दहेज की प्रथा भी थी[८] और कीमत ले कर लडकी देने की भी[९]। किन्तु इन

१. ऋ० १०, १६८, २।
२ वही, १, ४८, ६।
३ अथ० २, ३६, १।
४. ऋ० १, १२४, ८, निरुक्त ३, ५।
५. अथ० १, १७, १।
६. वही, १४।
७. ऋ० १०, ४०, २।
८. अथ० १४, १, ६-८।
९. निरुक्त ३, ४।

प्रथाओं की शरण प्रायः उन युवतियों और युवको को लेनी पड़ती जिन्हे किसी कारण से स्वाभाविक रीति से अपना साथी या सगिनी पाने मे सफलता न होती।

## इ. सामाजिक ऊँचनीच

समाज मे ऊँचनीच का भेद कुछ जरूर था, पर बहुत नही। सब से बड़ा भेद आर्य और दास का था। दास वास्तव मे आर्यो के बाहर थे; वे दूसरी नस्ल और दूसरे वर्ण—रंग—के थे, और विजित जाति के। तो भी उन से सम्बन्ध, चाहे घृणित समझे जाँय, सर्वथा न रुक सकते थे।

आर्य और दास के भेद के अतिरिक्त और कोई जाति-भेद न था। वर्ण वास्तव में दो ही थे [1], और जो भेद थे वे साधारण सामाजिक ऊँचनीच के। रथी और महारथी की स्थिति साधारण पदाति योद्धा से स्वभावतः ऊँची होती। इस प्रकार रथियो के क्षत्रिय परिवार यद्यपि विशः का ही अश थे, तो भी विशः के साधारण व्यक्तियो—वैश्यों—से अपने को ऊँचा समझते। रथियो या क्षत्रियों मे भी जिन परिवारो मे से प्रायः राजा चुने जाते, उन के व्यक्ति—राजन्य लोग—साधारण रथियों या क्षत्रियों से स्वभावतः ऊँचे माने जाते। उधर यज्ञो का क्रियाकलाप बढ़ने के साथ साथ पुरोहितों को भी एक पृथक् श्रेणी बनने की प्रवृत्ति हुई। विद्या और ज्ञान की खोज में भी कुछ लोग लगते और अपना जीवन जगलो के आश्रमो मे काटते। वे ब्राह्मण लोग भी विश का ही एक अश थे। यह थोड़ा बहुत श्रेणी-भेद होने पर भी सब आर्यों मे परस्पर खानपान [2] और विवाह-सम्बन्ध खुला चलता था।

## उ. खानपान वेषभूषा विनोद-व्यायाम

खान पान बहुत सादा था। खेती की मुख्य उपज व्रीहि और यव थी, किन्तु यव मे गेहूँ भी सम्मिलित दीखता है। दूध, घी, अनाज, मांस सादे रूप

---

१. उभौ वर्णौ—ऋ० १, १७६, ६।

२. समानी प्रपा सह वो अन्नभागः—अथ० ३, ३०, ६।

मे मुख्य भोजन थे। आर्य लोग पूरे मासाहारी थे। गाय को उस समय भी अघ्न्या[1] अर्थात् न-मारने-लायक कहने लगे थे, तो भी विवाह के समय[2] या अतिथि के आने पर[3] बैल अथवा वेहत् ( बाँझ गाय ) को[4] मारने की प्रथा थी। सोमरस तथा सुरा ( अनाज का मद्य ) आर्यों के मुख्य पान थे।

वेष भी बहुत सादा था। ऊपर नीचे के लिए उत्तरीय और अधोवस्त्र होता। उष्णीष[5] या पगडी का रिवाज था। कपडे ऊनी या रेशमी होते और चाम पहनने[6] का भी काफी रिवाज था। ब्रह्मचारी प्राय कृष्ण मृग की खाल पहनते[7]। पुरुष और स्त्री दोनो सोने के हार, कुण्डल, केयूर आदि पहनते थे। धनी लोग ज़री का काम किये कपडे भी पहनते। पुरुष प्राय केशो का जूडा बनाते और स्त्रियाँ वेणी रखतीं। हजामत अपरिचित न थी[8]।

विनोद और व्यायाम के लिए घुडदौड तथा रथो की दौड का बहुत प्रचार था। जुआ खेलने की बुराई बहुत प्रचलित थी, बहेड़े की लकडी के ५३ पासो से जुआ खेला जाता[9]। सगीत वाद्य और नाचने का शौक भी खूब था। चोट से, फूँक से और तार से बजने वाले तीनो नमूने के वाद्य होते—दुन्दुभि, शृग, तूणव, शख, वीणा आदि[10]। दुन्दुभि आर्यों का मारू बाजा था और वह "शत्रुओ के दिल दहला देता"[11]।

---

१. वही ३, ३०, १।
२ ऋ० १०, ८५, १३, अथ० १४, १, १३।
३. अथ० ६, ६ (३), ६।
४. ऐत० ब्रा० १, १५।
५. अथ० १५, २, ५।
६ वही, ८, ६, ११।
७. वही ११, ५, ६।
८. वही ६, ६८।
९ ऋ० १०, ३४, १ तथा ८।
१० अथ० २०, १२९, १०, यजु ३०, १९-२०।
११. अथ० ५, २०-२१।

## § ७२. आर्य राष्ट्र का आदर्श।

आर्यों के जीवन का सम्पूर्ण आदर्श यजुर्वेद की इस प्रार्थना मे ठीक ठीक चित्रित हुआ है—

हे ब्रह्मन्, इस राष्ट्र मे ब्रह्मवर्चसी—विद्या के तेज से सम्पन्न—ब्राह्मण पैदा हों; शूर वीर, बाण फेकने मे निपुण, नीरोग, महारथी राजन्य पैदा हो, दुधार गौवें, बोझा ढोने को समर्थ बैल, तेज घोडे, रूपवती (अथवा कुलीन) युवतियाँ, विजयी रथी (रथेष्ठाः=रथ मे बैठने वाले क्षत्रियो के सरदार), सभाओं मे जाने योग्य जवान, तथा यजमानो के वीर (सन्तान) पैदा हो! जब जब हम कामना करे पानी बरसे! हमारी ओषधियाँ फलों से भरपूर हो पके! हमारा योग (समृद्धि) और क्षेम (कुशल) सम्पन्न हो।[1]

## § ७३. ज्ञान और वाङ्मय

### अ. ऋचायें यजुष् और साम

प्राचीन आर्य एक विचारशील और प्रतिभाशाली जाति थे। उन का मस्तिष्क अत्यन्त उपजाऊ था। दूसरी किसी जाति ने उतने प्राचीन काल मे किसी वाङ्मय और साहित्य की रचना नही की जब कि आर्य ऋषियो के हृदय-स्रोत से पहले पहल कविता की धारा फूट कर बहने लगी। ऋषियों और ऋचाओं के विषय मे पीछे कहा जा चुका है। ऋग्वेद जिस रूप मे अब हमें उपलब्ध है, उस मे दस मण्डल हैं, जिन मे कुल १०१७ सूक्त हैं। पहले मण्डल के प्रथम पचास सूक्त तथा आठवाँ मण्डल समूचा काण्व वंश के ऋषियो का है। उसी प्रकार दूसरे से सातवें तक प्रत्येक मण्डल एक एक ऋषिवंश का है—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, आत्रेय, बार्हस्पत्य और वसिष्ठ, ये उन वंशों के नाम है। नौवें मण्डल मे एक ही देवता—सोम पवमान—के विविध ऋषियों के सूक्त है, और दसवाँ तथा पहले का शेषांश (५१—१९१ सूक्त) विविध ऋषियो के और विविध-विषयक हैं। यह सब संकलन बाद मे हुआ है, शुरू में फुटकर ऋचाये धीरे धीरे बनीं।

1. यजुः २२, २२; तथा श० ब्रा० १३, १, ६।

कुछ एक सूक्तो ( ८, २७—३१ ) पर ऋषि के रूप मे मनु वैवस्वत का नाम है। वे वास्तव मे मनु के हैं, या मनु के नाम पर किसी और ने रचे है, सो कहना कठिन है। पुरूरवा ऐळ और उर्वशी का संवाद भी एक सूक्त ( १०, ९५ ) मे है, और उस के ऋषि क्रमश वही दोनो हैं। किन्तु यह सवाद स्पष्ट ही किसी तीसरे व्यक्ति का उन के नाम से लिखा हुआ है। काशी की स्थापना करने वाले राजा काश ( अयोध्या-वंश की ११वी पीढ़ी के समकालीन ) के भाई का नाम गृत्समद था, जिस से गृत्समद ऋषि-वश शुरु हुआ। राजा शिवि औशीनर ( २६वी पीढ़ी ) और प्रतर्दन काशिराज ( ४० पीढ़ी ) के नाम से भी एक एक ऋचा ( १०, १७९, १–२ ) है, जो उन्ही की होगी। ऋषियो की मुख्य परम्परा ऊर्व ( २९ पीढ़ी ), दत्त-आत्रेय ( ३० पी० ), विश्वामित्र ( ३१ पी० ) और जमदग्नि ( ३१पी० ) के समय से शुरू हुई, और लगभग सात सौ बरस जारी रही, सो कह चुके है। मधुच्छन्दा ऋषि ( ३२ पी० ) विश्वामित्र के ठीक बाद हुआ। दीर्घतमा ( ४० पी० ), भरद्वाज ( ४० पी० ), लोपामुद्रा ( ४१ पी० ) आदि ऋषियो का उल्लेख पीछे हो चुका है। आगे भारत वश मे और भारतो के राज्यकाल मे तो बहुत से ऋषि हुए, और यज्ञो की स्थापना भी हुई। बडे यज्ञो के अवसरो पर पुरोहितो और विद्वानो की बडी बडी सगते जुड जातीं, जो विदथ कहलाती थी। ये विदथ धीरे धीरे दार्शनिक और सामाजिक विचार के केन्द्र बन गये।[1]

राजा अजमीढ ( § ४७, ५३ पी० ) के एक पुत्र का नाम कण्व था, और कण्व का बेटा मेधातिथि काण्व ( ५५ पी० ) एक बड़ा ऋषि हुआ। उत्तर पञ्चाल के राजा सुदास और उस के पोते सोमक के समय कई ऋषि हुए जिन मे से वामदेव ( ६८ पी० ) बहुत प्रसिद्ध है। यह माना जाता है कि आध्यात्मिक विचार का आरम्भ वामदेव ऋषि ने ही किया था। ऋषियो का युग अथवा ऋचा-युग लगभग उस समय समाप्त हुआ, उस के बाद भी

---

1. दे० * ६।

कोई २ ऋषि हुए। राजा शन्तनु का बड़ा भाई देवापि (८९ पी०) ऋषि हो गया था, और जिस सूक्त पर उस का नाम है उस की ऋचों के अन्दर भी उस का तथा शन्तनु का नाम आता है।

## इ. लिपि और वर्णमाला का आरम्भ तथा आरम्भिक संहितायें

इस पिछले युग मे, अर्थात् राजा सुदास, सोमक, कुरु आदि के समय के बाद, जब नये ऋषि बहुत नही हुए, एक दूसरी लहर शुरू हुई। भिन्न भिन्न ऋषियो की ऋचाये उन की वंशपरम्परा या शिष्यपरम्परा मे चली आती थी। अब उन के संकलन, वर्गीकरण और सम्पादन की ओर लोगों का ध्यान गया। उन संकलनों को संहिता कहा गया, और इसी कारण हम उस युग को संहिता-युग कहते हैं।

इस युग मे एकाएक संहिताये क्यो बनने लगी, उस का मुझे एक विशेष कारण प्रतीत होता है। वह यह कि इसी समय कुछ आर्य विचारको ने वर्णमाला का और लिखने की प्रथा का आविष्कार किया[1]। लिखना प्रचलित होने से यह स्वाभाविक प्रवृत्ति हुई कि पिछले सब कानोकान चले आते गीतो और सूक्तो अर्थात् सुभाषितो और ज्ञानपूर्ण उक्तियो का संग्रह कर लिया जाय। यही कारण था कि इस युग मे एकाएक तमाम पिछले ज्ञान को संहिताओ मे इकट्ठा करने की एक लहर ही चल पड़ी। वर्णमाला और लिपि का आविष्कार उस लहर की प्रेरिका शक्ति थी।

हमारी वर्णमाला बड़ी पूर्ण है। प्रत्येक उच्चारण या ध्वनि के उस मे छोटे से छोटे खण्ड कर दिये गये हैं—जिन के फिर टुकड़े नहीं हो सकते; उन खण्डों मे से स्वर और व्यंजन अलग अलग छाँट कर, फिर उन्हे बड़ी स्वाभाविक और वैज्ञानिक रीति से वर्गों मे बाँटा तथा क्रम मे लाया गया है। एक ध्वनि का एक ही चिन्ह है, एक चिन्ह की एक ही ध्वनि। दूसरे किसी भी देश की वर्णमाला मे ऐसी पूर्णता नही है। कितने विचार और कितनी छानबीन के बाद हमारे पूर्वजो ने यह वर्णमाला रची होगी! अनपढ़

---

१ दे० * १४।

आदमी भी बोलते और बात करते हैं। यदि वे बुद्धिमान हो तो बडी सयानी बाते भी करते हैं। इसी प्रकार यदि उन के मन मे कुछ भावो की लहर उठे, और उन के अन्दर वह सहज सुरुचि हो जिस से मनुष्य भाषा के सौष्ठव और शब्दो के सुर-ताल का अनुभव करता है, तो वे अक्षर पढना जाने बिना भी गा सकते और गीत रच सकते अर्थात् कविता कर सकते है। आरम्भ के सब कवि ऐसे ही थे, उन की कविताओ मे विचारो और भावो का स्वाभाविक प्रकाश था, विद्वत्तापूर्ण बनावटी सौन्दर्य नहीं। ऐसी रचनाये जब बहुत हो चुकीं, तब उन को बार बार सुनने से विचारको का ध्यान उन के सुर-ताल, उन के छन्दो की बनावट, उन की शब्द-रचना के नियमो और उन शब्दों को बनाने वाले उच्चारणो की तरफ गया। और तब इन विषयो की छानबीन होने पर छन्द शास्त्र, वर्णमाला तथा वर्णोच्चारणशास्त्र, और व्याकरण आदि की धीरे धीरे उत्पत्ति हुई। वर्णो के उच्चारण के नियमो को ही हमारे पूर्वज शिक्षा या शिक्षाशास्त्र कहते थे। आधुनिक परिभाषा मे हम शिक्षा को वर्ण-विज्ञान या स्वर-विज्ञान (Phonetics) कह सकते हैं। छन्द शास्त्र और व्याकरण से पहले वर्ण-विज्ञान का होना आवश्यक है। और उस का आरम्भ राजा सुदास और कुरु के समय के कुछ ही पीछे निश्चय से हो चुका था, तथा संहिताये बनाने की लहर भी उसी की प्रेरणा से उस के साथ ही साथ चली थी, सो निम्नलिखित विवेचना से प्रकट होगा।

वसु चैद्योपरिचर के समय से छठी पीढ़ी पर और भारतयुद्ध से बारह पीढी पहले अयोध्या के वश मे राजा हिरण्यनाभ ( ८२ पी० ) हुआ। भारत वश की एक छोटी शाखा मे, जो हस्तिनापुर और अयोध्या के बीच राज करती थी, उसी समय राजा कृत ( ८३ पी० ) था। कृत हिरण्यनाभ कौशल्य का चेला था। उन दोनो ने मिल कर सामों की सहिता बनाई, और वे पूर्व साम ( पूरब के गीत या पहले गीत ) कहलाये। स्पष्ट है कि ऋक्, यजुष् और साम का विभाग उन से पहले हो चुका था।

शन्तनु के दादा राजा प्रतीप के समय दक्षिण पञ्चाल का राजा ब्रह्मदत्त (८६ पी०) था। उस का गुरु जैगीषव्य मुनि था, जिस की शिक्षा से ब्रह्मदत्त ने पहले पहल योग-शास्त्र की रचना की। जैगीषव्य के बेटे शंख और लिखित थे, तथा ब्रह्मदत्त के दो मंत्री कण्डरीक (या पुण्डरीक) और सुबालक (या गालव) बाभ्रव्य पाञ्चाल भी जैगीषव्य के शिष्य थे। इन दोनो पाञ्चालों मे से कण्डरीक द्विवेद और छन्दो-ग कहलाता, तथा बाभ्रव्य बह्वृच (बहुत ऋचो का ज्ञाता), और आचार्य। बाभ्रव्य के विषय मे यह अनुश्रुति है कि उस ने शिक्षा-शास्त्र का प्रणयन किया, तथा ऋक्-संहिता का क्रम-पाठ पहले पहल बनाया। प्रणयन (प्र-नी) का अर्थ है प्रवर्त्तन, पहले पहल स्थापित करना और चला देना। बाभ्रव्य ने शिक्षा-शास्त्र का प्रणयन किया, इस का स्पष्ट अर्थ मुझे यह प्रतीत होता है कि उस ने वर्णों की विवेचना के विषय को एक शास्त्र का रूप दे दिया—उस की एक पद्धति बाँध दी। इस से सिद्ध है कि वह विवेचना बाभ्रव्य से कुछ पहले शुरू हो चुकी और उस के समय तक पूरी परिपक्वता पा चुकी थी। वैसी बात अनुश्रुति से प्रकट होती ही है, क्योंकि सब से पहले संहिताकारो के रूप मे अनुश्रुति मे जिन व्यक्तियों के नाम दर्ज हैं, वे—हिरण्यनाभ और कृत—बाभ्रव्य से क्रमशः चार और तीन पीढ़ी पहले ही हुए थे। वर्णों की विवेचना और संहितायें बनाना, जैसा कि मैंने कहा, एक ही लहर के दो परस्पर-निर्भर पहलू थे। इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने की है कि जिस व्यक्ति ने शिक्षा की शास्त्र रूप में स्थापना की, अर्थात् वर्णमाला के अध्ययन को एक शृंखला-बद्ध विज्ञान बनाया, उसी ने ऋक्-संहिता का क्रमपाठ बनाया। इस प्रकार भारत-युद्ध से सात पीढ़ी पहले अन्दाजन १५५० ई० पू० मे—हमारी वर्णमाला स्थापित हो गई थी[१]। और तभी योगशास्त्र की बुनियाद भी पड़ी थी।

---

१. दे० * १४।

## उ. वेद का अन्तिम वर्गीकरण

वेद का अन्तिम और प्रामाणिक सकलन कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास मुनि ने किया जो भारत-युद्ध के समय तक जीवित था और अपने समय का सब से बडा विद्वान् था। वेदव्यास उस का पद है, जिस का अर्थ है वेद का वर्गीकरण करने वाला। वेद का अर्थ ही है ज्ञान। जब वर्णमाला और लिपि पहले पहल चली, तब तमाम पहले ज्ञान का सकलन होना या सहिता बनना उचित ही था। व्यास ने तमाम वेद की पाँच सहिताये कर दी। ऋक्, यजुष् और साम की तीन धाराये मिला कर त्रयी ( तीन ) कहलाई, और अथर्ववेद तथा इतिहास-वेद मिला कर कुल पाँच वेद[1], अर्थात् उस समय के सम्पूर्ण ज्ञान के पाँच विभाग, हुए। इतिहास-वेद या पुराण-सहिता की रचना व्यास ने प्राचीन वशो मे चली आती अनुश्रुतियो— आख्यानों, उपाख्यानों, गाथाओं, वश-विषयक उक्तियों आदि—के आधार पर की। इस प्रकार सहिता बनाने की जो लहर हिरण्यनाभ ( ८२ पीढी ) के समय या और पहले से चली थी, उसे व्यास ने एक पक्की नीव पर रख दिया। व्यास का कार्य एक आधुनिक विश्व-कोष-निर्माता का सा था। उस ने पिछले कुल ज्ञान ( वेद ) का सकलन किया, और उस सकलन से नई खोज को एक प्रबल उत्तेजना मिली। पाँच विभाग मे बाँट कर वेदव्यास ने एक एक वेद की छानबीन करने—अर्थात् उस की

---

१ चार वेद गिनने की शैली नई है। वह सूत्र-ग्रन्थों के बाद की है। पुरानी परिगणना में ऋक्, यजु, साम—यह त्रयी ही गिनी जाती, और जब सम्पूर्ण वेद गिनना होता तब त्रयी के अतिरिक्त अथर्व और इतिहास दोनों को एक ही दर्जे पर गिना जाता। छा० उप० ७, १, २ में नारद सनत्कुमार को यह बतलाते हुए कि उस ने तमाम विद्याये पढ़ी पर उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ, कहता है—ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराण पञ्चमम् ·। अर्थ० के विद्यासमुद्देश ( १-३ ) में लिखा है—सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी। अथर्ववेदेतिहासवेदौ चेति वेदा.।

भाषा, उस की छन्दोरचना, उस के वर्णोच्चारण, उस के विचारों आदि के अध्ययन और मनन को जारी रखने—के लिए अपने विभिन्न शिष्यों को बाँट दिया। व्यास, इस प्रकार, अपने समय का एक भारी संकलनकर्त्ता, सम्पादक और विचारक था। एक तरह से उस ने अपने से पहले आर्यों की तमाम विद्याओं और तमाम ज्ञान को एक जगह केन्द्रित कर तथा उस का वर्गीकरण कर के उस के आगे की खोज और उन्नति का भी रास्ता बाँध दिया। व्यास से पहले के ज्ञान ( वेद ) के पाँच ही मार्ग थे। उन के अतिरिक्त शिक्षा आदि जिन ज्ञानों की ताज़ा ताज़ा उत्पत्ति हुई थी, वे तो उसी पञ्च-मार्गीय ज्ञान का संकलन करने से ही उपजे थे। इसी कारण वे वेदांग कहलाये

---

# परिशिष्ट

## प्राचीन युगों की

भारत-युद्ध से पहले की पूरी वंशावलियाँ पार्जीटर ने अपने ग्रन्थ § ६६ अ में उल्लिखित शैली के अनुसार भरसक निश्चित की गई हैं। यहाँ या संकेत हुआ है। किनारों पर पीढ़ियों की संख्या दी गई है, जिन पीढ़ियों जो नाम छोटे पाइका अक्षरों में छापे गये हैं, उन का कालविषयक स्थान ठीक में हैं।

[ १ ] राज-

| पी० सं० | अयोध्या | विदेह | वैशाली | शार्य्यात | कारूष | द्रुह्यु |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | मनु | | | | | .. |
| २ | इक्ष्वाकु | . | नाभानेदिष्ठ | शर्याति | करूष | |
| ३ | विकुक्षि (शशाद) | निमि | | आनर्त्त | कारूष लोग | . |
| ४ | ककुत्स्थ | . | . | रोचमान, रेव, रैवत | | |
| ५ | .. | मिथि जनक | | यादव | हैहय | |
| ६ | . | | .. | | | |
| ७ | | | | यदु | | द्रुह्यु |
| १२ | | | . | | | |
| १४ | | | | | हैहय | |
| २० | युवनाश्व (२) | | | शशबिन्दु | | |
| २१ | मान्धाता | . | | | | |
| २२ | पुरुकुत्स | . | | | | |
| २३ | | | | | महिष्मन्त | गान्धार |
| २५ | . | | ... | . | भद्रश्रेण्य | . |

# अ

## वंशतालिकायें

प्रा० भा० ऐ० अ० मे दी है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति की पीढ़ी-क्रम से स्थिति ऊपर
उन वशावलियो मे से केवल वही नाम दिये जाते है जिन का रूपरेखा मे उल्लेख
मे किसी व्यक्ति का उल्लेख रूपरेखा मे नही हुआ, उन्हें छोड़ दिया गया है।
निश्चित है, बाकी उन के बीच अन्दाज़ से फैलाये गये है। शीर्षक काले टाइप

### वंश

| तुर्वसु | पू० आनव | उ० प० आनव | पौरव | काशी | कान्यकुब्ज | पी० सं० |
|---|---|---|---|---|---|---|
| ... | .. | . | | . | .. | १ |
| . | .. | | .. | . | . | २ |
| .. | . | . | पुरूरवा | | .. | ३ |
| . | .. | | आयु | . | अमावसु | ४ |
| .. | .. | . | नहुष | | ... | ५ |
| . | .. | | ययाति | क्षत्रवृद्ध | ... | ६ |
| तुर्वसु | . | अनु | पुरु | .. | . | ७ |
| . | | . | | काश | .. | १२ |
| .. | | ... | . | .. | . | १४ |
| | | . | | .. | | २० |
| ... | . | . | | . | .. | २१ |
| . | . | | | . | .. | २२ |
| ... | ... | ... | .. | .. | ... | २३ |
| .. | | .. | ... | दिवोदास(१) | ... | २५ |

| पी० सं० | अयोध्या | विदेह | वैशाली | यादव | हैहय | द्रुह्यु |
|---|---|---|---|---|---|---|
| २६ | | | | | | |
| २७ | | | | | | |
| २९ | | | | | | |
| ३० | अय्यारुण | | | . | कृतवीर्य्य | |
| ३१ | | | | | अर्जुन | |
| ३२ | सत्यव्रतत्रिशङ्कु | | | | | |
| ३३ | हरिश्चन्द्र | | | | | |
| ३४ | रोहित | | | | तालजंघ | |
| ३६ | | . | | परावृट् | वीतिहोत्र भोज, अवन्ति | |
| ३८ | | | करन्धम | | . | |
| ३९ | बाहु | . | अवीक्षित | | | |
| ४० | | | मरुत्त | विदर्भ | यादव चेदि | |
| ४१ | सगर | | | क्रथ भीम | कैशिक | |
| ४२ | असमञ्जस | | | | चिदि | |
| ४३ | अंशुमन्त | | | | . | |
| ४४ | | | | | | |
| ४५ | | . | | | | |
| ४६ | | . | | | | |
| ५० | | | | भीमरथ | . | |
| ५१ | ऋतुपर्ण | | | | सुबाहु | |
| ५२ | | . | तृणबिन्दु | | | |
| ५३ | . | . | विश्रवा | .. | | |
| ५४ | मित्रसह-कल्माषपाद | | विशाल | | . | |

| तुर्वसु | पू० आनव | उ० पू० आनव | पौरव | काशी | कान्यकुब्ज | पी० सं० |
|---|---|---|---|---|---|---|
| .. | तितिक्षु | उशीनर[1] | | . | . | २६ |
| ... | . | शिवि | . | | | २७ |
| ... | . | केकय | | .. | .. | २९ |
| | . | . | .. | .. | गाधि | ३० |
| | | | . | . | | ३१ |
| .. | .. | | | . | विश्वरथ | ३२ |
| | . | | | | . | ३३ |
| . | | | . | | .. | ३४ |
| | | | | | . | ३६ |
| . | | | | . | | ३८ |
| | | | | | . | ३९ |
| | | | | दिवोदास(२) | | ४० |
| मरुत्त | बलि | | | प्रतर्दन | | ४१ |
| .. | | . | .. | वत्स | | ४२ |
| (दुष्यन्त) | अङ्ग वङ्ग आदि | . | दुष्यन्त | अलर्क | | ४३ |
| ... | | . | भरत | | | ४४ |
| | | . | | | | ४५ |
| | | . | (भरद्वाज) | | | ४६ |
| | | . | | . | | ५० |
| | ... | .. | हस्ती | . | | ५१ |
| | . | .. | ... | . | | ५२ |
| | . . | : | अजमीढ | | | ५३ |
| | ... | | ... | .. | | ५४ |

१. दे० तालिका (२)।

| पी० सं० | अयोध्या | विदेह | यादव | यादव | उ० पञ्चाल | द० पञ्चाल |
|---|---|---|---|---|---|---|
| ५५ | | | | | | |
| ५६ | | | | | . | |
| ५८ | | . | | | | |
| ६० | दिलीप(२) | | | | . | |
| ६१ | | | मधु | | | |
| ६२ | रघु | . | . | | | |
| ६३ | अज | | | | .. | |
| ६४ | दशरथ | सीरध्वज | | | .. | |
| ६५ | राम | | सत्वन्त् | | | |
| ६६ | | | भीम सात्वत | | सृञ्जय | |
| ६७ | कुश | | अन्धक | वृष्णि | च्यवन-पिजवन | |
| ६८ | | . | | | सुदास | |
| ६९ | | | . | . | सहदेव | |
| ७० | | | | | सोमक | |
| ७१ | | | | | | |
| ७५ | | . | | .. | . | |
| ७८ | | - | | | | |
| ७९ | | | | . | | |
| ८३ | हिरण्यनाभ | | . | | | |
| ८६ | | | | | | |
| ८७ | | | | . | . | ब्रह्मदत्त |
| ९० | | | | . . | | |
| ९२ | | | उग्रसेन | | द्रुपद | |
| ९३ | . | . | कंस | . | द्रोण | द्रुपद |
| ९४ | बृहद्बल | . | .. | कृष्ण | अश्वत्थामा | |

| पौरव हस्तिनापुर | पौरव मगध | पौरव चेदि | पू० आनव | | पृ० सं० |
|---|---|---|---|---|---|
| . | | .. | . | | ५५ |
| . | . | ... | . | | ५६ |
| ... | . | | . | | ५८ |
| .. | | . | . | | ६० |
| . | | | .. | | ६१ |
| .. | . | . | | | ६२ |
| ... | .. | .. | ... | | ६३ |
| .. | | .. | | | ६४ |
| .. | .. | | | | ६५ |
| . | .. | . | | | ६६ |
| | . | .. | | | ६७ |
| . | | .. | . | | ६८ |
| संवरण | | | . | | ६९ |
| .. | .. | . | | | ७० |
| कुरु | .. | | . | | ७१ |
| . | .. | . | . | | ७७ |
| .. | | वसु चैद्य | . | | ७८ |
| .. | बृहद्रथ | . | .. | | ७९ |
| ... | ... | .. | .. | | ८३ |
| | | . | .. | | ८६ |
| प्रतीप | . | . | | | ८७ |
| शान्तनु | . | ... | . | | ९० |
| विचित्रवीर्य | जरासन्ध | .. | .. | | ९२ |
| धृतराष्ट्र | | .. | | | ९३ |
| पाण्डव | सहदेव | शिशुपाल | कर्ण | | ९४ |

[ २ ]

आनव राजा उशीनर का वंश
उशीनर
नृग
यौधेय लोग
नव
नवराष्ट्र के राजा
कृमि
कृमिला नगरी के राजा
सुव्रत
अम्बष्ठ लोग
शिवि औशीनर (जिसके वंशज 'शिवि' हुए)
वृषदर्भ
वृषदर्भ लोग
सुवीर
सौवीर लोग
केकय
केकय या कैकेय लोग
मद्रक
मद्र या मद्रक लोग
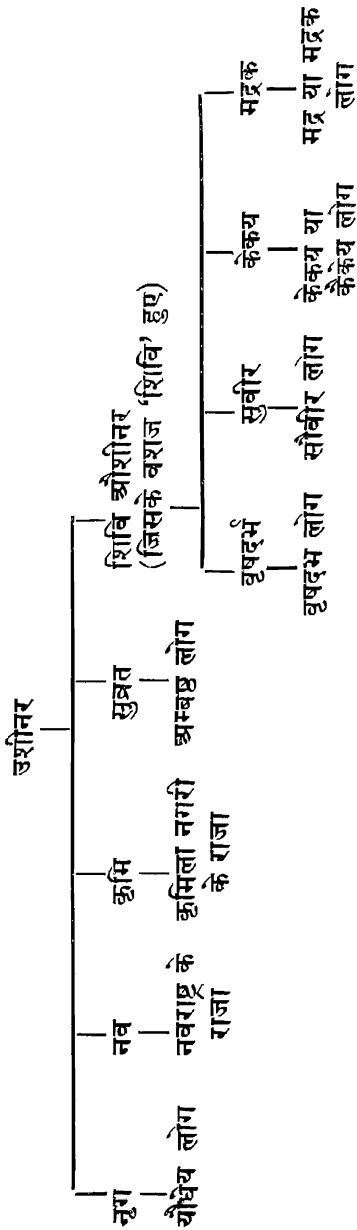
## [ ३ ] ऋषि-वंश

| पी० सं० | भार्गव | आंगिरस | वसिष्ठ | अन्य |
|---|---|---|---|---|
| ३० | ऊर्व | . | . | . |
| ३१ | ऋचीक और्व | . | . | दत्तात्रेय |
| ३२ | जमदग्नि | | देवराज वसिष्ठ | विश्वामित्र |
| ३३ | . | . | | मधुच्छन्दाः |
| ४० | | बृहस्पति | . | |
| ४१ | .. | दीर्घतमा, भरद्वाज | .. | |
| ४३ | | | . | अगस्त्य, लोपामुद्रा |
| ४५ | .. | विदथी भरद्वाज (भरत ने गोद लिया) | | |
| ५४ | | भरद्वाज (अजमीढ के साथ) | | अगस्त्य (पुलस्त्य का दत्तक पुत्र) |
| ५५ | . | कण्व | | . |
| ५६ | . | मेधातिथि कण्व | | . |
| ६६ | वाल्मीकि | . | | .. |
| ६९ | .. | वामदेव | . | .. |
| ७१ | देवापि शौनक | .. | | |
| ८६ | | | . | जैगीषव्य |
| ८७ | | | . | शंख, लिखित, पुण्डरीक, गालव बाभ्रव्य पाञ्चाल |
| ९२ | .. | .. | कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास | ... |
| ९३ | .. | . | शुक | ... |

## [ ४ ] भारत-युद्ध के ठीक

इस वशतालिका के नामो का उल्लेख यद्यपि नौवें प्रकरण मे है, तो भी

| पी० सं० | अयोध्या | विदेह | अन्य राजा |
|---|---|---|---|
| ९६ | | | अश्वपति कैकेय |
| ९७ | | | |
| ९८ | | जनक उग्रसेन | |
| ९९ | | | प्रवाहण पाञ्चाल |
| १०० | दिवाकर | | |
| १०१ | | | |
| १०२ | | जनक जनदेव | |
| १०३ | | जनक धर्मध्वज | |
| १०६ | | | |

## बाद की वंशतालिका

यह प्रसगवंश यहीं दी जाती है।

| कुरु-पौरव | बार्हद्रथ | विविध विद्वान् और मुनि | प्रौ० सं० |
|---|---|---|---|
| परीक्षित् ( २ ) | . | याज्ञवल्क्य ब्रह्मराति | ९६ |
| जनमेजय ( ३ ) | .. | उद्दालक आरुणि, पिप्पलाद | ९७ |
| . | . | याज्ञवल्क्य वाजसनेय | ९८ |
| ... | .. | श्वेतकेतु, अष्टावक्र | ९९ |
| अधिसीमकृष्ण | सेनाजित् | ब्रह्मवाह का पुत्र याज्ञवल्क्य, विदग्ध शाकल्य | १०० |
| .. | | ... | १०१ |
| .. | . | | १०२ |
| ... | | . | १०३ |
| .. | ... | सत्यकाम जाबाल | १०६ |

तैयार किया गया था। अपने ग्रन्थ के आरम्भ मे स्मिथ ने लिखा कि भारतवर्ष का ऐतिहासिक काल सातवी शताब्दी ई० पू० के मध्य से शुरु होता है, और उस से पहले के सब युग इतिहास के क्षेत्र से बाहर है। "भारतवर्ष का राजनैतिक इतिहास एक सनातनी हिन्दू के लिए ईसवी सन् से तीन हजार बरस पहले शुरु होता है जब जमना के किनारे कुरु के पुत्रो और पाण्डु के पुत्रो के बीच प्रसिद्ध युद्ध हुआ था जिस का महाभारत नाम के बडे महाकाव्य मे वर्णन है। परन्तु आधुनिक आलोचक चारणो की कहानियो मे गम्भीर इतिहास नही देख पाता. " इत्यादि (चौथा सस्क०, पृ० २८ )।

## इ. क्या भारतवर्ष का इतिहास ६५० ई० पू० के करीब शुरु होता है ?

अनुश्रुति का ऐतिहासिक मूल्य मानने या न मानने के साथ यह प्रश्न भी गुँथा हुआ है। जब हम इस प्रश्न पर विचार करते है, हमे कहना पडता है कि ६५० ई० पू० से ही यदि भारतीय इतिहास आरम्भ किया जाय तो वह एक निर्जीव अन्ध घटनावली मात्र प्रतीत होता है। पहले की घटनाओ को समझे बिना उस घटनावली की कोई बुद्धिसगत व्याख्या नही हो पाती। भारतीय सभ्यता की बुनियाद बडे अश मे उस काल से पहले रक्खी जा चुकी प्रतीत होती है, और सस्थाओं के विकास का तन्तु पहले से चला आता जान पडता है। न केवल आध्यात्मिक सभ्यता का, प्रत्युत आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सस्थाओ का विकास समझने के लिए हमे उस काल से पहले जाना पडता है। इतिहास एक जीवित वस्तु है, वह किसी जाति के जीवन के सर्वाङ्गीण विकास का वृत्तान्त है। यदि उस वृत्तान्त का कुछ अश संभाल कर नही रक्खा गया, या हमे उलझे हुए दुर्बोध रूप मे प्राप्त होता है, या उसे प्रमाणित करने के लिए कुछ पत्थर की लकीरे बची नहीं रह सकीं, तो इस का यह अर्थ नही कि वह अश था ही नही। उस अश के

बिना दूसरे अंशो की भी व्याख्या न हो सकेगी। किसी युग मे हमारे पूर्वज जंगलो की बहुतायत के कारण लकडी के मकान बनाते रहे हो, या उन के पक्के मकान भी काल की सुदूरता के कारण शताब्दियो के आंधी-पानी मे नष्ट हो गये हो और उस का कोई ठोस अवशेष बचा न रहा हो, तो हम यह नहीं कह सकते कि उस युग मे कोई महत्त्व की घटना नहीं हुई। यह ठीक है कि सभ्यता का विकास और महत्त्वपूर्ण घटनाये अपने चिन्ह छोड़ जाती हैं, किन्तु वाङ्मय और साहित्य क्या सभ्यता के विकास के छोटे चिन्ह हैं ? और वह वाङ्मय ठोस पत्थरो पर लिखा नहीं गया, इस लिए क्या अवहेलनीय है ? सूतो और चारणो ने उस पहले काल के वृत्तान्त को बहुत सँभाल कर रक्खा था। आधुनिक आलोचक यदि चारणो के वृत्तान्तो को सुलझा कर उन मे से इतिहास निकालना नही जानता तो यह उसी की अयोग्यता है। यह ठीक है कि वाङ्मय के इन सूक्ष्म अवशेषो को आलोचना बहुत अधिक नाजुक और कठिन कार्य है, और इस मे सफलता दुर्लभ है। किन्तु पहले काल के इतिहास की यह सामग्री मौजूद है, और इस के रहते हुए केवल इस कारण कि हम उस सामग्री को सुलझा नही सकते, उस काल को प्रागैतिहासिक कहना एक अनर्गल बात है।

## उ. प्राचीन आर्यों का राजनैतिक इतिहास, तथा उन में ऐतिहासिक बुद्धि होने न होने का प्रश्न

भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास ६५० ई० पू० से बहुत पहले शुरू होता है, इस से इनकार नहीं किया जा सकता। उस सभ्यता और संस्कृति का चित्र भारतवर्ष के प्राचीन वाङ्मय मे मिलता है। प्राचीन पौराणिक अनुश्रुति भी उसी वाङ्मय का एक अंश है। किन्तु विद्वानो का एक बड़ा सम्प्रदाय उस अनुश्रुति की अवहेलना करता और बाकी—मुख्यत: धार्मिक—वाङ्मय की छानबीन से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का ढाँचा खड़ा करता है। उस आरम्भिक इतिहास को यह सम्प्रदाय वैदिक युग,

ब्राह्मण-उपनिषद्-सूत्रग्रन्थ-युग या उत्तरवैदिक युग, महाकाव्य या पुराण-युग ( epic period ) और बौद्ध युग मे बाँटता है, जिस के बाद वह एकाएक पारसियो और यूनानियो के आक्रमण तथा मौर्य साम्राज्य का उल्लेख कर डालता है ( जैसे, रैप्सन—एश्यंट इडिया मे )।

इस प्रकार का इतिहास का ढाँचा यह सूचित करता है कि भारतीय जाति के प्राचीनतम जीवन मे केवल धर्म और वाङ्मय का ही विकास होता रहा, और उन के इतिहास मे सब से पहली राजनैतिक घटना पारसियो और सिकन्दर का आक्रमण ही थी। पहले इतिहास का युग-विभाग धर्म और वाङ्मय के विकास के अनुसार है, आगे एकाएक राजनैतिक घटनाओ के अनुसार। अर्धं युवती अर्धं जरती का न्याय उस पर पूरी तरह घटता है। इन्ही विद्वानो के मतानुसार आर्य लोग पारसी आक्रमण से करीब एक हज़ार बरस पहले वायव्य सीमान्त से भारतवर्ष मे प्रविष्ट हुए, और उस आक्रमण से बहुत पहले हो सारे उत्तर भारत का तथा विन्ध्य पार महाराष्ट्र का भी ऐसा गहरा और पूरा विजय कर चुके थे कि उन प्रदेशो की मुख्य जनता आर्य हो गई और उन सब प्रदेशो मे आर्य भाषाये बोली जाने लगी थीं। लेकिन इस सम्पूर्ण जातीय विजय की प्रक्रिया मे कोई राजनैतिक घटना नही हुई। कैसी उपहासास्पद स्थापना है।

यह सिद्ध हो चुका है कि उस काल के आर्यों मे अनेक प्रकार की स्वतन्त्र राजनैतिक सस्थाये थी, तथा राजनैतिक चेतना और सचेष्टता पुष्कल रूप में विद्यमान थी। राजनैतिक चेतना और सचेष्टता के रहते हुए राजनैतिक घटनाओ का अभाव रहा हो सो हो नही सकता। अत्यन्त स्थूल दृष्टि को भी यह दीख सकता है कि उत्तर भारत तथा महाराष्ट्र का पूरा जातोय विजय एक ऐसा भारी राजनैतिक परिणाम है जो एक लम्बी घटनापूर्ण कशमकश के बिना पैदा नहीं हो सकता था। बाद के युगो मे अनेक विजय की धाराये भारतवर्ष मे आती रहीं, किन्तु उन मे मे कोई भी इतनी गहरी नहीं थी कि जिस से भारतवर्ष के किसी एक प्रान्त मे भी पूर्ण जातिगत (ethnic)

परिवर्तन हो पाता। आर्यों की विजय भारतीय इतिहास की सब से बड़ी और सब से महत्त्वपूर्ण घटना है, और जिस काल मे वह हुई उसे राजनैतिक घटनाओ से रहित कहना अपने को उपहासास्पद बनाना है।

यह उपहासास्पद स्थिति इस विद्वत्सम्प्रदाय के दिल मे शायद खुद कुछ कुछ खटकती है, और इसी लिए वे वैदिक साहित्य मे से राजनैतिक घटनाओ के निर्देश जोड़ जोड़ कर ( जैसे, मैकडौनेल और कीथ के वैदिक इडेक्स मे ) एक राजनैतिक इतिहास बनाने का जतन करते है। किन्तु वैदिक साहित्य धर्मपरक है, इतिहासपरक नहीं; और उस मे आने वाले घटनाओ के आकस्मिक निर्देशो को इकट्ठा कर के न तो उन का पौर्वापर्य निश्चित किया जा सकता है, और न उन्हे नत्थी कर के कोई शृङ्खलाबद्ध राजनैतिक इतिहास बन सकता है।

अन्त को, इस व्यापार मे विफल हो कर ये विद्वान् यह घोषणा कर देते है कि प्राचीन हिन्दुओ मे ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था, इसी लिए उन का राजनैतिक इतिहास नही मिल सकता। यह एक अलग विवाद का प्रश्न है, और यह स्थापना तब मानी जा सकती जब प्राचीन हिन्दुओ के ऐतिहासिक वाङ्मय—पौराणिक अनुश्रुति—का निकम्मापन पूरी तरह सिद्ध कर दिया जाता। दूसरे पहलुओ से देखने पर प्राचीन हिन्दुओ मे ऐतिहासिक बुद्धि का वैसा अभाव नही दीखता, अभिलेखो की भरमार वैसा सिद्ध नही करती; भिन्न भिन्न राज्यो मे घटनाओ का वृत्तान्त लिख कर भेजने का विशेष प्रबन्ध था, पहले चालुक्यो का इतिहास दो सौ बरस पीछे दूसरे चालुक्य-वंश के लेखो मे पाया जाता है। हम यह मानते है कि मध्य काल मे आ कर, जब कि भारतीय सभ्यता का विकास-प्रवाह रुक गया और उस में सड़ाँद पैदा होने लगी, ऐहलौकिक-जीवन-सम्बन्धी घटनाओ की तुच्छता और पारलौकिक विषयों के महत्त्व का विचार प्रबल हो गया, जो इतिहास की उपेक्षा का कारण बना। उस का फल यह हुआ कि पहले से जो ऐतिहासिक अनुश्रुति चली आती थी उसे भी तत्कालीन विचारो मे ढाल दिया गया,

तथा उस मे धर्मोपदेश की दृष्टि से अनेक मिथ्या कथाये मिला दी गई, और इस प्रकार बिगडे हुए ऐतिहासिक वाङ्मय को पा कर आज हम हिन्दुओ मे ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव की शिकायत करते हैं। एक विशेष काल मे वह अभाव अवश्य पैदा हो गया था, पर वह सदा से न था, न सदा रहेगा।

## ऋ. 'पुराण-युग' तथा पौराणिक अनुश्रुति का अन्य उपयोग

इस के अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि जो विद्वान् पौराणिक अनुश्रुति को निकम्मा कह के उस की उपेक्षा की चेष्टा कर अपने को उक्त उपहासास्पद स्थिति मे डाल लेते हैं, वे स्वय भी तो पुराणो मे पूरी तरह अपना पीछा नहीं छुड़ा पाते। भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि ! अपनी विचार-सरणि के अन्तिम युक्तिसगत परिणामो तक पहुँचते हुए मानो वे स्वय झिझकते है। उन के सभ्यता के इतिहास के ढाँचे मे भी तो एक पुराण-युग ( Epic period ) रहता है। उस पुराण-युग से क्या अभिप्राय है ? जिस काल मे पुराण और महाकाव्य अपने विद्यमान रूप मे आये, वह तो निश्चय से नहीं, क्योंकि वह तो शुग राजाओ ( लगभग १९० ई० पू० ) से गुप्त राजाओ तक का काल है। इन विद्वानों का पुराण-युग बुद्ध-काल से ठीक पहले का है—वह युग जिस की सभ्यता का उन की मनमानी कल्पनानुसार पुराणो और महाकाव्यो मे उल्लेख है। फलतः वे यह मानते हैं कि पुराण भले ही विद्यमान रूप मे पीछे आये, पर उन मे ऐसी सामग्री है जिस से एक अतीत काल की सभ्यता का विश्वसनीय चित्र अकित किया जा सकता है। तब क्या उन से उस अतीत काल की राजनैतिक घटनावली का विश्वसनीय वृत्तान्त नहीं दुहा जा सकता ? क्यो नहीं ?

दूसरे, राजनैतिक इतिहास के लिए भी पौराणिक अनुश्रुति का प्रयोग, ज़रूरत पडने पर, क्या स्वय ये विद्वान् नहीं करते ? शैशुनाक से गुप्त राजाओं तक का इतिहास बनाने मे अभिलेखों, सिक्को, विदेशी वृत्तान्तो आदि से मदद ली जाती है, किन्तु फिर भी क्या उस इतिहास का ढाँचा

मूलतः पौराणिक अनुश्रुति से नही बनाया जाता ? वे सब साधन सहायक का काम देते है। पर बुनियाद तो अनुश्रुति से ही बनाई जाती है । फिर पहले काल के इतिहास के विषय मे उसी अनुश्रुति को बिलकुल निकम्मा क्यो समझा जाय ? उस का मनमाना अयुक्तिसगत उपयोग करने के बजाय, साहसपूर्वक क्यो न उस की पूरी छानबीन कर, प्रामाणिक परखो से उस की सचाई जाँच कर, निश्चित सिद्धान्तो के अनुसार उस का प्रयोग किया जाय ?

## ऌ. पौराणिक अनुश्रुति का उद्धार

उन्नीसवी शताब्दी ई० के अन्त और बीसवी के आरम्भ मे एक नये सम्प्रदाय ने साहस-पूर्वक उस प्रकार की छानबीन की बुनियाद डाल दी है। इस सम्प्रदाय मे विशेष उल्लेखयोग्य नाम स्वर्गीय पार्जीटर तथा श्रीयुत काशी-प्रसाद जायसवाल के हैं । पार्जीटर के पुराण टेक्स्ट ऑव दि डिनैस्टीज़ आव दि कलि एज ने पहले पहल इस नई सरणि की सूचना दी । जायसवाल ने शैशुनाक ऐंड मौर्य क्रौनोलोजी, दि ब्राह्मिन एम्पायर आदि मे उसी सरणि पर आगे खोज जारी रक्खी। १९२२ मे पार्जीटर का युगान्तर-कारी ग्रन्थ एन्श्यंट इडियन हिस्टौरिकल ट्रैडीशन प्रकाशित हुआ । वह तीस बरस के परिश्रम का फल और एक स्थायी मूल्य का प्रामाणिक ग्रंथ है । १९२७ मे एक जर्मन विद्वान् किर्फेल ने पार्जीटर के पुराण टेक्स्ट के नमूने पर डास पुराण पञ्च-लक्षण प्रकाशित किया है। ज़माने की नई लहर की सूचना महामहोपा-ध्याय हरप्रसाद शास्त्री के भाषण दि महापुराणज़ ( ज० बि० ओ० रि० सो० १४, पृ० ३२३ प्र ) से मिलती है, जिस में उन्हो ने पुरानी खोज का सिहावलोकन कर पुराणो को जाँचने की नई कसौटियाँ प्रस्तुत की है । अभिलेखो के अध्ययन ने यदि पुराणो की विश्वसनीयता को सन्देह मे डाला था, तो उस की पुष्टि भी की है। पुराण के अनुसार चेदि वंश ऐळ वंश की एक शाखा था, और विन्ध्य की पूरबो दूनो में कभी राज्य करता था । खारवेल के अभिलेख ने उक्त बात की पुष्टि की है। ( ज० बि० ओ० रि० सो० १३, पृ० २२३ )। रूपरेखा का यह खण्ड लिखा जाने के बाद इसी सिलसिले में डा०

सीतानाथ प्रधान की दि क्रौनोलोजी ऑव एश्येंट इंडिया प्रकाशित हुई है, ( कलकत्ता १९२७ )। वह एक महत्त्व की पुस्तक प्रतीत होती है। मैंने उसे सरसरी दृष्टि से देखा है। डा० प्रधान की दृष्टि और पद्धति वही है जो पार्जीटर और जायसवाल की है, तथा जिस का रूपरेखा मे अनुसरण किया गया है। रूपरेखा मे भारत-युद्ध तक के इतिहास का ढाँचा पार्जीटर के अनुसार तथा भारत-युद्ध से नन्दो के समय तक का जायसवाल के अनुसार बनाया गया है। डा० प्रधान का मत अनेक अशो मे उस के अनुकूल पर कही प्रतिकूल भी है। उन्हो ने राम दाशरथि के आठ पीढी पहले से महापद्म नन्द क समय तक के व्यक्तियो का कालक्रम निश्चित करना चाहा है। भारत-युद्ध की तिथि उन्हो ने ११५० ई० पू० निश्चित की है। मैंने उन के परिणामो का पार्जीटर और जायसवाल के मतो के साथ बारीकी से मिलान नहीं किया, इस लिए मैं अभी नही कह सकता कि डा० प्रधान की स्थापनाओ को कहाँ तक स्वीकार कर सकूँगा। बहुत ही पुष्ट विरोधी प्रमाणो के अभाव मे पार्जीटर के मतो को त्यागना मेरे लिए सुगम न होगा।

डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी ने भी अपने पोलिटिकल हिस्टरी ऑव एन्श्येंट इंडिया ( प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास ) मे पौराणिक अनुश्रुति का प्रयोग किया है, परन्तु एक दूसरे ढंग से। उन का ग्रन्थ अनेक अशो मे स्मिथ की अर्ली हिस्टरी से अच्छा है। उन की यह बात प्रशंसनीय है कि उन्हो ने अपने इतिहास को आरम्भ से अन्त तक एक समान राजनैतिक ढाचे पर खडा किया है—ऐसा नहीं कि शुरू मे वैदिक, उत्तर वैदिक और महाकाव्य-युग, और फिर पारसी-मकदूनी, मौर्य, शुग आदि युग। उन्हो ने प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास को बुद्ध से कुछ पहले, परीक्षित् के समय तक, खींच ले जाने का जतन किया है। उस काल के लिए उन का आधार उत्तर वैदिक वाङ्मय—ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् आदि—, बौद्ध जातक तथा पौराणिक अनुश्रुति हैं। प्राग्बुद्ध काल मे वे पाँच

मुख्य राजनैतिक घटनाओं का उल्लेख करते है—( १ ) पारीक्षित राजाओं का राज्य, ( २ ) विदेह के राजा जनक का राज्य, ( ३ ) जनक के पीछे के मिथिला के वैदेह राजाओं का राज्य, ( ४ ) सोलह महाजनपदो का उत्थान, और ( ५ ) काशी-राज्य का अधःपात तथा कोशल का अभ्युदय।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषद् महाभारत-युद्ध के ठीक बाद बने, इस लिए उन मे अर्जुन पाण्डव के पोते राजा परीक्षित् और उस के वंशजो का उल्लेख अत्यन्त स्वाभाविक रूप से है। यहाँ से रायचौधुरी ने अपने इतिहास का पन्ना खोला है। परीक्षित् के पहले कौरव-पाण्डव-युद्ध होने की बात सुनी जाती है। किन्तु रायचौधुरी को इस युद्ध का कोई सीधा स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मिलता ( पृ० २० ) ! इसी प्रकार जनक का इतिहास लिखते समय वे कहते हैं—"रामायण के अनुसार दशरथ का लड़का राम था। ऋग्वेद ( १०, ९३, १४ ) राम नामक एक शक्तिशाली व्यक्ति का उल्लेख करता है, पर उस का कोशल से सम्बन्ध नही बताता" ( पृ० ४७ )। वैदिक साहित्य की चुप्पी का भी यदि ऐसा महत्त्व माना जाय तो पार्जीटर कहते हैं कि वेद मे बरगद के पेड़ और नमक का भी उल्लेख नहीं है। ये वस्तुएँ वैदिक काल मे न होती थीं, ऐसा नतीजा निकालने वालों को बतलाना होगा कि यदि ये वस्तुएँ उस काल मे रही होतीं तो क्यो इन का उल्लेख वेद मे आवश्यक रूप से होता। उसी दशा मे वेद की चुप्पी इन का अभाव सिद्ध कर सकेगी, अन्यथा नहीं। राम और सीता की ऐतिहासिक सत्ता के लिए यदि किसी स्वतन्त्र प्रमाण की अपेक्षा थी तो हमारे विद्वान् मित्र को वह कौटिलीय अर्थशास्त्र ( १, ६ ) मे मिल सकता था।

उपनिषदो वाला राजा जनक कौरव परीक्षित के छः-सात पीढ़ी बाद हुआ था, यह बात रायचौधुरी ने ठीक पहचानी है। किन्तु जनक एक वंश का नाम है, वह जनक कौन था ? रायचौधुरी कहते है—सम्भवतः वह वही हो जिसे अनुश्रुति सीरध्वज जनक तथा सीता का पिता कहती है ( पृ० ३१ )। इस प्रकार रामचन्द्र के श्वसुर सीरध्वज जनक को वे अर्जुन पाण्डव के पोते

परोक्षित् के डेढ़ सौ बरस पीछे लाने की सम्भावना देखते हैं। और उस के बाद पुराणों से सीरध्वज जनक की वंशावली उठा कर उसे पिछले वैदेह राजा शीर्षक के नीचे रख देते हैं।

बुद्ध के समय से कुछ ही पहले काशी-राज्य की बडी शक्ति थी, और उस के साम्राज्य में गोदावरी तट का अश्मक राज्य तक सम्मिलित था, यह रायचौधुरी ने अनेक प्रमाण दे कर सिद्ध किया है। उन प्रमाणों में से एक यह भी है कि महाभारत में काशी के राजा प्रतर्दन द्वारा हैहयों के पराभव का उल्लेख है ( पृ० ६१-६२ )। यदि बाजीराव पेशवा द्वारा उत्तर भारत के मुगलों का पराभव प्रमाणित करने के लिए महाराष्ट्र के प्राचीन सातवाहन राजाओं द्वारा मध्य देश के शुंग या काण्व राजाओं की कोई हार प्रमाण रूप से उद्धृत की जाती, तो वह इस युक्ति का ठीक नमूना होता। प्रतर्दन और उस से हारने वाले हैहय राजा भरत दौष्यन्ति से पहले हो चुके थे जब गोदावरी-काँठे में अश्मक राज्य की स्थापना भी न हुई थी। और यदि प्रतर्दन की कालस्थिति के लिए महाभारत की प्रामाणिकता नहीं है तो काशी का साम्राज्य सिद्ध करने के लिए कैसे है? इस पद्धति के विषय में हमें यही कहना है कि न हि कुक्कुट्या अर्धं पाकाय अर्धं प्रसवाय कल्पते। यदि अनुश्रुति का प्रयोग करना है तो उस की पूरी छानबीन कीजिए, इधर उधर से केवल उस के टुकडे मत उठाइये।

किन्तु इस के बावजूद हमें यह स्वीकार करना होगा कि बुद्ध से पहले काशी की शक्ति के विषय में रायचौधुरी ने जो कुछ लिखा है, वह एक महत्त्व-पूर्ण मौलिक खोज है, क्योंकि वह अन्य स्वतन्त्र प्रमाणों से भी सिद्ध है। रूपरेखा में उसे स्वीकार किया गया है ( नीचे § ८१ )। इस प्रकार अनुश्रुति-गम्य इतिहास के विषय में रायचौधुरी की सामान्य शैली को पसन्द न करते तथा पार्जीटर की पद्धति के अनुयायी होते हुए भी मैंने अनेक गौण अंशों में पार्जीटर के विरुद्ध रायचौधुरी की बात को माना है, जिस का निर्देश यथास्थान पाया जायगा।

## ए. पार्जीटर का कार्य

जायसवाल और पार्जीटर का तरीका दूसरा है। पार्जीटर ने अपने ग्रन्थ के पहले पाँच अध्यायो मे अनुश्रुति की साधारण परख की है, उस के विकास का इतिहास खोजा है, और उस की जाँच तथा उपयोग के सिद्धान्त स्थापित किये हैं। क्या वैदिक साहित्य के ऐतिहासिक कथन अनुश्रुति का विरोध करते हैं ? यदि विरोध करते दीखे तो किस दशा में किस को सच मानना होगा ? क्या वैदिक साहित्य को चुप्पी से कोई परिणाम निकालना उचित है ? और है तो कब ? इस प्रकार के प्रश्नो का पहले ही अध्याय मे विवेचन है। अगले तीन अध्यायो मे अनुश्रुति की रक्षा का, उस के रक्षको का, उस की संहिताये तथा उस की शाखाये बनने का इतिहास इकट्ठा किया गया है, जो कि अनुश्रुति की ही परीक्षा से हो सका है। ५वे अध्याय मे अनुश्रुति के भिन्न भिन्न प्रकार दिखलाये, तथा उन मे जितने प्रकार की मिलावट हुई है उस का वर्गीकरण किया गया है। इस के आधार पर कुछ ऐसी परखे निश्चित हो गई हैं जिन से यह निर्णय किया जा सके कि कौन सी अनुश्रुति पुरानी और कौन सी नई है, कौन सी सत्य और कौन सी कल्पित, इत्यादि।

इस आरम्भिक परीक्षा के बाद अगले छः अध्यायो मे पौराणिक वंशावलियो का विवरण दे कर उन की सामान्य विश्वसनीयता अनेक स्वतन्त्र प्रमाणों से सिद्ध की है। इसी परीक्षा मे यह पाया जाता है कि रामायण की अनुश्रुति महाभारत और पुराणो की अपेक्षा घटिया है। वंशावलियों मे ग़लतियाँ होने के कारणो पर विचार कर के फिर कितने प्रकार की ग़लतियाँ हुई है, इस का वर्गीकरण कर के सूक्ष्म छानबीन का एक बारीक यन्त्र तैयार कर दिया गया है।

इस प्रकार की सूक्ष्म छानबीन अगले १२ अध्यायो मे है जो ग्रन्थ का मुख्य भाग है। इन मे राजवंशावलियो की, चतुर्युगी के कालविभाग की और ब्राह्मण तथा ऋषि-वंशो की मीमांसा है। विभिन्न वंशावलियो के व्यक्तियो मे विवाह युद्ध आदि का जहाँ जहाँ उल्लेख मिला है उसे परख कर उन की

समकालीनता निश्चित की गई, और उन समकालीनताओ के सहारे वंशावलियो का एक अच्छा ढाँचा तैयार किया गया है। यही पार्जीटर की खोज का सार है। इस से पाया जाता है कि कृत युग, त्रेता आदि भारतीय इतिहास के वैसे ही युग थे जैसे राजपूत युग, मुस्लिम युग, मराठा युग आदि। बाद मे सृष्टिगणना के युगो के भी वे ही नाम रक्खे गये। अन्तिम चार अध्यायो मे पार्जीटर ने अपनी खोज के ऐतिहासिक परिणाम निकाले है।

## ऐ. अनुश्रुतिगम्य इतिहास की सत्यता

रूपरेखा क इस खण्ड मे राजनैतिक इतिहास का जो ढाँचा है, वह मुख्यत. पार्जीटर को उक्त खोजो के आधार पर है। जहाँ-जहाँ मेरा उन से मतभेद है, या मैने कुछ अतिरिक्त लिखा है, उस का निर्देश भी यथास्थान टिप्पणियो मे कर दिया है। विचारशील आलोचक उस इतिहास को युक्तिसगत और सामञ्जस्यपूर्ण पायेगे, उस की घटनावली मे एक शृङ्खला तथा कारण-कार्यपरम्परा उन्हे स्पष्ट दृष्टिगोचर होगी। किन्ही असम्भव अन्ध विश्वासो मे वह हमें नहीं ढकेलता। उस के अनुसार भारतीय आर्य राज्यो का इतिहास महाभारत युद्ध से अन्दाजन ९५ पीढ़ी अर्थात् करीब पन्द्रह सौ बरस पहले शुरू होता है। स्वय उस युद्ध का काल पार्जीटर ९५० ई० पू० तथा जायसवाल १४२४ ई० पू० रखते है। इस प्रकार आर्य राज्यो का आरम्भ पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार अढ़ाई तीन हजार ई० पू० तक पहुँचता है, और उस से अर्थात् इक्ष्वाकु और पुरूरवा से पहले का काल उस की दृष्टि मे प्रागैतिहासिक है। आधुनिक विज्ञान की मानी हुई बातो मे और इस परिणाम मे कुछ भी विरोध नही है। कई प्रचलित विश्वासो का—जैसे इस बात का कि आर्य लोगो ने उत्तरपच्छिम से भारत पर चढ़ाई की थी—यह इतिहास जरूर विरोध करता है, किन्तु ये विश्वास स्वय निराधार है, वे खाली कल्पनाये है जो किन्हीं स्पष्ट प्रमाणों पर आश्रित नही है। पार्जीटर का यह कथन बिलकुल सही है कि वेद में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो आर्यो का वायव्य कोण से आना प्रमाणित करती हा। वेद के विद्वानों को भी यह बात माननी पड़ी है

( उदाहरण के लिए कीथ—कैम्ब्रिज हिस्टरी, पृ० ७९ )। रावी के तट पर राजा सुदास की दस राजाओं के साथ लड़ाई का उस में अवश्य वर्णन है, पर वह लड़ाई आर्यों के उत्तरपच्छिम से पूरब प्रयाण को सूचित करती है, यह कोरी आधुनिक कल्पना है। सुदास, दिवोदास, वध्र्यश्व आदि राजाओं का उल्लेख वेद जरूर करता है, पर उन की काल-स्थिति, उन के क्रम आदि के विषय में कुछ भी नहीं बतलाता। अनुश्रुति के अनुसार वे सब उत्तर पञ्चाल के राजा थे, और अनुश्रुति का यह कथन आधुनिक भाषाविज्ञानियों के इस स्वतन्त्र मत से पुष्ट होता है कि ऋग्वेद की भाषा उत्तर पञ्चाल की प्राचीन बोली है।

सच कहें तो भारत की जातिविषयक ( Ethnological ) और भाषाविषयक स्थिति से उक्त अनुश्रुतिगम्य इतिहास की हूबहू संगति होती है, और वह उस की पूरी व्याख्या करता है। हम ने देखा कि आर्यों द्वारा भारत का विजय तथा उन का भारत में बसना भारतवर्ष के सम्पूर्ण इतिहास में सब से बड़ी और स्थायी महत्त्व की घटना है। आर्यों के उस विस्तार की एकमात्र सिलसिलेवार व्याख्या उक्त अनुश्रुतिगम्य इतिहास ही करता है, और दूसरी कोई चीज़ नहीं करती। यदि पौराणिक अनुश्रुति झूठ है तो बिना जाने बूझे इतना बड़ा सामञ्जस्य क्या केवल घुणाक्षर-न्याय से हो गया? और यह झूठ की मीनार किस के हित, किस की स्वार्थ-सिद्धि के लिए खड़ी की गई?

यह सब युक्तिपरम्परा पार्जीटर की है। मैं अपनी तरफ से पौराणिक अनुश्रुति की सचाई के दो और प्रमाण जोड़ता हूँ। एक तो, अनुश्रुति-गम्य इतिहास आर्यों का भारतवर्ष में जिस क्रम से फैलना बतलाता है, वह भौगोलिक सिद्धान्तों के अक्षरशः अनुकूल है। विन्ध्यमेखला और दक्खिन में आर्यों के फैलाव के इतिहास का सिंहावलोकन नीचे § १११ में किया गया है; वह भौगोलिक सिद्धान्तों पर ठीक ठीक पूरा उतरता है। यह अत्यन्त स्वाभाविक मार्ग है कि उत्तर भारत के आर्य लोग विन्ध्यमेखला के उत्तरी छोर

तक पहुँचने के बाद पहले उस के पच्छिमी आँचल का विजय करे, और पीछे धीरे धीरे पूरब तरफ बढते जाँय। पहले माहिष्मती, फिर विदर्भ और मेकल, फिर अग-वग-कलिग, फिर अश्मक-मूलक, इत्यादि क्रम सर्वथा स्वाभाविक है। यह पूर्णत युक्तिसगत बात है कि अग से आर्यो का प्रवाह वग तथा कलिंग की तरफ फैल कर गोदावरी की आर्य बस्तियो मे जा मिले, और छोटा नागपुर के पहाडी प्रदेश मे अटवी-राज्य घिर कर बने रहे ( दे० भारतभूमि, विन्ध्यमेखला प्रकरण )।

दूसरे, अनुश्रुतिगम्य इतिहास से प्रकट होता है कि भारतवर्ष मे आर्यो के फैलने और आबाद होने की एक विशेष शैली थी। बड़े बडे राज्य नये देशो को जीतने की योजना बना कर विशाल सेनाओ द्वारा उन्हे जीत कर आबाद करते रहे हो, सो नही हुआ। प्रत्युत बिना किसी योजना के, छोटे छोटे विभिन्न आर्य राज्यो मे से निकल कर साहसी क्षत्रियो और ब्राह्मणो की टुकड़ियाँ नये देश खोजतीं, और नये जंगलो को साफ कर आश्रम और बस्तियाँ बसाती गई, जिन के आधार पर अन्त मे नये राज्य खडे हो जाते रहे। फैलाव और उपनिवेशन ( Colonisation ) की यह एक विचित्र और विशेष शैली है जो भारतीय आर्यो के इतिहास मे ही पाई जाती है। भारत-युद्ध के समय तक इस शैली से उत्तर भारत, विन्ध्यमेखला और विदर्भ तक आर्य उपनिवेश बसते गये, उस के बाद गोदावरी-काँठे मे अश्मक-मूलक की स्थापना हुई ( § ७५ ), फिर पाण्ड्य और सिंहल की बारी आई ( §§१०९-११० ), अन्त मे वह फैलाव की लहर भारत के बाहर परले हिन्द के देशो और भारतीय द्वीपावली मे जा पहुँची। सिहल तथा बृहत्तर भारत मे आर्यो के फैलाव का वृत्तान्त पौराणिक अनुश्रुति से नहीं, प्रत्युत अन्य उपादानो से, जाना जाता है, उन उपादानो की प्रामाणिकता सर्वसम्मत है। ध्यान देने की बात है कि भारत के बाहर के उस फैलाव और उपनिवेशन की पद्धति तथा भारतवर्ष के अन्दर के पहले फैलाव की, जो पौराणिक अनुश्रुति से जाना जाता है, पद्धति किस प्रकार हूबहू एक है। क्या यह सामञ्जस्य केवल घुणाक्षर-न्याय से है ?

फिर हम देखते हैं कि भारत के अन्दर आर्यों का फैलाव पूरा होते ही वह बाहर शुरू हो जाता है। यह अत्यन्त स्वाभाविक सातत्य और एकसूत्रता, जो पौराणिक अनुश्रुति से प्रकट होती है, क्या बिलकुल आकस्मिक है? क्या यह सामञ्जस्य और एकसूत्रता पौराणिक अनुश्रुति की सामान्य सचाई का अत्यन्त निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है?

## ओ. प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास; पुराण-युग ( Epic Period ) कोई पृथक युग नहीं

अनुश्रुतिगम्य इतिहास आर्यावर्त्त का प्राचीनतम राजनैतिक इतिहास है। उस को स्वीकार करने का एक आवश्यक परिणाम निकलता है। अब तक जो हम प्राचीन इतिहास को धार्मिक और वाङ्मयकृत ढाँचे—वैदिक, उत्तर वैदिक आदि युगों—में देखने आये हैं, उस के बजाय हमें उस का शुद्ध राजनैतिक ढाँचा मिल जाता है। उस धार्मिक वाङ्मयिक ढाँचे में पुराण-युग (Epic period) एक ग़लत वस्तु है, जिस का कोई अर्थ नहीं है। पुराण-युग का अर्थ यदि पौराणिक अनुश्रुति में उल्लिखित घटनाओं का युग है, तो पुराण-युग बहुत कुछ वैदिक युग ही है, और कुछ अंश में वह प्राग्वैदिक—अर्थात् वैदिक ऋषियों के समय से पहले का—है, जैसा कि §६६इ में भली भाँति स्पष्ट हो चुका है।

प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक खोज की एक पद्धति सी बन चुकी है। नमूने के लिए डा० राधाकुमुद मुखर्जी की हिस्टरी ऑव इंडियन शिपिंग या डा० रमेशचन्द्र मजूमदार की कार्पोरेट लाइफ़ इन एन्श्येंट इंडिया देखिये। दूसरे ग्रंथ में प्राचीन भारत की आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का विकास-सूत्र टटोला गया है। प्रत्येक अध्याय में वैदिक युग पहले आता है जिस की सामग्री वैदिक वाङ्मय से ली गई है, फिर उत्तर वैदिक, फिर कई बार पुराण-युग, फिर बुद्ध-युग। यदि कोई प्राचीन भारत के नाच-गान का, मद्यपान का या वेषभूषा का भी इतिहास लिखेगा तो इसी पद्धति पर।

धार्मिक वाङ्मय ही मुख्य आधार है, लौकिक अनुश्रुति की उपेक्षा की जाती है। इस दृष्टि मे अब आमूल परिवर्त्तन होना चाहिए। न केवल प्रत्येक खोज का आरम्भ अनुश्रुति से किया जाना चाहिए, प्रत्युत युगो का ढाँचा भी अनुश्रुति के अनुसार राजनैतिक घटनाओ के सहारे खडा करना चाहिए। लौकिक विषयो की खोज मे तो इस की विशेष आवश्यकता है।

किन्तु पुराना धार्मिक ढाँचा लोगो के दिमाग मे बुरी तरह फँसा हुआ है। मै समझता था पार्जीटर की खोजो को पहले-पहल एक शृंखलाबद्ध भारतीय इतिहास मे मैंने ही अपनाया है। लेकिन रूपरेखा का राजनैतिक अश और यह खण्ड लिखा जा चुकने के बाद डा० मजूमदार की ऑटलाइन ऑव एंश्येंट इंडियन हिस्टरी ऐंड सिविलिजेशन ( प्राचीन भारतीय इतिहास और सभ्यता की रूपरेखा ) प्रकाशित हुई, उस मे भी मैंने उन खोजो का सार देखा। किन्तु डा० मजूमदार ने प्राचीन अनुश्रुति का सार तो ले लिया, पर उस के ठीक ठीक अर्थ पर उन का ध्यान नहीं गया। आउटलाइन मे वही पुराना ढाँचा—वैदिक युग, उत्तर वैदिक युग, पुराण-युग आदि—है। मजूमदार समूचे अनुश्रुति-गम्य इतिहास को पुराण-युग मे ले आये हैं, मानो वे वैदिक और उत्तर वैदिक युग के बाद की घटनाये हो, जहाँ असलीयत मे उन मे से बहुत सी प्राग्वैदिक और बहुत सी वैदिक युग की हैं। अनुश्रुतिगम्य इतिहास की यह नई खोज प्राचीन भारतीय इतिहास मे हमारी दृष्टि को जड से बदल देती है, सो समझ लेना चाहिए।

## औ. क्या प्राचीन आर्यों अथवा ब्राह्मणों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था ?

जो लोग केवल वैदिक वाङ्मय से प्राचीन आर्यो की सभ्यता का अन्दाज़ करते हैं, वे इस परिणाम पर ठीक ही पहुँचते हैं कि भारतीय आर्यों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था। यह परिणाम अनेक गहरे तात्विक प्रश्नो को खड़ा कर देता है। वैदिक से गुप्त युग तक के भारतीय आर्य एक प्रतिभा-

शाली जाति थे इस से कोई भी इनकार नही करता। उन मे ऐतिहासिक ही बुद्धि का अभाव था ? क्यो ? क्या यह हिन्दू चरित्र की सनातन त्रैकालिक दुर्बलता या विषम रोग है ? यदि यह उस की सहज प्रकृतिगत दुर्बलता नहीं तो क्या कारण था जिस से एक साधारण से कर्त्तव्य की, जिसे संसार की अनेक अर्ध-सभ्य जातियाँ भी स्वाभाविक प्रवृत्ति से निबाहती रही हैं, हिन्दू लोग उपेक्षा करते रहे ? क्या हिन्दुओ मे लौकिक सांसारिक बुद्धि का स्वाभाविक अभाव है ? वे केवल परलोक की चिन्ता ही कर सकते हैं ? यदि ऐसी बात है तो क्या भविष्य मे भी अपनी प्रकृति से विवश हो कर वे लौकिक प्रगति मे पिछड़े ही रहेंगे ? ये सब प्रश्न हैं जो उस एक परिणाम को मानते ही उठ खड़े होते हैं। सच बात यह है कि वह परिणाम स्वयं भ्रान्त है, वह आर्यों के वाङ्मय के एक बडे अंश—राजनैतिक अनुश्रुति—की उपेक्षा करने से पैदा हुआ है। जब हम यह देखते है कि हिन्दुओ की राजनैतिक अनुश्रुति से उन के आरम्भिक राजनैतिक जीवन का एक अत्यन्त युक्तिसंगत सामञ्जस्य-पूर्ण बुद्धिग्राह्य इतिहास मिल जाता है, तब इन प्रश्नो की गुञ्जाइश ही नहीं रहती। किन्तु इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि हमारी अनुश्रुति बुरी तरह उलझी हुई थी; यदि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से उस की छान-बीन न की जाती तो वह एक निरा कहानियो का ढेर बन चुकी थो। क्यों ऐसा हुआ ? क्यो हम ने अपने इतिहास को भूलभुलैयाँ मे डाल दिया था ?

पार्जीटर इस का सब दोष ब्राह्मणो को देते हैं। वे प्राचीन आर्य वाङ्मय के दो विभाग करते है—ब्राह्मणिक और क्षत्रिय, पुराण-इतिहास को वे क्षत्रिय वाङ्मय कहते हैं, और ऐसा भाव प्रकट करते हैं मानो पुराणो और ब्राह्मणिक वाङ्मय मे विरोध रहा हो ( प्रा० अ० पृ० ४३ )। फिर उन का कहना है कि पाश्चात्य विद्वानो का यह कथन कि प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि न थी ब्राह्मणो के विषय मे विशेष रूप से सच है ( पृ० २, ६०-६१ )। आप इस के कारणो पर विचार करते हैं कि ब्राह्मणों में ऐतिहासिक बुद्धि का दुर्भिक्ष क्यो था ( पृ० ६१-६३ ), और उसी प्रसंग में विभिन्न

प्रकार के ब्राह्मणो का वर्गीकरण कर जाते हैं। पुराण भी आगे चल कर ब्राह्मणो के हाथ आ गये, और उन्हो ने उन मे बहुत कुछ मिलावट की। फलतः ऐतिहासिक अनुश्रुति भी दो प्रकार की है—एक ब्राह्मणिक और दूसरी क्षत्रिय ( अ० ५ )। ब्राह्मणो ने प्राचीन क्षत्रिय अनुश्रुति मे बहुत सी गप्पे मिला दी। किन्तु उन मे ऐतिहासिक बुद्धि न होने से एक लाभ भी हुआ। वह यह कि वे प्राचीन अनुश्रुति और नई मिलावट की असम्बद्धता और परस्पर-विरोध को न पहचान सके, और फलत. प्राचीन अनुश्रुति के उन कथनो को भी जो उन की बातो उन की शिक्षाओ और उन के पाखण्ड के विरुद्ध थे उन्हो ने बदला नही, ज्यो का त्यो बना रहने दिया ( पृ० ६१ )। उन मे ऐतिहासिक बुद्धि न होने का एक नमूना यह है कि भागवत पुराण उन्हो ने ९ वीं शताब्दी ई० मे बनाया, पर पहले पुराणों का वृत्तान्त जहाँ चौथी शताब्दी पर समाप्त हुआ था, उस के आगे उन्हो ने पाँच शताब्दियो का कुछ भी वृत्तान्त न बढाया ( पृ० ५७ )। ब्राह्मणो का यही अपराध नही कि उन में ऐतिहासिक बुद्धि का दुर्भिक्ष था, प्रत्युत उन की नीयत भी खराब थी, उहो ने जान बूझ कर भी उन ऐतिहासिक सचाइयो को छिपाया जो उन के पाखण्डो की विरोधिनी थी ( पृ० ९-१० )।

इस सम्पूर्ण विचारधारा मे मुझे एक मूलत गलत दृष्टि काम करती दीखती है। एक तो पार्जीटर शायद अनजान मे ही यह मान कर ये बातें लिख गये हैं कि प्राचीन काल मे आजकल की तरह ब्राह्मण एक जात थी। दूसरे, उन्हो ने इस स्थापना को सम्पूर्ण सत्य मान लिया है कि प्राचीन भारत मे लिखने की प्रथा न थी, सब पठन-पाठन स्मृति पर ही निर्भर होता था। यह बात यदि गलत नही तो कम से कम विवादग्रस्त अवश्य है। ओझा, जायसवाल, भण्डारकर आदि भारतीय विद्वान् वैदिक काल से भारतवर्ष मे लेखन-कला की सत्ता मानते हैं ( नीचे ॐ १४ )।

प्राचीन वाङ्मय के दो विभागो को ब्राह्मणिक और क्षत्रिय न कह कर त्रयी और इतिहास कहा जाता तो ठीक होता। उन मे किसी जात के भेद का

सवाल नहीं है, और यदि उस समय ब्राह्मण और क्षत्रिय अलग अलग श्रेणियाँ ( classes ) थीं तो किसी प्रकार के श्रेणी-भेद का भी प्रश्न नहीं है। क्योंकि त्रयी और तदाश्रित वाङ्मय मे क्षत्रियो का भी अंश है—हिरण्यनाभ, जनक आदि राजाओं की कृतियो का स्वय पार्जीटर ने स्थान स्थान पर उल्लेख किया है, और ऐतिहासिक वाङ्मय मे ब्राह्मणो का भी अंश है—स्वयं कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास भी तो ब्राह्मण ही थे। त्रयी-वाङ्मय और ऐतिहासिक वाङ्मय का पार्थक्य केवल श्रमविभाग को सूचित करता है; उन का भेद केवल रुचि का और विषयो का भेद है। उन दोनो वाङ्मयो मे भी किसी प्रकार का विरोध या स्पर्धा नही थी। स्वयं पार्जीटर ने इस बात के प्रमाण दिये हैं कि त्रयी-वाङ्मय पुराण का बड़े आदर से स्मरण करता, इतिहास-पुराण को भी वेद कहता, यज्ञ मे उस का पाठ करने का विधान करता, उस के दैनिक स्वाध्याय का अनुयोग करता, उसे देवताओ की मधु हवि बतलाता तथा अथर्व वेद को उस पर निर्भर कहता है ( पृ० ३० टि० ५; पृ० ५५,५६ )। इस प्रकार के और प्रमाण नीचे ( § ११२ ) भी दिये गये है। इस पर भी यदि "पुराणो मे ऐसे कथन है जो ब्राह्मणिक वाङ्मय के कथनो से भिन्न है" ( पृ० ४३ ), तो ऐसा मतभेद तो "ब्राह्मणिक" वाङ्मय के ग्रन्थो मे परस्पर भी है, और उस का कारण यह है कि प्राचीन आर्यो मे विचार की तथा सम्मति-प्रकाशन की पूरी स्वतन्त्रता और गहरा विचारने की आदत थी। श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वच- प्रमाणम्।

प्राचीन भारत मे ऐतिहासिक घटनाओं का या प्राचीन भारतीयो में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था, इन कथनों का प्रत्याख्यान जब हो चुका, तब ब्राह्मणो या "ब्राह्मणिक" वाङ्मय मे ( ध्यान रखिये, त्रयी या "ब्राह्मणिक" वाङ्मय केवल ब्राह्मणो का न था) ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव कहना ऐसा ही है जैसा यह कहना कि आधुनिक रसायनशास्त्रियों मे ऐतिहासिक ज्ञान का अभाव है। विभिन्न विषयो के विशेषज्ञो को दूसरे विषयों का पूरा परिचय न होना स्वाभाविक है, और उस के कारणों को खोजना अनावश्यक।

ऐतिहासिक अनुश्रुति के जो दो विभाग पार्जीटर ने किये है, उन्हे भी ब्राह्मणिक और क्षत्रिय न कह कर धर्मोपदेशपरक और इतिहासपरक कहना ठीक होता, क्योंकि उन मे भी हमे किसी जात या श्रेणी का सम्बन्ध नही दीखता। ब्राह्मणो ने ऐतिहासिक अनुश्रुति मे वे बाते भी रहने दी जो उन के स्वार्थों के विरुद्ध थी, इस से यह परिणाम निकाला गया है कि वे अन्धे थे और ऐतिहासिक बुद्धि से वञ्चित। पर क्या इसी युक्ति से उन की सत्यपरायणता सिद्ध नही होती? उन्हो ने प्राचीन परम्परागत वस्तु मे नई बाते टाँक दी, किन्तु पुराने दाय मे परिवर्तन करना उन्हे पाप दीखा, चाहे वह परिवर्तन उन के स्वार्थ का साधक ही होता।

यह कहना कि ब्राह्मणो ने जान बूझ कर ऐतिहासिक सचाइयो को छिपाया, मुझे युक्तियुक्त नही प्रतीत होता। कुछ लोग ऐतिहासिक सचाइयो को हर देश और काल मे छिपाते है, प्राचीन भारत मे भी छिपाते होगे। पर ब्राह्मणो के विषय मे विशेष रूप से वैसा क्यो कहा जाय? पार्जीटर का यह विचार दीखता है कि ब्राह्मण उस समय एक जात या एक श्रेणी थी, उस श्रेणी के कुछ सामूहिक स्वार्थ थे, और वे स्वार्थ ऐतिहासिक सचाइयो को छिपाने से पुष्ट होते थे। किन्तु ब्राह्मण एक जात न थी, वह केवल विद्वानो विचारको और पुरोहितो की श्रेणी थी। बेशक श्रेणियों के भी स्वार्थ होते है, पर ब्राह्मण-श्रेणी मे इतनी विचार-स्वतन्त्रता और इतना मतभेद भी रहता था कि एक बात के छिपाने से श्रेणी के एक अश का लाभ हो तो दूसरे की हानि हो सकती थी। फिर कुछ सचाइयो के छिपाने से ब्राह्मणो को लाभ हो सकता था, तो कुछ को छिपाने से क्षत्रियो को भी। ऐसी क्या बात थी कि ब्राह्मणो का स्वार्थ सदा सभी ऐतिहासिक सचाइयो को छिपाने से ही सिद्ध हो, और क्षत्रियो का सदा उन्हे न छिपाने से?

पार्जीटर का कहना है कि त्रयी-वाङ्मय ने वेदो के संकलनकर्ता का नाम जान बूझ कर छिपाया है, "ऋग्वेद के सकलन की बात और उस को शृंखलाबद्ध करने वाले महर्षि के विषय मे चुप्पी साधने का एक षड्यन्त्र

दीखता है। कारण स्पष्ट है। ब्राह्मणों ने यह वाद चलाया कि वेद सनातन काल से चला आया है, इस लिए यह कहना कि किसी ने उस का संकलन या विभाग किया था उन के वाद की जड पर कुल्हाड़ा चलाना था . .” (पृ० १० )। किन्तु कौन कहता है कि ब्राह्मणो ने वेद ( त्रयी या श्रुति ) के सनातन होने का वाद चलाया ? कुछ ब्राह्मणो ने अवश्य चलाया, किन्तु यास्क से पहले का वह कौत्स मुनि क्या ब्राह्मण न था जिस को यह घोषणा थी कि अनर्थका हि मन्त्रा[1]—मन्त्र निरर्थक है ? वेद को सनातन कहने का जिम्मा क्या केवल ब्राह्मणों पर है ? और यदि है तो केवल इसी लिए न कि वे लोग विचार के नेता थे ? वेदविरोधी विचारो के नेताओ मे भी तो वही थे। और क्या वेद के सनातन होने के विषय मे सब ब्राह्मणों का एक ही अभिप्राय रहा है ? वेद सनातन है का क्या अर्थ समझा जाता है ? कोई उस के अथ मात्र को सनातन मानते है, तो कोई उस के शब्दो को भी, और इन विषयो पर वे शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से विचार करते है, भले हो उस विचार मे अन्ध विश्वास मिले हो, पर स्वार्थ को उस विचार का मूल प्रेरक कहना निपट अन्याय है। और वेद के सनातन होने की बात मे, और वेद-व्यास द्वारा उस का विभाग होने मे विरोध कहाँ है ? कुल्हाड़ा चलने की नौबत कैसे आती है ? यदि वेद के शब्द और उन का क्रम भी सनातन है, तो भी व्यास ने उस का ऋक् यजु. साम मे और ऋषियो तथा देवताओ के अनुसार सूक्तो मे विभाग कर दिया, इस मे विरोध कैसे है ? और अन्त मे, सनातन कहते किसे हैं—क्या सुदूर पूर्वजो की वस्तु को नही ? यास्क से पहले के जो ऐतिहासिका[2] “सनातन” वेद के अन्दर इतिहास की गाथाये देखते थे, उन्हे वेद का इतिहास बतलाने मे क्या सकोच था ? त्रयी-वाङ्मय ने व्यास का उल्लेख नही किया, इस का

---

१. निरुक्त, १,१५,२।

२. निरुक्त २, १६, २; १२, १, ८, १२, १०, १।

कारण नि सन्देह स्पष्ट है। और वह यह कि व्यास एक अत्यन्त सुपरिचित व्यक्ति था, उस के उल्लेख की आवश्यकता न थी, और उस का उल्लेख करना वेद के एक दूसरे विभाग—इतिहास—का काम था।

इस कथन मे कि "ब्राह्मणो ने वास्तविक राजाओ, ऋषियो और अन्य व्यक्तियो को उन्ही नामो के काल्पनिक ( mythological ) व्यक्तियो से गोलमाल कर दिया' (पृ० ६६), फिर ब्राह्मण श्रेणी पर अकारण दोषारोपण है। यह सच है कि एक नाम के काल्पनिक और वास्तविक व्यक्तियो मे गोलमाल किया गया है, पर क्या इस के दोषी ब्राह्मण ही हैं? प्राचीन नीतिकारो के नामो का दृष्टान्त लीजिये। कौटिल्य ने अपने से पहले के सब नीतिकारो का इस प्रकार के नामो से एकवचन मे इस ढग से उल्लेख किया है जिस से वे ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते है, बाद मे नामो की समानता या समानार्थकता के कारण काल्पनिक इन्द्र आदि देवता ही प्राचीन नीतिवक्ता समझे जाने लगे[1]। लेकिन उन को वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति कहने वाला कौटिल्य एक ब्राह्मण ही है।

एक विशेष समय मे आ कर हिन्दुओ मे ऐतिहासिक बुद्धि क्षीण और मन्द हुई है जरूर, उस समय से इतिहास और कहानी का भेद भूल कर पुराने इतिहास मे गोलमाल भी होने लगा, और इतिहास-पुराण अन्य सब विषयो की तरह पारलौकिक धर्म की सेवा मे घसीटा गया, किन्तु उस का दोष यदि है तो अकेले ब्राह्मणो पर नही, सारी जाति पर है। विशेष कर मध्य काल मे जब हमारे जातीय जीवन की विकास-धारा का प्रवाह बन्द हो गया, पारलौकिक जीवन का महत्व बेतरह बढ़ गया, और सब लौकिक विषय तुच्छ समझे जा कर उस के गुलाम बना दिये गये, तभी इतिहास का भी उद्देश धर्मोपदेश के सिवा कुछ नही रहा, और धर्मोपदेशपरक

---

१. दे० रा० भण्डारकर—कार्माइकेल लेक्चर्स १९१८, ३ ए, विशेषतः पृ० ९४ टिप्पणी।

कहानियाँ प्राचीन इतिहासो मे भर दी गईं। किन्तु यह विपरिपाक समूची जाति के जीवन का था, केवल ब्राह्मणो का नही। और समूची जाति का यह रोग विशेष काल और अवस्थाओ की उपज था। सदा से न तो आर्य जाति मे और न ब्राह्मण श्रेणी मे ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव रहा है। भागवत पुराण का जो दृष्टान्त पार्जीटर ने दिया है, वैसा ही एक और दृष्टान्त उस रोग के स्वरूप को ठीक प्रकट करता है, और यह भी सूचित करता है कि वह रोग केवल ब्राह्मणो को न था। मुस्लिम ज़माने में लोदीवशावतस अहमद नृपति के बेटे लाडखान के लिए एक हिन्दू लेखक ने अनंगरग नामी कामशास्त्र की पुस्तक लिखी। व्यावहारिक उपयोग के विषय मे उस ने भले ही कुछ नई बाते जोडीं, पर विभिन्न जातियो और देशो की स्त्रियो के वर्णन तक मे उस ने तीसरी शताब्दी ई० के वात्स्यायन के कामसूत्र के वर्णन को ज्यो का त्यो रख दिया है, यद्यपि वात्स्यायन-कालीन देशों और राज्यों का नाम-निशान भी तब भूगोल के नक़्शे से मिट चुका था। विचार-शैली तक के पथरा जाने का वह एक बढिया नमूना है।

## ※ ५. आर्यों का भारत से उत्तरपच्छिम फैलना

आर्य लोग भारतवर्ष मे उत्तरपच्छिम से आये, यह प्रचलित विश्वास है। अनुश्रुति का परिणाम इस से उलटा है; किन्तु प्रचलित विश्वास के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है यह कह चुके है। पार्जीटर ने इस प्रश्न पर पूरी तरह विचार किया है ( प्रा० अ०, पृ० २९७—३०२ )। दे० नीचे ※ १२।

किन्तु यदि ईरान मे आर्य लोग भारत से गये तो क्या ईरानी अनुश्रुति मे अपने इन आरम्भिक आर्यावर्त्तीय पूर्वजो की कोई स्मृति नहीं है? पुरूरवा से ययाति तक और उस के बाद अनु और द्रुह्यु के वश मे करीब २०-२१ पीढ़ी तक के व्यक्ति, इस दशा मे, भारतीय और ईरानी आर्यो के समान पूर्वज कहलाने चाहिएँ। ध्यान रहे कि उस काल तक भारतीय आर्यों में वैदिक धर्म और सस्कृति का पूरा विकास नहीं हुआ था; अनुश्रुति के

अनुसार वह प्राग्वैदिक काल था । इस दृष्टि से पारसी और पौराणिक अनुश्रुति का तुलनात्मक अध्ययन करना अभीष्ट है।

## * ६. क्या मानव द्राविड थे ?

भारतवर्ष के प्रारम्भिक राज्य मानव और ऐळ दो वंशो या जातियों क थे। कहानी के अनुसार इक्ष्वाकु आदि मनु वैवस्वत के बेटे थे, और पुरूरवा ऐल भी मनु का दोहता। उस कहानी के दोनो अश स्पष्टत. कल्पित हैं। पहला अश, कि इक्ष्वाकु शर्याति आदि मनु के नौ या दस बेटे थे, इस कारण अविश्वसनीय है कि एक पीढी मे उस युग मे एक राज्य अयोध्या से बिहार, पञ्जाब और गुजरात तक न फैल सकता था । तो भी उस कहानी से यह सूचित होता है कि इतिहास का जब आरम्भ हुआ तब उत्तर भारत मे कई राज्य थे, और वे सब के सब एक ही मानव वश या जाति के थे। उस कहानी का दूसरा अश जो पुरूरवा को मनु से जोड़ता है, स्पष्ट ही कल्पित है। ऐळ वश एक पृथक् वंश प्रतीत होता है, जो नवागन्तुक है, उस का केवल एक राज्य है जहाँ से वह बाद मे फैलता है। मानवो और ऐळो के सिवाय सौद्युम्न नाम के एक तीसरे वश या जाति का भी उल्लेख है, जिस का निवास-स्थान पूर्वी देश बतलाया गया है। वह कहानी तो सौद्युम्न वश को भी मनु से जोड़ देती है। पार्जीटर का कहना है कि मानव, ऐळ और सौद्युम्न क्रमशः द्राविड, आर्य और मुड जातियाँ है। मुझे मानवो के द्राविड होने की बात ठीक नहीं लगती।

इस में सन्देह नहीं कि मानवो और ऐळो मे आरम्भ मे कुछ भेद अवश्य है, और मानव पहले बसे हुए जान पडते है । तो भी मानवो को द्राविड मानने का कोई सतोषजनक प्रमाण नही है। दक्षिण के राक्षसों से मानवों का लगातार विरोध दीखता है, दाक्षिणात्य जातियो से मानवो का पहले से कोई सम्बन्ध नहीं है। पार्जीटर ने भाषा-सम्बन्धी युक्ति दी है ।

अवध की भाषा मध्यदेश की भाषा से भिन्न और मिश्रित है। ठीक, अवध और बिहार की भाषा में मिश्रण है, पर क्या वह मिश्रण द्राविड है ? जब तक यह न सिद्ध हो, केवल मिश्रण की बात से कुछ सिद्ध नहीं होता। वह मिश्रण क्या एक पहली आर्य बोली का नहीं हो सकता ?

भाषा-विषयक उक्त अवस्था की व्याख्या करने के लिए डा० हार्नली ने यह वाद चलाया था कि भारत में आर्यों का प्रवाह दो बार आया। पहला प्रवाह जब वायव्य सीमान्त से मध्यदेश तक जा पहुँचा, तब दूसरा आया जिस ने पहले आक्रान्ताओं को पूरब, पच्छिम और दक्खिन ढकेल दिया[1]। पार्जीटर कहते हैं यह क्लिष्ट कल्पना है। सो ठीक है। किन्तु इस कल्पना में वायव्य सीमान्त से आने की बात ही क्लिष्टता का कारण है, क्योंकि यदि आर्य प्रवाह उधर से आता तो सीमान्त पर शुद्ध आर्य भाषा होती। किन्तु दो बार प्रवाह मानने में तो कोई क्लिष्टता नहीं है। मानव और ऐळ दोनों पृथक् पृथक् आर्य जातियाँ थीं, जिन में से एक पहले और दूसरी पीछे भारत में आई।

दूसरे, मध्यदेश की भाषा को जो हम शुद्ध आर्य कहते हैं, उस का वह शुद्ध-आर्य-पन किस बात में है ? इसी में न कि उस के अधिकतम शब्दों का मूल ऋग्वैदिक भाषा में मिलता है ? पर ऋग्वेद के अधिकांश की रचना उत्तर पञ्चाल के ऐळ राज्य में हुई थी, और इस लिए उस देश में आज भी उसी भाषा की उत्तराधिकारिणी का होना स्वाभाविक है। किन्तु ऋचाओं की ही भाषा शुद्ध आर्य थी, और उस के पूरब प्राचीन अवध की जो भाषा थी वह मिश्रित थी—क्या ये हमारी अपनी सुविधा के लिए मानी हुई परिभाषायें मात्र नहीं हैं ? क्या शुद्ध आर्य का अर्थ केवल टकसाली नहीं है ? और क्या अवधी का मिश्रित होना वस्तुतः किसी जातीय मिश्रण को सूचित करता

---

१. कम्पैरेटिव ग्रामर आव दि गौडियन लैंग्वेजेज़ ( गौडीय भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण ), १८८०, भूमिका पृ० ३१।

है ? या उसे हम ने मिश्रित सज्ञा केवल इस कारण दे दी है कि प्राचीन अवध की बोली मे ऋग्वेद जैसा कोई ग्रन्थ नही लिखा गया जो उस बोली को टकसाली बना देता और दूसरी बोलियो को उस की अपेक्षा मिश्रित ?

यदि अवधी का मिश्रितपन किसी जातीय मिश्रण को भी सूचित करता हो तो भी उस मिश्रण को स्पष्टत॰ द्राविड सिद्ध किये बिना मानवो का द्राविड होना सिद्ध नहीं होता। बिहारी भाषा मे आजकल के भाषा-विज्ञानियो ने मुड प्रभाव टटोला है। अवधी और बिहारी मे कई अशो मे समानता है। जहाँ तक मुझे मालूम है, अवधी मे विशेष द्राविड प्रभाव किसी नैरुक्त ने सिद्ध नहीं किया।

## * ७. अनुश्रुतिगम्य इतिहास की अनार्य जातियाँ; लंका के राक्षसों और वानरों के आधुनिक वंशज

पौराणिक अनुश्रुति मे मानवो और ऐळो का अर्थात् आर्यों का वृत्तान्त है, किन्तु उन के साथ सम्पर्क मे आने वाली अनेक अनार्य जातियो के भी उस मे उल्लेख मिलते हैं। अपने पूर्वजो को देवता बना देने की जहाँ मनुष्यो मे स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वहाँ उन से दूसरो या उन के शत्रुओ को भूत प्रेत तक बना देने की भी है। यह कोई प्राचीन आर्यों का ही विशेष दोष न था। पौराणिक अनुश्रुति मे जिन अनार्य जातियो का उल्लेख मिलता है, उन मे मे कइयो के नाम उक्त कारण से इतने कल्पित कथामय (mythical) हो गये हैं कि उन के विषय मे पर्याप्त श्रम और खोज के बिना यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वे ऐतिहासिक मनुष्यजातियाँ थी या कल्पित जीवयोनियाँ। पार्जीटर ने आर्यों का इतिहास टटोलते हुए प्रसंगवश उन के विषय मे भी लिखा है, परन्तु उन पर विशेष दृष्टि रख कर उन्ही के इतिहास के लिए अनुश्रुति की स्वतन्त्र शृखला बद्ध खोज करने की भी आवश्यकता है। पार्जीटर ने दिखाया है कि दानव, राक्षस, नाग, वानर आदि प्राचीन मनुष्य-जातियाँ थीं। किन्तु इन मे से प्रत्येक कौन थी, और उस के इतिहास का

मोटा ढाँचा कुछ बन सकता है कि नहीं, यह आगामी खोज के लिए एक अच्छा विषय होगा। उदाहरण के लिए, यह प्रतीत होता है कि नागो मे कर्कोटक इत्यादि बहुत सी उपजातियाँ थीं; नागो के एक बड़े समूह का स्थान वायव्य सीमाप्रान्त था ( जनमेजय पारीक्षित् का वृत्तान्त, § ७४ ), और एक दूसरे समूह का नर्मदा के दक्खिन का प्रदेश ( पुरुकुत्स का वृत्तान्त, प्रा० अ० पृ० २६२ )। दानवो का भी एक मनुष्यजाति के रूप मे पार्जीटर ने उल्लेख किया है, पर जब तक उन के प्रतिद्वन्द्वी देवो के विषय मे वही बात न कही जा सके, उन की ऐतिहासिक सत्ता निश्चित नही हो पाती। अथवा क्या देव आर्यों के पूर्वज ही थे ?

राक्षसो के भी अनेक भेद थे, शार्यात राज्य को नष्ट करने वाले पुण्य-जन राक्षस ( § ३६ ) उन मे से एक थे। राक्षस यदि नरभक्षक होने के कारण राक्षस कहलाते हो, तो यह हो सकता है कि विभिन्न नस्लो की अनेक जातियो को अनुश्रुति मे राक्षस कहा गया हो, और उन मे परस्पर कोई एकता या समानता न हो। जब राक्षसों को सभ्य बतलाया जाता है तब यह सन्देह होता है कि क्या वे वास्तव मे नरभक्षक थे। किन्तु यह बहुत सम्भव है कि कुछ जातियो के साथ आर्यों का जब पहले-पहल संसर्ग हुआ तब नरभक्षक होने के कारण वे राक्षस कहलाईं। बाद में आर्यों के ससर्ग से वे सभ्य हो गईं, पर लडाई के समय उन का पुराना नाम राक्षस फिर प्रत्युक्त होने लगता, और जातीय विद्वेष के कारण इन सभ्य "राक्षसों" का नरभक्षक रूप मे फिर भी वर्णन किया जाता।

रामचन्द्र के विरोधी दशग्रीव रावण की लंका सिहल-द्वीप मे नहीं प्रत्युत विन्ध्याटवी मे थी, ऐसा एक मत कुछ समय से उठ खड़ा हुआ है। दक्खिनी लंका शब्द ठीक द्वीप का पर्याय है, और उस का अर्थ दियरा या टापू और दोआब दोनों है। इस के अलावा टीले को भी लंका कहते हैं। रा० ब० हीरालाल के मत से अमरकण्टक की चोटी रावण की लंका थी, और उस की

तलैटी का विस्तीर्ण दलदल और बडा जलाशय ही वह सागर था जिस पर राम ने सेतु बाँधा था। किष्किन्धा बिलासपुर जिले की केदा नामक बस्ती है। गोदावरी-तट की पञ्चवटी चित्रकूट और अमरकण्टक के बीच कैसे पड़ती थी, इस की वे ठीक व्याख्या नही कर सकते। किन्तु उन का कहना है कि द्राविडी जगली लोगो की बोली मे गोदारि शब्द साधारणतया नदी का वाचक है, और रामायण की कथा के अनुसार पञ्चवटी चित्रकूट से केवल ७८ मील दक्खिन थी। उन के मत मे आधुनिक गोड दशग्रीव के राक्षसो के वशज है, एव आधुनिक ओराँव प्राचीन वानरो के। ऋक्ष शायद बस्तर के शबर हो। ( दे०, हीरालाल—अवधी-हिन्दी-प्रान्त में रामरावण-युद्ध, कोशोत्सव-स्मारक संग्रह, ना० प्र० स० )।

इस मत मे मुझे बहुत कुछ सचाई दीखती है। दशग्रीव के राक्षस गोडों के पूर्वज थे, इस के पक्ष मे बहुत से अच्छे प्रमाण दिये गये हैं। किष्किन्धा विन्ध्यमेखला मे ही कहीं थी, यह वायुपुराण के भारत-वर्णन से भी प्रतीत होता है, जहाँ किष्किन्धकों को विन्ध्यपृष्ठनिवासिन मे गिना है ( ४५, १३१-१३४ )। किन्तु ओराँवो को जब वानरो का वशज कहा जाता है, तब यह भूलना न चाहिए कि वे अपने विद्यमान प्रदेश ( झाडखण्ड ) में मुस्लिम युग मे ही आये हैं।

किन्तु यदि दशग्रीव के राक्षसो और वानरों की उक्त शिनाख्त न भी मानी जाय, और सामान्य रूप से यह कहा जाय कि वे दक्खिन की कोई जातियाँ थीं, तो इस का यह अर्थ हर्गिज़ नही कि वे आधुनिक तमाम द्राविड-भाषियों की पूर्वज ही थी। इस समय के द्राविडभाषियो मे बहुत कुछ आर्य अंश मिल चुका है, और द्राविड भाषाओ का परिष्कृत रूप तथा प्राचीनतम वाङ्मय वह अश मिल चुकने के बाद ही प्रारम्भ हुआ था। द्राविड, द्रामिल और तामिल नाम उस मिश्रण और परिष्कृति के बाद के हैं। इसी प्रकार आन्ध्र नाम भी। आर्यों के दक्खिन-प्रवेश से पहले जो द्राविड—अर्थात् बाद में आर्यों

के मिश्रण और परिष्कृति के बाद जो द्राविड कहलाये उन के मूल पूर्वज—वहाँ के निवासी थे, उन सब के राक्षस या वानर कहे जाने का कोई प्रमाण नहीं है। ये नाम द्राविड वंश या मुंड वंश की विशेष जातियो के ही थे। उन प्राचीन निवासियों के एक बहुत बड़े अश ने उत्कृष्ट वाङ्मय और सभ्यता का विकास कर लिया है, जिस वाङ्मय और सभ्यता मे आर्य अश पूरी तरह घुला-मिला हुआ है; अर्थात् द्राविड भाषा साहित्य और सभ्यता के विकास मे आर्य मुख्य सहायक हुए हैं। बाकी कुछ छोटी जंगली जातियों और उन की आरम्भिक बोलियो का बहुत सा अंश नष्ट और लुप्त हो चुका है, और कुछ आर्यों और सभ्य द्राविडो मे तथा आर्य-द्राविड भाषाओ मे विलीन हो चुका है। ऐसी दशा में राक्षसो और वानरो को तमाम आधुनिक द्राविड-भाषियो का पूर्वज कह देना बड़ी दायित्व-हीन बात है।

टोटम-मार्ग भारतवर्ष की जंगली जातियो मे अभी तक है, और इस लिए टोटम का कोई भारतीय नाम भी मिलना चाहिए। उन जातियो की समाज-रचना का प्रत्यक्ष अध्ययन भारतीय समाज-शास्त्र के विकास के लिए बहुत उपयोगी होगा। ज० ए० सो० ब०, जि० ७३ (१९०४) खंड ३, नं० ३, पृ० ३९ प्र मे श्रीयुत पेरेरा के लेख टोटमिज्म अमग दि खोध्स् (खोंधो मे टोटम-मार्ग) मे अनेक टोटमो के उस जत्थे का नाम जिस के अन्दर विवाह नहीं हो सकता, गोची दिया है। देवता के लिये पेनु शब्द है और टोटम भी एक पेनु है, किन्तु टोटम का वाची ख़ास शब्द मुझे उस लेख मे नहीं मिला।

## * ८. आर्य राज्यों पर अटवियों का प्रभाव

मनुस्मृति ७, ६९ कुल्लूक भट्ट की टीका से पता चलता है कि राजधानियाँ और नगरियाँ बसाते समय आर्यों को पड़ोसी अटवियों की स्थिति का ध्यान रखना होता था। आर्य राज्यों के राजनैतिक जीवन पर उन का अन्य अनेक प्रकार से भी प्रभाव होता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र १, १२ (पृ०

२०, प० १४ ) में आटविक प्रजा या सामन्तों मे गुप्तचर भेजने का उल्लेख है, स्पष्ट है कि राज्य को अपनी रक्षा के लिए आटविक सामन्तो या आटविक प्रजा पर विशेष आँख रखनी पडती थी। १, १३ ( पृ० २३ प० १०, १४ ) में फिर उन प्रभावशाली सामन्तों की, जो आटविको को दबा रखने का काम देते हैं, तुष्टि या अतुष्टि का गुप्तचरो द्वारा पता लेने का आदेश है, और यदि वे असन्तुष्ट हों, साम दान से काबू न आँय, तो उन्हे नष्ट करने का एक उपाय आटविकों से भिडा देना भी बतलाया है। १, १६ ( पृ० ३०, प० ८ ) मे फिर दूत के लिए यह उपदेश है कि दूसरे राज्य मे जाय तो वहाँ की छावनियों आदि पर निगाह रक्खे, वहाँ की "अटवी, अन्तपाल और पुर तथा राष्ट्र के मुखियो से ससर्ग मे आवे।" १, १८ मे उस राजपुत्र के लिए जिसे राजा विमाता या उस के दूसरे भाइयो से स्नेह होने के कारण व्यर्थ लाञ्छित करता हो, यह शिक्षा है कि सच्चे उदार दृढ सामन्त की शरण ले, और वहाँ रह कर प्रवीर-पुरुष-कन्या-सम्बन्धम् अटवी-सम्बन्ध वा कुर्यात्। इस प्रकार आर्यों की आन्तरिक राजनीति पर भी अटवियो का प्रभाव होता था, और कौटिलीय के उपर्युक्त प्रमाणो से अन्दाज़ होता है कि साम्राज्यकामी राज्यों की साम्राजिक नीति मे अटवियो मे नीतिपूर्ण बर्त्ताव का एक विशेष अश था, और आर्य राज्य जब एक दूसरे के विरुद्ध भी उन का प्रयोग करने लगे तभी साम्राज्य स्थापित कर सके। मगध मे ही एक स्थायी साम्राज्य क्यो स्थापित हुआ, उस का कारण शायद मगध के पडोसी आटविकों की स्थिति रही हो। मौर्य युग और उस के पीछे तक जब अटवियो का आर्य राजनीति पर इतना प्रभाव था, तब आरम्भिक काल मे तो बहुत ही रहा होगा।

## ९. प्राचीन आर्य धर्म तत्वज्ञान और सस्कृति

इस खण्ड का राजनैतिक इतिहास का अंश तो बहुत कुछ पार्जीटर के ग्रन्थ पर निर्भर है, किन्तु प्राचीन आर्य धर्म और सस्कृति के सम्बन्ध मे उन का अनुसरण नहीं किया जा सका। प्रत्युत उन के कई एक विचार ऐसे है जिन की आलोचना करना आवश्यक है।

## अ. 'ब्राह्मनिज़्म' एक भ्रमजनक शब्द

प्राचीन भारतीय ब्राह्मणो के धर्म और सस्कृति-विषयक विचार और व्यवहार को पाश्चात्य विद्वान् ब्राह्मनिज़्म कहते हैं। ब्राह्मनिज्म का एक शब्द मे हिन्दो अनुवाद करना अत्यन्त कठिन है। यह अचरज की बात है कि एक भारतीय वस्तु के लिए भारतीय भाषाओ मे कोई नाम न मिल सके। किन्तु इस से यह सूचित होता है कि ब्राह्मनिज्म कोई असलीयत—वास्तविक सत्ता—नही है, वह केवल पाश्चात्य मस्तिष्क की कल्पना है। ब्राह्मनिज्म का निकटतम हिन्दी अनुवाद हम प्राचीन आर्य सस्कृति या प्राचीन भारतीय सस्कृति कर सकते है। किन्तु क्या वह संस्कृति केवल ब्राह्मणो की थी? दूसरे, प्राचीन आर्य संस्कृति मे बौद्ध विचार भी सम्मिलित हैं, बुद्ध भी अपने मार्ग को आर्य अष्टागिक मार्ग कहते हैं। सच कहे तो उन्ही के मार्ग को प्राचीन भारत के अन्य धर्म-मार्गो से अलग करने के लिए ब्राह्मनिज्म शब्द की रचना की गई है। ब्राह्मनिज्म और बुधिज्म शब्दो से सूचित होता है मानो बुधिज़्म मे ब्राह्मणो का भाग न था, और मानो अन्य सब मार्ग ब्राह्मणो ही के थे। ये दोनो ही बाते गलत है। बौद्ध मार्ग और बौद्ध दर्शन मे सारीपुत्र, मौद्गलायन, महा-कश्यप और अन्य अनेक ब्राह्मण विद्वानो का बडा अंश है; स्वय बुद्ध के पास उन के समकालीन विद्वान् ब्राह्मण पोराणान ब्राह्मणान ब्राह्मणधर्म[1] समझने क लिए जाते थे। दूसरी तरफ वेद, उपनिषद्, वेदाङ्ग आदि की पद्धति का सारा श्रेय 'ब्राह्मणो' को नही है। असल बात यह है कि बौद्ध मार्ग मे और समूह रूप से अन्य सब प्राचीन आर्य मार्गों मे भेद करने का विचार, जिस के कारण अन्य सब मार्गों का एक नाम रखने की आवश्यकता होती है, मूलतः ग़लत है। बौद्ध मार्ग प्राचीन आर्य संस्कृति के अनेक मार्गों में से एक है, और उसे सब के मुकाबले में खड़ा करना ठीक नहीं है।

---

१. सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त ( १६ ) की वत्थुगाथा।

जब हम यह देखते है कि ब्राह्मण उन मार्गों के भी नेता थे जिन्हे ब्राह्मणो के स्वार्थों और ढकोसलो का विशेष रूप मे विरोधी कहा जाता है, तब प्राचीन ब्राह्मणो के सामूहिक स्वार्थों की कल्पना जड़ से हिल जाती है, और तथाकथित ब्राह्मनिज्म की प्रत्येक बात की बुनियाद मे ब्राह्मणो की स्वार्थ-बुद्धि का प्रभाव ढूँढना भी गलत ठहरता है। कहना पडता है कि वे ब्राह्मण उग्र विचारकों की एक श्रेणी थे, और अपने विचारो की स्वतन्त्रता के लिए विख्यात थे। इस मौलिक दृष्टिभेद को स्पष्ट कर के हम पार्जीटर के 'ब्राह्मनिज्म' विषयक विचारो की आलोचना करेंगे।

## इ. क्या 'ब्राह्मनिज़्म्' आरम्भ में अनार्य थी ?

पार्जीटर कहते हैं कि 'ब्राह्मनिज्म्' आरम्भ मे एक अनार्य वस्तु थी, आर्यों ने उसे पीछे अपनाया। अनुश्रुति से वे दिखलाते हैं कि ब्राह्मणो का प्रभाव आरम्भ मे मानवो पर और दैत्यों-दानवो पर ही था, और ऐळ राजा तो कुछ अंश मे ब्राह्मणो के विरोधी भी थे। मानवो के पुरोहित वसिष्ठ थे, उशना शुक्र दानवो के पुरोहित थे, ऐळो के कोई पुरोहित न थे, उलटा पुरूरवा और नहुष द्वारा ब्राह्मणो का अपमान होना प्रसिद्ध है।

किन्तु मानवो को अनार्य या द्राविड मान लेना असम्भव है, और दानवो की ऐतिहासिकता के विषय मे तसल्ली करना भी कठिन है। विशेष कर उशना शुक्र की कहानी बहुत कुछ कल्पित कथामय है। ऐळो और ब्राह्मणों के विरोध के केवल दो दृष्टान्त दिये गये है, दूसरी तरफ़ हम ब्राह्मणो और आरम्भिक ऐळों मे अनेक विवाह सम्बन्ध होते देखते है (तीन दृष्टान्त स्वयं पार्जीटर ने दिये हैं—नहुष की लडकी रुचि का अप्रावान् ऋषि से, ययाति का उशना शुक्र की लडकी देवयानी से, और प्रभाकर आत्रेय का राजा रौद्राश्व की लड़की से, पृ० ३०४-५), और ऐळो का भी दानवो के साथ वैसा ही सम्बन्ध देखते हैं जैसा ब्राह्मणो का (राजा आयु ने स्वर्भानु दानव की कन्या से विवाह किया था, और ययाति ने वृषपर्वा दानव की कन्या शर्मिष्ठा से)। फलतः पार्जीटर के कथन का आधार जिन स्थापनाओ पर है, वे सब स्वय

ठीक नही है। अधिक से अधिक उन के कथन मे शायद इतना अंश सत्य हो कि 'ब्राह्मनिज़्म्' का प्रभाव आरम्भ मे ऐळो की अपेक्षा मानवों पर अधिक था; पर इस मे भी मुझे सन्देह है।

पार्जीटर ने आरम्भिक 'ब्राह्मनिज़्म्' के स्वरूप पर भी विचार किया है। उन का कहना है, इन आरम्भिक ब्राह्मणो की मुख्य विशेषता तपस्या अर्थात् 'austerities ( शारीरिक यातनाये )' थी, वे समझते थे उस से अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जिन से वे इस लोक और पर लोक को वश मे कर सकते है। "उन की प्रसिद्धि का निर्भर उन के इस दावे पर तथा लोगो के इस विश्वास पर था कि उन में परोक्ष शक्तियाँ थीं। फलतः यह जान पड़ता है कि आरम्भिक ब्राह्मण मुख्यतः पुरोहित न थे, प्रत्युत अलौकिक विषयो मे कुशल अभिचार-कर्म के आचार्य ( masters of magico-religious force ), जादू-टोने के पण्डित और वैद्य लोग थे" ( पृ० ३०८ )।

तप का ठीक यही अर्थ था कि कुछ और, इस प्रश्न को अलग रखते हुए इतनी बात स्वीकार करनी चाहिए कि आरम्भिक 'ब्राह्मनिज़्म्' मे तप मुख्य वस्तु थी। किन्तु वह तप का मार्ग भी केवल ब्राह्मणों का न था, आर ऐळ लोग उस 'ब्राह्मनिज़्म्' से वञ्चित या उस के विरोधी न थे। अनुश्रुति मे जो सब से पुराने तपस्वी प्रसिद्ध हैं, उन में राजा ययाति के बड़े भाई यति का ऊँचा स्थान है।

आगे पार्जीटर कहते हैं कि यज्ञो का उदय पहले-पहल ऐळों मे हुआ, और भारत वश के समय उन का विशेष विस्तार हुआ। 'ब्राह्मनिज़्म्' का मुख्य चिन्ह तब यज्ञ हो गया, और तभी मन्त्र-रचना का भी प्रचार होने लगा। आरम्भिक मन्त्रकर्त्ता मुख्यतः ऐळ ही थे। तब मानवो के ब्राह्मण भी यज्ञो को अपनाने लगे, तो भी कुछ समय तक वे ऐळो की सत्ता को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। राजा दशरथ के यज्ञ में बिलकुल पड़ोस के ऐळ राज्यों को निमन्त्रण नहीं दिया गया, जब कि विदेह और वैशाली के तथा

सुदूर पञ्जाब के राज्य न्यौते गये, और मध्यदेश के ब्राह्मणो के स्थान मे सुदूर अग देश से गँवार ऋष्यश्रृग को पुरोहिताई के लिए बुलाया गया था (पृ० ३१४)। इस बात को पार्जीटर ने दो बार बलपूर्वक दोहराया है, पर समझ नही आता इस से क्या सिद्ध होता है। यदि अयोध्या और ऐळो मे विरोध सिद्ध करना अभीष्ट है तो सुदूर पञ्जाब के सभी राज्य ऐळ थे, और अग-राष्ट्र भी ऐळ था। मानव ब्राह्मणो ने ऐळो की यज्ञप्रधान नई 'ब्राह्मनिज्म्' को मुश्किल से अपनाया इस एक बात को छोड कर, उक्त कथन का बाकी अश—अर्थात् यज्ञो का उदय पहले-पहल ऐळो के यहाँ हुआ—ठीक होना सम्भव है, तथा तीसरा अश—कि भारत वश के राज्य मे यज्ञो का और मन्त्ररचना का विशेष विकास हुआ—निश्चय से ठीक है।

## उ. 'ब्राह्मनिज़्म्' क्या थी ?

'ब्राह्मनिज्म्' के स्वरूप को भी दुर्भाग्य से विद्वान् ग्रन्थकार ने ठीक नही समझा। आरम्भ मे वह जादू टोना है, आगे चल कर यज्ञ और पूजा। ज्ञान की आतुर खोज, गहरा विचार, सादा जीवन और उत्कृष्ट चिन्तन, अध्ययन, मनन और निदिध्यासन, प्रकृति की रमणीकता का अनुभव करना, ऊँचे आदर्शो के लिए त्याग और साधना—सो कुछ भी नहीं। पाश्चात्य विचारो के अनुसार जो बौद्ध मार्ग 'ब्राह्मनिज्म्' का विरोधी था, उस के धर्मग्रन्थ भी ब्राह्मणधम्म मे उक्त ऊँची बाते ही देखते थे—

तपेन ब्रह्मचरियेन सयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति एत ब्राह्मणमुत्तमम्॥
अकिंचनमनादान तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्[1]॥

और तप क्या वस्तु है? अध्यापक र्हाईज् डैविड्स ने 'ब्राह्मनिज्म्' पर विचार करते हुए तप का अर्थ किया है—self-mortification और

---

१. सु० नि० ६५५, ६२०।

self-torture ( आत्मनिर्य्यातन ) । पार्जीटर उन की अपेक्षा सचाई के कुछ नज़दीक पहुँचे है, उन का यह कहना ठीक है कि आरम्भिक काल मे तप अपनी सत्ता के नाश के लिए नही, प्रत्युत अमानुषी शक्तियाँ पाने के लिए किया जाता था ( पृ० ६२ )। किन्तु फिर भी वे तप को शारीरिक यातना ( austerities ) से अधिक कुछ नही समझते। क्या युरोपियन मस्तिष्क तप का अर्थ समझ ही नहीं सकता ? दम, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य तप है, पर शारीरिक यातना नही, किसी ऊँचे आदर्श को एकाग्र साधना मे अपने को जुटा कर उस की ख़ातिर विक्षेपकारी प्रलोभनो, सुखों और आराम-आसाइश को त्याग देने को हम तप कहते है, भले ही उस मे कोई शारीरिक यातना न हो।

## § १०. अनुश्रुतिगम्य इतिहास में गण-राज्य

गणो की सत्ता की ओर पार्जीटर ने ध्यान नहीं दिया। किन्तु वैदिक वाङ्मय द्वारा उस काल मे गण-राज्यो की सत्ता सामान्य रूप से सिद्ध हो चुकी है, और अनुश्रुति मे उन के विशेष निर्देश मिलने की बड़ी सम्भावना है। आगामी खोज का यह अत्यन्त उपयोगी मार्ग होगा। उदाहरण के लिए जिस वीतहव्य वंश के प्रजातन्त्र का उल्लेख डा० मजूमदार ने अथर्ववेद के आधार पर किया है[1], उस के देश और समय-स्थिति का ठीक ठीक पता हमे अनुश्रुति से मिल जाता है; वे हैहयो की एक शाखा थे, और काशी के राजा हर्यश्व, सुदेव और दिवोदास दूसरे को प्रयाग और वाराणसी मे उन्हो ने हराया था, तथा अन्त मे प्रतर्दन से हारे थे[2]।

## § ११. औसत पीढ़ी का समय तथा भारत-युद्ध का काल

पार्जीटर ने ज० रा० ए० सो० मे अपने पहले लेखों मे प्रति पीढ़ी १६ बरस की औसत रक्खी थी, पर प्राचीन अनुश्रुति मे उसे १२ बरस

---

१. सा० जी०, पृ० २२०।

२. प्रा० अ०, पृ० १५४, २६६ प्र।

कर दिया। उन्हो ने विभिन्न देशो की अनेक राजवशावलियो मे प्रति पीढी राज्यकाल की औसत निकाली, और उन मे सब से छोटी औसत १२ बरस की आई। दूरवर्त्ती काल मे हम अत्युक्ति से जितना बचे उतना अच्छा, इस ख्याल से उन्हो ने अल्पतम औसत स्वीकार की। किन्तु अधिकता की अत्युक्ति से बचते बचते हम न्यूनता की अत्युक्ति न कर जॉय। प्राचीन वशावलियो मे कुछ न कुछ गौण नाम अवश्य गुम हुए होंगे, और उन्हीं नामो के गुम होने की अधिक सम्भावना है जिन का राज्यकाल छोटा रहा होगा, और फलत जो औसत को छोटा करने के कारण होते। इस के अलावा, बीच मे अराजकता गणराज्य आदि अनेक प्रकार के व्यवधान भी आये हो, सो सम्भव है। इस दशा मे १६ बरस प्रति पीढी की औसत ही अधिक उचित है।

हमारे पुराने ढर्रे के मित्रो को शायद वह औसत अपने पुरखो के लिए बहुत छोटी मालूम हो। उन का ख्याल है कि हमारे प्राचीन आर्य दीर्घजीवी होते थे, इस लिए उन का शासन-काल भी लम्बा गिनना चाहिए। यह ठीक है कि प्राचीन आर्य दीर्घजीवी होते थे, किन्तु इस से काल-गणना मे बडा भेद नहीं पडता। मान लिया कि एक राजा पच्चीस बरस की आयु मे गद्दी पर बैठा, और सौ बरस की आयु मे उस ने देह त्यागा। इस प्रकार उस का शासन ७५ वर्ष का हुआ। यदि छब्बीस बरस की आयु मे उस के पहला पुत्र हुआ हो तो राजा के देहान्त के समय पुत्र की आयु ७४ वर्ष की होगी। वह भी यदि सौ बरस जिये तो उस का राज्य-काल केवल २६ वर्ष का होगा, और इसी प्रकार आगे। फलतः पहले राजा का राज्यकाल ७५ वर्ष हुआ, बाद मे सब का २५, २५। किन्तु पहला राजा २५ बरस की आयु मे गद्दी पर बैठा, इस का यह अर्थ है कि उस का पिता बहुत छोटी आयु मे —शायद गद्दी पर बैठे बिना ही—और उस का दादा भी शायद बिना राज्य किये या बहुत कम समय गद्दी पर बैठ कर मर गया था। फलतः औसत में विशेष भेद नहीं हो सकता।

भारत-युद्ध का काल निश्चय करने मे जायसवाल और पार्जीटर ने भिन्न भिन्न विधियो से काम लिया है। भारत-युद्ध के बाद के राजाओ और राज-वंशो का काल भी अनुश्रुति मे दर्ज है। किन्तु वह कई अंशो मे परस्पर-विरोध, असम्भाव्यता आदि से दूषित है। पार्जीटर ने उक्त राज्य-कालो को एकदम छोड़ दिया है, किन्तु वशावली को स्वीकार कर, महापद्म नन्द से, जो सिकन्दर का समकालीन था, पहले के कुल राजाओं की संख्या ले कर, १८ बरस की औसत मान कर भारत युद्ध के समय का अन्दाज किया है, जो लगभग ९५० ई० पू० बनता है (पृ० २८५-२८७)। जायसवाल ने पौराणिक अनुश्रुति के दीखने वाले विरोधो को दूर कर उस मे सामञ्जस्य लाने का जतन किया, और उस का दिया हुआ जोड़ स्वीकार कर लिया है। अनुश्रुति के अनुसार युद्ध के बाद कृष्ण की मृत्यु तक ३६ बरस युधिष्ठिर ने राज्य किया। युधिष्ठिर के राज्य के अन्त तथा परीक्षित् के अभिषेक से कलि-युग का आरम्भ हुआ, और कलि कुल एक हज़ार बरस का था—युद्ध से महानन्द तक १०१५ बरस होते थे, और उस के उत्तराधिकारी महापद्म नन्द तक १०५० बरस, इस प्रकार मोटे तौर पर कलि १००० बरस का गिना जाता और नन्दो के समय समाप्त होता था। किन्तु पीछे जब नन्दों के बाद के युग के लक्षण भी पहले समय के से जान पड़े तब उसे भी कलि मे मिला दिया गया—वही कलि की वृद्धि कहलाई।

यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढं महर्षयः।
तदा नन्दात्प्रभृत्येव कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥

(वि० पु० तथा भाग० पु०[1])

और उस बढ़े हुए कलि का शेष (अन्त) १८८ ई० पू० मे हुआ जब यवनो का राज्य उत्तरपच्छिम मे होने लगा था—

---

१. यह तथा अगले पौराणिक श्लोक जायसवाल के लेख—ज० बि० ओ० रि० सो० ३, पृ० २४६ प्र—में उद्धृत हैं। वहीं पूरे प्रतीक मिलेंगे।

शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न सशय
यवना ज्ञापयिष्यन्ति
( युगपुराण से गार्गीसहिता में उद्धृत )

अल्पप्रसादा ह्यनृता महाक्रोधा ह्यधार्मिका ।
भविष्यन्तीह यवना
भोक्ष्यन्ति कलिशेषे तु.
( वा० पु० )

कलि का कुल काल तब बारह सौ बरस माना गया—कलिर्द्वादशाब्द-शतात्मक—भाग० पु०। जायसवाल कलि-काल-विषयक इस अनुश्रुति को बिना प्रमाण छोडना नही चाहते। औसत राज्यकाल की अनुचित दीर्घता उन के मत मे कुछ नाम गुम हो जाने के कारण है, जिन का पुनरुद्धार करने का भी उन्हों ने जतन किया है। उन का कहना है कि भारत-युद्ध से महानन्दी अथवा महापद्म नन्द तक के काल के कुल जोड को, जो अनुश्रुति मे परम्परा से चला आता है, प्रबल कारणो के बिना अस्वीकार करना उचित नही है। किन्तु इस विषय मे खोज की गुजाइश है। और खोज का सर्वोत्तम मार्ग मेरे विचार मे यह होगा कि जिस प्रकार पार्जीटर ने भारत युद्ध से पहले की वशावलियो म समकालीनतायें निश्चित कर के अनेक व्यक्तियो और घटनाओ का पारस्परिक पौर्वापर्य निश्चित किया है, उसी प्रकार भारत-युद्ध से शैशुनाको और नन्दो तक की वशावलियो के विषय मे भी किया जाय। फिलहाल मैंने भारत-युद्ध की तिथि १४२४ ई० पू० आरज़ी तौर पर मान ली है। उस से पहले की तिथियाँ भी इसी कारण आरज़ी हैं। भारत-युद्ध से पहले की घटनाओ का समय बताने के लिए, फिलहाल, तिथि का प्रयोग करने के बजाय पीढ़ी की सख्या का उल्लेख करना अधिक उचित है।

मेगास्थनी ने लिखा है कि उस के समय मे हिन्दू लोग सिकन्दर के आक्रमण ( ३२६ ई० पू० ) से ६४६२ बरस पहले अपना इतिहास शुरु करते

थे। सिकन्दर के समय परीक्षित् के अभिषेक को पुराण की गणना के अनुसार १३८८—३२६=१०६२ बरस बीत चुके थे। १०६२ मे ठीक ५४०० जोड़ने से ६४६२ बनता है। ज्योतिषशास्त्र मे २७०० बरस का एक सप्तर्षि-चक्र होता है, जिस से प्रतीत होता है कि मेगास्थनी के समय भारतवासियो का यह विश्वास था कि परीक्षित् के अभिषेक से दो सप्तर्षि-चक्र पहले उन का इतिहास शुरू होता था। इस प्रकार चौथी शताब्दी ई० पू० मे परीक्षित् के समय के ठीक उन्ही अंको का, जो पुराण मे हैं, प्रचलित होना उन की सचाई को पुष्ट करता है (ज० बि० ओ० रि० सो० ३, पृ० २५२)। किन्तु पहले काल के अंक गोल हैं, पुराण मे भी भारत-युद्ध से पहले के राजाओ के राज्य-काल नहीं दिये हैं; जिस का यह अर्थ है कि चौथी शताब्दी ई० पू० मे भी ठीक अंक मालूम न थे, और मोटा अन्दाज़ किया जाता था। वह अन्दाज़ भी आजकल के प्रचलित विश्वास को तरह उच्छृङ्खल और अनर्गल न था। किन्तु जायसवाल ने दिखाया है कि उस समय भी, मेगास्थनी के अनुसार, भारत-युद्ध से पहले और पीछे की राजकीय पीढ़ियो की संख्या वही मानी जाती थी जो पार्जीटर और जायसवाल ने पुराणों के आधार पर निश्चित की है[1]। रूपरेखा की कालगणना के पक्ष मे वह सब से प्रबल प्रमाण है।

## ※ १२. वैदिक भारत का बाबुल से सम्पर्क

वैदिक काल के भारतवर्ष का पच्छिम के सभ्य अनार्य राज्यों के साथ सम्पर्क होने के अनेक छोटे छोटे चिन्ह मिले हैं, तो भी अभी तक वह सम्पर्क की बात धुंद मे छिपी है, और सब विद्वान उस पर एक-मत नहीं हैं।

सब से पहले वे चिन्ह है जो बहुत प्राचीन काल मे दक्खिन के द्राविड भारत और दजला-फरात-काँठों का सम्बन्ध सूचित करते हैं।

---

१. ज० बि० ओ० रि० सो०, जि० १, पृ० ११३।

उन काँठो के ३००० ई० पू० के प्राचीन अवशेषो मे एक सागून की लकडी निकली थी जो विद्वानो के मत मे दक्खिन भारत की ही हो सकती है। इस प्रकार के चिन्हो का विवरण विन्सेट की कौमर्स ऐंड नैविगेशन आव दि एन्श्यंट्स् ( प्राचीन लोगो का व्यापार और नाविकता ) के प्रथम भाग मे तथा उस के आधार पर मुखर्जी के इडियन शिपिंग् मे मिलेगा। फारिस और पच्छिम एशिया के प्राचीन इतिहास के प्रसिद्ध पण्डित हॉल के मत मे सुमेर-अक्काद् लोग द्राविड थे। किन्तु वह एक मत मात्र है । सिन्धी सीमान्त के ब्राहूई लोग शायद दक्खिन भारत के द्राविडो की एक प्राचीन व्यापारी बस्ती को सूचित करते हैं, जो पच्छिमी देशो के साथ समुद्र के किनारे किनारे चलने वाले व्यापार मार्ग के ठीक बीच पडती थी। विन्सेट स्मिथ ने दिखलाया है कि दक्खिन भारत से तथा दजला-फरात-काँठो से शवो को दफनाने के जो प्राचीन मटके पाये गये है, वे भी एक से है[1] ।

उत्तर भारत के वैदिक आर्यो के दजला-फरात काँठो की सामी जातियो के साथ सम्पर्क होने के जो चिन्ह है, उन्हे अलग देखना चाहिए। बाबुली विषयो के प्रसिद्ध पण्डित प्रो० सेइस ने १८८७ ई० मे कहा था कि बाबुल मे मलमल का वाची सिन्धु शब्द था, जिस से यह सूचित होता है कि वह सिन्धु नदी के तट से समुद्र के रास्ते आता था, क्योकि स्थल-मार्ग से आता तो ईरानी लोग उसे हिन्दु बना देते। इस बात का उल्लेख मुखर्जी के ग्रन्थ मे, टिळक के पूर्वोक्त लेख मे तथा अन्य ऐसे सब प्रसगो मे किया जाता है, किन्तु इस के साथ यह भी दिखलाना चाहिए कि वैदिक आर्यो को कपास का तथा उस की बुनाई का ज्ञान कब से था।

---

१. इम्पीरियल गजेटियर ऑव इंडिया, जि० २, पृ० ९६; इ० आ० ४, पृ० २५५।

इसी प्रकार ऋग्वेद ८, ७८, २ का मना शब्द कई विद्वानों के मत में बाबुली है। वैदिक आर्यों के जादू-टोने, मन्त्र-तन्त्र, ज्योतिष, कालगणना और सृष्टि प्रलय-विषयक विचारों पर बाबुली प्रभाव कई विद्वानों ने दिखलाया है। इस विषय मे सब से अधिक विश्वसनीय प्रमाण लोकमान्य टिळक ने दिये थे। अथर्ववेद के जादूमंत्रों मे के कई अस्पष्ट शब्दों को, जो संस्कृत व्युत्पत्ति की दृष्टि से निरर्थक प्रतीत होते है, उन्हो ने बाबुली या खल्दी व्युत्पत्तियाँ कर दिखलाईं थीं।

जायसवाल और भंडारकर वैदिक असुर शब्द को मूलतः पच्छिम के अश्शुर ( Assyrian ) लोगो का वाचक मानते है[1]। डा० टैमस भी वैदिक मना शब्द को पच्छिम से आया मानते, और असुर का अर्थ अश्शुर-नगरी का देवता करते हैं[2]।

वैदिक असुर शब्द मूलतः अश्शुर लोगो के लिए था, यह तो निश्चित प्रतीत होता है। ऋग्वेद १०, १०८ मे असुर पणियो और इन्द्र की दूती सरमा का संवाद है। बृहद्देवता ८, २४-३६ मे उस की सीधी सादी लौकिक ऐतिहासिक व्याख्या इस प्रकार दी है—

असुराः पणयो नाम रसापारनिवासिनः।
गास्तेऽपजह्रुरिन्द्रस्य न्यगूहँश्च प्रयत्नतः॥

( रसा के पार रहने वाले असुर पणि लोग इन्द्र की गौवें ले कर भाग गये, और उन्हे बड़े जतन से अपने किले मे छिपा दिया )। इन्द्र ने उन के पास अपनी दूती सरमा को भेजा, जो कि

शतयोजनविस्तारामतरत्तां रसां पुनः।
यस्याः पारे परे तेषां पुरमासीत्सुदुर्जयम्॥

१. ज़ाइटशिफ़्ट ६८ ( १९१४ ) पृ० ७१६-७२० तथा कार्माइकेल लेक्चर्स १९१८, पृ० १४२।

२. ज० रा० ए० सो० १९१६, पृ० ३६४-३६६।

( सौ योजन फैली उस रसा को तैर कर उस के परले पार जहाँ उन का दुर्जय किला था ) वहाँ पहुँची। उन से बातचीत कर जब वह निष्फल लौट आई, तब

पदानुसारिपद्धत्या रथेन हरिवाहनः ।
गत्वा जघान स पणीन् गाश्च ता पुनराहरत् ॥

( इन्द्र ने उस के पग-चिन्हो से दिखाये रास्ते पर रथ से जा कर उन पणियो को मारा और अपनी गौवे वापिस फेरीं )। इन्द्र बृहस्पति और अगिरसो का नेता था।

यहाँ असुर स्पष्ट एक मानव जाति प्रतीत होते है। रसा शब्द साधारणत' नदी का वाची है, और पारसियो की अवस्ता के रहा शब्द से सूचित होता है कि वह सीर दरिया का खास नाम था। किन्तु पारलौकिक अर्थ करने वाले इस सीधे सादे वर्णन को एक गूढ अलकार बना डालते हैं। रसा उन की दृष्टि मे एक कल्पित नदी है जो भूमण्डल को चारो तरफ घेरे हुए है, गौवे सूर्य की किरणे है, इत्यादि। मूल सूक्त मे एक भी शब्द ऐसा नही है जिस से यह इशारा भी मिलता हो कि उस के शब्दो का सीधा अर्थ न लेना चाहिए।

किन्तु असुर का अर्थ यदि अश्शुर जाति किया जायगा, तो वेद मे असुर के उल्लेख उन लोगो के समकालीन या बाद के मानने होगे। अश्शुर-साम्राज्य १३०० ई० पू० के करीब स्थापित हुआ था, और उस के बाद तो वहाँ के निवासी—पुराने बाबुली और खल्दी—अश्शुर या असुर कहलाते ही थे, और इस अर्थ मे असुर शब्द भारतीय वाङ्मय मे भी है। किन्तु वेद का असुर शब्द भी क्या १३०० ई० पू० के बाद का है? १४२४ ई० पू० में हम ने वैदिक काल की समाप्ति मानी है, क्या उस मत को त्यागना होगा? त्यागने की कोई जरूरत नहीं, क्योकि अश्शुर देवता जिस के नाम से २३ वीं शताब्दी ई० पू० मे अश्शुर नगरी का नाम पड़ा था, बहुत पुराना है।

और उस देवता के उपासको को भी वैदिक आर्य असुर कहते रहे हो सो बहुत स्वाभाविक बात है।

आर्यों का असुरों से सम्पर्क केवल स्थल से था या जल से भी ? जो विद्वान् यह सम्पर्क मानते हैं उन सब का यह कहना है कि वैदिक आर्य तट के साथ साथ उथले समुद्र मे जहाज चलाना जानते थे। वेद मे ऐसी नावो का उल्लेख है जो स्थल से अदृश्य हो जाती थीं, और ऋक् १, ११६ मे तुग्र के बेटे भुज्यु के जहाज टूटने की कहानी है, जिस मे यह भी लिखा है कि अश्विनौ या नासत्य देवता उसे ऐसे वाहन से बचा लाये थे जो तीन दिन और तीन रात लगातार वेग से चलता रहा था। इस से यह परिणाम निकाला जाता है कि फ़ारिस खाड़ी मे किनारे के साथ साथ आर्यों के जहाज जाते थे। पतवारो और पालों का उल्लेख नहीं मिलता, इस निषेधात्मक युक्ति का बहुत मूल्य नहीं है। इस समूचे विषय के सम्बन्ध मे नीचे ❀ १८ भी देखना चाहिए।

वैदिक आर्यों के पच्छिम-सम्पर्क के प्रश्न का एक और पहलू भी है। यदि पार्जीटर के अनुसार यह बात मानी जाय कि भारतवर्ष से ही आर्य लोग ईरान गये हैं, तब तो उस सम्पर्क के विषय मे सन्देह की गुंजाइश ही नहीं रहती। पार्जीटर ने इस विषय पर विचार करते हुए[1] मित्तानि-विषयक युक्ति भी दी है। १९०७ ई० मे पच्छिम एशिया के बोगजकोई नामक स्थान में पाये गये अवशेषो मे मित्तानि जाति के राजाओं और हत्ती या खत्ती राजाओ का एक सन्धि-पत्र निकला, जिस मे ह्युगो विंकलर ने वैदिक देवताओं—इन्द्र वरुण नासत्य आदि—के नाम पढ़े। उन देवताओं को उस सन्धि मे साक्षी बनाया गया है। मित्तानि राजाओं के भी जो नाम प्राचीन मद या मन्द के राजाओं और मिस्र के फराओं की चिट्ठीपत्री मे, जो कि नील नदी के तट पर तेल-अल-अमर्ना स्थान में पाई गई है, निकले

---

१. प्रा० अ० पृ० २९७—३०२; दे० ऊपर ❀ ५।

हैं, वे सब आर्यावर्त्ती से है, जैसे दशरत्थ । वह चिट्ठीपत्री १४०० ई० पू० की मानी जाती है। मित्तानि और उन के राजाओ देवताओ के विषय मे बड़ा वाद विवाद चलता रहा है। अब यह माना जाता है कि मित्तानि जाति तो भरसक आर्य न थी, किन्तु उन के राजाओ और देवताओ के नाम आर्यावर्त्ती से क्योंकर हैं, इस पर अभी तक बडा मतभेद है । वे ईरानी नाम नहीं है, यह तो स्पष्ट है, क्योंकि उन मे स का ह नहीं हुआ । तब एक तो स्पष्ट बात यह मालूम होती है कि वे नाम सीधे आर्यावर्त्त से गये, पार्जीटर का यही मत है । इस सम्बन्ध मे याकोबी और ओल्डनबर्ग का बडा विवाद चलता रहा[1]। याकोबी उन्हे आर्यावर्त्ती देवता मानते थे, ओल्डनबर्ग का कहना था कि वे आर्यावर्त्तिया और ईरानियो के विलगाव से पहले के है, क्योंकि उन मे वैदिक अग्नि देवता नही है। कीथ भी ओल्डनबर्ग के पक्ष मे है[2]। किन्तु उन्हो ने अपने सदा सशयात्मा स्वभाव के अनुसार दूसरो के मत को सर्वथा निकम्मा कह कर अन्त मे अपनी कमजोरी भी दिखा दी है। उन का कहना है कि मित्तानि राजाओ के नामो मे ऋत के बजाय अर्त शब्द है, इस लिए वे आर्यावर्त्ती नाम नहीं हैं, किन्तु यह युक्ति बलपूर्वक नहीं दी जा सकती, क्योंकि मित्तानि लिपि मे ऋत और अर्त एक ही तरह से लिखा जाता था[3]।

ग्रियर्सन भी ओल्डनबर्ग से सहमत है, और वे यहाँ तक कहते है कि ऋग्वेद के कई अश भी आर्यावर्तियो और ईरानियो के विलगाव के पहले की मूल आर्य भाषा के है[4]। ऋग्वेद के एक आध अश को ऐसा मानने से भी पार्जीटर के मत की कोई क्षति नहीं होती, उलटा पुष्टि

१. ज० रा० ए० सो० १६०६, पृ० ७२० प्र, १०६९ प्र, और ११०० प्र; १६१०, पृ० ४५६ प्र और ४६४ प्र।

२. भंडारकर-स्मारक, पृ० ८१ प्र।

३. वहीं पृ० ६०।

४. भा० भा० प० १,१, पृ० ६८।

होती है, क्योंकि दो एक ऋषि राजा गान्धार से पहले के हैं ही। स्वयं ग्रियर्सन पार्जीटर के नये मत का विरोध नहीं करते[1]। किन्तु भारत मे आर्यों का उत्तरपच्छिम से आना उन्हों ने बहुत निश्चित मान लिया है; और क्योंकि उन की भाषा-विषयक खोज—मध्यदेशी शुद्ध भाषा के चारो तरफ बाहरी मिश्रित भाषा होने की बात—पेचीदा कल्पनाओं के बिना सरलता से उत्तरपच्छिम-वाद के साथ सुलझ नहीं सकती, इस कारण उसे सुलझाने की खातिर की गई पेचीदा कल्पनाओ के सिलसिले मे उन्हे यह स्थापना करनी पड़ती है कि उत्तरपच्छिम से आर्यों का प्रवेश बहुत धीरे धीरे हुआ, और इस स्थापना के लिए वे हिलब्रांट के उस मत का सहारा लेते हैं कि दिवोदास के समय आर्य लोग हरह्वैती (अरगन्दाब की दून)[2] में थे, और सुदास के समय सिन्ध पर। किन्तु हिलब्रांट के इस मत को वैदिक विद्वान् अग्राह्य सिद्ध कर चुके हैं, और वह फिर से किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। सच बात यह है कि आर्यावर्त्ती भाषाओ का परस्पर सम्बन्ध सब से अच्छा पार्जीटर के मतानुसार ही स्पष्ट हो सकता है।

उधर अवस्ता के विद्वान् मोल्टन का कहना है कि अवस्ता की तिश्त्र्य बश्त की बातो की ठीक व्याख्या भी यही मानने से हो सकती है कि वे १८०० और ९०० ई० पू० के बीच कभी भारतवर्ष मे लिखी गई थीं[3]।

इधर श्रीयुत राखालदास बैनर्जी की अद्वितीय सूझबूझ से मोहन जो दड़ो में जिन प्राचीन अवशेषो का आविष्कार हुआ है, उन से जहाँ इतिहास और पुरातत्त्व को एक बिलकुल नया रास्ता—कम से कम आगामी एक शताब्दी तक खोज-पडताल करने के लिए—मिल गया है, वहाँ इस प्रश्न पर भी बिलकुल नई रोशनी पड़ी है। मोहन जो दड़ो के अवशेषों और

---

१. वहीं पृ० ११५।

२. दे० नीचे § १०४ अ।

३. अर्ली ज़ोरोअस्ट्रियनिज़्म् (२ संस्क०, लंडन १९२६), पृ० २५।

दजला-फ़रात-कॉठो के अवशेषो मे बड़ी समानता है। भारतवर्ष और बाबुल-काल्दी के बीच ३००० ई० पू० से पारस्परिक सम्बन्ध तो इस प्रकार बिलकुल निश्चत हो गया है। किन्तु मोहन जो दडो के अवशेष आर्यों के है या किसी और जाति के, और इसी लिए भारत और बाबुल का वह सम्बन्ध किस प्रकार का था, इन सब प्रश्नो पर अभी तक पर्दा पडा है।

### ※ १३. प्राचीन आर्यों में स्त्री-पुरुष-मर्यादा की स्थापना कब ?

भारत-युद्ध के बाद श्वेतकेतु औद्दालकि नामक ऋषि हुआ। उस के विषय मे यह अनुश्रुति है कि उस से पहले स्त्री-पुरुष-मर्यादा न थी, उसी ने स्थापित की—

अनावृता किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने।
कामाचारविहारिण्य स्वतन्त्राश्चारुहासिनि॥
तासा व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन्।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्म पुराऽभवत्॥

—म० भा० १, १२२, ४-५।

अनावरण=प्रमिश्रण ( Promiscuity ), सकर। पार्जीटर इस अनुश्रुति को महत्त्व देते हैं, यद्यपि वे यह मानते हैं कि ऐसी ही अनुश्रुति दीर्घतमा के विषय मे भी है ( पृ० ३२८, विशेष कर टि० ८), और दीर्घतमा श्वेतकेतु से बहुत पहले हो चुका था। स्त्री-पुरुष-मर्यादा की शिथिलता वैदिक काल मे अवश्य थी, तो भी वेद से एकविवाह सामान्य नियम प्रतीत होता है, और उसे एक ऊँचा आदर्श माना जाता था[1]। जान पड़ता है, उक्त अनुश्रुति वस्तुतः दीर्घतमा के विषय मे थी, किन्तु श्वेतकेतु के समय तक भी कुछ शिथिलता थी ही, श्वेतकेतु ने भी कुछ सुधार किया, तब वह समूची बात जो दीर्घतमा के विषय मे थी भ्रमवश श्वेतकेतु पर भी लगा दी गई। श्वेतकेतु के समय तक पूरा अनावरण होना असम्भव है।

---

1. ऋ० १०,८५; अथ० १४।

रूपरेखा का मुख्य अश लिख चुकने के बाद मुझे डा० सुविमल सरकार की पुस्तक सम आस्पेक्ट्स् ऑव दि आर्लिएस्ट सोश्यल हिस्टरी ऑव इंडिया (भारतवर्ष के प्राचीनतम सामाजिक इतिहास के कुछ पहलू) (आक्सफ़र्ड १९२८) मिली। मैंने उसे सरसरी दृष्टि से देखा है। उस के आरम्भिक प्रकरण महत्त्वपूर्ण दीखते हैं। किन्तु कई स्थलो मे डा० सरकार की युक्तिपरम्परा एकदम विचित्र हुई है। वे अपने को पार्जीटर का अनुयायी कहते हैं, पर उन का ढंग पार्जीटर से निराला है। जनक-दुहिता का अर्थ पिता की बेटी कर के सीता और राम को बहन-भाई बनाना (पृ० १२६) अर्धकुक्कुटीय न्याय से अनुश्रुति की मनमानी खीचतान करना है। सीता के चारों भाइयो की साझी पत्नी होने की बात (पृ० १५१) के लिए जो प्रमाण दिया गया है, उस में वह अर्थ बिलकुल नही है। बलराम के एकपत्नीत्व पर डा० सरकार सन्देह करते है (पृ० २१८), क्योकि वह नाच और मद्य की गोष्ठियो मे शामिल होता था। यह विचित्र युक्ति है। व्यावहारिक ऐतिहासिक को ऐसे दार्शनिक धार्मिक आदर्शो मे नहीं बहकना चाहिए, नाचने से एकपत्नीत्व नष्ट नही होता। किन्तु उस के लिए जो प्रमाण दिये गये हैं[1] उन मे तो बलराम और रेवती का नाम मात्र है, नाच आदि का कहीं उल्लेख भी नही है। और वहाँ प्रसंग है शार्यात वंश के रेव और रैवत का; बलराम एकाएक ला घुसेड़े गये हैं, पार्जीटर की जाँच-पद्धति के अनुसार वह पीछे से मिलाई हुई कथाओं का नमूना है।

अध्यापक हाराणचन्द्र चकलादार की सोश्यल लाइफ इन् एन्श्येंट इंडिया. स्टडीज़ इन् वात्स्यायनज़ कामसूत्र (प्राचीन भारत मे सामाजिक जीवन—वात्स्यायन के कामसूत्र का अनुशीलन) (बृहत्तर भारत परिषद्, १९२९) भी मुझे यह टिप्पणी लिखने के बाद देखने को मिली। श्वेतकेतु औद्दालकि कामशास्त्र का पहला आचार्य था, और स्त्री-पुरुष-मर्यादा-स्थापन उस से बहुत पहले होना चाहिए, यह उन का भी मत है (पृ० ७)।

१. वा० पु० ८६, २१-२३; ८८, १-४।

## * १४. भारतीय अक्षरमाला तथा लिपि का उद्भव

### अ. बुइलर का मत

ब्राह्मी लिपि "ससार का सब से पूर्ण और विज्ञान-सम्मत आविष्कार है ( the most perfect scientific invention which has ever been invented )"—टेलर, आल्फाबेट जि० १, पृ० ५०। कोलब्रुक से कनिंगहाम और फ्लीट तक अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने उस के उद्भव की खोज की, और प्राय. सभी उसे भारतवर्ष की अपनी उपज मानते रहे। उस की उत्पत्ति सामी अक्षरो से कहने वालो में बुइलर प्रमुख थे। कनिंगहाम और फ्लीट ने अन्त तक उन का मत न माना। दूसरो ने उसे 'पाण्डित्य और कौशल-पूर्ण किन्तु अनिश्चयात्मक' कहा[1]। बुइलर का मत है कि भारत-वासियो ने सामुद्रिक व्यापारियो द्वारा लगभग ८९० ई० पू० मे १८ अक्षर कानानी ( फिनीशियन ) लिपि से लिये, फिर लगभग ७५० ई० पू० मे दो अक्षर मेसोपोटामिया से, तथा ६ ठी शताब्दी ई० पू० मे दो अक्षर अरमइक ( मेसापोटामिया के एक प्रदेश पदन अरम की ) लिपि से, और उन के आधार पर धीरे धीरे ब्राह्मी लिपि बनी[2]।

### इ. ओझा का सिद्धान्त

ओझा ने बुइलर का मत प्रकट होते ही उस का प्रत्याख्यान बुइलर को एक पत्र मे लिख भेजा, तथा प्रकाशित किया। न तो बुइलर ने उन का प्रत्युत्तर दिया, न आज तक किसी और ने। उन की मुख्य युक्तियाँ सक्षेप मे ये हैं—

---

१. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, ११ वा सस्क०, जायसवाल के आगे निर्दिष्ट लेख में उद्धृत।

२. इंडिश पालिओग्राफ़ी (१८९८), पृ० १२।

( १ ) सामी लिपि के उत्तरी और दक्षिणी अनेक भेदों मे से कोई किसी से और कोई किसी मे ब्राह्मी की उत्पत्ति कहता है। कल्पनाओ की अनेकता ही सब की अवास्तविकता की सूचक है। ब्राह्मी अक्षरों का सामी अक्षरो से जो मिलान किया गया है वह बिलकुल ऊटपटांग है, समानोच्चारण अक्षरो मे कोई मिलान नहीं है।

( २ ) कानानी मे कुल २२ अक्षर १८ उच्चारणो के सूचक हैं। स्वर-व्यञ्जन का पार्थक्य नहीं, ह्रस्व-दीर्घ-भेद नहीं, अक्षरो का कोई युक्तियुक्त क्रम नहीं, स्वर-व्यञ्जन-योग-सूचक मात्रायें नहीं, सयुक्ताक्षर नही, और स्वर भी पूर्ण नहीं हैं। उन के आधार पर यदि आर्य लोग ब्राह्मी के ६३ या ६४ मूल उच्चारणों की सब प्रकार से पूर्ण लिपि बना सकते थे, तो क्या १८ अक्षर भी स्वय न बना सकते थे ?

( ३ ) कानानी लिपि १० वां शताब्दी ई० पू० में बनी थी। यदि ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनो लिपियाँ उस से निकली होतीं, तो अशोक के समय तक दोनों में बहुत समानता होती, जैसे कि मौर्य लिपि से निकली ५वीं-६ठी शताब्दी ई० की गुप्त लिपि और तेलगु-कनडी लिपि मे परस्पर समानता है, जो ८वीं-९वीं शताब्दी ई० के बाद तक भी स्पष्ट दीखती है।

इन युक्तियों से बुइलर के मत का प्रत्याख्यान कर के उन्हो ने ऋचो और यजुषो मे भी कम से कम अकों के चिन्हो के उल्लेख दिखलाये, तथा उत्तर वैदिक वाङ्मय ( ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् ) से वर्णमाला और लेखनकला होने के विस्तृत प्रमाण दिये। इस प्रकार वे ब्राह्मी और सामी अक्षरों में कोई समानता स्वीकार नहीं करते। प्राचीन लिपिमाला २य सस्क० ( १९१८ ) की भूमिका में उन्हो ने अपने मत को अच्छी प्रकार प्रतिपादित किया है। सन् १८९८ से १९१८ तक भारतीय विद्वानों मे से, जहाँ तक मुझे मालूम है, वही एक थे जो बुइलर की स्थापना का खुल्लमखुल्ला विरोध करते रहे।

## ड. जायसवाल की स्थापनायें

सन् १९१९ मे जायसवाल ने शैशुनाक राजा अज और नन्दी की प्रतिमाओ का आविष्कार किया[1]। उन प्रतिमाओ पर प्राचीन ब्राह्मी अक्षरो मे उन राजाओ के नाम उन्हों ने पढ़े। उन राजाओं का काल ५ वीं शताब्दी ई० पू० है, फलत वे लेख भी तभी के हुए। दूसरे कई विद्वानो ने जायसवाल के पाठों को स्वीकार न कर उन लेखों को दूसरी तरह पढा। कुल दो पंक्तियाँ तो हैं ही, तीन-चार अक्षरो पर सब मतभेद रहा। एक लेख को जायसवाल ने पढ़ा था भगे अचो छोनीधीशे, दूसरे को—सपखते वटनन्दी। दूसरे विद्वान् धीशे के बजाय वीको या वीक और सप के बजाय य पढते हैं, और दो-एक मात्राओं में भेद करते हैं। श्री राखाल दास बैनर्जी आर डा० बार्नेट के पाठों से तो कुछ अर्थ नही बनता, प्रो० रमाप्रसाद चन्द तथा डा० मजूमदार ने नये सार्थक पाठ उपस्थित किये। मजूमदार का पाठ तो ओझा जी के मत मे निरा दु:साहस है, प्रो० चन्द का मतभेद प्राय: उन्हीं अक्षरों पर है। इस समूचे मतभेद का मूल कारण यह था कि इन विद्वानों ने बुइलर की स्थापना को पूर्ण सत्य मान रक्खा था, और यदि उन लेखो के जायसवाल वाले पाठो को मान लिया जाय तो उस स्थापना की जड हिल जाती है। क्योंकि बुइलर ने जब अपनी स्थापना की थी, तब भारतवर्ष के प्राचीनतम लेख जिन का समय निश्चित था, अशोक के ही थे। अशोक-लिपि को उन्हो ने सादृश्य के कारण सामी लिपि से उत्पन्न बताया। स्पष्ट है कि बुइलर की स्थापना के अनुसार यदि अशोक से पहले के कोई लेख पाये जायँ तो उन की लिपि मे सामी लिपि से और भी अधिक सादृश्य होना चाहिए। किन्तु इन प्रतिमाओ के लेखों को यदि जायसवाल के ढग से पढ़ा जाय तो उस सादृश्य के बदले उलटा विसदृशता दीखती है। फलत इन विद्वानों ने कहा कि लेख ५ वीं शताब्दी ई० पू० के नहीं, प्रत्युत दूसरी शताब्दी ई० के बाद के हैं—उन की लिपि प्राङ्मौर्य

---

१. दे० नीचे * २२ पृ।

नही, कुषाण-कालीन है, और वैसा मान कर ही उन्हो ने उन लेखो को पढ़ा। इस मे पहले भी पिपरावा (ज़ि० बस्ती) से एक स्तूप के अन्दर से एक मटका निकला था जिस पर लिखा है— ' सलिलनिधने बुधस भगवते '', अर्थात् भगवान् बुद्ध के शरीरांश का निधान। वह स्तूप, मटका और लेख अशोक से पहले के है; एक समय वह लेख भारतवर्ष का सब से पुराना प्राप्त लेख माना गया था[1]। किन्तु बुइलर की स्थापना का उस लेख के अक्षरो से समर्थन नहीं हुआ। ओझा जी के पास अजमेर अद्भुतालय मे बडली गाँव से पाया गया एक खण्ड-लेख है, जिस पर प्राचीन मौर्य लिपि मे पाठ है— वीराय भगवते चतुरसीतिवसे '' । या तो वह वीरसंवत् (आरम्भ ५४५ ई० पू०) और या नन्दसंवत् (आरम्भ ४५८ ई० पू०, दे० नीचे * २२ औ) के ८४ वे वर्ष—अर्थात् ५ वी या ४ थी शताब्दी ई० पू० का है। ओझा जी ने प्रा० लि० मा० मे उस का उल्लेख किया है; उस की लिपि की विवेचना जिस से महत्त्व के परिणाम निकल सकते हैं, अभी तक नही हुई। इन शैशुनाक लेखो के बारे मे राखालदास बैनर्जी का कहना था कि प्रतिमाये तो शैशुनाक राजाओ की ही हैं, किन्तु लेख पीछे के है[2]। दूसरे विद्वानो ने लेख पर मतभेद होने के कारण उन्हे शैशुनाक प्रतिमाये ही न माना। जायसवाल ने उन सब का उत्तर देते हुए दिखलाया कि प्रतिमाओ का काल निश्चित है, कला की दृष्टि से वे मौर्य-काल से पीछे की नहीं हो सकती, और उन की बनावट से उन्हों ने सिद्ध कर दिया कि लेख प्रतिमा बनते समय ही खोदा गया था[3]। फलतः शैशुनाक लेखो की लिपि के कारण बुइलर की स्थापना जायसवाल को भी शिथिल दीखने लगी[4]।

---

१. ज० रा० ए० सो० १९०६, पृ० १४९ प्र; इं० आ० १९०७, पृ० ११७ प्र।

२. ज० बि० ओ० रि० सो० १९१९, पृ० २१२।

३. दे० नीचे २२ ए।

४. ज० बि० ओ० रि० सो०, १९१९, पृ० ५२९-५३९।

इस के बाद उन्हो ने एक तीसरी शैशुनाक प्रतिमा का आविष्कार किया जो ६ ठी शताब्दी ई० पू० के राजा कुणिक अजातशत्रु की है। परखम गाँव से मिलने के कारण वह परखम-प्रतिमा कहलाती है। उस की लिपि ने जायसवाल को बुइलर के मत का स्पष्ट विरोधी बना दिया, और उन्हो ने ब्राह्मी की उत्पत्तिविषयक अपने विचार एक पृथक् लेख मे प्रकाशित किये[1]।

ब्राह्मी की प्राचीनता के पक्ष मे जायसवाल ने वैदिक और उत्तर वैदिक वाङ्मय से जो प्रमाण दिये हैं वे ओझा के प्रमाणो से मिलते हैं। शैशुनाक लेखो के अतिरिक्त उन्हो ने अन्य प्राचीन लेखो की लिपियों और हड़पा की मुद्राओ तथा हैदराबाद की प्रस्तर समाधियो के अक्षरो की भी विवेचना की है। हड़पा से मिली मोहरो के अक्षर अभी तक पढ़े नहीं जा सके, किन्तु उन के अक्षर समात्रक प्रतीत होते हैं, और वे कम से कम १००० ई० पू० की मानी जाती थीं। हैदराबाद की प्रस्तर-समाधियो में मिले वर्त्तनो पर के लेख बने नहीं रह सके, पत्थर के कफन इतने भुरभुरे हो गये थे कि हाथ लगते ही चूर चूर हो गये। किन्तु उन के जुदा जुदा अक्षरो की नकल यज़दानी ने कर ली थी, और जर्नल ऑव दि हैदराबाद आर्कियोलौजिकल सोसाइटी १९१७ मे छाप दी हैं। वे ब्राह्मी-सदृश अक्षर हैं, जायसवाल उन का समय पत्थर के भुरभुरे हो जाने से २००० ई० पू० अन्दाज़ करते हैं।

इन प्राचीन लेखो और वैदिक वाङ्मय की विवेचना से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि भारतीय ब्राह्मी लिपि वैदिक काल से चली आती है। किन्तु ओझा और उन के मत मे एक बारीक भेद है। ओझा जहाँ बुइलर के तरीके से ब्राह्मी और सामी लिपियो की सदृशता को स्वीकार नहीं करते, वहाँ जायसवाल उस सदृशता को एक तरह से स्वीकार कर के उस की दूसरी व्याख्या करते हैं। उन का कहना है कि उत्तरी और दक्खिनी

---

१. वहीं, १९२०, पृ० ३८९ प्र।

सामी लिपियो मे परस्पर कोई एकसूत्रता नहीं है; एक ही उच्चारण के उत्तरी और दक्खिनी चिन्ह बिलकुल भिन्न हैं; किन्तु वे ब्राह्मी के भिन्न भिन्न चिन्हो से मिलते हैं, उदाहरण के लिए उत्तरी सामी प ब्राह्मी फ से। ब्राह्मी उधार लेती तो एक जगह से लेती, ब्राह्मी से भिन्न भिन्न सामी लिपियो ने अलग अलग उधार लिया, इस से उन के पारस्परिक भेदो की भी व्याख्या हो जाती है। दक्खिनो सामी उत्तरी से या उत्तरी दक्खिनी से नहीं निकली, प्रत्युत दोनों एक समान मूल—ब्राह्मी—से। १४०० ई० पू० तक सामी लिपियाँ न थीं, ९०० मे थी, अतः लगभग १२००—११०० में शुरू हुई। कानानी ( उत्तरी सामी का एक भेद ) से शेबाई ( शेबा=आधुनिक येमन का प्राचीन नाम, वहाँ की लिपि, दक्खिनी सामी का एक भेद ) के अक्षर अधिक पुराने हैं, उस मे अधिक चिन्ह भी हैं। शेबा के पड़ोस की हब्श ( अबीसीनिया या ईथिओपिया ) की गीज़ लिपि शेबाई से मिलती है, उस मे स्वरो की मात्राये भी हैं, जो निश्चय से एक भारतीय पद्धति है। लिपि के इतिहास के अत्यन्त प्रामाणिक विद्वान् लेप्सियस ने ईथिओपी और भारतीय लिपियो का यह सम्बन्ध झट पहचान लिया था। सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानने वालों के लिए यह बात अत्यन्त कष्टकर है कि एक दो सामी लिपियो मे ही मात्रा-पद्धति क्यो है, औरो मे क्यो नहीं। कनिंगहाम ने टेलर का जबाब देते हुए साफ साफ़ कह दिया था कि शेबाई ब्राह्मी से निकली है[१]। एक ही उच्चारण के कई वैकल्पिक चिन्ह सामी लिपियों मे ( जैसे ब्राह्मी ब भ दोनो के विकृत रूप उन मे ब-सूचक ) होना भी ब्राह्मी से उन की उत्पति सूचित करता है।

जायसवाल और ओझा के मतों मे कोई विरोध नहीं है। ब्राह्मी से सामी अक्षरो की उत्पत्ति सम्भव है, यद्यपि अभी वह केवल एक स्थापना है, सिद्धान्त नहीं।

---

१. कौइन्स ऑव एन्श्येंट इंडिया ( प्राचीन भारत के सिक्के ), पृ० ४० ।

जायसवाल का यह कथन ठीक है कि ब्राह्मी का मूल अर्थ है पूर्ण ( पृ० १९२ )। उस की पूर्णता का धीरे धीरे विकास हुआ होगा, और विकास पूरा हो चुकने पर वह ब्राह्मी कहलाई होगी। किन्तु उन का यह अन्दाज कि ब्राह्मी का अपूर्ण मूल कोई द्राविडी लिपि होगी जिसे आधुनिक वट्टेलुत्तु लिपि सूचित करती है ( पृ० १९२ ), स्वीकार नहीं किया जा सकता। एक तो इस कारण कि वट्टेलुत्तु एक अपभ्रंश-लिपि है, पंजाबी लंडे और टाकरी, मारवाडी महाजनी, बिहार की कैथी और महाराष्ट्र की मोडी की तरह उस की अपूर्णता पूर्ण लिपि से अपभ्रष्ट होने के कारण है, न कि मौलिक अपूर्णता की सूचक। दूसरे इस कारण कि अगस्त्य मुनि द्वारा तामिल लिपि बनाये जाने की अनुश्रुति तामिल वाङ्मय मे भी है। तीसरे, वह केवल कल्पना है।

## ऋ. भण्डारकर की सहमति

प्रो० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर भी अब बुह्लर के मत को "अनर्गल" कहते हैं [1]। उन के मतपरिवर्त्तन का कारण वही हैदराबाद के पत्थर के ककनो वाले अक्षर हैं, जिन मे से पाँच ब्राह्मी अक्षरों से ठीक मिलते हैं। रमाप्रसाद चन्द ने भंडारकर की बातों का प्रत्याख्यान किया[2]। भंडारकर की एक गलती चन्द ने अच्छी पकडी, किन्तु चन्द की अन्य युक्तियों का उचित उत्तर मजूमदार ने दे दिया[3]।

## ऌ. परिणाम

हड़पा-मुद्राओं वाली युक्ति को हाल मे मोहन जो दडो के नवीन आविष्कारों से बडी पुष्टि मिली है। वहाँ भी अनेक मुद्रायें निकली हैं, और

---

१. ओरिजिन ऑव इंडियन आल्फ़ाबेट ( भारतीय वर्णमाला का उद्भव ), प्रथम ओरियंटल कान्फ्रेंस पूना का कार्यविवरण, जि० २, पृ० ३०५-३१८।

२. ज० बि० ओ० रि० सो०, १९२३, पृ० २६२ प्र।

३. वहीं, पृ० ४१९-२०।

उसी हड़पा वाली अज्ञात लिपि में। किन्तु उस में मात्रायें स्पष्ट हैं। मोहन जो दड़ो के अवशेषों ने बहुत प्राचीन काल में भारत में लेखन-कला की सत्ता तो सिद्ध कर दी, किन्तु वे अवशेष आर्यो के हैं या किसी और जाति के, और यदि किसी और जाति के तो उस का आर्यो से कुछ सम्बन्ध था कि नहीं, था तो कैसा, सो सब अभी तक नहीं कहा जा सकता।

अनुश्रुति से इस प्रश्न पर जो प्रकाश पड़ता है, रूपरेखा मे उस की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। सुबालक बाभ्रव्य पाञ्चाल ने शिक्षा-शास्त्र का प्रणयन किया, इस अनुश्रुति की जो व्याख्या रूपरेखा मे की गई है, वह पहले-पहल हमें भारतीय वर्णमाला के ठीक उद्‌गम के निकट ला पहुँचाती, और उस के उद्भव के रहस्य को खोल देती है। साथ ही, संहितायें बनाने अर्थात् ज्ञान का संग्रह करने की भारी ऐतिहासिक लहर के पीछे मूल प्रेरणा क्या थी, और उन दोनो लहरो मे परस्पर कैसा सम्बन्ध था, उसे भी वह व्यक्त करती है।

---

# ग्रन्थनिर्देश

## अ. राजनैतिक इतिहास (§§ २८-६६) के लिए

पार्जीटर—एन्श्यंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रैडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति), आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस १६२२,—नेशन्स ऐट दि टाइम ऑव दि ग्रेट वार (महाभारत युद्ध के समय के राष्ट्र), ज० रा० ए० सो० १६०८, पृ० ३०६ प्र।

जायसवाल—हिन्दू पौलिटी (हिन्दू राज्यसंस्था), कलकत्ता १६२४, §§ ३६-४० तथा परिशिष्ट अ,—क्रौनोलौजिकल टोटल्स इन दि पुरानिक क्रौनिकल्स ऐंड दि कलियुग ईरा (पौराणिक वृत्तान्तों में कालगणना-विषयक जोड़ तथा कलियुग-संवत्), ज० वि० ओ० रि० सो० ३, पृ० २४६ प्र।

महाभारत, आदि पर्व, अ० १६८-१७४ (शकुन्तलोपाख्यान)।

ऋग्वेद ७, १८ तथा ३, ३३ (सुदास पैजवन के दस राजाओं से युद्ध का वर्णन)।

पार्जीटर के ग्रन्थ में प्रत्येक कथन के लिए पुराणों के मूल प्रमाणों के प्रतीक उद्धृत मिलेंगे। पार्जीटर के मत के विरुद्ध या अतिरिक्त मैंने जो कुछ लिखा है, उस के लिए पादटिप्पणियों या परिशिष्ट-टिप्पणियों में जहाँ तहाँ प्रमाण दे दिये हैं।

## इ. सभ्यता और संस्कृति के इतिहास ( §§ ६७-७३ ) के लिए

वैदिक सभ्यता और संस्कृति के इतिहास की खोजविषयक आधुनिक रचनायें बहुत अधिक हैं। उन सब का न मैंने उपयोग किया है, न उन का यहाँ निर्देश करना ही उचित है। मैंने अधिकतर वेदों के अपने सीधे अध्ययन के आधार पर लिखा है, और अपने कथनों के प्रमाण साथ साथ दे दिये हैं।

मैकडोनेल और कीथ-कृत वैदिक इंडेक्स ऑव नेम्स एंड सब्जेक्ट्स ( वैदिक नामों और विषयों की अनुक्रमणिका ), लंडन १९१२, में वैदिक वस्तुओं की सब से प्रामाणिक छानबीन मिलेगी। कीथ के लेख दि एज ऑव दि ऋग्वेद ( ऋग्वेद का युग ) में जो कि कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑव इंडिया ( कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी द्वारा प्रस्तुत भारतवर्ष का इतिहास ) जि० १, कैम्ब्रिज १९२४, का अ. ४ है, वैदिक सभ्यता का एक अच्छा संक्षिप्त दिग्दर्शन मिलेगा। पार्जीटर के ग्रन्थ के अ० १-४, १६-२३ और २६ भी सभ्यता-संस्कृति-विषयक हैं। निम्नलिखित ग्रन्थों के निर्दिष्ट अंशों में वैदिक सभ्यता के विशेष पहलुओं का प्रामाणिक विवेचन मिलेगा—

जायसवाल—हिन्दू पौलिटी, अ० २, ३, १२—१५; §§ ३६२-३६३।

रमेशचन्द्र मजूमदार—कौर्पोरेट लाइफ़ इन एन्श्यंट इंडिया ( प्राचीन भारत में सामूहिक जीवन ), २ संस्क०, कलकत्ता १९२२, अ० २ §§ १, ५; अ० ३ § १।

रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर—वैष्णविज़्म् शैविज़्म् एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स ( वैष्णव शैव और गौण धार्मिक सम्प्रदाय ), स्ट्रासबर्ग १९१३, भाग १, परिच्छेद ३-४; भाग २, परिच्छेद १-२, १६।

अन्य उपयुक्त ग्रन्थों और लेखों के प्रतीक जहाँ तहाँ टिप्पणियों में दे दिये गये हैं। बाबुल और काल्दी के इतिहास के लिए हाल के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ एन्श्यंट हिस्टरी ऑव दि नियर ईस्ट ( पच्छिमी एशिया का प्राचीन इतिहास ) तथा ब्रिटिश विश्वकोष १२संस्क० से सहायता ली गई है।

---

तीसरा खण्ड—

# परीक्षित् से नन्द तक

## नौवाँ प्रकरण

# ब्रह्मवादी जनकों का युग

### § ७४. राजा परीक्षित् और जनमेजय

भारतयुद्ध के और यादवो के गृह-कलह के जनसंहार के बाद देश मे एक अरसे के लिए मारकाट बन्द और शान्ति बनी रही। अर्जुन पाण्डव का बेटा अभिमन्यु युद्ध मे ही मारा गया था। कहते हैं जिस दिन युद्ध समाप्त हुआ ठीक उसी दिन उस की रानी उत्तरा के गर्भ से परीक्षित् का जन्म हुआ था। पाण्डवो के पीछे परीक्षित् गद्दी पर बैठा।

किन्तु भारतयुद्ध ने समूचे आर्यावर्त्त के और विशेष कर पंजाब के राज्यों को कमज़ोर कर दिया था। उन की कमज़ोरी के कारण कहीं कहीं जंगली जातियों का उत्पात होना स्वाभाविक था। गान्धार देश के नागों के उत्पात का उस समय के इतिहास में उल्लेख है। तक्षशिला पर उन्हों ने अधिकार कर लिया। फिर पंजाब लाँघ कर हस्तिनापुर पर भी उन्हों ने आक्रमण किया, और कुरु-राज्य अब इतना निःशक्त था कि राजा परीक्षित् को उन्हों ने मार डाला।

परीक्षित् के बाद उस का बेटा जनमेजय गद्दी पर बैठा। उस के समय तक कुरु-राष्ट्र फिर सँभल गया। जनमेजय भी एक शक्तिशाली और दृढ राजा था। उस ने तक्षशिला पर चढ़ाई की, कुछ देर वहीं अपनी राजधानी

बनाये रक्खी, और वहाँ से नागो की शक्ति को जड से उखाड डाला[1] । कहते हैं तक्षशिला मे ही वैशम्पायन सूत ने उसे कौरव-पाण्डव-युद्ध का समूचा वृत्तान्त गा सुनाया था।

परीक्षित् और जनमेजय का समकालीन केकय देश का राजा अश्वपति था। अश्वपति व्यक्तिगत नाम था, या केकय के राजाओ की परम्परागत पदवी, सो कहना कठिन है। जो भी हो, जब जनमेजय ने तक्षशिला पर अधिकार किया, और नागो का दमन तथा उन्मूलन किया, तब केकय अश्वपति उस की अधीनता मे उस के साथ ही रहा होगा, क्योकि केकय देश ( आधु० शाहपुर जेहलम गुजरात जिले ) गान्धार के ठीक पूरब सटा हुआ है। केकय अश्वपति की कीर्ति उस की सुन्दर राज्य-व्यवस्था तथा उस के ज्ञान के कारण भी चली आती है ।

जनमेजय के बाद उस के बेटे शतानीक और फिर शतानीक के बेटे अश्वमेधदत्त ने राज्य किया। शतानीक के समय मे विदेह ( मिथिला ) के राजा जनक उग्रसेन, तथा अश्वमेधदत्त के समय मे पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण जैवलि के नाम प्रसिद्ध हैं। वे दोनो ब्रह्मवादी अर्थात् ज्ञानी राजर्षि थे। जनक मैथिल राजाओं की परम्परागत पदवी थी।

## § ७५. बारह राजवश और दक्खिनी सीमान्त की जातियाँ

अश्वमेधदत्त के बेटे अधिसीमकृष्ण का राज्यकाल प्राचीन इतिहास की एक विशेष सीमा को सूचित करता है । उस का समकालीन अयोध्या का राजा दिवाकर और मगध का राजा सेनाजित् था। कहते हैं, इन राजाओं के समय मे नैमिषारण्य मे मुनि लोग यज्ञ कर रहे थे, जहाँ पर व्यास का तैयार किया हुआ प्राचीन अनुश्रुति का सग्रह या पुराण सूतो ने पहले-पहल सुनाया था। उस के बाद के इतिहास की भी नई अनुश्रुति बनती गई, और गुप्त राजाओं के समय अर्थात् चौथी शताब्दी ई० तक ऐसा होता रहा, किन्तु उस नई अनुश्रुति के लेखको ने उसे एक विचित्र शैली मे लिखा ।

---

१. १ दे० ॐ १९।

उन्हो ने उसे अपने मुँह से न कह कर सदा नैमिषारण्य के सूतों के मुँह से ही कहलवाया—इस तरह मानो वही प्राचीन सूत भविष्यत् की बाते कह रहे हो। और वह "भविष्यत्" वृत्तान्त ज्यो ज्यों धीरे धीरे तैयार होता रहा, पुरानी अनुश्रुति के साथ जुड़ता रहा।

उस के अनुसार अधिसीमकृष्ण दिवाकर और सेनाजित् के समय के बाद बारह राजवश भारतवर्ष मे जारी रहे। पाँचवी शताब्दी ई० पू० के अन्त मे उन सब राज्यों की अन्तिम समाप्ति हुई। हस्तिनापुर का वंश तो अधिसीमकृष्ण के बेटे के समय मे ही वत्स देश मे चला गया, जिस का अभी उल्लेख किया जयगा। वहाँ वह पौरव वंश कहलाता रहा। प्राचीन कुरु देश और उत्तर पञ्चाल मे दो अप्रसिद्ध वश जारी रहे। उन के पड़ौस मे शूरसेन देश ( व्रजभूमि ) की राजधानी मथुरा मे एक पृथक् वंश राज्य करता था। कोशल या अयोध्या मे इक्ष्वाकु वंश रहा, और काशी तथा कोशल इस काल मे बड़े शक्तिशाली राज्य हो गये। उन के पूरब विदेह का जनक वंश कुछ ही अरसा चला। मगध मे फिलहाल वही बार्हद्रथ वंश राज्य करता था जिसे वसु चैद्योपरिचर ने स्थापित किया, और जिस मे जरासन्ध और सहदेव हुए थे। बाद मे वहां दूसरा वंश स्थापित हुआ जिस ने अन्त मे मगध को भारतवर्ष भर मे सब से बड़ी शक्ति बना दिया। मगध के दक्खिनपूरब कलिंग मे भी प्राचीन राजवंश जारी रहा।

पच्छिम-दक्खिन तरफ अवन्ति मे वीतिहोत्र वश और माहिष्मती मे हैहय वश के राजा राज्य करते रहे। उन के दक्खिन गोदावरी-काँठे में अश्मक नाम के एक नये आर्य राजवश का नाम इस समय से सुना जाता है। बाद मे अश्मक-राष्ट्र के साथ हमेशा मूळक-राष्ट्र का नाम भी सुना जायगा। अश्मक की राजधानी पौदन्य और मूळक की प्रतिष्ठान थी। दक्खिनी प्रतिष्ठान का नामकरण उत्तरी प्रतिष्ठान के नाम पर ही हुआ होगा, आधुनिक पैठन उसे सूचित करता है। अश्मक और मूळक विदर्भ के साथ आधुनिक महाराष्ट्र की बुनियाद थे।

विदर्भ, सुराष्ट्र, सौवीर ( आधुनिक सिन्ध ) और पजाब के राज्यो के नाम इस सूची मे नही है। उस का कारण, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह था कि उन प्रदेशो मे से एकराज्य की सस्था हा बहुत कुछ उठ गई थी।

आर्य राज्यो के दक्खिनी अन्तों ( सीमाओ ) पर अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब ( या मूषिक ) जातियाँ रहती थीं। पुलिन्द शायद विन्ध्य के जगलो मे रहे हो। पुण्ड्र उसी शब्द का दूसरा रूप है, या कोई अलग जाति थी, सो कह नहा सकते। अन्ध्र, शबर और मूषिक निश्चय से अश्मक और कलिग के बीच तथा दक्खिन को थे। समूचा आधुनिक आन्ध्र देश ही उस समय अन्ध्र या आन्ध्र जाति का घर था सो नही कहा जा सकता। इस युग से ठीक अगले युग मे तेलवाह नदी पर अन्ध्रपुर या आन्ध्रो की राजधानी थी। तेलवाह नदी आधुनिक आन्ध्र देश की उत्तरी सीमा की तेल या तेलगिरि थी[1]। शबरों के प्रदेश को बस्तर की शबरी नदी सूचित करती है, उन का परिचय भूमिका मे[2] दिया जा चुका है। मूषिको के नाम का हैदराबाद की मूसी नदी से स्पष्ट सम्बन्ध दीखता है। किन्तु दूसरी शताब्दी ई० पू० मे उन की नगरी कण्हवेना या कृष्णवेणा नदी पर थी[3]। कृष्णा और वेणा ( वेण-गगा ) नदियाँ आधुनिक महाराष्ट्र के भांडारा ज़िले मे परस्पर मिलती है, और मिली हुई धारा का नाम कृष्णवेणा होता है, जो चाँदा ज़िले मे वर्धा नदी से जा मिलती है। सम्भव है किसी समय मूसी से कृष्णवेणा तक कुल प्रदेश मूषिको का रहा हो, पर उन का मुख्य और मूल प्रदेश भी यह समूचा ही था, या कुछ कम, और कम था ता कौन सा, सो नही कहा जा सकता। मूषिक

---

१. सेरिववाणिज जातक (३) ( जातक १, १११ ), इ० आ० १९१९ पृ० ७२। भण्डारकर ने वामसगाल की सलाह से तेल या तेलगिरि को तेलवाह माना है।

२. ऊपर § १९।

३. ज० बि० ओ० रि० सो० १९१८ पृ० ३७४-७५, तथा नीचे § १५१।

लोग द्राविड थे या शाबर सो भी नहीं कहा जा सकता। मूतिब शायद मूचिव का अपपाठ है, और मूषिक उस का आर्य रूप। आधुनिक मोची मूलतः मूचिव-मूषिक जाति के रहे दीखते हैं। जो भी हो, ये सब दक्खिनी जातियाँ अब भी विश्वामित्र के पुत्र[1] कहलातीं क्योंकि विश्वामित्र ऋषि के कुछ वंशज उन में जा बसे और मिल चुके थे। वे आर्यों की दक्खिनी पहुँच की सीमा को सूचित करती थी।

## § ७६. कुरु-पञ्चाल का मिलना

सब राष्ट्रों मे धीरे धीरे शान्ति के साथ सुख और समृद्धि भी लौट आई, परन्तु कुरु राष्ट्र पर फिर एक बड़ी विपत्ति आ बनी। अधिसीमकृष्ण के बेटे निचक्षु के समय मटची कीड़ों ( लाल टिड्डियो ) के लगातार उत्पात से कुरु देश मे ऐसा दुर्भिक्ष पड़ा कि लोगों को पुराना सडा हुआ अनाज खा खा कर गुजारना पड़ा। उधर गंगा की बाढ़ हस्तिनापुर को बहा ले गई। इस दशा मे[2] कुरु लोगो की एक बड़ी सख्या राजा-सहित उठ कर कौशाम्बी में जा बसी। कौरवो के इस प्रवास मे दक्षिण पंचाल के लोग भी उन मे मिल गये, और वह सम्मिलित जन तब से कुरु पञ्चाल कहलाने लगा। उन का राजवंश भी तब भारत वश या पौरव वंश कहलाया, और भारतो या पौरवो का केन्द्र वत्सभूमि ( जिस की राजधानी कौशाम्बी थी ) हो गई। कुरु लोग पहले जिस प्रदेश मे रहते थे, उस का नाम भी कुरु पड़ ही चुका था, और आज तक उस का पच्छिमी भाग कुरुक्षेत्र कहलाता ही है।

## § ७७. ज्ञान और तत्वचिन्तन की लहर

निचक्षु के बाद अनेक पीढ़ियो तक राजनैतिक इतिहास की कोई उल्लेखयोग्य घटना हमे मालूम नहीं है। सच बात तो यह है कि इस युग के इतिहास की यथेष्ट छानबीन अभी तक नही हुई। विदेह मे निचक्षु के

---

१. ऐत० ब्रा० ७, १८।

२. दे० ※ १२।

समय के पीछे जनक जनदेव, जनक धर्मध्वज और जनक आयस्थूण नामक जनकों ने क्रमश राज्य किया। भारतवर्ष के इस शान्तियुग मे एक तरफ यज्ञो का कर्मकाण्ड बढ रहा था, और दूसरी तरफ ज्ञान और तत्त्व-चिन्तन की एक नई लहर सी चल पडी थी। उस लहर मे अनेक मुनियो के साथ साथ विदेह के जनको, केकय के अश्वपति, पञ्चाल के प्रवाहण जैबलि और काशी के अजातशत्रु आदि राजाओ के नाम भी सुने जाते है।

मनुष्य क्या है? कहाँ से आया? मर कर कहाँ जायगा? इस सब सृष्टि का अर्थ क्या है? इस तरह के प्रश्न आर्य विचारको को अधीर सा कर रहे थे। ज्ञान की प्यास से व्याकुल हो कर अनेक समृद्ध कुलीन परिवारो के युवक घरबार छोड कर निकल पडते, और गान्धार से विदेह तक विभिन्न देशो मे विचरते और जगलो मे भटकते हुए आश्रमो मे विद्वान् आचार्यों की सेवा करते, और तप और स्वाध्याय तथा विचार और अनुशीलन का जीवन बिताते। उन के जीवन की एक झलक तथा उन के सरल विचारो का चित्र हमे उपनिषद् नाम के वाङ्मय मे मिलता है, जो इस के कुछ ही समय पीछे लिखा गया। उन की कुछ मनोरञ्जक कहानियाँ यहाँ नमूने के तौर पर उद्धृत की जाती हैं।

## अ. नचिकेता की गाथा

रावी नदी के पूरब आजकल जो माझा ( लाहौर कसूर पट्टी तरनतारन अमृतसर का ) प्रदेश है शायद उसी का पुराना नाम कठ था, क्योंकि वहाँ कठ जाति रहती थी [१]। कठो की उपनिषद् मे एक कहानी आती है कि एक बार नचिकेता नाम का एक नवयुवक अपने पिता वाजश्रवा से रूठ कर भाग गया, क्योंकि उस का पिता उस से व्यर्थ मोह करता था। वह यम के घर पहुँचा, पर उस के बाहर रहने से उसे तीन रात भूखा रहना पडा। वापिस आने पर भूखे अतिथि को घर मे देख यम बहुत घबड़ाया और अतिथि से क्षमा माँगते हुए बोला कि तीन रात के कष्ट के बदले मे मुझ से तीन वर

---

१. दे० नीचे § १२१।

माँग लो। नचिकेता के पहले दो मुँहमाँगे वर यम ने झटपट दे दिये। तब वह तीसरा वर माँगने लगा—

"यह जो मरने के बाद मनुष्य के विषय मे सन्देह है, कोई कहते हैं रहता है, कोई कहते हैं नही रहता, यह आप मुझे समझा दे कि असल बात क्या है। यही मेरा तीसरा वर है।"

"इस प्रश्न पर तो पुराने देवता भी सन्देह करते रह गये। यह विषय सुगम नहीं है, बडा सूक्ष्म है। नचिकेता, तुम कोई दूसरा वर माँग लो, इसे छोड़ो, मुझे बहुत न रोको।"

"किन्तु पुराने देवता भी इस पर सन्देह करते रहे हैं, और आप कहते हैं यह सुगम नही है, और आप जैसा इस विषय का कोई प्रवक्ता नहीं मिल सकता, इसी लिए तो मुझे इस जैसा कोई वर नहीं जान पड़ता।"

यम ने नचिकेता को बड़े प्रलोभन दिये। "तुम्हारे सौ बरस जीने वाले पुत्र-पौत्र हो, चाहे जितने हाथी घोड़े गाय और धन मुझ से माँग लो, जितना सुवर्ण और धन चाहो ले लो, ज़मीन ले लो, और चाहे जितनी लम्बी आयु माँगो। इस ससार मे जो कामनायें दुर्लभ हैं वे सब मेरे वर से जी खोल कर तृप्त करो। रथो और बाजो के साथ ये रामायें[1] तुम्हे सेवा के लिए देता हूँ। नचिकेता, इस मृत्यु के परे की समस्या को मुझ से मत पूछो।"

पर नचिकेता इन बातो से डिगने वाला नही था। "हे यम, ये सब सुख दो दिन के हैं, इन्द्रियो का तेज नष्ट कर देते है, यह सब नाच-गान और गाड़ी-घोड़े मुझे नही चाहिएँ। धन से मनुष्य की तृप्ति नही हो सकती, मुझे तो वही वर लेना है।" ( कठ उप० वल्ली १-२ )

शिष्य की इस सच्ची ज्ञान-पिपासा को देख कर अन्त में यम ने उसे उपदेश दिया, और नचिकेता के हृदय को शान्ति मिली। एक सचाई की खोज के लिए नचिकेता के प्राण किस प्रकार छटपटाते थे!

---

१. दे० नीचे § ७९।

## इ. मैत्रेयी, सत्यकाम जाबाल और पिप्पलाद के शिष्यों की कहानियाँ

नचिकेता जैसे अनेक युवको और युवतियो के नाम हमें उस समय के इतिहास में सुन पडते हैं। कहते हैं, याज्ञवल्क्य[1] की दो स्त्रियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी, मैत्रेयी विचारशील थी, कात्यायनी साधारण स्त्रियो की तरह गहने-कपडों की बातो मे उलझी रहती थी।

याज्ञवल्क्य बोले—मैत्रेयी, मै अब यहाँ मे जाने को हूँ, आओ तुम्हारा कात्यायनी से निपटारा कर दूँ।

मैत्रेयी ने कहा—भगवन्, यदि यह समूची धरती धन से भरपूर मुझे मिल जाय तो क्या मै अमर हो जाऊँगी ?

—नहीं, हरगिज़ नहीं। जैसा धनी लोगो का जीवन होता है वैसा तुम्हारा भी जीवन होगा।

—तब जिस चीज़ से मैं अमर न हूँगी, उसे ले कर क्या करूँगी ? आप को जो कुछ ज्ञान है उसी का मुझे उपदेश कीजिए न[2]।

इन ज्ञानपिपासुओ की सरल सत्यवादिता भी कैसी थी! एक बार सत्यकाम जाबाल नाम का एक नवयुवक हारिद्रुमान् गौतम के पास जा कर बोला—भगवन् आप की सेवा मे मै ब्रह्मचारी बन कर रहना चाहता हूँ, क्या आप के पास आ सकता हूँ ? वे बोले—सौम्य तुम कौन-गोत्र हो ?—मैं नहीं जानता महाराज मैं कौन-गोत्र हूँ। माँ से पूछा था, उस ने उत्तर दिया, यौवन मे बहुत घूमते फिरते मैने तुम्हे पाया था, सो मैं नहीं जानती तुम कौन-गोत्र हो, मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा सत्यकाम। सो मैं सत्यकाम

---

१. याज्ञवल्क्य भी जनक की तरह एक वंश का नाम है, केवल एक व्यक्ति का नहीं।

२. बृ० उप० ४, ५।

जाबाल ही हूँ[1]।—कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सत्यवादिता से प्रसन्न हो कर गौतम ने सत्यकाम को अपना ब्रह्मचारी बनाया और वह बड़ा ब्रह्मवक्ता बना।

उस समय के गुरु भी इस बात को बुरी तरह परखते कि उन के शिष्यों की ज्ञान की साध सच्ची है कि नहीं। एक बार, कहते हैं, और यह बात शायद भारत-युद्ध से भी पहले की हो[2], सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि और कबन्धी कात्यायन, ये सब जिज्ञासु भगवान् पिप्पलाद के पास शिक्षा लेने पहुँचे। [ शैब्य=शिवि देश का निवासी, कौशल्य=कोशल का, वैदर्भि=विदर्भ का। देखने की बात है कि कितनी दूर दूर से ये विद्यार्थी इकट्ठे होते थे। ] पिप्पलाद ने उन से कहा—अभी एक बरस तक तुम लोग और तप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से बिताओ; उस के बाद आ कर चाहो जो पूछना; यदि हम जानते होंगे तो सब बतला देंगे। एक बरस के तप के बाद वे सब फिर उपस्थित हुए, और अपने सन्देह मिटा सके।

## उ. अश्वपति कैकेय की बात

एक बार, कहते हैं, पाँच बड़े विद्वान् आपस में विचार करने लगे। अपनी शंकायें मिटाने को वे पाँचों मिल कर उद्दालक आरुणि के पास गये।

---

१. छा० उप० ४, ४।

२. पिप्पलाद नामक एक आचार्य का समय पार्जीटर ने भारत-युद्ध के बाद रक्खा है ( प्रा० अ० पृ० ३२५—३३१ ), किन्तु प्रश्नोपनिषद् वाले पिप्पलाद के भारत-युद्ध से पहले होने का सन्देह इस कारण होता है कि वह कोशल के राजा हिरण्यनाभ का समकालीन था (प्रश्न उप० ६-१ ), और हिरण्यनाभ पार्जीटर के अनुसार मनु से ८३वीं पीढ़ी पर था। किन्तु रायचौधुरी उसे ६ठी शताब्दी ई० पू० में रखते हैं ( पृ० ६५, तथा १६-१७ )। प्रकृत प्रसग में यह विवाद इतने महत्त्व का नहीं है कि इसे निपटाना आवश्यक हो।

उद्दालक ने देखा वह उन्हे सन्तुष्ट न कर सकेगा। उस ने कहा चलो हम सब अश्वपति कैकेय के पास चले। वहाँ पहुँचने पर अश्वपति ने उन का बडा आदर किया। उस ने उन से कहा—मेरे राज्य मे न कोई चोर है, न कायर, न कोई अपढ़ है और न व्यभिचारी, व्यभिचारिणी तो होगी कहाँ से ? आप लोग यहाँ ठहरे, मै यज्ञ करूँगा, तब आप को बडी दक्षिणा दूँगा। उन्हो ने कहा हम जिस प्रयोजन से आये हैं, वह आप से कह दे, हम तो आप से आत्मज्ञान लेने आये है। अश्वपति ने उन्हे दूसरे दिन सबेरे उपदेश देने को कहा। दूसरे दिन प्रातःकाल वे सब समिधाये[1] हाथ मे लिये हुए उस की सेवा मे उपस्थित हुए, और अश्वपति ने उन्हे ज्ञान दिया ( छा० उप० ५, ११ )।

## ऋ. "जनक" की सभा

"जनक" वैदेह के विषय मे लिखा है कि उस ने एक बडा यज्ञ किया, जिस मे बडी भारी दक्षिणा दी जाने को थी। वहाँ कुरुपञ्चालों के ब्राह्मण जुटे। जनक जानना चाहा उन मे स कौन सब से विद्वान् है। उस ने हजार गौएँ खडी की, प्रत्येक के सीगो पर दस दस सोने के पाद[2] बँधवा दिये, और कहा, आप मे से जो सब से अधिक ज्ञानो हो वह इन्हे ले जाय। याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी से कहा—सौम्य सामश्रवा, इन्हे हाँक ले जाओ। दूसरे ब्राह्मण यह न सह सके। उन्हो ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न करना शुरू किया। पाँच विद्वानो और एक विदुषी ने क्रम से याज्ञवल्क्य की परीक्षा ली, पर प्रत्येक को उस ने शान्त कर दिया। तब उद्दालक आरुणि नाम के एक विद्वान् ने उस से एक गूढ़ विषय का प्रश्न किया जो आरुणि ने मद्र देश मे रहते हुए पतञ्चल काप्य से सीखा था। याज्ञवल्क्य इस परीक्षा मे भी उत्तीर्ण हो गया।

---

१. शिष्य लोग पहले-पहल गुरु के पास हाथ में समिधायें ( यज्ञ का इंधन ) ले कर जाते थे।

२. उस समय के सोने के सिक्के निष्क का चौथाई।

तब गार्गी वाचक्नवी दोबारा बोली—"ब्राह्मणो, महाशयो, मैं इस से दो प्रश्न पूछ लूँ, यदि यह इन्हें भी बता दे तो आप में से कोई इसे न जीत सकेगा।" "पूछो गार्गी, पूछो"। वह कहने लगी—"याज्ञवल्क्य, जैसे कोई काशी या विदेह का क्षत्रियकुमार अपने धनुष पर चिल्ला चढ़ा कर दो बाणधारी शत्रुओं या चोरों को अकेला पकड़ लाता है, उसी प्रकार मैं आप के सामने दो प्रश्नों के साथ उपस्थित हूँ, कहिए।" किन्तु गार्गी के कठिन प्रश्न भी जब याज्ञवल्क्य को हरा न सके तब कुरुपञ्चाल ब्राह्मणों को हार माननी पड़ी। तब विदग्ध शाकल्य मुकाबले के लिए उठा। शाकल नगरी पञ्जाब के उत्तरी भाग में मद्र देश की राजधानी थी, आधुनिक स्यालकोट उसे सूचित करता है। शाकल्य का असल नाम देवमित्र था, विदग्ध उस की छेड थी, क्योंकि उसे अपने ज्ञान का बडा गर्व था। उस ने ऋग्वेद का सम्पादन भी किया था, और उस की या उस के शिष्यों की सम्पादित शाखायें शाकल संहितायें कहलाती थीं। विदग्ध और याज्ञवल्क्य की यह शर्त्त थी कि जो विवाद में हार जायगा उस का सिर उतर जायगा। अन्त में जीत याज्ञवल्क्य की ही हुई। ( बृ० उप०, अ० ३ )।

## ॡ. उपनिषदों के धार्मिक विचार

उपनिषद्-युग का यह तत्त्वचिन्तन आर्यावर्त्त में धार्मिक सुधार की भी एक नई लहर को सूचित करता है। यज्ञों के कर्मकाण्ड और आडम्बर के विरुद्ध यही पहला विद्रोह था। उपनिषद् ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि

**प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपा.**

—ये यज्ञ फूटी नाव की तरह हैं ( मुण्डक उप० १, २, ७ )। सृष्टि के अन्दर एक चेतन शक्ति है जो उस का सञ्चालन करती है, यह तो उपनिषदों का मुख्य विचार है। वे प्रायः उस शक्ति को ब्रह्म कहती हैं। इन्द्र वरुण आदि वैदिक देवताओं की पुरानी गद्दी पर उपनिषदों के विचारकों ने इस युग में उसी ब्रह्म की स्थापना कर दी। वैसे भी वैदिक देवताओं की हैसियत में बहुत कुछ उलटफेर हो चुका था। विष्णु और शिव के साथ ब्रह्म या

परमात्मा के अर्थ मे इस वाङ्मय मे अधिक बर्ते गये हैं। कठ-उपनिषद् (३-९) मे विष्णु का परम पद मनुष्य को जीवनयात्रा का चरम लक्ष्य कहा गया है, श्वेताश्वतर उपनिषद् रुद्र-शिव का परमात्मा-रूप से कीर्त्तन करती है। केन उपनिषद् मे पहले पहल उमा हैमवती नाम की देवी प्रकट होती है, जो शायद शिव की स्त्री है। इस प्रकार इन्द्र इस युग मे गौण होने लगता है।

यज्ञो की पूजाविधि के बजाय उपनिषदें एक नये आचरण-मार्ग का उपदेश देती हैं। दुश्चरित स विराम, इन्द्रियो का वशीकरण, मनस्कता अर्थात् मन के सकल्प की दृढता, शुचिता, वाणी और मन का नियमन, तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, शान्ति, सत्य, सम्यक् ज्ञान और विज्ञान—इन सब उपाया से, तथा समाहित होने अर्थात् आत्मा या ब्रह्म में ध्यान लगाने, उस मे लीन होने, और उस की उपासना करने—अर्थात् भक्तिपूर्वक उस का ध्यान करने—से मनुष्य अपने परम पद को प्राप्त होता है[1]। मनुष्य का अन्तरतर जो आत्मा है, वह सब से प्रिय है, उस आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, उसके दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से यह सब ( ससार ) जाना जाता है। उस आत्मा को चाहने वाले विद्वान् लोग पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा ( सन्तान धन और यश की अभिलाषा ) से ऊपर उठ कर भिखारी बन जाते हैं[2]। एक तरफ जहाँ यह उपदश है कि "यह आत्मा बलहीन को नहीं मिलता और न प्रमाद से या तप के अभाव से", वहाँ दूसरी तरफ यह भी कहा है कि "यह आत्मा न उपदेशो से मिलता है, न मेधा से, न बहुत पढने से, जिसे यह वर लेता है वही इसे पा सकता है, उस के सामने यह आत्मा अपने रूप को खोल देता है।"[3] इन मे से पिछला कथन स्पष्ट रूप से भक्ति-भाव को सूचित करता है।

---

१. कठ उप० २, २३, ३, ६-७-१३, प्रश्न उप० १, १५, मुण्डक उप० १, २, ११, ३, १, ५।

२. बृ० उप० १,४,८, २,४,५, ४,४,२२।

३. मुण्डक उप० ३,२,३-४; कठ उप० २,२२।

यह एक प्रचलित विचार है कि उपनिषदें अद्वैतवाद का—अर्थात् इस जगत् मे एक ही ब्रह्म है, और यह जगत् भी उसी को अभिव्यक्ति है, इस विचार का—उपदेश देती हैं। सच बात यह है कि सब उपनिषदें एक व्यक्ति या एक सम्प्रदाय की कृति नहीं हैं। जगत् के असल तत्त्व को खोजना उन सब का स्पष्ट लक्ष्य है, और उस खोज के लिए उन मे बड़ी सचाई त्याग और आतुरता झलकती है। स्थूल सृष्टि और अनेक प्रकृति-शक्तियों के परे और अन्दर एक महान् चेतन शक्ति—आत्मा या ब्रह्म—है, यह सब उपनिषदों की एक विशेष अनुभूति, उन की खोजों का प्राय: सर्वसम्मत सार है। किन्तु सम्प्रदाय-बद्ध एकमार्गीय विचार उपनिषदों मे नहीं है; वहाँ तो तत्त्वचिन्तन की आरम्भिक धुँधली उड़ानें हैं। वह चिन्तन कभी कभी अद्वैतवाद की तरफ़ भी झुकता है; पर वह वाद उस चिन्तन के अनेक परिणामों में से केवल एक है। उस के साथ साथ उपनिषदों मे सृष्टि और आत्माविषयक दूसरे अनेक अस्फुट विचार भी हैं, यहाँ तक कि अनात्मवाद के बीज भी उन में खोजे जा सकते हैं[1]।

## § ७८. ज्ञान का विस्तार-क्षेत्र; चरण शाखायें आश्रम और परिषदें; उत्तर वैदिक वाङ्मय

उस युग की जिज्ञासा का क्षेत्र केवल अध्यात्म विषय ही न थे, प्राकृतिक और मानव ( या जड़ और चेतन ) जगत् के कई पहलुओं की ओर विचारकों का ध्यान गया था। आर्यों की उस समय की विद्याओं का जो परिगणन मिलता है ( जैसे छा० उप० ७, १-२ में ), उस मे से प्रत्येक के नमूने आज नहीं मिलते, और न प्रत्येक नाम का ठीक अर्थ ही हम जानते हैं। तो भी उन की कुछ विद्याओं का हमे पता है।

जिस उद्दालक आरुणि का ऊपर नाम आया है, वह एक प्रसिद्ध विचारक और विद्वान् था। उस का बेटा श्वेतकेतु औद्दालकि तथा दोहता अष्टावक्र

---

१. जैसे बृ० उप० ३, २, १३ में

भी प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं। श्वेतकेतु औद्दालकि ब्रह्मवादी होने के अतिरिक्त जननशास्त्र और कामशास्त्र का भी प्रवर्त्तक गिना गया। उस के एक अरसे बाद उसी विषय पर बाभ्रव्य पाञ्चाल ने एक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखा। यह बाभ्रव्य उस सुबालक बाभ्रव्य पाञ्चाल से निश्चय से भिन्न था जिस ने भारत-युद्ध के पहले शिक्षा-शास्त्र का प्रणयन किया था।

श्वेतकेतु से अगली पीढी मे शाकपूर्ण या शाकपूणि नाम का व्यक्ति हुआ, जो व्याकरण का एक प्राचीन आचार्य माना जाता है।

उस से अगली पीढी मे आसुरि हुआ, और आसुरि का शिष्य पञ्चशिख था। कोई कहते है आसुरि के बडे भाई और गुरु का नाम कपिल था, कोई कहते हैं पञ्चशिख का नाम ही कपिल था। जो भी हो, जिस प्रकार वाल्मीकि को आदि कवि कहा जाता है, उसी प्रकार कपिल को आदि-विद्वान् अर्थात् सब से पहला दार्शनिक। उस की दर्शन-पद्धति को सांख्य कहते हैं। वह एक अनीश्वरवादी शुद्ध दार्शनिक पद्धति है जो जड-चेतन जगत् की कुल सत्ताओ का संख्या बद्ध और शृंखला-बद्ध विवेचन करती है। इस परि-संख्यान या परिगणन के कारण ही वह सांख्य-पद्धति कहलाती है।

पञ्चशिख से तीसरी पीढी पर यास्क हुआ। शायद उस का कोई वंशज या शिष्य था जिस का बनाया हुआ निरुक्त अब भी मिलता है।

यज्ञो के पूजा-पाठ और क्रियाकलाप के आडम्बर का भी बडा विस्तार हुआ। ऋचाओ और सामो का यज्ञो मे प्रयोग होता था, उन के प्रयोग-सूचक वाक्य यजुष् थे। उन सब की व्याख्या मे भी अब बहुत कुछ लिखा जा रहा था, और वह शृङ्खलित और-सम्पादित हो कर गुरु शिष्य-परम्परा मे चल रहा था। वेदव्यास के समय और पहले से जो अध्ययन और शिक्षण के अनेक सम्प्रदाय चल पड़े थे, वे इस समय खूब फूले फले। वे चरण या शाखा कहलाते। उन्ही चरणो या शाखाओ के आश्रमो मे विभिन्न वेदो का अध्ययन, सम्पादन और शिक्षण चलता।

वेद-संहिताओं के अध्ययन ने ज्ञान के अन्य जिन अनेक मार्गों या वेदाङ्गों को पैदा कर दिया था, उन का तथा अन्य फुटकर विषयो का अध्ययन-अध्यापन भी उन्हीं चरणो के आश्रमो में होता। स्वतन्त्र विचारको और विद्वानो के भी अपने आश्रम थे। इन्हीं सब आश्रमो मे परम्परागत ज्ञान का संग्रह और पुष्टि होती, नवीन विचारो का प्रादुर्भाव होता, और नवयुवक विद्यार्थियो को जातीय ज्ञान की विरासत प्राप्त होती। समय समय पर भिन्न भिन्न राष्ट्रो मे विद्वानो की परिषदे भी जुटती। श्वेतकेतु औद्दालकि एक बार पाञ्चालो की परिषद् मे गया था, जहाँ राजा प्रवाहण जैबलि ने उस से कई प्रश्न पूछे थे ( बृ० उप० ६, २, छा० उप० ५, ३ )। ये परिषदे एक तरह से प्राचीन समिति का ही एक पहलू थीं।

चरणो और आश्रमों के नाम भिन्न भिन्न स्थानो के नाम से या प्राचीन ऋषियो आदि के नाम से होते। आर्यों का जितना प्राचीन ज्ञान मिलता है वह अमुक शाखा या अमुक चरण का कहलाता है। लेखक व्यक्ति का नाम नहीं कहा जाता, केवल उस का चरण या शाखा बतलाई जाती है। और अधिकांश ग्रन्थ एक व्यक्ति के हैं भी नहीं, वे संहिता या सकलन हैं, उन पर पुनः पुनः सम्पादन का, अनेक मस्तिष्कों के सहयोग की और सामूहिक तजरबो की स्पष्ट छाप है। ज्ञान के क्षेत्र मे व्यक्ति की कुछ सत्ता ही नहीं, सभी कुछ सामूहिक है। प्राचीन आर्यों का सभी ज्ञान इसी प्रकार पैदा होता, पनपता और फलता-फूलता रहा है; हम आज विभिन्न विचारो को पैदा करने वाले सम्प्रदायो के नाम ही मुख्यतः जानते हैं, व्यक्तियो के बहुत कम।

वेद के उक्त भाष्य ब्राह्मण कहलाये। वे गद्य के जटिल ग्रन्थ हैं। कई शाखाओं की सहिताओ मे वेद-भाग अलग और ब्राह्मण या व्याख्या-भाग अलग है, कइयो मे दोनो मिश्रित हैं। इस का यह अर्थ है कि वेद-संहिताओं का अन्तिम रूप ब्राह्मण-युग के अन्त में निश्चित हुआ। ब्राह्मणो के अन्तिम

भाग आरण्यक ( अरण्य या जगल मे कहे गये ग्रन्थ ) और उपनिषद् ( निकट बैठ कर कहने के अर्थात् रहस्य-ग्रन्थ ) कहलाये।

शिक्षा आदि ज्ञान जो वेद से पैदा हुए, वेदाङ्ग कहलाये। वे छ हैं। शिक्षा या शीक्षा का अर्थ कह चुके हैं। उस के अतिरिक्त व्याकरण, छन्द और निरुक्त ये तीन अग भी भाषा के अध्ययन से सम्बन्ध रखते है। निरुक्त मे शब्दो को व्युत्पत्ति अर्थात् उन के उद्भव की खोज की जाती है। बाकी दो वेदाङ्ग हैं—ज्योतिष और कल्प। वेदाङ्ग ज्योतिष बहुत आरम्भिक किस्म का था। कल्प मे आर्यो के व्यक्तिगत तथा परिवार और समाज-सम्बन्धी अनुष्ठान के नियमो का विचार होता। आर्यो के व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के कैसे नियम हों, क्या सस्कार हो, क्या कानून हो, इन बातो की मीमांसा ही कल्प कहलाती। उस के तीन अश थे—श्रौत, गृह्य, और धर्म। श्रौत मे व्यक्तिगत अनुष्ठान, यज्ञ आदि की विवेचना है जो सब श्रुति पर निर्भर होने से श्रौत कहलाता। गृह्य या पारिवारिक अनुष्ठान मे श्रुति की विधियो के अतिरिक्त प्रचलित प्रथाये भी आ जाती हैं। विवाह, अन्त्येष्टि आदि के सब सस्कार उसी में सम्मिलित हैं। धर्म का अर्थ यो तो था कानून या तमाम व्यवहार। कल्प के धर्म अश मे सामाजिक अनुष्ठान का उल्लेख है।

कल्प सब सूत्रो अर्थात् अत्यन्त सक्षिप्त वाक्यो मे मिलते हैं। वे ब्राह्मणग्रथो का सार हैं। किन्तु सार और निष्कर्ष निकालने के साथ साथ सशोधन और परिवर्त्तन को प्रक्रिया भी जारी रही। न केवल कल्प प्रत्युत अन्य सभी विषय बाद मे सूत्र शैली मे लिखे गये।

मुख्य उपनिषदो का अन्तिम समय हम औसतन आठवीं शताब्दी ई० पू० रख सकते हैं। कल्प-सूत्रो का आरम्भ तभी से हुआ। किन्तु अब जो श्रौत गृह्य और धर्म-सूत्र हमे उपलब्ध हैं, वे प्राय छठी या पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० पू० तक के हैं। किन्तु प्राचीन चरणो के आश्रमों में सम्पादन और परिमार्जन की प्रक्रिया कैसे होती थी, सो अभी

देख चुके हैं। इसी कारण इन सूत्रों का विद्यमान रूप भले ही पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के पीछे का हो, उन मे पुरानी सामग्री बहुत कुछ विद्यमान है।

ब्राह्मण उपनिषद् और सूत्र-ग्रन्थों को मिला कर हम उत्तर (पिछला) वैदिक वाङ्मय कहते हैं।

## § ७९. सामाजिक विचार-व्यवहार और आर्थिक जीवन का विकास; वर्णाश्रम-पद्धति और ऋणों की कल्पना

उत्तर वैदिक काल के आश्रमों मे भारतीय विचार की ठोस बुनियाद पहले-पहल पड़ी, और भारतीय विचार-पद्धति का एक व्यक्तित्व बना। इसी काल मे आर्यों के समाज-सस्थान की नींव डली[1]।

यह समझा जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति जो पैदा होता है चार ऋण[2] ले कर पैदा होता है—वह देवताओं का, ऋषियों का, पितरों का और मनुष्यों का ऋणी पैदा होता है। उन ऋणों के कारण उस के कर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने पड़ौसी मनुष्यों का ऋणी है, और आतिथ्य आदि का धर्म निबाहने से उस ऋण को चुका सकता है। इसी प्रकार देवताओं का ऋण यज्ञ करने से चुक जाता था। किन्तु ऋषियों और पितरों के ऋण विचित्र थे। ऋषियों का ज्ञान का ऋण अध्ययन से, एवं पितरों का सन्तान के जनन से चुकाया जाता था। ऋणों की इस कल्पना के विषय मे चाहे जो कहा जाय, इतना

---

१. दे० * १६।

२. पिछले शास्त्रों में तीन ही ऋण—देव-ऋण ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण—प्रसिद्ध हैं, किन्तु आरम्भ में चार ऋण माने जाते थे, चौथा मनुष्य-ऋण। शत० ब्रा० १, ७, २, १ में उन का इस प्रकार उल्लेख है—ऋण ह वै जायते यो ऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः॥ आगे उन की व्याख्या है। ऐत० ब्रा० ७, १३ भी ऋणों के सिद्धान्त का उल्लेख है।

तो स्पष्ट है कि यह मनुष्य को एक सामूहिक प्राणी के रूप मे देखती थी। और इस की दृष्टि मे मनुष्य केवल अपने समकालीन समाज का नहीं प्रत्युत पूर्वजो का भी ऋणी था, और क्योंकि पूर्वजो का ऋण वशजो के तईं चुकाया जाता था, इस कारण उस के अपने वशजो के प्रति भी कर्त्तव्य थे।

कुछ कुछ ऋणों के विचार पर आश्रम व्यवस्था निर्भर थी। मनुष्य का जीवन चार स्वभाविक आश्रमों या पडावो मे बाँटा गया था। पहले दो आश्रम, विद्यार्थी और गृही, तो सर्वसाधारण के लिए ही थे, दूसरे दो, वानप्रस्थ और परिव्राजक या भिक्षु, विशेष ज्ञानवान् लोगो के लिए। वानप्रस्थ लोग गाँवों और नगरों के पडोस मे आश्रमो मे रहते। वे आश्रम इस प्रकार परिपक्व तजरबे, स्पष्ट निर्भीक निष्पक्षपात विचार और अध्ययन के केन्द्र थे। और राष्ट्र के जीवन पर उन का बड़ा प्रभाव था। उसी प्रकार सर्वत्याग कर घूमने वाले भिक्षुओं का।

जाति भेद आरम्भ मे केवल आर्य और दास का ही था। वैदिक काल मे विजातीय जनता से स्वाभाविक घृणा थी, कोई निश्चित बन्धन न होने से स्वाभाविक सम्बन्ध भी बहुधा हो जाते थे। अब लगातार साथ रहने से अधिक सम्पर्क होने लगा, तब आर्यों की पवित्रता बनाये रखने के लिए नियम और बन्धन बनाये जाने लगे। दास स्त्री आर्य की धर्मपत्नी न हो सकती। तो भी रामा के रूप मे रमण के लिए काली जाति की स्त्रियों को रखना वर्जित न था। यहाँ तक कि रमण के लिए रक्खी जाने वाली रामाओ की कालिमा के कारण राम शब्द मे ही काले का अर्थ आ गया[1]। वैसे भी दास अब आर्यों के समाज के बिलकुल बाहर न रहे, वे उन का एक अंग—शूद्र

---

१ निरुक्त १२, १२, २ में लिखा है—अथोराम अधस्ताद्रामोऽधस्तात् कृष्णः कस्मात् सामान्यादित्यग्निं चित्वा न रामामुपेयात्, रामा रमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजातीयैतस्मात् सामान्यात् ॥ स्पष्ट है कि रामा = अनार्य स्त्रैण।

के रूप में—बनने लगे। किन्तु शूद्र के साथ विवाह-सम्बन्ध घृणित माना जाता, आर्यों के समाज में आ जाने पर भी वह एक दलित श्रेणी था। आर्य और शूद्र में वास्तविक जाति-भेद अर्थात् नस्ल का भेद था।

स्वयं आर्यों में भी विभिन्न श्रेणियाँ शकल पकड़ रही थीं। रथेष्ठा या रथी लोग साधारण पदाति से हैसियत में स्वभावतः ऊँचे थे, सो पीछे कहा जा चुका है। बहुत से राजकीय पदों पर स्वभावतः उन्हीं की अधिकांश नियुक्ति होती, यद्यपि वैसा कोई नियम न था। राजन्य का दर्जा उन से भी ऊँचा था,[1] उस में राजकीय परिवारों के लोग थे। राजन्यों और रथेष्ठाओं को मिला कर क्षत्रिय श्रेणी बनती थी, जो शुरू से ही कुछ कुछ विश से ऊपर थी; अब केवल उस का ऊपर होना अधिक स्पष्ट होने लगा।

किन्तु एक नई श्रेणी ज्ञान और विचार के मार्ग में जाने वाले, अध्ययन और अध्यापन में लगे लोगों की बन रही थी। वही ब्राह्मण श्रेणी कहलाती। ब्राह्मण का मूल अर्थ केवल ब्रह्मन्—ऋच् साम और आथर्वण मन्त्रों—को दोहराने वाला, अर्थात् पद्यपाठक मात्र था। पद्यपाठक के काम से ही एक तरफ तो

---

१. समूचा समाज चार वर्णों में बाँटा जा सकता है, यह केवल एक दार्शनिक कल्पना थी। धर्मशास्त्रकारों के नियम केवल उन के लेखकों के विचारों और इच्छाओं को सूचित करते हैं न कि इतिहास की वस्तु-स्थिति को। वास्तव में प्रत्येक काल में चार वर्ण या श्रेणियाँ थीं, यह अत्यन्त भ्रामक विचार है। मेगास्थनी ४ थी शताब्दी ई० पू० में सात श्रेणियों में भारतीय समाज को बाँटता है ( इं० आ० १८७७, पृ० २३६-२३८ )। ऊपर § ७२ में वैदिक राष्ट्र का जो आदर्श दिखलाया गया है, उस में राजन्य और रथेष्ठाः दो अलग अलग श्रेणियाँ हैं, और वैसा होना स्वाभाविक भी था। बुद्ध के समकालीन अर्थात् छठी शताब्दी ई० पू० के कूटदन्त-सुत्त ( दीघ० ) में फिर खत्तिया अनुयुत्ता और अमच्चा परिसज्जा में भेद किया है ( हि० रा० भाग २, पृ० १०० टि० ४ में उद्धृत )।

पुरोहित के काम का विकास हो गया। दूसरी तरफ पद्यों के अनुशीलन से ही अनेक ज्ञानो और अध्ययनो का किस प्रकार विकास हुआ और हो रहा था, उस का उल्लेख किया जा चुका है। आर्य सस्कृति की यह विशेषता थी कि ज्ञान के साथ त्याग का भाव उस मे जुडा हुआ था, आज तक भारतीय मनोवृत्ति उन भावो को अलग अलग नहीं कर सकती, उन का स्वाभाविक सहयोग समझती है। इस प्रकार ज्ञान और अनुशीलन, अध्ययन और अध्यापन करने वाले गृहस्थ त्यागियो की एक दूसरी श्रेणी बन उठी। उन मे से जो बड़े बडे आश्रमो या शालाओ के नायक थे वे महाशाल[1] ब्राह्मण कहलाते। पुरोहित ब्राह्मण और महाशाल ब्राह्मण दोनो ही का अध्ययन-अध्यापन मुख्य लक्षण था। क्योंकि राष्ट्र के धर्म और व्यवहार ( नियम कानून ) की और हिताहित की वे विशेष विवेचना करते थे, इस लिए एक तरफ राष्ट्र के मन्त्र-घर ( अमात्य सलाहकार नीति-निर्धारक ) का कार्य तथा दूसरी तरफ़ न्याय-विभाग का कार्य प्राय: उन्हो के हाथो मे आ जाता। इन ऊँचे पदो मे या पुरोहित के पेशे मे आमदनी जरूर थी, किन्तु साधारण ब्राह्मण का मुख्य कार्य तो अध्ययन-अध्यापन ही था, जिस के साथ गरीबी का भाव आरम्भ से जुडा हुआ था। आर्य सस्कृति की यह एक विशेषता रही, और अब तक है, कि उस मे ज्ञान और गरीबी का आदर सम्पत्ति और समृद्धि से कभी कम नहीं रहा। जनता की इसी मनोवृत्ति के कारण क्षत्रिय श्रेणी जैसो कुलीन और अभिजात समझी जाती, ब्राह्मण श्रेणी भी वैसी ही कुलीन और अभिजात गिनी जाने लगी।

क्षत्रिय और ब्राह्मण, ये दोनो श्रेणियाँ साधारण विश मे से ही ऊपर उठी थी। विश के साधारण लोग वैश्य थे। वे सब का आश्रय थे। वैश्य गृहपति राष्ट्र का आधार थे। शिल्प और व्यवसाय के परिपाक के साथ साथ

---

१ सु० नि० ब्राह्मणधम्मिकसुत्त ( १६ ) और वासेट्ठसुत्त ( ३५ ) की वत्थुगाथा।

वैश्य-समुदाय मे भी गण बनने लगे, और उत्तर वैदिक वाङ्मय मे जहाँ श्रेष्ठी शब्द आता है, उस का अर्थ बहुत से विद्वान् गण का प्रमुख ही करते है। श्रैष्ठ्य का अर्थ गण की मुख्यता। अर्थात् उस आरम्भिक समाज मे, जो पहले समूचा कृषको और पशुपालको का था, और जिस मे कुछ साधारण शिल्प केवल कृषि के सहायक रूप मे थे, अब कृषि व्यापार और अनेक शिल्प-व्यवसायो की भिन्नता फूटने और अंकुरित होने लगी, श्रम की विभिन्नता प्रकट होने लगी, तथा जिस प्रकार ज्ञान और अध्ययन का पेशा उसी विशः मे से फूट कर एक पृथक् अंग बन रहा था उसी प्रकार अन्य शिल्पों और व्यवसायो के समूह या गण भी पृथक् अगों के रूप मे प्रकट होने लगे। किन्तु यह अभी बीज मात्र था।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का उक्त वर्गीकरण केवल एक श्रेणी-भेद तथा दार्शनिक वर्गीकरण था। अपनी अपनी श्रेणी मे ही खान-पान विवाह-व्यवहार रखने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, और तब भी थी, किन्तु आजकल की जातपाँत की तरह वे बन्द दायरे न थे। जात-भेद यदि था तो आर्य और शूद्र मे था, और वह जाति-भेद के आधार पर था।

आर्यों के साधारण सामाजिक आचार-व्यवहार मे पहले की अपेक्षा अधिक परिष्कृति आ रही थी।

उत्तर वैदिक वाङ्मय में कपास का पहले-पहल उल्लेख मिलता है,[1] इस लिए सूती कपडा बुनने का प्रचार उस समय तक निश्चित रूप से हो गया था। कपास और सूती कपड़े का आविष्कार समूचे संसार मे पहले-पहल भारतवर्ष मे ही हुआ, तथा पच्छिमी जगत् के सामी और अन्य लोगों को भारतवर्ष से ही उस का पता मिला था।

१. आश्वलायन श्रौत सूत्र ६,४,१७।

## § ८०. जनपदों का आरम्भ और प्रादेशिक राज्यसंस्थाओं का विकास

अवस्थिति या स्थिरता के कारण जैसी परिपक्कता इस उत्तर वैदिक युग के आर्थिक और सामाजिक जीवन मे आ रही थी वैसी ही आर्यों को राज्य-संस्था मे भी।

जनों के लगातार एक स्थान पर बसे रहने और अवस्थित हो जाने के कारण उन स्थानो या जनपदों का भी धीरे धीरे स्थिर व्यक्तित्व—स्पष्ट 'नाम-रूप'—होने लगा। और उस का यह फल हुआ कि राज्य अब जन के बजाय धीरे धीरे जनपद का माना जाने लगा। जनपद का अर्थ ही है जन का रहने का स्थान ( पद )—जहाँ जन के पैर जमे हो। देश जनपद इसी कारण कहलाने लगा कि वह जन का अधिष्ठान था, उस पर कोई जन बस गया था। आरम्भ में जनपद मे यही विचार था। अब हम साधारण रूप से देश को जनपद कहते हैं, वह किसी जन ( कबीले ) का अधिष्ठान है या नही सो कभी नहीं विचारते, किन्तु प्राचीन काल के लोग इसी विचार से जनपद को जनपद कहते थे। जनपदो के नाम जनो के नामो से ही पड़े थे, जैसे कुरु, पञ्चाल, चेदि, वत्स, अग, शूरसेन, अवन्ति, यौधेय, मद्र, शिवि, अम्बष्ठ, उशीनर, मालव, केकय, गान्धार आदि। किन्तु ऊपर से नाम वही रहते हुए भी अन्दर से उन की राज्यसंस्था मे चुपके चुपके परिवर्त्तन हो गया—जानराज्य के बजाय अब वे जानपद राज्य हो गये। कुरु, पञ्चाल, मद्र, मालव आदि अब जन या कबीले न रहे। यद्यपि अब भी उन उन नामो के जनपदो मे उन्हीं उन्ही मूल जनो के वंशज—सजात या अभिजन[1]—मुख्यतः बसे हुए

१ अभिजन शब्द पाणिनि ( अष्टाध्यायी ४, ३, ९० ) का है। उस में दो अर्थ हैं, एक तो वही जो वैदिक सजात में, दूसरा सजातों का देश—किसी के पूर्वजों का मूल निवास-स्थान। अभिजनः पूर्वबान्धवः, तत्सम्बन्धाद्देशोऽप्यभिजन उच्यते यस्मिन् पूर्वबान्धवैरुषितम् ( उक्त सूत्र पर काशिका-वृत्ति )।

थे, तो भी और जो कोई भी व्यक्ति उन राष्ट्रो मे से किसी मे बस जाय, उस मे भक्ति रक्खे, वह राष्ट्र उस का अभिजन हो या न हो, वह व्यक्ति अब उस की प्रजा हो जाता। बाहरी लोग किसी जन की प्रजा तो पहले भी बन ही सकते थे ( ऊपर § ६७ इ ), किन्तु उस समय उन्हे कल्पित सजातता या अभिजनता स्वीकार करनी पड़ती थी। अब वे सजात या अभिजन नहीं बनते थे, अभिजनत्व के बजाय अब उन्हे जनपद मे भक्ति रखने की आवश्यकता होती थी।

इसी प्रकार ग्राम पहले जन की टुकडी या जत्था होता था, अब उस मे भी बस्ती का भाव मुख्य हो गया।

केवल इतना ही नहीं, विभिन्न जनपदो मे विभिन्न प्रकार की राज्य-सस्थाये स्थिर सी हो चली थी। प्राची दिशा अर्थात् मगध विदेह कलिग आदि मे साम्राज्य के अभिषेक होते, वहाँ के राजा सम्राट् कहलाते। आजकल हम एक-च्छत्र शासन को साम्राज्य कहने लगे है, प्राचीन साम्राज्य शब्द का मूल अर्थ शायद था राज्य-सघ या राज्य-समूह, अर्थात् अनेक राज्यो का गुट्ट जिन मे से एक मुखिया मान लिया गया हो। दक्षिण दिशा मे सत्वत ( यादव ) लोगों मे भौज्य राज्यसस्था थी, वहाँ प्रमुख शासक भोज कहलाते। भोज का अर्थ प्रतीत होता है कुछ समय के लिए नियुक्त राजा। प्रतीची दिशा ( पच्छिम ) मे नीच्य और अपाच्य लोगों मे, अर्थात् दक्खिनपच्छिम और ठेठ पच्छिम—सुराष्ट्र, कच्छ, और सौवीर ( आधुनिक सिन्ध ) आदि देशो—मे स्वाराज्य राज्यसस्था थी, वहाँ के राजा स्वराट् कहलाते। स्वाराज्य का अर्थ था अग्र्यं समानाना—ज्यैष्ठ्यम्—बराबर वालो का अगुआपन। इस प्रकार स्वराट् आनुवंशिक राजा न था, बराबर के लोगों मे से चुना हुआ अगुआ मात्र था। उदीची दिशा मे हिमालय के परे उत्तर कुरु उत्तर मद्रों के जो जनपद थे, उन में वैराज्य प्रणाली थी; वे विराट्— राजहीन —जनपद थे। उत्तर कुरु, उत्तर मद्र से इस युग में क्या समझा जाता था, सो ठीक नहीं कहा जा सकता। और ध्रुवा मध्यमा प्रतिष्ठा दिशा में अर्थात् अन्तर्वेद में, कुरु-पञ्चाल वश और उशीनर ( पूर्वोत्तर

पंजाब के ) लोगों मे राज्य की प्रथा थी। वहाँ के राजा ठीक राजा थे और कहलाते थे। अर्थात् मध्यदेश और प्राची के सिवाय सभी जगह एकराज्य की प्रणाली न थी। विशेष कर मध्यदेश के उत्तरपच्छिम से दक्खिन तक—पंजाब से बराड महाराष्ट्र तक—संघ-राज्यों को एक मेखला थी। हम देखेंगे कि यह अवस्था प्राचीन काल के अन्त तक—५०० ई० तक—जारी रहेगी। आर्यों के विचार-व्यवहार और समाज-संस्थान की ठोस बुनियाद जैसे इस युग मे पडी, वैसे ही आर्यों की राज्यसंस्था की आधार-शिलाये भी भी इसी उत्तर वैदिक युग मे रक्खी गई । भारतवर्ष के व्यक्तित्व-विकास का यही युग था[1]।

जिस ध्रुव और प्रतिष्ठित मध्यदेश मे एकराज्य की संस्था थी, वहाँ भी उस की आन्तरिक शासनप्रणाली एक स्थिर शकल पकड रही थी, और उस का कुछ चित्र हमे मिलता है।

राजा पहले की तरह समिति की सहायता से राज्य करता था। समिति के ही कुछ मुख्य लोग वैदिक काल मे राजकृत कहलाते थे, अब उस समूह या संस्था का एक स्पष्ट रूप बन गया, और वे लोग अब रत्नी ( रत्निन ) कहलाते, क्योंकि वे राजा को अभिषेक के समय राजकीय अधिकार का सूचक रत्न ( वैदिक काल का मणि ) देते थे। अभिषेक मे राजा जैसे पहले राजकृत की पूजा करता था, वैसे ही अब रत्नियों की। पुराने राजकृत का ही नया नाम रत्निन था, भेद शायद केवल इतना हो कि रत्नी अब स्थायी और निश्चित पदाधिकारी थे। राजा समेत कुल बारह रत्नी होते थे—( १ ) सेनानी, ( २ ) पुरोहित, ( ३ ) राजा या राजन्य ( राजपुत्र ), ( ४ ) महिषी अर्थात् रानी, ( ५ ) सूत अर्थात् राज्य का वृत्तान्त रखने वाला, ( ६ ) ग्रामणी—शायद मुख्य ग्राम का या राजधानी का नेता अथवा देश के ग्रामणियों का मुखिया, ( ७ ) क्षत्ता अर्थात् राजकीय कुटुम्ब का निरीक्षक या प्रतिहार, ( ८ ) संग्रहीता अर्थात् कोष का नियामक अथवा राज्य का मुख्य नियामक—रज्जुभिर्नियन्ता,

---

१. दे० # १६।

( ९ ) भागदुघ अर्थात् वसूली का मुख्य अधिकारी, ( १० ) अक्षावाप अर्थात् हिसाब रखने वाला मुख्य अधिकारी, ( ११ ) गो-विकर्त्ता अर्थात् जगलों का निरीक्षक, जंगली पशुओं और शिकारियों का नियन्त्रण-कर्त्ता, और ( १२ ) पालागल अर्थात् सन्देशहर जो शूद्र होता, अथवा उस के स्थान मे तक्ष (बढ़ई) या रथकार।

रत्नी या राजकर्त्ता लोग समिति का ही एक अश अर्थात् प्रजा के प्रतिनिधि थे।

साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य की इन विभिन्न प्रादेशिक राज्यपरिपाटियों के बीच पारमेष्ठ्य, माहाराज्य और आधिपत्य ( अर्थात् परमेष्ठी, महाराज और अधिपति होने ) के लिए, एव समन्तपर्यायी ( सब सीमाओं तक जाने वाले ) सार्वभौम होने अथवा समुद्र-पर्यन्त पृथिवी का एकराट्[1] होने के लिए होड़ लगी ही रहती थी, और प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी शासक के सामने वह आदर्श बना ही हुआ था।

१. ऐत० ब्रा० ८, १४।

## ग्रन्थनिर्देश

प्रा० अ०, अ० ४, १५, २१ ( पृ० २३५ ), २२ (पृ० २४१), २४ ( पृ० २८५-२८७ ), पृ० ३१७ टि० ४, अ० २७।

जायसवाल—बृहद्रथ वंश की कालगणना, ज० बि० ओ० रि० सो० ४, पृ० २६ प्र।

रा० इ० पृ० ६—५६।

हिं० रा०, §§ ६, १०, १७; अ० १०, १२, १५, १६, २४, २५, २६; §§ २६२, ३६२। विभिन्न जनपदों की विभिन्न राज्यसंस्थाओं तथा मध्यदेशी राज्यों की शासनपद्धति-विषयक प्रमाण वहीं से लिये गये हैं।

सा० जी०—अ० १§१, अ० ५§२।

हरप्रसाद शास्त्री—सांख्य वाङ्मय, ज० बि० ओ० रि० सो० ६, पृ० १५१ प्र।

हाराण चन्द्र चकलादार—सोश्यल लाइफ़ इन एन्श्येंट इंडिया, स्टडीज़ इन वात्स्यायनज़ कामसूत्र ( कलकत्ता १९२९ ) पृ० १-१०।

दसवाँ प्रकरण

# सोलह महाजनपद

( ८-७-६ शताब्दी ई० पू० )

## § ८१. विदेह में क्रान्ति, काशी का साम्राज्य, मगध में राजविप्लव

भारतयुद्ध से छठी शताब्दी ई० पू० तक का राजनैतिक इतिहास शृङ्खलाबद्ध रूप मे अभी तक नही कहा जा सकता। अभी तक हम केवल कुछ एक बडी बडी घटनाओ की बात जानते है, और उन का समय तथा पौर्वापर्य भी अन्दाज़ से ही कह सकते है। उन घटनाओ मे से एक विदेह को राज्यक्रान्ति है। विदेह का एक राजा कराल जनक बडा कामी था, और एक कन्या पर आक्रमण करने के कारण प्रजा ने उसे मार डाला[1]। कराल शायद विदेह का अन्तिम राजा था, सम्भवत:[2] उस की हत्या के बाद

---

१. दाण्डक्यो नाम भोज कामात् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानस्सबन्धुराष्ट्रो विननाश। करालश्च वैदेह।—अर्थ० १, ६।

२. मिलाइए रा० इ० पृ० ५१-५२। अभी तक यह केवल अटकल है। विदेह की क्रान्ति कब और कैसे हुई, यह प्रश्न मनोरञ्जक है। यदि यह अटकल ठीक हो तो कराल का वध भी एक महत्त्व की घटना बन जाती है।

ही वहाँ राजसत्ता का अन्त हो गया, और संघ-राज्य स्थापित हो गया। सातवीं-छठी शताब्दी ई० पू० में विदेह के पड़ोस में वैशाली में भी संघ-राज्य था; वहाँ लिच्छिवि लोग रहते थे। विदेहों और लिच्छिवियों के पृथक् पृथक् संघों को मिला कर फिर इकट्ठा एक ही संघ या गण बन गया था जिस का नाम वृजि- (या वज्जि) गण था। वैशाली में विदेह के साथ ही गण-राज्य स्थापित हुआ या कुछ आगे पीछे, सो नहीं कहा जा सकता।

भारत-युद्ध के बाद उपनिषदों के युग में ही काशी का राज्य अपनी सामरिक शक्ति के लिए प्रसिद्ध हो गया था। समृद्धि में भी उस का मुकाबला दूसरा कोई राज्य शायद ही कर सकता। अन्दाज़न सातवीं शताब्दी ई० पू० की पहली चौथाई (६७५ ई० पू०) तक काशी के साम्राज्य की बड़ी सत्ता रही[1]; मध्यदेश में उस युग में वही मुख्य साम्राजिक शक्ति थी, कोशल कई बार उस के अधीन रहा, और एक बार तो उस के साम्राज्य में गोदावरी-काँठे के अश्मक राज्य की राजधानी पोतन (पौदन्य) भी सम्मिलित हो गई थी।

मगध में बार्हद्रथ वंश का राज्य इस युग में समाप्त हो गया। उन के स्थान में, कहते हैं, प्रजा ने शिशुनाक को राजा होने के लिए निमन्त्रित किया। शिशुनाक मूलत: काशी का था, वहाँ वह अपने बेटे को छोड़ कर मगध चला आया। यदि भारत-युद्ध का समय श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार १४२४ ई० पू० माना जाय, तो उन्हीं के हिसाब से शिशुनाक का राज्यकाल ७२७-६८७ ई० पू० था। दूसरे विद्वान उस का समय सातवीं शताब्दी ई० पू० के मध्य के करीब मानते हैं। शिशुनाक

---

१. काशी के राजा ब्रह्मदत्त का जातकों में बहुत उल्लेख है, किन्तु ब्रह्म-दत्त कोई एक राजा न था, वह काशी के राजाओं के वंश का नाम या पदवी थी। जातक ३, १२८ में उल्लेख है कि बनारस का ब्रह्मदत्तकुमार भी तक्खसिला पढ़ने गया, उस से स्पष्ट निश्चित होता है कि ब्रह्मदत्त वंश का नाम या पदवी थी।

एक प्रतापी राजा था, उस के वंश में भी आगे चल कर बड़े बड़े दिग्विजयी राजा हुए। शैशुनाक वंश को पुरानी अनुश्रुति में क्षत्रिय नहीं प्रत्युत क्षत्रबन्धु कहा है, जिस में कुछ घटियापन का भाव है। घटियापन का भाव इस कारण कि वे व्रात्य लोगों के क्षत्रिय थे। व्रात्य वे आर्य जातियाँ थीं, जो मध्यदेश के पूरब या उत्तरपच्छिम (पञ्जाब में) रहतीं, और जो मध्यदेश के कुलीन ब्राह्मण-क्षत्रियों के आचार का अनुसरण न करती थीं। उन की शिक्षा-दीक्षा की भाषा प्राकृत थी, उन की वेषभूषा उतनी परिष्कृत न थी, वे मध्यदेश के आर्यों वाले सब संस्कार न करते तथा ब्राह्मणों के बजाय अर्हतों (सन्तों) को मानते, और चेतियों (चैत्यों) को पूजते थे।

## § ८२. सोलह महाजनपदों का उदय

जनपदों का उदय कैसे हुआ था सो हम देख चुके हैं (§ ८०)। अब उन में से कई महाजनपद भी बन गये। जनपद और महाजनपद का आरम्भिक भेद यह प्रतीत होता है कि जनपद तो जनों के मूल देश थे, किन्तु जिन जनपदों ने विजय द्वारा अथवा संघ-रचना द्वारा अपने मूल देश से अधिक प्रदेश अपने साथ जोड़ लिया वे महाजनपद कहलाने लगे।

इस प्रकार के षोडश महाजनपद इस युग में बहुत प्रसिद्ध रहे, यहाँ तक कि सोलह महाजनपद एक कहावती संख्या बन गई। इसी कारण हम इस युग को भी सोलह महाजनपदों का युग कहते हैं। सोलह महाजनपदों में ये आठ पड़ोसी जोड़ियाँ गिनी जाती थीं—(१) अंग-मगध, (२) काशी-कोशल, (३) वृजि-मल्ल, (४) चेदि-वत्स, (५) कुरु-पञ्चाल, (६) मत्स्य-शूरसेन, (७) अश्मक-अवन्ति, (८) गान्धार-कम्बोज।

अंगदेश मगध के ठीक पूरब था। उस की राजधानी चम्पा या मालिनी, जिसे आधुनिक भागलपुर शहर का पच्छिमी हिस्सा चम्पानगर सूचित करता है, उस समय भारतवर्ष की सब से समृद्ध नगरियों में से थी। वह चम्पा नदी के पूरब किनारे बसी थी, जो अब भी भागलपुर में चम्पा नाला नाम से प्रसिद्ध है, और झाड़खण्ड से गंगा की तरफ़ बहती है। मगध की

राजधानी राजगह ( राजगृह ) भी वैसी ही नगरियों मे से एक थी । मगध का राज्य इन सोलह महाजनपदो मे से भी जो चार-पाँच मुख्य थे, उन मे से एक था। काशी के साम्राज्य का उल्लेख ऊपर हो चुका है । काशी-राष्ट्र की राजधानी वाराणसी उस समय समूचे भारत मे सब से समृद्ध नगरी थी। ध्यान रहे कि प्राचीन वाङ्मय मे काशी सदा उस राष्ट्र का नाम होता है, और उस की राजधानी का वाराणसी। कोशल देश की राजधानी सावत्थी ( श्रावस्ती ) अचिरावती ( राप्ती ) नदी के किनारे थी। वह भी एक बहुत प्राचीन नगरी थी। गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर सहेठ-महेठ के खेड़े अब उस के स्थान को सूचित करते हैं। साकेत ( अयोध्या ) की हैसियत भी श्रावस्ती से कम न थी।

तिरहुत या उत्तर बिहार के वृजि-गण का उल्लेख ऊपर हो चुका है। आज तक भी चम्पारन जिले के पहाड़ी थारू लोग अपने से भिन्न तिरहुत के सभी निवासियों को वजी तथा नेपाली लोग वजिया कहते है । समूचे वृजिसंघ की राजधानी भी वेसाली ( वैशाली ) ही थी। उस के चारो तरफ तिहरा परकोटा था, जिस मे स्थान स्थान पर बड़े बड़े दरवाजे और गोपुर ( पहरा देने के मीनार ) बने हुए थे। वृजि लोगो मे प्रत्येक गाँव के सरदार को राजा या राजुक कहते थे। कहते हैं लिच्छिवियो के ७७०७ राजा थे, और उन मे से प्रत्येक का उपराज, सेनापति और भाण्डागारिक ( कोषाध्यक्ष ) भी था । ये सब राजा अपने अपने गाँव मे शायद स्वतंत्र शासक थे; किन्तु राज्य के सामूहिक कार्य का विचार एक परिषद् मे होता था जिस के वे सब सदस्य होते थे। इसी राज्यपरिषद् के हाथ मे लिच्छिवि-राष्ट्र की मुख्य शासनशक्ति थी। शासन-प्रबन्ध के लिए इस में से शायद चार या नौ आदमी गणराजा चुन लिये जाते थे। कहते हैं वैशाली के इन ७७०७ राजाओं मे से प्रत्येक का अभिषेक होता था। वैशाली में उन के अभिषेक-मङ्गल के लिए एक पोखरनी थी, जिस पर कड़ा पहरा रहता, और ऊपर भी लोहे की जाली लगी रहती

जिस से पक्षी भी उस के अन्दर घुस न पाँय[1]। वैशाली के सब राजा और रानियों का उसी पोखरनी के जल से अभिषेक होता।

लिच्छिवि लोग प्राचीन भारत की एक प्रसिद्ध व्रात्य जाति थे। वे अर्हतो को मानते थे। उन के पडोसी मल्ल लोग भी व्रात्य थे, और उन का भी गण-राज्य था। मल्ल जनपद वृजि जनपद के ठीक पच्छिम तथा कोशल के पूरब सटा हुआ आधुनिक गोरखपुर जिले मे था। पावा और कुसावती या कुसिनार (आधुनिक कसिया, गोरखपुर के नजदीक पूरब) उन के कस्बे थे।

वत्स देश काशी के पच्छिम और चेदि (आधुनिक बुन्देलखण्ड) वत्स के पच्छिम जमना के दक्खिन था। वत्स देश मे भारत वंश का राज्य चला आता था। उस की राजधानी कोसम्बी या कौशाम्बी (इलाहाबाद जिले मे आधुनिक कोसम गाँव) जमना के किनारे पर थी, और उस समय की बड़ी समृद्ध नगरियो मे गिनी जाती थी। वह व्यापार और युद्ध के राजपथों को काबू करने वाले बड़े अच्छे नाके पर थी। पच्छिम समुद्र के बन्दरगाहों—भरुकच्छ, सुप्पारक (शूर्पारक, आधुनिक सोपारा) आदि—से तथा गोदावरी-काँठे के प्रतिष्ठान से मध्यदेश और मगध की नगरियो को जोड़ने वाले रास्ते उज्जयिनी और कौशाम्बी हो कर ही गुजरते। कौशाम्बी से उन की एक शाखा गङ्गा पार साकेत, श्रावस्ती और वैशाली चली जाती, दूसरी जलमार्ग से काशी होते हुए समुद्र तक पहुँचती।

पञ्चाल देश (उत्तर पञ्चाल=आधुनिक रुहेलखण्ड, और दक्खिन पञ्चाल=फरुखाबाद-कन्नौज-कानपुर) कोशल और वत्स के पच्छिम तथा चेदि के उत्तर लगा हुआ था। कुरु (हस्तिनापुर-कुरुक्षेत्र का प्रदेश) उस के पच्छिम और व्रजभूमि के उत्तर था। वे दोनो प्राचीन जनपद थे; इस समय उन का विशेष राजनैतिक महत्त्व न था, तो भी कुरु देश का धम्म और सील (आचार-व्यवहार) जिसे कुरुधम्म कहते थे भारतवर्ष मे आदर्श माना जाता।

---

1. जातक ४, १४६।

वहाँ के लोग अपने सीधे सच्चे मनुष्योचित बर्ताव तथा अपनी विद्या संस्कृति और चरित्र के लिए सारे भारत मे अग्रणी माने जाते, और दूसरे राष्ट्रो के लोग उन से धर्म सीखने आते थे[1]। कुरु और पञ्चाल मिल कर शायद एक ही राष्ट्र गिना जाता क्योंकि कुरुरट्ठ ( राष्ट्र ) की राजधानी कभी इन्दपत्तनगर ( इन्द्रप्रस्थ नगर ), कभी कम्पिल्लनगर ( काम्पिल्य नगर ) और कभी उत्तर-पञ्चाल-नगर कही जाती है, और कभी उसी उत्तर-पंचाल-नगर को कम्पिल्लरट्ठ की राजधानी कहा जाता है।

कुरु के दक्खिन और चेदि के पच्छिमोत्तर जमना के दाहिने तरफ शूरसेन ( मथुरा-प्रदेश ) और मत्स्य ( मेवात, अलवर-जयपुर-प्रदेश ) भी वैसे ही पुराने राष्ट्र थे।

शूरसेन और चेदि के दक्खिनपच्छिम अवन्ति उस समय के चार-पाँच सब से शक्तिशाली राज्यो मे से एक था। उस की राजधानी उज्जेनी ( उज्जयिनी ) पच्छिम समुद्र और मध्यदेश के तथा अश्मक-मूळक और मध्यदेश के बीच के व्यापार-पथों पर बड़ा प्रसिद्ध पड़ाव थी। माहिस्सती या माहिष्मती भी इस युग मे अवन्ति मे ही सम्मिलित थी[2]। अश्मक का उल्लेख भी हो चुका है, उस के उत्तर मूळक तथा पूरब कलिंगराष्ट्र की सीमाये उस से लगती[3], और इस युग मे सम्भवतः वे दोनो अश्मक ( या अस्सक ) महाजनपद मे सम्मिलित थे। अश्मक या अस्सक की राजधानी पौदन्य ( पोतन या पोतलि ) थी। कलिंग की अपनी राजधानी दन्तपुर थी[4]।

---

१. कुरुधम्म जातक ( २७६ )।

२. दीघ०, २, २३४।

३. जातक ३, ४।

४. दीघ०, वहीं।

सुदूर उत्तर मे गान्धार देश विद्या का केन्द्र होने के कारण प्रख्यात था। सामरिक शक्ति और समृद्धि के लिए जैसे काशी की ख्याति थी, वैसी ही विद्या के लिए गान्धार की। उस की राजधानी तक्षशिला मे मध्यदेश के क्या राजपुत्र[1], क्या धनाढ्य सेट्ठियों के लडके[2], और क्या गरीब ब्राह्मण जो पढ़ चुकने के बाद भी एक जोडी बैल और एक हल को जोत कर जीविका करते थे[3]—सभी पढने पहुॅचते थे। सभ्य समाज मे सुशिक्षित कहलाने के लिए तक्षशिला मे पढ़ा होना आवश्यक सा था। कश्मीर भी उस समय गान्धार महाजनपद मे सम्मिलित था[4]। और गान्धार-कश्मीर के उत्तर आधुनिक पामीरो का पठार तथा उस के पच्छिम बदख्शाँ प्रदेश कम्बोज महाजनपद कहलाता, उस की पूरबी सीमा सीता नदी और पच्छिमी बाल्हीक ( बलख ) प्रदेश था[5]।

ये सोलह देश तो महाजनपद अर्थात् बड़े राष्ट्र—शक्ति समृद्धि विस्तार या किसी अन्य कारण से बडे गिने जाने वाले राष्ट्र—थे। उन के अतिरिक्त कई छोटे छोटे राष्ट्र भी थे। गान्धार और कुरु तथा मत्स्य के बीच केकय, मद्रक, त्रिगर्त्त, यौधेय आदि राष्ट्र तथा उन के पच्छिम और पच्छिमदक्खिन सिन्धु, शिवि, अम्बष्ठ, सौवीर आदि राष्ट्र थे। इन मे से शायद कुछ एक गान्धार के अधीन रहे हो। मद्द, सिवि और सोवीर का नाम हम विशेष कर इस समय की कहानियो मे सुनते हैं। मद्दरट्ठ की राजधानी सागलनगर[6] और सिविरट्ठ की अरिट्ठपुरनगर या जेतुत्तरनगर थी[7]। सोवीररट्ठ की राजधानी रोरुव या रोरुक ( सक्खर के सामने आधुनिक रोरी ) उस समय

१. जातक ४, ३१५-३१६।
२. वहीं ४, ३८।
३. वहीं २, १६५।
४. रा० इ० पृ० ४३।
५. दे० श्री १७।
६. जातक ५, २८०।
७. सिवि जातक ( ४६६ ), वेसन्तर जातक ( ५४७ )।

की सुन्दर नगरियो मे से एक थी। किन्तु इन उल्लेखो से हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि ये राष्ट्र स्वतन्त्र थे या किसी दूसरे मे सम्मिलित।

कोशल के उत्तर और मल्लराष्ट्र के पच्छिमोत्तर आधुनिक नेपाल-तराई मे अचिरावती ( राप्ती ) और रोहिणी नदी ( राप्ती की एक पूर्वी धारा) के बीच शाक्यो का छोटा सा गण-राष्ट्र था। इस युग के अन्त मे उसी मे संसार के इतिहास का शायद सब से बड़ा महापुरुष प्रकट हुआ, जिस कारण शाक्यराष्ट्र का नाम आज तक प्रसिद्ध है। शाक्य लोग कोशल से ही प्रवास कर के गये थे। उन की राजधानी कपिलवास्तु या कपिलवत्थु श्रावस्ती से करीब साठ मील पर थी। शाक्य-राष्ट्र शायद कोशल के अंशत: अधीन था[1]।

सोलह महाजनपदों मे से गान्धार-कम्बोज की जोड़ी तो एक तरफ़ था, किन्तु बाकी सात जोड़ियो के प्रदेश लगातार एक-दूसरे से लगे हुए थे। उन की पूरबी सीमा अंग और कलिंग तथा दक्खिनी अश्मक है। अश्मक के दक्खिन अन्ध्र आदि अनार्य राष्ट्र थे, जिन मे अब हम दामिलरट्ठ का भी नाम सुनते हैं; उस के भी आगे नागदीप और कारदीप थे। नागदीप या नागद्वीप उत्तरपच्छिमी सिंहल का पुराना नाम था[2], और कारदीप उसी के पास था। दामिलरट्ठ मे काविरपत्तन था। आर्य तापसो और व्यापारियों का इन राष्ट्रों मे आना जाना इस युग मे बराबर सुना जाता है। वाराणसी के व्यापारी सिंहल या तम्बपन्नी दीप ( ताम्रपर्णी द्वीप ) तक जाते आते थे, और ऐसी कहानी है कि वहाँ के एक धनाढ्य ब्राह्मण का बेटा अपनी बहन के साथ घरबार छोड़ कर तपस्या करने पहले दामिलरट्ठ मे और फिर वहाँ से कारदीप तक चला गया था[3]।

---

१. भद्दसाल जातक ( ४६५ ) की पच्चुपन्नवत्थु ( दे० नीचे परिशिष्ट इ ) में शाक्य लोग आपस में कहते हैं—वयं कोसलरञ्ञो आणापवत्तिट्ठाने वसाम ( जातक ४, १४५ )।

२. दे० नीचे §§ ८४ उ, ११०।

३. अकित्ति जातक ( ४८० ), तथा सुस्सोन्दि जातक ( ३६० )।

पूरब तरफ उसी तरह आर्य व्यापारियो की पहुँच सुवण्णभूमि तक थी जो आधुनिक बरमा के तट का नाम था। यो तो भरुकच्छ (भरुच) और वाराणसी से भी सीधे सुवर्णभूमि के लिए नावे रवाना होती थीं[1], किन्तु चम्पा के लोग विशेष रूप से उधर व्यापार करने जाते, और उस मे खूब रुपया बना कर लाते थे[2]। उस व्यापार के सिलसिले मे आर्यावर्त्त के लोग पूरबी सागर के अनेक द्वीपों का परिग्रह या भौगोलिक खोज-टटोल करते, और कई द्वीपों में उन्हे आरम्भिक निवासी यक्षों या राक्षसो से वास्ता पड़ता, जिन का वे अपने शस्त्रास्त्र से दमन करते। उन में से किसी किसी द्वीप की ज़मीन बहुत उपजाऊ भी निकल आती, जहाँ धान, ईख, केला, कटहल, नारियल, आम, जामुन आदि खुद-रौ होते थे। उन द्वीपो मे वे लोग बसते जाते, और कभी कभी उन की सुलभ उपज को देख कर कह उठते थे कि भारतवर्ष से हम यहीं अच्छे हैं[3]।

## § ८३ कोशल और मगध राज्यों का विस्तार, अवन्ति में राजविप्लव

सोलह महाजनपदो की अवस्था देर तक बनी न रही, उन मे से कुछ दूसरो को निगल कर अपना कलेवर बढ़ाने लगे।

अग और मगध एक दूसरे के पडोसी थे, उन दोनों के बीच लगातार मुठभेड़ जारी थी और मगध का दाँत अग पर गडा था। दोनो के बीच चम्पा नदी पडती थी। कहते हैं उस नदी (के कच्छ) मे एक नागभवन था, और नागराजा चम्पेय्य राज्य करता था। कभी मगधराजा अगराष्ट्र पर कब्ज़ा कर लेता, कभी अंगराजा मगध राष्ट्र पर। एक बार मगधराज हार कर भागा जाता था और अग के योद्धा उस का पीछा करते थे जब नागराज ने उसे अपने भवन में शरण दी। बाद मगधराज ने नागराज की

---

१. सुस्सोन्दि जातक (३६०), और समुद्दवाणिज जातक (४६६)।

२. महाजनक जातक (५३९)।

३. समुद्दवाणिज जातक (४६६)।

सहायता से अंगराजा को पकड़ कर मार डाला, और अग राष्ट्र को दखल कर लिया। । कहते हैं उस के बाद चम्पेय्य नागराजा को अपनी सब लक्ष्मी काशी के राजा उग्रसेन को देनी पड़ी[1]।

काशी की शक्ति भी अब धीरे धीरे क्षीण होती गई; दूसरी तरफ कोशल वैसे ही बढ़ने लगा। अन्दाज़ किया जाता है कि सातवीं शताब्दी ई० पू० की पहली चौथाई बीतने के बाद (लगभग ६७५ ई० पू०) कोशल की सेनाओ ने काशी पर पहली चढ़ाई की। उस के बाद वह प्रक्रिया जारी रही, कोशल की शक्ति बढ़ती गई। अन्दाज पचास बरस पीछे (लग० ६२५ ई० पू०) कोशल के एक विजयी राजा ने, जिस का उपनाम महाकोशल था, काशी को अन्तिम रूप से जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। महाकोशल का बेटा पसेनदि या प्रसेनजित् था। उस ने तक्षशिला मे शिक्षा पाई थी, और वह पिता की तरह ही प्रतापी था।

उस का समकालीन मगध का राजा सेनिय (श्रेणिक) बिम्बिसार था (राज्यकाल लग० ६०१—५५२ ई० पू०), जिस के साथ पसेनदि की एक बहन का व्याह हुआ था। राजा महाकोशल ने अपनी लड़की के नहान-चुन्न-मुल्ल अर्थात् नहाने और शृङ्गारचूर्णों के खर्चे के लिए दहेज मे बिम्बिसार को काशी का एक गाँव दे दिया था जिस की आमदनी एक लाख थी[2]। बिम्बिसार के पिता के समय अंग-मगध मे फिर युद्ध छिड़ा। अंगराजा ने पहले मगधराजा को हराया, पर पीछे युवराज बिम्बिसार ने उसे मार चम्पा ले ली। तब से अग मगध के अधीन रहा, और मगध का युवराज वहाँ का उपराज बन कर रहता।

उधर अवन्ति मे लगभग उसी समय (अन्दाजन ५६८ ई० पू०) पुनिक नाम के एक व्यक्ति ने वीतिहोत्र वश का अन्त कर अपने बेटे पज्जोत

---

१. चम्पेय्य जातक (५०६)।

२. हरितमात जातक (२३९) तथा वड्ढकिसूकर जातक (२८३) की पच्चुपन्नवत्थु।

या प्रद्योत को राजगद्दी पर बैठाया। प्रद्योत भी बिम्बिसार और प्रसेनजित् का समकालीन और उन की तरह शक्तिशाली राजा था । उस से सब पड़ोसी डरते और उसे चण्ड ( भयानक ) पज्जोत कहते थे । एक बड़ी सेना रखने के कारण वह महासेन भी कहलाता था।

कोशल, मगध और अवन्ति के बीच वत्सराज्य ( कौशाम्बी ) पड़ता था, और वह भी इन तीनो को तरह शक्तिशाली था। छठी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्ध मे यही चार प्रबल एकराज्य थे। इन के अतिरिक्त उल्लेखयोग्य एकराज्य गान्धार का था जहाँ बिम्बिसार के समय राजा पुक्कुसाति ( पुष्क-शक्ति ) राज्य करता था।

## § ८४. आर्थिक उन्नति—श्रेणियों निगमो और नगरों का विकास

जनपदो और महाजनपदो के उपर्युक्त सब राज्यविस्तार और शक्ति-संचय की बुनियाद उन की जनता की आर्थिक समृद्धि थी । दृढ आर्थिक बुनियाद के बिना न तो सेनाये खडी हो सकती और न शक्तिशाली राज्य स्थापित हो सकते थे। वास्तव मे आर्थिक और व्यावसायिक उन्नति ही बड़े बड़े जानपद राज्यो के उदय की और उन की राजनैतिक सचेष्टता की जड़ मे तथा उस की प्रेरिका शक्ति थी। आर्थिक विकास पहले हुआ, राजनैतिक शक्ति और स्थिरता उस के पीछे आई। एक कारण था दूसरी परिणाम, एक मूल था दूसरी फल। महाजनपद युग तक आर्थिक जीवन का विकास कैसे और किस रूप मे हुआ, उस का सक्षिप्त दिग्दर्शन नीचे किया जाता है।

### अ. कृषि, तथा ग्रामों की आर्थिक योजना

जिस प्रकार राज्य अब जनमूलक ( tribal ) न रहा, प्रत्युत जानपद ( territorial ) हो गया था, उसी प्रकार ग्राम भी अब जन का एक अंश-भूत जत्था न रहा था, प्रत्युत उस मे अब बस्ती का भाव ही मुख्य था, और वह अब एक आर्थिक इकाई था । तो भी जानपद राज्यसस्था मे, जब कि राज्य भूमि पर निर्भर था, भूमि राज्य की मलकीयत न थी, वह कृषकों की सम्पत्ति थी। राजा खेत की उपज पर केवल वार्षिक भाग या बलि

ले सकता, जगल और परती जमीन का निपटारा कर सकता, या अस्वामिक सम्पत्ति पर अधिकार कर सकता था। अपने इस राजभोग का वह निजी कार्यों के लिए भी उपयोग कर सकता, नमूने के लिए लड़की के दहेज मे या ब्राह्मण या अमात्य या सेट्ठी को दे सकता था।

बड़ी बड़ी जमींदारियाँ नहीं थीं, कृषक ही भू-स्वामी थे, और ग्राम उन्हीं के समूह या समुदाय थे। राजकीय भाग उपज के अंश के रूप मे लिया जाता, और उसे गाँव के अपने मुखिया ( गामभोजक ) अथवा राजकीय अधिकारी ( महामत्त = महामात्य ) वसूलते। भूमि का दान और विक्रय हो सकता था। पिता की सम्पत्ति का उस के पीछे पुत्रों मे बँटवारा भी होता था। फलतः भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। इस के बाद के युग में खेत बँटाई पर भाड़े देने का भी रवाज था, जो सम्भव है इस ( महाजनपद- ) युग में भी रहा हो। किन्तु गाँव का कोई व्यक्ति बाहर के किसी व्यक्ति को जमीन दे या बेच सकता था कि नहीं, सो स्पष्ट नहीं है।

प्रत्येक ग्राम में अनेक कुल ( परिवार ) रहते, और वे कुल बड़े बड़े संयुक्त परिवार होते थे। ३० से १००० कुलों तक के ग्रामो का उल्लेख है। इस प्रकार छोटे कस्बे भी ग्राम ही गिने जाते थे। गाँव के चौगिर्द उस के खेत और चरागाह होतीं, और वे जंगल होते जो आरम्भिक अटवियों का अवशेष थे। उन के अतिरिक्त इस युग मे हम आरामों और उय्यानों ( बगीचो ) का भी उल्लेख पाते हैं[1], जिन का वैदिक काल मे कुछ पता नहीं था। गाँव के लोग पड़ोस के जंगलो में से अपना काठ-ईंधन और फूस-पुवाल ले आते। नावों, जहाजों और इमारतों के लिए लकड़ी भी उन्हीं जंगलों से मिलती थी। अभी तक उस की इतनी इफ़रात थी कि बनारस जैसी सब से समृद्ध नगरी के राजाओं के महल भी जंगल की लकड़ी से ही बनते थे[2]। समय समय पर उन्हीं जंगलो मे जंगली जानवर वनदेवता या मार ( प्रलोभन का

१. जातक ४, २११।

२. भद्दसाल जातक ( ४६५ )।

मूर्त्त देवता, काम ) भी प्रकट हो आते थे। बड़े जगलो मे से व्यापार-पथ भी गुज़रते थे, जिन मे जङ्गली पशुओ के अतिरिक्त चोरो डकैतो और भूत-प्रेत का भी डर रहता।

गाँव वालो के डगर और भेड बकरियाँ पडोस के चरागाहो मे चरतीं। हर गाँव का गोपालक उन्हे रोज़ ले जाता, और शाम को मालिको के पास लौटा देता।

गाँव की बस्ती के चारो ओर प्राय दीवार या बाड रहती, और उस मे दरवाजे रहते। गाँव के लोग सामूहिक रूप से सिँचाई का प्रबन्ध करते। खेत छोटे बड़े दोनो किस्म के थे, १००० करीस ( ? ) के खेतो का भी उल्लेख है। भाड़े के श्रमियो ( भृतकों ) से भी खेती कराई जाती थी, और इस प्रकार के ५-५ सौ तक हलवाहों का एक व्यक्ति की ज़मीन पर मज़दूरी करने का उल्लेख मिलता है।

खेती एक ऊँचा पेशा गिना जाता था। वह 'वैश्यो' का काम तो निश्चय से था ही, किन्तु 'ब्राह्मण' भी प्रायः खेती करते थे, और गण-राज्यो के सभी समान क्षत्रिय मुख्यत' कृषक ही होते थे। वे क्षत्रिय लोग ज़मीदार न थे, ज़मींदार और किसान का भेद उस समय नही था। ज़मींदारी प्रथा न होने का मुख्य कारण यह था कि पहले से बसे हुए किसी कृषक-समुदाय का विजय कर क्षत्रिय लोगो ने उन की जमीन पर अपना स्वत्व न जमाया था, प्रत्युत जगल काट कर ही अपने खेत तैयार किये थे। आरम्भिक जातियाँ जिन्हे उन्हो ने जीता था प्रायः शिकारी और मछुओ का पेशा करती थीं, न कि खेती। दास-दासी प्रत्येक धनी आर्य गृहपति के घर मे रहते, किन्तु उन की सख्या कम थी, और उन से खेती नहीं कराई जाती थी। बड़े खेतो पर भृतकों द्वारा जरूर खेती होती थी, और उन भृतकों का जीवन काफी कठिनाई का था। उन्हे रहने की जगह आर अनाज अथवा सिक्के के रूप मे भृति मिलती। कृषि मे श्रमविभाग भी हो चला था, उदाहरण के लिए हम ऐसे लोगो का उल्लेख पाते हैं जिन का पेशा हल बाहने का ही था।

गाँव के लोग अपने सामूहिक मामलों का प्रबन्ध स्वय करते । सामूहिक जीवन उन मे भरपूर था। उन का मुखिया गाम-भोजक कहलाता, जो राजदरबार मे गाँव का प्रतिनिधि, तथा गाँव के आन्तरिक प्रबन्ध और सामूहिक जीवन का नेता होता। कई प्रकार के शुल्को और जुरमानों से उस की अमदनी थी। वह अकेला कुछ न करता, गाँव के सभी निवासी मिल कर गाँव के प्रबन्ध तथा सामूहिक कार्यों के विषय मे उस के साथ सलाह और निर्णय करते, तथा उन निश्चयो के अनुसार कार्य करते । इस प्रकार गाँव को सभाये सामूहिक रूप से सभाभवन और सराये बनातीं, बगीचे लगवाती, तालाव खुदवातीं और उन के बाँध बँधवाती थीं। उन के निश्चय के अनुसार सड़को की मरम्मत के लिए गाँव का प्रत्येक युवक बारी बारो मुफ़ मजदूरी करता। गाँवो की सभाओं और सामूहिक कार्यों मे स्त्रियां भी खूब हिस्सा लेती । गाँव मे अपनी खेती छोड़ जो लोग राजा या किसी और व्यक्ति के भृतक के रूप मे मजदूरी करते, उन की हैसियत गिर जाती थी।

## इ. शिल्प तथा शिल्पी श्रेणियाँ

कृषि की तरह शिल्प और व्यवसाय की भी यथेष्ट उन्नति हो गई थी। उन मे बहुत कुछ श्रमविभाग हो गया था। नमूने के लिए वड्ढकि (वर्धकि, बढ़ई) का एक बड़ा पेशा था जिस मे इमारतों के किवाड़-चौखटों और बैलगाड़ी से ले कर जहाज तक बनाने के अनेक काम शामिल थे; थपति (स्थपति, इमारत बनाने वाला), तच्छक (तक्षक, रन्दा फेरने वाला) और भमकार (भ्रमकार, खराद करने वाला) आदि उस के विशेष विभाग थे जो अलग अलग पेशे बन चुके थे। कम्मार (कर्मार) मे सब किस्म के धातु का काम करने वाले सम्मिलित थे, पर उन मे भी अनेक विभाग थे।

शिल्पो का स्थानीय केन्द्रण भी हो चला था, अर्थात् विशेष शिल्प बहुत जगह विशेष स्थानों में जम गये थे। उदाहरण के लिए, ऐसे गाँव थे

जो केवल बढ़इयो के, लोहारो के, कुम्हारो के, या शिकारियो ( नेसादों = निषादो और मिगलुद्धकों = मृगलुब्धको ) आदि के थे। एक कम्मारगाम मे एक हज़ार लोहार परिवार और उसी प्रकार एक महावड्ढकिगाम मे एक हज़ार बढ़ई परिवार[1] रहने का उल्लेख है। बडी नगरियो मे गली-मुहल्लो मे विशेष शिल्प केन्द्रित हो गये थे, जैसे बनारस की दन्तकारवीथी ( हाथीदाँत का काम करने वालो का बाजार ), रजकवीथी ( रगरेजो की गली ), जुलाहो का ठान ( स्थान ) आदि।

लगभग प्रत्येक शिल्प या व्यवसाय मे लगे हुए व्यक्तियो का अपना अपना संगठित समूह था, जिसे श्रेणि कहते थे। एक बस्ती, नगर या इलाके मे एक शिल्प की प्राय एक किन्तु कभी कभी अधिक श्रेणियाँ भी होतीं थी। "वड्ढकि, कम्मार, चम्मकार, चित्रकार आदि अठारह श्रेणियाँ" यह एक प्रचलित मुहावरा सा था, किन्तु उन अठारह मे से बाकी चौदह धन्दो के नाम अब ठीक ठीक नहा कहे जा सकते। प्रत्येक नगर या प्रदेश मे पूरी अठारह ही श्रेणियाँ रही हों, या उस से अधिक न रही हो, सो बात भी न थी। उक्त चार धन्दो और शिल्पो के अतिरिक्त सुनार, पाषाणकोट्टक (सिलावट), दन्तकार, जौहरी, नळकार ( नळ की चटाइयाँ और छाबडियाँ आदि बनाने वाले ), कुम्हार, रगरेज़, मछुए, कसाई, शिकारी, माली, नाई, माझी और नाविक, जलनिय्यामक (जहाज़ो के मार्गदर्शक) और थलनिय्यामक अथवा अटवी-आरक्खक ( जगलो मे व्यापारी काफलों के रक्षक और मार्गदर्शक ) आदि प्रत्येक धन्दे आर शिल्प की पृथक् पृथक् श्रेणियाँ थीं। अपनी बस्ती या शहर की माँग के सिवाय विदेशी बाज़ारों के लिए भी वे माल तैयार करतीं थीं। चोर-डाकुओं तक की श्रेणियो का उल्लेख है। उत्तर पचाल के निकट पहाड़ो मे ५०० चोरो के एक गाँव का ज़िक्र पाया जाता है।

---

१. जातक ४, १५१।

एक एक श्रेणी मे एक एक हजार तक शिल्पी होते थे। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान या मुखिया चुना जाता जिसे पामोक्ख ( प्रमुख ) या जेट्ठक ( ज्येष्ठक ) कहते थे, जैसे कम्मारजेट्ठक, मालाकारजेट्ठक, वड्ढकिपामोक्ख या वड्ढकिजेट्ठक आदि। कभी कभी एक जेट्ठक के बाद उस का बेटा भी जेट्ठक होता। प्रत्येक शिल्प का तमाम सचालन और नियन्त्रण श्रेणि के हाथ मे रहता। कच्चे माल की खरीद, तैयार की बिक्री, उपज का और श्रम के समय का नियन्त्रण, मिलावट को रोकना, बाहर के शिल्पियों के मुकाबले से बचने के लिए व्यापार की रोकथाम, शिल्प सीखने वाले अन्तेवासिकों छात्रो) की शिक्षा के नियम, अन्तेवासिको और भृतकों की भृति नियत करना आदि सब अधिकार श्रेणियों के हाथ मे रहते होगे। ये श्रेणियाँ जाते न थीं। श्रमविभाग के बढ़ने, व्यवसायो के विशेषीभाव ( specialisation ) और स्थानीय केन्द्रण के साथ साथ यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी कि बेटा बाप के पेशे मे जाय, तो भी वह आवश्यक बात न थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपना धन्दा चुनने की स्वतन्त्रता थी, और लोग वैसा करते भी थे। इस प्रकार श्रेणि के लोगो के अपने बेटो के अतिरिक्त दूसरे बालक और नवयुवक भी उस्ताद कारीगरो के अन्तेवासिक अर्थात् शागिर्द बनते थे। उन अन्तेवासिकों की शिक्षा के नियम श्रेणि ही निश्चित करती होगी। उस समय के साहित्य मे ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि एक राजा का बेटा व्यापारी बन कर काफ़िले के साथ सफर करने जाता है, एक दूसरा राजकुमार क्रम से एक कुम्हार एक माली और एक रसोइये का अन्तेवासिक बनता है, राजाओ और ब्राह्मणो के बेटे अनेको बार व्यापार करते और अपने हाथो से मेहनत करते हैं, एक क्षत्रिय धनुर्धर जुलाहे का काम करता और बाद में एक ब्राह्मण उसी की नाकरी करता है, एक ब्राह्मण शिकारी का या रथकार का धन्दा करता है, इत्यादि इत्यादि। इन बातो मे कुछ भी बुराई न मानी जाती, और माता-पिता स्वतन्त्रता से विचार करते कि अपने बेटे को किस धन्दे में लगाना अधिक लाभकर होगा। इसी कारण व्यापार-व्यवसाय में भरपूर स्वतन्त्रता

और गतिशीलता थी—श्रम और पूंजी आसानी से एक स्थान या व्यवसाय से उठ कर दूसरे मे लग सकते थे। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि उस गतिशीलता मे भी उन का श्रेणि-सगठन बना रहता था। एक कहानी ऐसी मिलती है कि बढइयो का एक गाँव एक काम का ठेका और उस के लिए साई भी ले चुका था, पर उसे पूरा करने मे फिर उन्हे घाटा दीखने लगा। जब उन पर इकरार पूरा करने के लिए दबाव डाला गया तो उन्हो ने चुपके चुपके एक जहाज बनाया, और अपने परिवारो सहित उन की समूची श्रेणि रात के समय गगा मे खसक पडी। और अन्त मे समुद्र मे पहुँच कर एक उपजाऊ द्वीप मे जा बसी[1]।

व्यवसायी श्रेणियो का उक्त सगठन उस समय के समाज-सस्थान की एक तरह से धुरी थी।

## उ. देशी और विदेशी व्यापार, नगरियाँ और निगम

शिल्प के विकास के साथ साथ व्यापार की भी खूब उन्नति हुई। एक बस्ती में भी वहाँ की कृषि या शिल्पो की उपज को कृषको और श्रेणियो से जनता तक पहुँचाने के लिए छोटे व्यापारियो की थोडी बहुत जरूरत होती थी, किन्तु व्यापारियो का उद्यम और चेष्टा मुख्यत· बाहर के व्यापार मे प्रकट होती थी वे व्यापारी सार्थों अर्थात् काफलो मे चलते और स्थल तथा जल मे लम्बी लम्बी यात्राये करते। एक एक समुद्रगामी जहाज मे ५-५ सौ, ७-७ सौ व्यापारियो के इकट्ठे यात्रा करने का उल्लेख पाया जाता है। शिल्पियो की तरह व्यापारी भी परस्पर सगठित हो गये थे। सार्थ का मुखिया सार्थवाह कहलाता। रास्ते मे जानवरो डाकुओ आदि से सुरक्षित रहना, जहाज के, जल या स्थल के पथ-दर्शको ( निय्यामकों ) के, एव जगल के रक्षको ( अटवी-आरक्खकों ) के अलग अलग खर्चे से बचना, पारस्परिक स्पर्धा और मुकाबले को रोकना आदि अनेक लाभ थे जो व्यापारियो को परस्पर-

---

1 समुद्दवाणिज जातक (४६६)।

सघटित होने के लिए स्वभावतः प्रेरित करते थे। उन की पूजी भी कई बार सम्मिलित होती थी, और व्यापार तथा मुनाफा भी साझा, किन्तु किस अंश तक सो कहना कठिन है। साझा और पत्ती का चलन जरूर था। दूसरी तरफ़ ऐसे व्यापारी भी बहुत थे जो लम्बी लम्बी यात्राओं मे भी अकेले जाते थे।

प्राचीन काल मे जब यातायात का खर्चा अधिक था स्वभावतः कीमती चीजों का ही व्यापार होता था। रेशम, मलमल, शाल-दुशाले, पट्टू, ज़री और कसीदा का काम किये हुए कपड़े, अस्त्र-शस्त्र कवच हथियार चाकू-कैंची आदि फ़ौलाद की चीजे, दवाये और सुगन्धे, हाथीदाँत का सामान, सोना, रत्न-जवाहर, हाथी-घोड़े, दास-दासी आदि व्यापार की मुख्य वस्तुएँ थीं।

व्यापार बहुत दूर दूर तक के देशो से होता। मध्यदेश मे गगा के काँठों मे पच्छिम-पूरब व्यापार मुख्यतः नदी द्वारा होता। कोसम्बी ( कौशाम्बी ) के नीचे जमना-गंगा मे लगातार नावो का आना जाना था, और वाराणसी, चम्पा आदि से चल कर वही नावे समुद्र के किनारे किनारे सुवर्णभूमि ( आधुनिक बरमा के तट ) तथा अन्य विदेशो तक सीधे चली जा सकतीं थीं[1]। अनेक स्थलमार्ग भी मध्यदेश मे थे। याद रखना चाहिए कि उस समय नदियो पर पुल न थे, उथले पानी के बीच जो बाँध उठा दिये जाते वही सेतु कहलाते थे।

मध्यदेश से उत्तर-पच्छिम गान्धार तक एक बड़ा राजपथ था जिस की अनेक शाखाये थीं। वह रास्ता खूब चलता क्योंकि गान्धार की राजधानी तक्कसिला मे मध्यदेश से गरीब-अमीर सभी तरह के लोग पढ़ने जाते थे। उस रास्ते पर अनेक निःशस्त्र लोगो के अकेले यात्रा करने का उल्लेख है, जिस से मालूम होता है कि वह खूब सुरक्षित था। वह रास्ता और उस समय के अन्य सब स्थलमार्ग प्रायः नदियों को उथले घाटा

---

१. महाजनक जातक ( ५३९ ), समुद्दवाणिज जातक ( ४६६ ), सीलानिसंस जातक ( १९० )।

पर ही लाँघते थे। राजगह से वह साकेत होते हुए जाता और आगे पंजाब में भी सम्भवत: सागल ( शाकल, स्यालकोट ) हो कर गुजरता था।

गान्धार के दक्खिन सिन्धु देश ( आधुनिक सिन्धसागर दोआब तथा डेराजात )[1] का मध्यदेश के साथ घोड़ों का अच्छा चलता व्यापार था; उसी प्रकार कम्बोज देश से खच्चर आते थे[2]।

सौवीर देश ( आधुनिक सिन्ध ) की राजधानी रोरुक या रोरुव ( आधुनिक रोरी ) तथा उस के बन्दरगाहों (पट्टनों या तीर्थों) से भी मध्यदेश का व्यापार चलता था। उसी प्रकार भरुकच्छ ( आधुनिक भरुच ) का पट्टन ( बन्दरगाह ) एक बड़ा व्यापार-केन्द्र था जहाँ से वाराणसी, सावत्थी आदि तक लगातार काफले आते जाते थे। इन पच्छिमी बन्दरगाहों का आगे बावेरु ( बाबुल ) से भी व्यापार था और भारतीय व्यापारियों की कोई कोई भूली भटकी (विप्पणट्ठ=विप्रणष्ट) नाव आधुनिक लाल सागर तथा नील नदी के द्वारा सम्भवत आधुनिक मध्यसागर तक में भी जा निकलती थी।[3] कहते हैं, बावेरु में कौआ और मोर भारतीय व्यापारी ही ले गये थे[4]।

गोदावरी-काँठे के अस्सक मूळक राष्ट्रों और मध्यदेश के बीच भी नियमित व्यापारपथ चलता था। अस्सक-रट्ठ की राजधानी पोतलिनगर या पौदन्य से शुरू हो वह पहले मूळक के पतिट्ठान ( आधुनिक पैठन ) पहुँचता था। पैठन को उस समय खाली पतिट्ठान नहीं बल्कि मूळक का पतिट्ठान कहते थे। वहाँ से माहिस्सति होते हुए वह रास्ता उज्जेनि आता; और फिर गोनद्ध ( गोनर्द ) का पड़ाव तय कर वेदिस ( विदिशा )। फिर वनसह्वय नामक पड़ाव लाँघ कर कोसम्बि, और वहा से साकेत होते हुए सावत्थि। सावत्थि के बाद सेतव्य हो कर कपिलवत्थु, और फिर

१. दे० ऊपर § ३४।

२ कम्बोजके अस्सतरे सुदन्ते—जातक ४, ४६४।

३. दे० ❀ १८।

४. बावेरु-जातक ( ३३९ )।

मल्लराष्ट्र मे कुसिनार, पाव और भोगनगर लाघ कर अन्त मे वेसालि[१]। वेसालि से राजगह जाना हो तो सीधे दक्खिन गंगा का घाट पार कर के।

भरुकच्छ से सुवर्णभूमि[२] तक तट के साथ साथ भी समुद्र के व्यापारी यात्रा करते। आधुनिक सिंहल उन के व्यापार-मार्ग की दक्खिनी अवधि थी, जहाँ वे ईंधन-पानी ( दारूदक ) लेने को ठहरते थे। बनारस तक के व्यापारी वहाँ पहुँचते थे[२]। वह द्वीप उस समय तक आबाद न हुआ था, और भारतीय व्यापारी उस के अन्दर न जाते थे। उस समय उस का नाम सिंहल नही प्रत्युत तम्बपन्नी दीप ( ताम्रपर्णी द्वीप ) था, और उस के विषय मे यात्रियो की अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध थीं। कहते हैं उस मे सिरीसवत्थु नाम का यक्खों का एक नगर था जहाँ यक्खिनियाँ रहतीं थीं, जो नाव टूट जाने के कारण भूले-भटके व्यापारियो को अपना सुन्दर रूप दिखला कर ललचा और बहका कर तट पर से अन्दर ले जातीं, प्रकट मे उन पुरुषो की स्त्री बन कर रहती, लेकिन उन्हे सुला और मकानो मे बन्द कर नये पुरुषो की तलाश मे बाहर जाती, और जब उन्हे नये पुरुष मिल जाते, पहले पुरुषो को कारणघर ( निर्यातन-गृह ) मे डाल कर धीरे धीरे खाती। और फिर नये पुरुषो से वही कृत्य दोहरातीं! यदि उन की अनुपस्थिति मे उन के शिकार कहीं भाग जॉय तो कल्याणी नदी ( आधुनिक कैलानीगंगा ) से नागदीप ( सिंहल का उत्तरपच्छिमी भाग ) तक समूचे समुद्रतट को उन के लिए खोजतीं।[३]

पूरबी द्वीपों के व्यापारियो और परिग्राहकों ( खोज करने वालो ) को भी यक्खो[४] और रक्खसो से बहुत बार वास्ता पड़ता था, सो कह चुके हैं।

---

१. सु० नि० १७७, १०१०—१०१३।

२. सुस्सोन्दि जातक ( ३६० )।

३. वलाहस्स जातक ( १९६ )।

४. इन कथाओं के यक्ष या यक्ख कोई अमानुष योनि नहीं, प्रत्युत मेरे विचार

सामुद्रिक नावें भी लकडी के तख़्तों[1] ( पदरानि ) की बनी होती थीं, उन मे रस्से ( योत्तानि ), मस्तूल ( कूपक ) और लगर ( लकार ) लगे होते थे[2] । कभी कभी सागरवारिवेग[3] से या अकालवात से वे महासमुद्द वा पकति-समुद्द ( प्रकृति समुद्र ) मे भी जा पडती थीं, किन्तु तब भी चतुर निय्यामक उन्हे बचा ला सकते थे[4] ।

इस देशी और विदेशी व्यापार की बदौलत भारतवर्ष की नगरियो की समृद्धि दिन-दिन बढ़ती थी । नगरियो के अन्दर विभिन्न श्रेणियो के कारखाने तथा बाहरी वस्तुओ के बाजार अलग अलग मुहल्लो मे रहते । भोजन के पदार्थ, विशेषत ताजा फल तरकारी और मास नगर के दरवाजो पर आ कर बिकते थे। सूनायें ( कसाईघर ) प्राय. शहर के बाहर रहतीं, और बाहर चौरस्तों ( सिंघाटकों ) पर ही मांस बिकता था । कारखाने सडक की तरफ खुले रहते, उन के अन्दर बनता हुआ सामान देखा जा सकता था । फुटकर बिक्री के आपण ( स्थिर दुकान ) तथा फेरी वाले दुकानदार भी होते थे, किन्तु श्रेणियो का तैयार माल प्राय: अन्तरापण[5] ( अन्दर के भण्डारो ) मे रख कर बेचा जाता । कपडा, अनाज, तेल, गन्ध, फूल,

---

में आग्नेय वंश के मनुष्य थे । समुद्दवाणिज जातक में सात 'शूर पुरुष' 'सन्नद्धपञ्चा-युध' हो कर द्वीप का परिग्रहण करने उतरते हैं । करते करते जहाँ उन्हें एक दाढ़ी-मूँछ बढ़ाये हुए नगा आदमी दीखता है, उसे यक्ख समझ कर वे कुछ चकित होते हैं, पर भाग नहीं जाते, अपने को एकदम बेबस नहीं मान बैठते, प्रत्युत अपने तीर चढ़ा लेते हैं, मानो उन्हें किसी वास्तविक मनुष्य से लड़ना हो । सिंहल के यक्ष मेरे विचार में आधुनिक वेद्दों के पूर्वज थे । दे० भारतभूमि पृ० ३०६-७ ।

१. जातक ५, २५६ ।

२. वहीं, २, ११२।

३. वहीं, ४, १६२ ।

४. सुप्पारक जातक ( ४६३ ) ।

५. जातक १, ३५०; ३, ४०६ ।

तरकारी, सोना-चान्दी के गहने और जौहरी का सामान—ये सब चीजे बाजारों मे मिलतीं थीं। मद्य की बिक्री के लिए अलग आपान या पानागार थे। आजकल की तरह के अस्थायी बाजारो मेलो और हाटो का कही उल्लेख नहीं मिलता।

क्रय-विक्रय खुले सौदे से होता, दामो पर कोई बन्धन न था। कभी कभी कुछ चीजो के दाम अवश्य रवाज से स्थिर हो जाते थे। सट्टे का भी चलन था। राज्य को तरफ से शहर मे आने वाले देसी माल पर प्रायः $\frac{1}{20}$ तथा विदेशी पर $\frac{1}{10}$ और वस्तु का एक नमूना चुगी के रूप मे लिया जाता। व्यापार मुख्यतः धातु की मुद्राओ से होता जो खूब प्रचलित थीं। कभी कभी वस्तु-विनिमय भी होता था। मुख्य सिक्का कहापण (कार्षापण) था। प्रत्येक चीज या सेवा की कीमत उसी मे कही जाती थी। जब सिक्के का नाम लिये बिना भी सख्या मे किसी चीज का दाम कहा गया हो तब कहापण से ही अभिप्राय होता है। उस के सिवा निक्ख (निष्क) और सुवण्ण नाम के सोने के सिक्के चलते थे। ताम्बे या कांसे के कुछ रेजगारी सिक्के भी थे।

गहने आदि रेहन रखने और ऋणपत्र (इणपण्ण) लिख देने का भी रवाज था। सूद पर रुपया देने (इणदान) का पेशा भी काफी चलता था। किन्तु जिन का वह पेशा था उन के सिवा दूसरे आदमी यह काम कम करते और प्रायः अपना धन गाड़ कर रखते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बड़ी बड़ी नगरियो मे व्यापारियों के संघ बने हुए थे, जिन्हे निगम कहते थे, और जिन के मुखिया सेट्ठी (श्रेष्ठी) कहलाते थे। सेट्ठी एक पद या दफ़्तर (ठान=स्थान) था, जिस पर आदमी जीवन भर के लिए निर्वाचित या नियुक्त होता। महासेट्ठी (मुख्य सेट्ठी) और अनुसेट्ठी (उप-सेट्ठी) उसी प्रकार के पद थे। निगम नगर के सामूहिक जीवन मे बड़े महत्त्व की संस्था थी, उस का गौरव शायद शिल्पियों की श्रेणियो से भी अधिक था। सेट्ठी का पद पामोक्खो या जेट्ठकों की तरह था, शायद नगर के प्रबन्ध में सेट्ठी का स्थान उन से भी ऊँचा रहता। किसी नगर के निगम का मुखिया उस नगर का सेट्ठी कहलाता, जैसे

राजगहसेट्ठी ( राजगृह के निगम का प्रमुख ) या सावत्थी-सेट्ठी आदि। नगर-सेट्ठियो का पद साधारण व्यापारी-सघो के सेट्ठियो से ऊँचा होता था[१]। उस जमाने मे राज्य की तरफ से सिक्के चलाने की प्रथा न थी, और जो कुछ प्रमाण हमारे पास है उन की रोशनी मे यही निश्चित प्रतीत होता है कि सिक्के निकालने का काम भी निगमो के हाथ मे था।

## § ८५. राज्यसंस्था में परिवर्त्तन

वैदिक और उत्तर वैदिक काल से महाजनपद-युग तक राज्यसंस्था मे अनेक अशो मे स्पष्ट परिवर्त्तन हो गया था। श्रेणि और निगम इस काल की बिलकुल नई सस्थाये थी जिन का वैदिक काल मे नाम-निशान भी न था, और जो समाज के आर्थिक विकास से उत्पन्न हुई थी।

### अ. ग्रामों और नगरियों का अनुशासन

व्यवसाय और व्यापार के सघटन मे श्रेणियो और निगमो का क्या स्थान था सो देख चुके है। किन्तु उन का एक दूसरा, राजनैतिक, पहलू भी था। अपने सदस्यो पर उन का पूरा राजनैतिक अनुशासन भी था। वही उन के लिए नियम बनाती, उन नियमो को चलातीं तथा न्यायालय का काम करतीं। स्थानीय अनुशासन, अथवा ठीक ठीक कहे तो अपने अपने समूह का अनुशासन पूरी तरह उन के हाथ मे था, और अपने अन्दर के मामलो मे उन्हे पूरी स्वायत्तता थी। व्यक्ति और राज्य के बीच वे संस्थाये थीं, और राज्य मे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व वही करती थी।

वैदिक ग्रामो के स्वरूप और स्वायत्त अनुशासन का उल्लेख पीछे कर चुके हैं। महाजनपद-युग के ग्राम जन की टुकडियाँ नहीं रहे, प्रत्युत

---

१. निग्रोध-जातक ( ४४५ ) में राजगहसेट्ठी और एक दूसरे साधारण सेट्ठी में स्पष्ट अन्तर किया है।

एक आन्तरिक परिवर्त्तन के द्वारा कृषको के आर्थिक समूह बन गये थे, यह भी ऊपर (§ ८४ अ) प्रकट हो चुका है। ध्यानपूर्वक विचारने से यह बात स्पष्ट होगी कि श्रेणियो का सघटन भी ग्राम-संस्था के ही नमूने पर हुआ था। ग्राम-सभाये जिस प्रकार एक एक बस्ती के कृषको के समूह थी, श्रेणियाँ उसी प्रकार एक एक बस्ती के एक एक शिल्प मे लगे व्यक्तियो के समूह थीं। और निगम उसी प्रकार व्यापारियो के। छोटे छोटे स्वायत्त समूहो के बीज प्रसुप्त दशा मे वैदिक ग्राम के रूप मे मौजूद थे; आर्थिक जोवन के परिपाक के साथ साथ समूचे समाज-सस्थान मे उन के अंकुर फूट पड़े, और समद्धि से सिंच कर अब पल्लवित हो उठे।

ज़रा ध्यान से विचारें तो इस युग के भारतीय राजनैतिक समाज का ठीक चित्र हमारे सामने आ जाता है। प्रत्येक बस्ती मे अथवा प्रत्येक भागोलिक इकाई मे समूची प्रजा अपने अपने पेशे या धन्दे के मुताबिक विभिन्न समूहो मे बँटी हुई थी। इन तमाम समूहो को हम कृषक शिल्पी और व्यापारी इन तीन मुख्य विभागो मे बाँट सकते हैं। प्रत्येक छोटा समूह एक भौगोलिक सीमा के अन्दर था, और अपने आन्तरिक अनुशासन मे पूरी तरह स्वतन्त्र था। यही समूह—ग्राम, श्रेणि और निगम—अनुशासन की सब से छोटी स्वतन्त्र इकाइयाँ थीं। और ये इकाइयाँ जन की टुकड़ियाँ नहीं, बन्द ज़ाते नहीं, प्रत्युत ऐसे व्यावसायिक और आर्थिक समूह थे जिन मे अपनी इच्छा से कोई व्यक्ति दाखिल हो सकता या बाहर निकल सकता था।

एक एक श्रेणी तो ग्राम-संस्था के नमूने पर बनी हो थी। किन्तु प्रत्येक नगरी मे अनेक श्रेणियाँ होतीं थीं। नगरियो का प्रबन्ध और अनुशासन इस युग की एक नई समस्या थी। इस से अगले युग मे हम नगरों के सामूहिक जीवन को प्रकट करने वाली संस्थाओ को अपने अलग नामों से फलता-फूलता पायेंगे, और यह देखेंगे कि उन मे विभिन्न श्रेणियों का प्रतिनिधित्व है जैसे कि प्रत्येक श्रेणी मे विभिन्न कुलों का प्रतिनिधित्व। इस युग में

भी नगर-समूह थे, किन्तु उन का पृथक् नाम हम अभी नही सुनते, वे निगम ही कहलाते थे। ऐसा जान पडता है कि निगम नाम से जो व्यापारियो के समूह थे, उन्ही के चौगिर्द पहले-पहल नगर-सस्थाओ का गठन हुआ था—उन सस्थाओ मे व्यापारियो की ही मुख्यता थी, इसी कारण निगम शब्द नगर के समूह के अर्थ मे भी प्रयुक्त होने लगा, बल्कि वही उस शब्द का मुख्य अर्थ हो गया। बाद मे वे पूग और गण कहलाने लगे, किन्तु इस काल मे हम उन के बजाय उन का नाम निगम ही सुनते है। लोगो मे राजनैतिक विवेक इतना था कि उस समय के साहित्य मे जहाँ कोई निश्चित कानूनी बात कही जाती है, वहाँ प्राय अमुक नगर के बजाय हम अमुक निगम का अर्थात् नगर-सभा का ही नाम पाते है[1] —मानो आजकल हम अमुक शहर कहने के बजाय अमुक म्युनिसिपैलिटी कहे। बनारस आदि बडी नगरियो के बाहर जो राजुय्यान[2] या राजकीय उद्यान थे, वे या तो राजा की और या इन नगर-निगमो की सम्पत्ति रहे होगे।

ग्राम श्रेणि और निगम न केवल अपने अन्दर के अनुशासन मे स्वायत्त थे—राजा उन मे बहुत कम दखल देता था, प्रत्युत उन का अनुशासन बहुत कुछ घरेलू था, व्यक्ति के जीवन मे वे यथेष्ट दखल देते थे। उन का क्षेत्र केवल आर्थिक और राजनैतिक नहीं प्रत्युत सामाजिक भी था। सब प्रकार का सामूहिक जीवन उन मे केन्द्रित था। और यह ध्यान रहे कि वे राज्य के बनाये हुए नहीं प्रत्युत आप से आप बने हुए समूह थे जिन की बुनियाद पर राज्य खडा होता था।

---

१. महावग्ग, चम्मक्खन्धक (५) में मध्यदेश की परिभाषा करते हुए कजगल निगम को उस की पूरबी सीमा कहा है। निगम एक बाकायदा संस्था होने से उस की सीमायें स्पष्ट निश्चित होती होंगी।

२. जातक ४, २६६।

## इ. केन्द्रिक अनुशासन

एकराज्य और गणराज्य दोनो नमूनो के राज्य महाजनपद-युग मे थे। प्रत्युत वैदिक और उत्तर वैदिक युगो की अपेक्षा इस युग मे गणों की विशेष बहुतायत थी। किन्तु जहां एकराज्य भी थे, वे उच्छृङ्खल और स्वेच्छाचारी न थे, न हो ही सकते थे।

वैदिक काल मे हम ने देखा था कि ग्रामणियो, सूतो और रथकारो की राज्य मे बड़ी स्थिति थी। ग्रामणी ग्रामों के प्रतिनिधि थे। इस समय ग्रामो के अतिरिक्त श्रेणियो और निगमो को भी वही हैसियत थी जो उस काल मे केवल ग्रामो की थी। फलतः अब हम राज्य मे श्रेणिमुख्यों और निगम-श्रेष्ठियों की बड़ी स्थिति देखते हैं। वैदिक काल के युद्धो मे रथ बड़े महत्त्व की वस्तु थे, और इसी कारण रथ बनाने वाले शिल्पियो का राज्य मे महत्त्व था। इस काल मे राज्य का समूचा आर्थिक और सामरिक आधार श्रेणियो और निगमो पर था—राज्य को आय मुख्यतः उन्हीं से थी, युद्ध-सामग्री वही तैयार करती थीं। श्रेणि-मुख्य अब उसी शिल्प-शक्ति के प्रतिनिधि थे जिस के वैदिक काल मे रथकार थे। शिल्प की वृद्धि और उन्नति के साथ साथ श्रेणियो के प्रतिनिधियो का गौरव ग्रामणियो की अपेक्षा अधिक होता जाता था।

श्रेणियों मे पारस्परिक झगडे भी हो जाते थे, और उन्हें शान्त करना राज्य का एक नया कार्य हो गया था। इस बात का उल्लेख है कि काशी के राज्य मे श्रेणियो के मामलों को निपटाने के लिए ही एक विशेष राजकीय पद बनाया गया था, जिसे भाण्डागारिक कहते थे। भाण्डागारिक का दफ़्तर ( ट्ठान ) सब श्रेणियो के पारस्परिक मामलो को विचारने के लिए [1] ही था। साथ ही यह भी उल्लेख है कि उस से पहले यह पद कभी न था, और उस के बाद हमेशा जारी रहा। काशी मे उस समय एक-राज्य

---

१. सब्बसेणिणं विचारणारहं भण्डागरिकट्ठानम्—जातक [illegible]।

न था, एक निर्वाचित राजा जो एक बनिये का बेटा था राज्य करता था। और जो व्यक्ति पहले पहल भाण्डागारिक पद पर नियुक्त हुआ वह एक दर्जी ( तुन्नकार [१] ) का बेटा था।

अभी कह चुके है कि उस समय समूची जनता अपने पेशे और धन्दे के अनुसार ग्राम, श्रेणि, निगम आदि आर्थिक समूहो मे बँटी हुई थी। राजा के यहाँ जनता का प्रतिनिधित्व उन समूहो द्वारा ही था। राजा उन के मुखियो की सम्मति से ही कर निश्चित करता, कर की वसूली भी सम्भवत: उन समूहो द्वारा ही होती। विशेष अवसरो पर, अथवा कोई भी महत्त्व का प्रश्न आने पर, राजा उन्हे बुला कर परामर्श करता। किन्तु क्या ग्रामणियो, श्रेणिमुख्यो आदि की कोई बाकायदा और स्थायी संस्था राज्य मे थी ? इस का उत्तर देना कठिन है। यह निश्चित है कि वैदिक काल की समिति अब समाप्त हो चुकी थी, उस का नाम हम इस काल में नही सुनते। प्रत्येक महत्त्व के कार्य मे इस युग मे राजा नेगमजानपदा की सलाह लेता था, जिन्हे बाद में पौरजानपदा भी कहने लगे। क्या नेगमजानपदा का अर्थ केवल नगर और देहात के मुख्य निवासी था अथवा क्या वह कोई एक विधिवत् सगठित सस्था थी ? श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल का कहना है कि वह एक बाकायदा सस्था थी। दूसरे विद्वानो मे से कुछ ने इस बात का विरोध किया है, कुछ चुप्पी साधे हुए है। विवाद मे पडे बिना यहाँ इतना कहा जा सकता है कि नेगमजानपदा कोई सस्था रही हो या न रही हो, वैदिक समिति की उत्तराधिकारिणी कोई न कोई सस्था इस काल मे थी, सो निश्चित प्रतीत होता है[२]। राजा सेनिय बिम्बिसार के राज्य मे ८० हजार गामिकों की सभा जुटने का उल्लेख है[३]।

---

१. वहीं ४, ३८।

२. दे० ※ १६।

३. महावग्ग ५, १।

उस के अतिरिक्त समिति मे से ही कुछ मुख्य लोग वैदिक और उत्तर वैदिक काल मे राजकृत· और रत्निन कहलाते, और वही राज्य के मुख्य अधिकारी होते थे। वे राजकर्त्तारः इस युग मे भी थे, उन के समूह को इकट्ठा परिषा (परिषद्) कहा जाता था। आधुनिक परिभाषा मे हम परिषा को मन्त्रि-परिषद् कहेंगे। ये अधिकारी भले ही राजा के नियुक्त किये हो, किन्तु वे ब्राह्मणों, श्रेणिमुख्यों, श्रेष्ठियों आदि मे से ही चुने जाते थे, और इस प्रकार वे प्रजा के प्रतिनिधि-रूप मे ही अधिकार पाते थे।

## उ. गणराज्य और सार्वभौम राज्य

सोलह महाजनपदो तथा अन्य छोटे जनपदो मे से बहुत से गण-राज्य थे सो देख चुके हैं। एकराज्यों मे भी ग्राम, श्रेणि, नगर आदि की सभाये होतीं। सम्भवतः समूचे राज्य मे भी कोई एक बड़ी सभा रहती थी। गणराज्यो मे अन्तिम और उच्चतम अनुशासन भी एक सभा के और निर्वाचित व्यक्ति के हाथ में रहता। उन मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामूहिक चेष्टा अपेक्षया अधिक थी। उन की सभाओ की कार्यशैली इस समय तक बहुत कुछ उन्नत और परिष्कृत हो चुकी थी। उन मे बाकायदा छन्द या सम्मति (वोट) लेने, निश्चित विधान के अनुसार प्रस्ताव पेश (ञत्ति =ज्ञप्ति) करने, भाषण देने, विवादग्रस्त विषय सालिसो के सिपुर्द करने (उब्बाहिका=उद्वाहिका) आदि की अनेक वैसी परिपाटियाँ चल चुकी थीं जिन से कि सभाओ का काम सुविधा के साथ चलता है। उन सभाओ के जुटने (सन्निपतन[1]) के लिए अपने विशेष भवन थे जो सन्थागार कहलाते थे।

---

१. जातक ४—१४५, १४७। जहाँ सभा का बाकायदा जुटाव न हो, यों ही जमघट हो वहाँ सन्निपत् धातु नहीं बर्त्ता जाता, जैसे जातक २,३६७ पंक्ति २२ में एकतो हुत्वा। सन्निपात का ठीक अर्थ जुटाव था। वैद्यक में पहले पहल आलंकारिक रूप से रोगों का 'सन्निपात' कहलाया होगा, पर अब वह अर्थ इतना जम चुका है कि मूल अर्थ में हम हिन्दी में सन्निपात शब्द को नहीं बर्त्त सकते।

एकराज्यो और गणराज्यो के बीच साम्राज्य अथवा सार्वभौम राज्य बनाने की ओर सकलजम्बुदीपस्स एकराजा या सकलजम्बुदीपे अग्गराजा[1]—सारे भारत का एक राजा या अगुआ राजा—या चक्कवत्ति राजा[2] बनने की होड भी लगातार जारी थी। कई जनपद दूसरे जनपदो को अपने साथ मिला कर अथवा विजय द्वारा अपना कलेवर बढा कर महाजनपद बन गये थे, सो उसी का फल था। और उसी के कारण आगे और बड़े राज्य बन रहे थे।

सकलजम्बुदीप या समूचे भारत की चेतना प्राय प्रत्येक बात मे उस समय के भारतवासियो मे पाई जाती है। एक राजा एक नई किस्म का महल बना कर जम्बुदीपतल ( उत्तर भारतीय मैदान[3] ) मे सब्बराजूनम् अग्गराजा बनने की सोचता है[4]। एक और राजा के पुरोहित को यह चिन्ता होती है कि यदि झूठे साधु (कहुक तापस) गेरवे कपडे पहन कर मुफ़्तखोरी करने लगेंगे तो सकल-जम्बुदीप को वे ठगी से नष्ट कर देंगे, और इस लिए वह राजा से कह कर उन सब को सन्यास से लौटवा कर (उप्पब्बजापेत्वा) ढाल-तलवार दिला सैनिक बनवा देता है[5]।

## § ८६. सामाजिक जीवन धर्म ज्ञान और वाङ्मय की प्रगति

### अ. सामाजिक जीवन

हम ने देखा कि बेटे के लिए अपने बाप के पेशे मे जाना आवश्यक न था, और धन्दा चुनने की पूरी स्वतन्त्रता उस समय के समाज मे थी।

---

१. धोनसख जातक ( ३५३ ), जातक ५—३०४, ३१४, ३१५।

२. वहीं ४, २६८, पृ० २८।

३. दे० ऊपर § २।

४. भद्दसाल जातक ( ४६५ )।

५. जातक ४, ३०४।

निःसन्देह कुछ पेशे ऊँचे और कुछ नीचे गिने जाते थे। लिखने का पेशा, सराफ का काम, दन्त- ( हाथीदाँत ) कार, जुलाहे, हलवाई, जौहरी, सुनार, लोहार, कुम्हार, मालाकार ( माली ), केश-साधक, वणिक्, नाविक आदि के पेशे अच्छे गिने जाते थे। दूसरी तरफ निषाद, मृगलुब्धक, मछुए, कसाई, चर्मकार, सँपेरे, नट, गवैये, नळकार ( नड़ों की चटाई, पिटारी आदि बनाने वाले ), रथकार आदि के पेशे तुच्छ माने जाते थे। रथकार का पेशा नीचा समझा जाने लगा था यह एक विचित्र बात थी; किन्तु उस का कारण यह प्रतीत होता है कि इस युग मे मगध आदि जनपदो मे—जिन का चित्र हमे पालि वाङ्मय मे मिलता है—वह अनार्य जातियो के हाथ मे था। निषाद, रथकार आदि नीच जातियाँ ही थीं।

यह ऊँचनीच रहते हुए भी अवस्थाओ और आवश्यकताओ के अनुसार सब आदमी सभी पेशों को अख्तियार कर सकते थे। उस समय के वाङ्मय मे हम ब्राह्मणो के बेटों को अपने हाथ से खेती करता, शिकारी बढ़ई जुलाहे अटवी-आरक्खक योद्धा और रथ हाँकने वाले सूत का एवं सँपेरे तक का काम करता पाते हैं; और उस मे वे कुछ भी बुरा ख्याल नहीं करते। इसी प्रकार एक जुलाहा बाद मे योद्धा हो जाता है, एक कृषक बेटे-सहित नळकार के तुच्छ काम मे लग जाता है; एक कुलीन परिवार का गरीब आदमी बिल्लियो की खुराक के लिए मरे मूसे बेचने के धन्दे से अपनी जीविका शुरू करता है, और धीरे धीरे पूजी जोड़ते हुए हर किस्म के पापड़ बेलने के बाद अन्त मे एक जहाज़ का समूचा माल खरीद लेता और एक सेट्ठी की लड़की से ब्याह करता है! अन्य अनेक उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।

उक्त सब पेशे और धन्दे "वैश्य" पेशों और धन्दों मे सम्मिलित हो जाते हैं। किन्तु ब्राह्मण और क्षत्रियों की क्या स्थिति थी? क्या वे भी दो पेशे कहे जाँय या वे दो जातियाँ थी जो ज़रूरत होने पर इन "वैश्य" पेशों को भी अख्तियार कर लेतीं थीं? इस विषय को स्पष्ट करने के लिए यह कहना चाहिए कि ब्राह्मण और क्षत्रिय भी एक तरह से दो श्रेणियाँ सी थीं; यद्यपि

और श्रेणियो की तरह उन का नाम श्रेणि न पडा था, तो भी उन की सामूहिक एकता श्रेणियो की सी थी। ब्राह्मणो के विषय मे विशेष कर यह बात कही जा सकती है, निश्चय से अभी तक ब्राह्मण जाति न बनी थी—ब्राह्मण श्रेणि मे घुसने का द्वार जन्म न था। कुल की उच्चता का भाव बल्कि क्षत्रियों मे ब्राह्मणो से अधिक था,[1] वे कुल का विचार ( गोत्तपटिसारियो ) सब से अधिक करते थे। और वह स्वाभाविक भी था। क्योकि बडे बडे कृषक सरदार जो प्राय: युद्ध मे नेता होते थे, वही तो क्षत्रिय थे, और उन पुराने खानदानो के सरदारो में अपने कुल या गोत्र की उच्चता का भाव उठ खडा होना स्वाभाविक ही था।

कुल की ऊँचनीच का भाव समाज मे जरूर था। एक तरफ कुलीन क्षत्रिय थे, तो दूसरी तरफ चण्डाल आदि अनार्य जातियो के लोग, और दास भी थे। दासत्व कई तरह से होता—युद्ध में पकड़े जाने के कारण, मृत्यु-दण्ड के बदले मे, ऋण न चुका सकने की दशा मे, अन्य कानूनी दण्ड के रूप मे, अथवा गरीबी आदि से तंग आ कर स्वय दास बन जाने से। कई बार मालिक अपने दासो को मुक्त भी कर देते थे, या दास अपनी कीमत अदा कर अपने को मुक्त करा लेते थे। दासो की सख्या बड़ी न थी, खेती या अन्य मेहनत-मजदूरी उन के द्वारा न कराई जाती थी, उन का मुख्य कार्य घरेलू सेवा ही था; और उस प्रकार की सेवा के लिए सभी सम्पन्न परिवारो मे दास रहते थे। साधारणत उन के साथ अच्छा बर्ताव होता था। इस प्रकार जहाँ दासत्व कुछ कानूनी कारणो से भी होने लगा था, वहाँ वास्तव मे प्राय: सब दास मूलत: अनार्य लोग ही रहे होंगे। जब वे दास न होते तब भी प्राय: तुच्छ पेशे करते थे। गणिकाये या वेश्याये वण्णदासी[2] कहलाती थी, जिस से यह प्रतीत होता है कि वे आर्यो से मैले रग की स्त्रियाँ होती थी।

---

१. दे० ※ २०।

२. जातक ४, २६८, २, ३८०।

किन्तु इस के बावजूद कि क्षत्रियो मे विशेष कर तथा अन्य कुलीन लोगो मे साधारणत: अपने जन्म का अभिमान था, और इस के बावजूद कि कुछ जातियाँ नीच गिनी जाती थीं, समाज मे आपस मे खुला मिलना-जुलना खाना-पीना और बहुत अंश तक खुली ब्याह-शादी भी थी। उस समय के वाङ्मय मे हम राजाओ ब्राह्मणो और सेट्ठियो की सन्तान को परस्पर मैत्री करते, एक साथ पढ़ते, एक साथ खाते और ब्याह शादी करते पाते हैं। नीचे लिखे कुछ उदाहरणों से उस समय के सामाजिक आचार-व्यवहार पर प्रकाश पड़ेगा।

एक नीच जाति का मृगलुब्धक एक तरुण सेट्ठी का हर समय का साथी बन जाता है, और वैसा होने मे कोई सामाजिक रुकावट नही होती। एक गरीब कट्ठवाहिनी ( लकड़ी ढोने वाली ) काशी के राजा की रानी बनती है, और उस का लड़का फिर काशी का राज्य करता है। कोशल का राजा पसेनदि सावत्थी के मालाकारसेट्ठी की लड़की मल्लिका को अपनी रानी बनाता है। ब्राह्मण इस विषय मे क्षत्रियो से अधिक स्वतन्त्र दीखते है। यदि एक क्षत्रिय ब्राह्मणी से विवाह करे या ब्राह्मण क्षत्रिया से, तो उन की सन्तान को क्षत्रिय अपने से कुछ नीचा मानते हैं, पर ब्राह्मण वैसा विचार नही करते।

अनार्य दासो और चण्डालो से आर्य लोग जरूर घृणा दिखलाते हैं, और वह बात स्वाभाविक भी थी। महानामा शाक्य अपनी रखैल दासी—सम्भवत: रामा—से उत्पन्न लड़की वासभखत्तिया के साथ खाने का दिखलावा केवल इस लिए करता है कि उस लड़की का ब्याह हो सके। और बाद कोशल के राजा पसेनदि से उस के ब्याहे जाने पर यह भेद मालूम होने से जब राजा बिगडता है, तब यह समझाने पर उस का रोष शान्त होता है कि पिता का गोत्र ही प्रमाण है, माता के गोत्र से क्या होता है। किन्तु शाक्यो में अपने कुल का अभिमान इतना था कि वे अपनी उस लड़की के बेटे कोशल के राजा

विडूडभ के कपिलवस्तु आने पर जिस चौकी पर वह बैठा उसे यह कह कर दूध-पानी से धुलवाते हैं कि दासी का पुत्र इस पर बैठ गया। कोशल के राजा को अपनी शुद्ध शाक्य वश की बेटी देने मे उन्हे अपने कुलवश के भग्न होने की शका होती है।[1]

चण्डाल का जूठा खाने से ब्राह्मण बहिष्कृत कर दिये जाते हैं। एक व्यापारी और एक पुरोहित की लडकी को एक बार नगरद्वार से बाहर निकलते ही दो चण्डालो के दर्शन होते है। इस अपशकुन के कारण वे लौट कर सुगन्ध जल से आँखे धोती है, और लोग उन चण्डालो को पीटते हैं। लेकिन बाद मे उसी व्यापारी की लडकी का उन मे से एक चण्डाल से विवाह भी हो जाता है।

सार यह कि कुल और गोत्र का अभिमान, पेशो की ऊँचनीच, सब थी, किन्तु एक तरल परिवर्त्तनशील रूप मे, न कि काठ और पत्थर की जातो की शकल मे। बेटे को स्वभावतः बाप के पेशे मे जाने मे सुविधा होती थी, पर उस का भी कोई बन्धन न था।

उत्तर वैदिक काल मे जो आश्रम-पद्धति चली थी उस का इस युग मे भी बहुत उल्लेख मिलता है। बचपन मे लोग आचरियकुल[2] मे रह कर शिल्प ग्रहण करते अर्थात् शिक्षा पाते थे। प्राय १६ वर्ष की आयु होने पर जो लोग सकते वे तक्कसिला जैसे विद्यापीठो मे जा कर आगे पढ़ते थे। वानप्रस्थ और सन्यास मार्ग का भी प्रचार था, किन्तु ठग (कुहक) साधुओ की समस्या उस आरम्भिक युग मे भी उठ खडी हुई थी[3]।

स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो मे बहुत-कुछ सरलता इस युग मे भी बनी हुई थी। राजकीय परिवारो मे यह रवाज था कि यदि सन्तान न हो तो नगर मे नाटक

---

१. भद्दसाल जातक (४६५) पच्चुपन्नवत्थु।

२. वहीं, पृ० १४८।

३. ऊपर § ८५ उ।

( उत्सव ) रच के रानियों या राजकीय स्त्रियों को भेज दिया जाता, और उन की इच्छानुसार जिस किसी पुरुष से नियोग द्वारा उन के गर्भ रह जाता[1]।

## इ. धार्मिक जीवन, तीर्थङ्कर पार्श्व

भारतवर्ष की धार्मिक अनुभूति मे इस युग के अन्त मे एक बहुत भारी क्रान्ति हुई जिस का उल्लेख अगले प्रकरण मे किया जायगा। वेदो की आरम्भिक सरल प्रकृति-देव-पूजा और पितृ-पूजा जिन दशाओं मे से गुजरते हुए उस क्रान्ति के पहले के पेचीदा धर्म की अवस्था मे परिणत हुई, उन के क्रम-विकास की झलक हमे उत्तर वैदिक और इस युग के वाङ्मय से मिलती है। वैदिक देवताओं और पितरों की पूजा किस प्रकार एक जटिल क्रियाकलाप बनती जाती थी सो पीछे कहा जा चुका है। वह कर्मकाण्ड की लहर एक तरफ थी, और दूसरी तरफ उस के मुकाबले मे ज्ञानकाण्ड या तत्त्वचिन्तन की लहर। वे दोनो बड़े लोगो के लिए थी, साधारण जनता के जीवन का संचालन अभी तक बहुत कुछ पुराने प्रकृति-देवता ही करते थे। जातक कहानियो मे, जिन का अभी उल्लेख किया जायगा, हमे जनसाधारण के धार्मिक विश्वासो और आचरणो का जो चित्र मिलता है, वह बहुत सरल सुन्दर और उज्ज्वल है। साधारण जनता अभी तक जगत् को पुरानी वैदिक दृष्टि से देखती—उस के लिए प्रकृति की प्रत्येक महाशक्ति के पीछे अधिष्ठातृ-रूप से कोई न कोई देवता उपस्थित था। उन देवो का मुखिया वही सक्क ( शक्र ) अर्थात् इन्द्र था। इस युग के जनसाधारण की दृष्टि में प्रत्येक जंगल, प्रत्येक पहाड़, प्रत्येक नदी, प्रत्येक समुद्र आदि पर किसी न किसी देवता की गद्दी मौजूद थी। उदाहरण के लिए, बगाल की खाड़ी पर चारो लोकपालों ने एक देवकन्या मणिमेखला को नियुक्त किया था। उस का काम यह देखना था कि कोई सदाचारी धर्मात्मा समुद्र मे डूबने न पाय[2]। देवताओं के रूप उज्ज्वल, प्रकृतियाँ सरल और स्वभाव सौम्य थे। वे आर्य जनता से हिल-मिल

१. कुस जातक ( ५३१ )।
२. जातक ६, ३५।

कर रहते, उस के जीवन को मधुर बनाते, और अनेक मानवोचित कार्य करते—यहाँ तक कि मनुष्यों की तरह कभी कभी अपने काम से छुट्टी भी ले लेते थे। नमूने के लिए वही देवी मणिमेखला, जब राजकुमार महाजनक का जहाज सुवर्णभूमि की राह मे टूटा, देवताओं के एक समागम मे शामिल होने को सात दिन की छुट्टी पर गई हुई थी।[1]

देवताओं की अनेक चमत्कारी शक्तियाँ अवश्य थी, पर यह मार्के की बात है कि उन चमत्कारों पर विश्वास ऐसा न था जो जनता को मूढ असहाय निरुद्यमी और परमुखापेक्षी बना दे। जनता के समूचे धार्मिक जीवन और विचार की अटल धुरी की तरह यह विश्वास था कि मनुष्य को अपने अच्छे-बुरे किये का फल जरूर मिलता है, ससार की कोई शक्ति उसे टाल नही सकती। देवताओं की शक्ति उस नियम के आगे कुछ भी नहीं है, प्रत्युत मनुष्य का सत्य धर्म और सदाचरण देवताओं को उन की गद्दी से हिला सकता और चमत्कारों द्वारा पुण्यात्मा मनुष्य को पुण्य का फल दिलाने को बाधित कर सकता है। स्तुति, प्रार्थना, भक्ति या अन्य किसी प्रकार की रिश्वत से देवताओं को रिझाने के भाव की हम कही गन्ध भी नहीं पाते, किन्तु सत्यवादी पुण्यात्मा पुरुष अपने सत्य और पुण्य की शपथ से देवताओं को कुछ भी करने को बाधित कर सकता है ऐसे विश्वास के अनेक दृष्टान्त देखते हैं। उस प्रकार की शपथ को सच्चकिरिय ( सत्यक्रिया ) कहते, और उस का प्रभाव सदा सौ फी सदी अचूक होता। लोहे की जजीरों मे जकड़ा हुआ एक निरपराध पुरुष शपथ कर कहता है कि यदि मै निरपराध हूँ तो जंजीरें टूट जाँय,—और वे टूट जाती है![2] एक भयानक समुद्र मे, जहां पहुँच कर कभी किसी का जहाज लौटा न था, चार महीने से भटकते एक जहाज का नियामक अन्त मे सच्चकिरिय करता है कि यदि मैंने कभी धर्म-

---

१ वहीं।

२. वहीं ६, ३०-३१।

पथ न छोड़ा हो तो यह जहाज़ बच जाय,—और वह बच जाता है![1] अपनी दोनो आँखे दान दे कर अन्धा हुआ एक राजा, जिस के पुण्य के बल से सक्क को उस के द्वार पर उपस्थित होना पड़ता है, सक्क के सामने यह सच्चकिरिय करता है कि यदि मेरा दान सच्चा हो तो मेरी आँखे लौट आँय,—और वे लौट आती है, यद्यपि इस दृष्टान्त मे यह कहा गया है कि जो लौटी वे उस की चर्मचक्षुएँ नही प्रत्युत ज्ञानचक्षुएँ थीं[2]। तो भी इस दृष्टान्त मे सच्चकिरिय अथवा शपथ का प्रभाव ध्यान देने योग्य है, और यह बात भी देखने की है कि राजा को उस के सुकृत का फल दिलाने मे सत्य-शपथ ने सुविधा कर दी, वह फल तब तक मिलने से रुका हुआ था जब तक राजा ने सच्चकिरिय नहीं की। जब जब हम देवताओ को चमत्कार करता देखते हैं, मनुष्य के सुकृत और उस की सत्य-शपथ के प्रभाव से बाधित हो कर ही। देवताओ को बाधित करने वाली असल शक्ति तो मनुष्य का सत्य और सुकृत ही होता, सच्चकिरिय अथवा शपथ केवल अन्तिम कानूनी कार्रवाई के रूप मे—जायदाद की बिक्री मे बयनामे की तरह—उपस्थित होती।

इस प्रकार महाजनपद-युग की आर्य जनता का यह अटल विश्वास था कि मनुष्य को अपने सुकृत-दुष्कृत का उचित फल अवश्य मिलता है, और जब वह सीधे स्पष्ट मार्ग से मिलता नही दीखता तब भी देवता लोग कोई न कोई चमत्कार कर के उसे अवश्य उपस्थित कर देते हैं। फलतः, देवताओ की चमत्कार-शक्तियो मे विश्वास उस युग के आर्यों को असहाय और निकम्मा बनाने के बजाय अपने भले प्रयत्नों मे और भी अधिक सचेष्ट और तत्पर बना देता—वह उन मे एक दृढ आशावाद फूँक देता कि सत्प्रयत्नो का सुफल चाहे जैसे हो मिल कर ही रहेगा, चाहे सीधी प्रक्रिया से मिले चाहे

१. वहीं ४, १४२।

२. वहीं ४, ४०९-१०

किसी चमत्कार के द्वारा। इस प्रकार, हम अपनी आजकल की सूखी तार्किक दृष्टि से जहाँ मानव प्रयत्न को बिलकुल विफल मान सकते है, वहाँ भी उस युग का पुरुष प्रयत्न के सफल होने की आशा कर सकता था। उसी महाजनक की कहानी मे, जब टूटे जहाज का कूपक ( मस्तूल ) थामे हुए, अपने साथियो के लहू से लाल हुए समुद्र मे सात दिन तक तैरने के बाद भी वह हिम्मत नहीं हारता, तब मणिमेखला उस के सामने अलङ्कृत रूप मे आकाश मे प्रकट हो कर उसे परखने को कहती है—

"यह कौन है जो समुद्र के बीच, जहाँ तीर का कुछ पता नहीं है, हाथ मार रहा है? क्या अर्थ जान कर—किस का भरोसा कर के—तू इस प्रकार वायाम (=व्यायाम, उद्यम) कर रहा है?"[1]

"देखो, मै यह जानता हूँ कि लोक मे जब तक बने मुझे वायाम करना चाहिए। इसी से समुद्र के बीच तीर को न देखता हुआ भी उद्यम कर रहा हूँ।"

"इस गम्भीर अथाह मे जिस का तीर नहीं दीखता, तेरा पुरिसवायाम (=पुरुष व्यायाम, पुरुषार्थ ) निरर्थक है, तू तट को पहुँचे बिना ही मर जायगा।"

"क्यो तू ऐसा कहती है? वायाम करता हुआ मरूँगा भी, तो गर्हा से तो बचूँगा। जो पुरुष की तरह उद्यम ( पुरिसकिच्च ) करता है, वह अपने ज्ञातियो ( कुटुम्बियो ), देवो और पितरो के ऋण से मुक्त[2] हो जाता है,— और उसे पछतावा नही होता ( कि मैने अपने प्रयत्न मे कोई कसर छोडी )।"

---

१. खेद है कि इन मनोहर गाथाओं का पद्यानुवाद नही कराया जा सका।

२. ऋणों का सिद्धान्त कर्त्तव्य के प्रेरक रूप में यहाँ बौद्ध साहित्य में भी उपस्थित है। ज्ञातियों का ऋण = मनुष्य-ऋण।

"किन्तु जिस काम के पार नही लगा जा सकता, जिस का कोई फल या परिणाम नहीं दीखता, वहाँ वायाम से क्या लाभ—जहाँ मृत्यु का आना निश्चित ही है ?"

"जो यह जान कर कि मै पार न पाऊँगा उद्यम नही करता, यदि उस की हानि हो, तो देवी, उस मे उसी के दुर्बल प्राणो का दोष है । मनुष्य अपने अभिप्राय के अनुसार, देवी, इस लोक मे अपने कार्यों की योजना बनाते और यत्न करते हैं, सफलता हो या न हो ( सो देखना उन का काम नही है )। कर्म का फल निश्चित है देवी, क्या तू यही यह नहीं देख रही ? मेरे साथी सब डूब गये, और मै तैर रहा हूँ, और तुझे अपने पास देख रहा हूँ। सो मै व्यायाम करूँगा ही, जब तक मुझ मे शक्ति है जब तक मुझ मे बल है, समुद्र के पार जाने को पुरुषकार करता रहूँगा।"[१]

इन उपदेशभरी गाथाओ को सुनते सुनते मणिमेखला अपनी बाहे फैला देती और महाजनक को गोद मे उठा कर उस की राजधानी पहुँचा देती है !

इन गाथाओ मे यह भाव स्पष्ट है कि मनुष्य को जतन करना ही चाहिए—फल की आशा हो या न हो। उपनिषदो वाला यह विचार भी साधारण जनता तक पहुँच गया दीखता है कि स्वार्थ-भाव से किये सत्कर्मो —यज्ञ आदि—से स्वर्ग मिल सकता है, किन्तु स्वर्ग-सुख भी नश्वर है, बिना किसी कामना के सत्कर्म करना उस से भी ऊँचा ध्येय है।[२] देवता लोग सब स्वर्ग-सुख भोगने वाले व्यक्ति हैं, पर निष्काम ज्ञानी पुरुष देवो से भी ऊँचा उठ सकता है। इस प्रकार, हम देखेगे कि भगवान् बुद्ध जब अपनी पहली शिष्यमण्डली को काशी से चारो दिशाओ मे उपदेश देने को विदा

१. वहीं ६, ३५-३६ ।

२. जातक ४, ४०५-६, ४०६ ।

करते है, तब वे उन्हे देवो और मनुष्यों के हित-सुख के लिए घूमने को कहते हैं—उन भिक्षुओ के उपदेशो से न केवल मनुष्यो प्रत्युत देवो का भी कल्याण होने की आशा करते है।[1] सच ही उस युग के देवता भी सच्चे धर्म का उपदेश सुनने को मनुष्यो की तरह तरसते थे।

सार यह कि देवताओ की बस्ती महाजनपद युग मे भी वैदिक काल की तरह आबाद थी, किन्तु एक-दो नये विचारो का आर्यावर्त्त के धार्मिक जीवन मे उदय हो गया था। वे विचार ये थे कि मनुष्य अपने कर्म का फल अवश्य पाता है, सत्य सुकृत और सदाचरण ही सब से बडा धर्म है, और निष्काम भाव से भलाई करना मानव जीवन का परम लक्ष्य है। सत्कर्म और सदाचरण की जो ऐसी महिमा मान ली गई सो सुधार की एक लम्बी लहर का परिणाम था, जिस मे अनेक सुधारको के प्रयत्न सम्मिलित थे। वसु चैद्योपरिचर के समय शायद पहले-पहल सुधार की वह लहर उठी थी उपनिषद्-युग मे पुष्ट हुई, और बाद भी कई सुधारको की चेष्टाओ स आगे बढ़ती रही। तीर्थङ्कर[2] पार्श्व नाम का इस प्रकार का एक बडा सुधा-

---

१. दे० नीचे § ६०।

२ जैनो का मत है कि जैन धर्म बहुत प्राचीन है, और महावीर से पहले २३ तीर्थङ्कर हो चुके हैं जो उस धर्म के प्रवर्त्तक और प्रचारक थे। सब से पहला तीर्थङ्कर राजा ऋषभदेव था, जिस के एक पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। इसी प्रकार बौद्ध लोग बुद्ध से पहले अनेक बोधिसत्त्वों को हुआ बतलाते हैं। इस विश्वास को एकदम मिथ्या और निर्मूल तथा सब पुराने तीर्थङ्करों और बोधिसत्त्वो को कल्पित अनैतिहासिक व्यक्ति मानना ठीक नही है। इस विश्वास में कुछ भी असगत नही है। जब धर्म शब्द को सकीर्ण पन्थ या सम्प्रदाय के अर्थ में ले लिया जाता है, और यह बाज़ारू विचार मन में रक्खा जाता है कि पहले 'हिन्दू धर्म' 'ब्राह्मण-धर्म' या 'सनातन धर्म' था, फिर बौद्ध और जैन धर्म पैदा हुए, तभी वह विश्वास असगत दीखने लगता है। यदि आधुनिक हिन्दुओ के आचार-व्यवहार

रक नौवीं-आठवीं शताब्दी ई० पू० में हुआ। उस का पिता वाराणसी का 'राजा' अश्वसेन था, और उस की माता का नाम वामा था। पार्श्व की मुख्य शिक्षायें अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह थीं।

---

और विश्वास को 'हिन्दू धर्म' कहा जाता है तो यह कहना होगा कि बुद्ध और महावीर से पहले भारतवासियों का धर्म हिन्दू धर्म न था—वह 'हिन्दू' बौद्ध और जैन सभी मार्गों का पूर्वज था। यदि उस काल के धर्म को वैदिक कहा जाय, तो भी यह विचार ठीक नहीं कि उस में बौद्ध और जैन मार्गों के बीज न थे। भारतवर्ष का पहला इतिहास बौद्धों और जैनों का भी वैसा ही है जैसा वेद का नाम लेने वालों का। उस इतिहास में आरम्भिक बौद्धों और जैनों को जिन महापुरुषों के जीवन और विचार अपने चरित्र-सम्बन्धी आदर्शों के अनुकूल दीखे, उन सब को उन्हों ने महत्त्व दिया, और महावीर और बुद्ध के पूर्ववर्त्ती बोधिसत्त्व और तीर्थङ्कर कहा। वास्तव में वे उन धर्मों अर्थात् आचरण-सिद्धान्तों के प्रचारक या जीवन में निर्वाहक थे, जिन पर बाद मे बौद्ध और जैन मार्गों में बल दिया गया, और जो बाद में बौद्ध जैन सिद्धान्त कहलाये। वे सब बोधिसत्त्व और तीर्थङ्कर भारतीय इतिहास के पहले महापुरुष रहे हों, या उन में से कुछ अंशत: कल्पित रहे हों। इतने पूर्वज महापुरुषों की सत्ता पर विश्वास होना यह सिद्ध करता है कि भारतवर्ष का इतिहास उस समय भी काफ़ी पुराना हो चुका था, और उस में विशेष आचार-मार्ग स्थापित हो चुके थे। फ़िलहाल तीर्थङ्कर पार्श्व की ऐतिहासिक सत्ता आधुनिक आलोचकों ने स्वीकार की है, दे० कै० इ० पृ० १५३; बाकी तीर्थङ्करों और बोधिसत्त्वों के वृत्तान्त कल्पित कहानियों में इतने उलझ गये हैं कि उन का पुनरुद्धार नहीं हो पाया। किन्तु इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि वैदिक से भिन्न मार्ग बुद्ध और महावीर से पहले भी भारतवर्ष में थे। अर्हत् लोग बुद्ध से पहले भी थे, और उन के चैत्य भी बुद्ध से पहले थे, दे० नीचे § १०१ में लिच्छिवियों के चैत्यों के विषय में बुद्ध का कथन। उन अर्हतों और चैत्यों के अनुयायी व्रात्य कहलाते थे जिन का उल्लेख अथर्ववेद में भी है।

## उ. ज्ञान और वाङ्मय के नये क्षेत्र—अर्थशास्त्र और लौकिक साहित्य

वैदिक वाङ्मय का विस्तारक्षेत्र पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। उस का आरम्भ धार्मिक कविता ( ऋच्, साम ) से हुआ था, और उसी मे से क्रमश. धार्मिक क्रियाकलाप की विवेचना ( यजुष्, ब्राह्मण ), भाषाविज्ञान ( शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त ), समाज के नियमो-विषयक विचार ( कल्प ), ज्योतिष गणित आदि आरम्भिक प्राकृतिक विज्ञान और दार्शनिक आध्यात्मिक विचार (उपनिषद्) का विकास हो गया था। ज्ञान और उस के प्रकाशन का क्षेत्र इस युग मे और बढ गया। अनेक लौकिक विषयो पर धर्म के सहारे के बिना विचार होने लगा। ज्ञान और विद्याओ का एक नये प्रकार से वर्गीकरण होने लगा—धर्म और अर्थ अब ज्ञान के मुख्य क्षेत्र और विषय थे। समूचा वैदिक वाङ्मय धर्म के क्षेत्र मे था, उस के अतिरिक्त मनुष्यो के सासारिक कल्याण का विचार करना अर्थशास्त्र का क्षेत्र था। अर्थशास्त्र का उदय पहले पहल इसी युग मे हुआ दीखता है[1], समाज का सब राजनैतिक और आर्थिक जीवन उस का विषय था, कृषि शिल्प गोपालन वाणिज्यविषयक ज्ञान उसी के अन्तर्गत थे।

इतिहास-पुराण कथा-कहानी के रूप मे और बहुत सा लौकिक साहित्य पैदा हो रहा था। पुराण के एक से अधिक अलग अलग ग्रन्थ हो गये थे[2]। इस काल की अत्यन्त मनोरञ्जक कहानियो का एक बड़ा सग्रह बाद के बौद्ध वाङ्मय मे सुरक्षित है, जहाँ उन्हे बुद्ध की पूर्वजन्म-कथाये बना कर जातक नाम दे दिया गया है। इन जातको की गाथाओं ( गीतियो ) या पालियो मे

---

१ सुहनु जातक ( १५८ ) में राजा के अत्थधम्मानुसासक अमच्च का, और भद्दसालजातक ( ४६५ ) की पच्चुपन्नवत्थु में महालि नाम लिच्छिवि अन्धो लिच्छिवीनम् अत्थं धम्म च अनुसासन्तो का उल्लेख है। इसी प्रकार और भी।

२. दे० नीचे § ११२।

प्राचीन अंश सुरक्षित हैं, जिन मे उस युग के समाज के जीवन का सर्वतोमुख और विश्वसनीय चित्र प्राप्त होता है। इस प्रकरण मे समाज के आर्थिक, सामाजिक, राज्य-संस्था-विषयक, धार्मिक और ज्ञान-सम्बन्धी जीवन की बाबत जो कुछ लिखा गया है, सब उन्हीं जातकों के आधार पर।

महाजनपद-युग का कोई वर्णन तक्कसिला के विद्यापीठ का उल्लेख किये बिना पूरा नही हो सकता। वहाँ अनेक दिसा-पामोक्ख (दिशाप्रमुख = जगत्प्रसिद्ध) आचार्य रहते थे, जिन के पास जम्बुद्वीप के सब राष्ट्रों के क्षत्रिय और ब्राह्मण जा जा कर शिल्प ग्रहण करते (शिक्षा पाते)[1]। वहाँ तीन वेदों और अठारह विद्यास्थानों या शिल्पों की शिक्षा दी जाती, जिन मे से धनुर्विद्या (इस्सासिप्प = इष्वास-शिल्प) भी एक थी[2]। बड़े बड़े राजाओं से ले कर गरीब हलजोतों तक के बेटे वहाँ पढ़ने जाते, और एक एक आचार्य के चरणों मे ५-५ सौ तक विद्यार्थी[3] बैठते थे। इन जगत्प्रसिद्ध पंजाबी आचार्यों के पास योग्यतापूर्वक शिक्षा पा कर लौटे हुए विद्वान् बनारस जैसी राजधानी मे यदि स्वयं आचार्य का काम करने लगते तो उन के पास भी "क्षत्रिय कुमार और ब्राह्मणकुमार बडी संख्या मे शिल्प उद्ग्रहण करने को जमा हो जाते थे।"[4]

---

१. जातक ३, १२८।
२. वहीं १—२५६, ३५६, २—८७; ४—५२।
३. वहीं ४—५० प्र, १—४०२।
४. कोसिय जातक (१३०)।

## ग्रन्थनिर्देश

ह्रीस डैविड्स—बुधिस्ट इंडिया (बौद्ध भारत) (स्टोरी ऑव दि नेशन्स सीरीज़); अ० १—६, ११।

जायसवाल—शैशुनाक और मौर्य कालगणना, ज० बि० ओ० रि० सो० १, पृ० १११-११४ ।

रा० इ०—पृ० ५६-१०० ।

का० व्या० १६१८, १२ ।

सा० जी०—१ §§ १-३, ११, ३ § ३, ५ §§ ५,६ ।

हि० रा०—§§ २, ११, ४४-४६, ११६, २५६-२६१, २६३-२६४, ३४६,३५३ । लिच्छवि गण का शासनप्रबन्ध चलाने वाली एक 'कार्यचिन्तक' (executive) समिति थी, इस परिणाम पर जायसवाल और मजूमदार दोनों पहुँचे हैं। जा० ने उस के सदस्यो की सख्या चार ( हि० रा० § ४७ ), किन्तु म० ने नौ ( सा० जी० पृ० २३१-३२ ) अन्दाज़ की है ।

श्रीमती र्हाइज डैविड्स—आरम्भिक बौद्ध वाङ्मय में चित्रित आर्थिक अवस्था, कै० इ० का अ० ८ । बहुत ही सुन्दर प्रामाणिक विवेचन । कै० इ० में मुझे वह अध्याय सब से अच्छा लगा ।

व्रात्यों और क्षत्रबन्धुओं के विषय में देखिये हरप्रसाद शास्त्री का लेख, ज० बि० ओ० रि० सो० ५, पृ० ५५४-५५६ ।

ग्यारहवाँ प्रकरण

# भगवान् बुद्ध और महावीर

( ६२३—५४३ ई० पू० )

## § ८७. बुद्ध-चरित का माहात्म्य

पसेनधि बिम्बिसार आदि राजाओं के समकालीन महात्मा बुद्धदेव थे। उन के द्वारा भारतवासियो के जीवन और संस्कृति मे जो संशोधन हुआ, वह विचार और कर्म की एक भारी क्रान्ति को सूचित करता है, जो क्रान्ति न केवल भारतवर्ष के प्रत्युत विश्व के इतिहास मे शताब्दियो तक एक प्रबल प्रेरिका शक्ति का काम करती रही। उस क्रान्ति की जड़ उपनिषदो के समय की विचार की लहर से जम चुकी थी, बुद्ध से पहले अनेक बोधिसत्व और तीर्थङ्कर उस के अंकुर को सींच चुके थे, किन्तु उस का पूरा विकास बुद्ध के समय मे और उन्हीं के द्वारा हुआ। उन की जीवन-घटनाओं के वृत्तान्त से हमे उस क्रान्ति से पहले की अवस्था को, उस क्रान्ति के स्वरूप और प्रेरणा को, तथा उस क्रान्ति को जारी रखने वाली संस्था ( बौद्ध सघ ) की बनावट और कार्य्य-प्रणाली को समझने में बड़ी सहायता मिलती है; साथ ही उन के समय के भारत के आर्थिक सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक जीवन का एक पूरा दिग्दर्शन होता है। इसी कारण, जाति के इतिहास में व्यक्तियों

की जीवन-घटनाओं को चाहे विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए, तो भी भगवान् बुद्ध के विषय मे हमे वह नियम छोडना होगा।

## § ८८. गौतम का आरम्भिक जीवन "महाभिनिष्क्रमण" और बोध

कपिलवस्तु के शाक्य राष्ट्र मे शुद्धोदन शाक्य कुछ समय के लिए राजा थे। रोहिणी नदी के पच्छिम की तरफ शाक्यो की कपिलवस्तु नगरी थी, और उस के पूरब तरफ उन्ही के भाईबन्द कोलिय राजाओं का देवदह (देवह्रद) नगर। शुद्धोदन ने देवदह के एक कोलिय राजा की दो कन्याओ माया और प्रजावती से विवाह किया था, किन्तु बहुत देर तक उन के कोई सन्तान न थी। उन को पैंतालीस बरस की आयु मे महामाया के गर्भ रहा। प्रसव काल के निकट आने पर दोनो बहने मायके रवाना हुईं। किन्तु वे देवदह तक पहुँच न पाई थी कि रास्ते मे ही लुम्बिनी[1] के सुन्दर वन मे माया ने उस पुत्र को जन्म दिया, जिस का नाम आज ससार के तिहाई के करीब स्त्री-पुरुष प्रतिदिन जपते हैं। सात दिन के बालक को प्रजावती के हाथ सौंप माया परलोक सिधार गईं।

बालक सिद्धार्थ गौतम[2] बचपन से बडा होनहार था। उस की एकान्त-प्रेमी चिन्ताशील प्रवृत्ति को देख कर पिता ने उसे शीघ्र गृहस्थ मे फँसा देना उचित समझा, और १६ वर्ष की आयु मे एक कोलिय राज-कुमारी[3] से उस का

---

१. लुम्बिनी को अब रुम्मिनदेई कहते है। वह नेपाल राज्य के तराई भाग में नेपाली सीमा के चार मील अन्दर बुटौल ज़िले में है, जो ब्रिटिश ज़िले बस्ती से लगा हुआ है। गोरखपुर से गोंडा जाने वाली लूप लाइन के नौगढ़ स्टेशन से रुम्मिन-देई जाना होता है। अशोक ने वहीं एक स्तम्भ खड़ा किया था, जो अब तक विद्यमान है।

२ गौतम प्रत्येक शाक्य का उपनाम होता था।

३ इस देवी का नाम पालि ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। ज़रूरत पड़ने पर केवल राहुलमाता देवी कहा जाता है। बुद्धवस में उसे भद्दकच्चा (भद्रकृत्या) कहा है (२६, १४)। महायान के संस्कृत ग्रन्थों में उस का नाम यशोधरा है।

विवाह कर दिया। किन्तु गौतम की विचारशील प्रवृत्ति को एक समृद्ध कुल का विलासपूर्ण विवाहित जीवन भी न बदल सका। छोटी छोटी घटनाये उस के चित्त पर प्रभाव करतीं और उसे गम्भीर चिन्ता मे डाल देतीं। एक दिन रथ मे सैर करते हुए एक दुर्बल कमर-झुकाये बूढ़े को उस ने देखा। इस की यह दशा क्यो है? उत्तर मिला—बुढ़ापे के कारण। पर बुढ़ापा क्या चीज़ है? क्या वह इसी मनुष्य को सताता है या सब को? वह क्यो आता है? इस प्रकार की चिन्ताओ ने सिद्धार्थ को घेर लिया। इसी प्रकार, कहते हैं, सिद्धार्थ ने फिर एक बार एक रोगी और एक लाश को देखा। और अन्त मे एक शान्त प्रसन्नमुख सन्यासी को देख कर उस के विचार एक नई दिशा मे फिर गये, और किसी इरादे की ओर बढ़ने लगे।

गौतम की उम्र उस समय अट्टाइस बरस की थी। नदी के तट पर एक बाग मे बैठे हुए उसे समाचार मिला कि उस के पुत्र पैदा हुआ है। चारो तरफ उत्सव के गीत गाये जाने लगे, पर गौतम के मन मे कुछ और समा चुका था। इस नई धुन को ले कर वह उस रात अन्तिम बार अपनी स्त्री के दरवाजे पर गया। वहाँ जगमगाते दीपक के प्रकाश मे उस ने उस युवती को फूलो की सेज पर सोये देखा। उस का एक हाथ बच्चे के सिर पर था। जी मे आया अन्तिम समय एक बार अपने बच्चे को गोद मे ले लूँ! पर अन्दर की एक आवाज़ ने उसे एकाएक सावधान किया। दिल को मज़बूत कर, उस बन्धन को तुड़ा कर, राज्य के और गृहस्थ के सब सुखों को लात मार, उस अंधेरी रात मे वह गृहहीन पथिक और अकिंचन विद्यार्थी बन कर निकल पड़ा। इसी को गौतम का महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

मल्लों के देश को शीघ्र लाँघ कर सिद्धार्थ वेसालि पहुँचा, और कुछ समय बाद वहाँ से राजगह। इन दोनो स्थानो के पड़ोस मे आळार कालाम और रामपुत्र रुद्रक नाम के दो बड़े दार्शनिक रहते थे। उस समय के दर्शनशास्त्र की जहाँ तक गति थी उन दोनो आचार्यों ने गौतम को वहाँ तक पहुँचा दिया। किन्तु फिर भी उस के अन्दर की प्यास बुझी नहीं। उस

समय के राजाओ और समृद्ध गृहस्थो मे जो यज्ञो का आडम्बरमय और हिंसापूर्ण कर्मकाण्ड प्रचलित था, उस के अन्दर कहीं भी गौतम को वास्तविक धर्म और वास्तविक शान्ति न दीख पडी थी। और इसी से अधीर हो कर वह घर छोड भागा था। किन्तु इन दार्शनिक वादो मे उसे वह शान्ति और वह धर्म-मार्ग न मिला जिसे वह अपने लिए और जनसाधारण के लिए खोजता था। यहाँ भी निरी प्रयोजनहीन दिमागी कसरत थी।

सिद्धार्थ ने अब एक और भी कठिन मार्ग पकडा। रुद्रक के आश्रम के पाँच विद्यार्थी उस के साथी बन गये। उन के साथ वह शारीरिक तपस्या का अभ्यास करने को गया के पहाडी जगलो की ओर रवाना हुआ। वहाँ निरंजरा नदी के किनारे उरबेला ( उरुबिल्व ) नाम के स्थान पर छ. बरस तक घोर तप करते करते उस का हाड-चाम बाकी रह गया, पर जिस वस्तु की उसे खोज थी वह फिर भी न मिली। कहते है, एक बार कुछ नाचने वाली स्त्रियाँ गाती हुई उस जगल मे से गुजरीं और उन के गीत की ध्वनि गौतम के कान मे पडी। और वे जाते जाते गा रही थीं कि अपनी वीणा के तार को ढीला न करो, नहीं तो वह बजेगा नहीं, और उसे इतना कसो भी नहीं कि वह टूट ही जाय। उस पथिको की रागिणी से गौतम को बडी शिक्षा मिली[1]। उस ने देखा वह अपने जीवन के तार को एकदम कसे जा रहा है, और इसी तरह कसता गया तो वह किसी दिन टूट जायगा। उस दिन से गौतम अपने शरीर की कुछ सुध लेने लगा। उस के साथियो ने समझा वह तप से डर गया, और वे उसे छोड कर बनारस चले गये। अकेला गौतम

---

१. वीणा की बात भिन्न भिन्न रूपों में बौद्ध सुत्तों में पाई जाती है। कहीं यह लिखा है कि बुद्ध के पास एक गायक आया और उन्हों ने वीणा के दृष्टान्त से उसे अपने मध्य मार्ग का उपदेश दिया। वास्तव में वह दृष्टान्त गौतम या उन के किसी शिष्य की ही सूझ रहा होगा, और बोध से पहले नचनियों के गीत से वह विचार पाने की बात निरी कहानी है।

उस जगल मे देहाती कन्याओं से भिक्षा पा कर धीरे धीरे स्वास्थ्य लाभ करता हुआ निरंजरा के तट पर घूमा करता और वृक्षो के नीचे बैठा विचार किया करता। इन कन्याओ मे एक सुजाता नाम की नई-ब्याही युवती थी। वैशाख पूर्णिमा के दिन उस ने पुत्र-कामना से एक विशेष प्रकार का पायस ( खीर ) किसी महात्मा या देवता को खिलाने का सकल्प किया था । कहते हैं उस ने हजार गौओं के दूध से दो सौ गौओ को पाला था, उन दो सौ के दूध से चालीस को, और फिर उसी तरह आठ को। उन आठ का दूध उस ने एक गाय को पिलाया और उस गाय के दूध से पायस पकाया था। वह पायस पका कर वह पीपल के पेड़ के तले तपस्वी सिद्धार्थ के पास लाई, और सिद्धार्थ ने उसे ग्रहण किया।

उसी सन्ध्या को सिद्धार्थ की अन्तिम परीक्षा हुई । विचार मे ध्यान लगाते समय मार ने उस पर आक्रमण किया। मार किसी भूत प्रेत का नाम नहीं, मनुष्य की अपनी ही बुरी वासनाये मार हैं। शीघ्र ही गौतम ने मार पर पूरा विजय पा लिया, अर्थात् उस के चित्त के विक्षेप और विक्षोभ शान्त हो गये। तब उस विक्षेपहीन ध्यान या समाधि मे उसे वह बोध हुआ जिस के लिए वह भटका भटका फिरता था। उस दिन से गौतम बुद्ध हुआ, और जिस पीपल के नीचे उसे बोध हुआ वह भी पवित्र बोधि वृक्ष कहलाने लगा।

## § ८९. आर्य अष्टांगिक मार्ग

बोधिवृक्ष के नीचे गौतम को जो बोध हुआ, वह कोई नया दार्शनिक सिद्धान्त न था, उस के शब्दों मे वह वही पोराणक पण्डिता ( पुराने पडितो ) का धर्म था जिसे समय के फेर से आडम्बर और ढोंग ने छिपा लिया था। बुद्ध ने देखा कि धर्म न बनावटी कर्मकाण्ड के जाल मे है, न कोरे वितण्डा-वाद मे, और न व्यर्थ शरीर को सुखाने मे। उस के समय के ब्राह्मण प्रायः कर्मकाण्ड मे लगे थे, और बहुत से नये पन्थ (तित्थिया) चल पड़े थे, जो प्रायः

वाद-विवाद मे ही उलझे रहते थे[1]। बुद्ध का कहना था कि जिस मनुष्य का जीवन सरल सच्चा और सीधा हो वही धार्मिक है । इस सरल धर्म-मार्ग को बुद्ध ने आर्य अष्टागिक मार्ग कहा। उस के आठ अग ये है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम (उद्योग), सम्यक् स्मृति (विचार) और सम्यक् समाधि (ध्यान)। इस प्रकार जिस आदमी का जीवन ठीक हो, वह चाहे गरीब हो चाहे अपढ, वह बड़े बडे यज्ञ और शास्त्रार्थ करने वालो से अधिक धर्मात्मा है। बुद्ध का यह धर्म और सब मार्गो से निपुण और सुख[2] था। सयम-सहित आचरण[3] ही उस धर्म का सार है।

भारतवर्ष के राष्ट्र उस समय समृद्धि और शक्ति के शिखर पर थे, और समृद्धि और शक्ति से भोग-विलास, और भोग से क्षीणता आते देर नहीं लगती। ऐसे समय मे गौतम बुद्ध के सरल शान्तिवाद ने उन्हे नाश के रास्ते से बचाया। गौतम की प्रेरणा मे ऐसा बल था कि उस के जीते जी धार्मिक क्रान्ति की एक लहर चल पडी जिस ने शताब्दियो के ढोग, आडम्बर और अन्ध विश्वास को उखाड फेका। लोग सीधी दृष्टि और सरल बुद्धि से जीवन के प्रत्येक प्रश्न को देखने और सोचने लगे।

## § ९०. "धर्म-चक्र-प्रवर्तन" और भिक्खु-"संघ" की स्थापना

गौतम अपने बोध से स्वय सन्तुष्ट हो कर बैठ जाने वाला नहीं था। उस का हृदय मनुष्य-जाति की बुराइयाँ दूर करने के लिए तडप रहा था। वह अनथक सातातिक (सदा जागरूक और सचेष्ट) मनुष्य था। उठ्ठान (उत्थान) स्मृति (विचार) और अप्पमाद उस के जीवन और शिक्षा का सार था[4]।

---

१. सु० नि० ३८१, ३८३।

२. वहीं।

३. जातक ४, ३००, धम्मपद २४-२५।

४. धम्मपद २१-२५ (अप्पमादवग्ग); सु० नि० ३३१-३३४ (उट्ठानसुत्त)।

निरंजरा के तट को छोड़ वह बनारस पहुँचा। वहाँ ऋषिपत्तन मृगदाय मे, जिस के स्थान को आजकल का सारनाथ सूचित करता है, वह अपने साथियो से मिला और उन्हे अपने सिद्धान्त समझाये।—"भिक्खुओ, सन्यासी को दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दोनो अन्त कौन से हैं? एक तो यह काम और विषय-सुख मे फँसना जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य, और अनर्थकर है, और दूसरा शरीर को व्यर्थ मे अति कष्ट देना जो अनार्य और अनर्थक है। इन दोनो अन्तो को त्याग कर तथागत ( बुद्ध ) ने मध्यमा प्रतिपदा ( मध्यम मार्ग ) को ग्रहण किया है, जो आँख खोलने वाली और ज्ञान देने वाली है[1]।"

इस प्रकार बुद्ध ने उन्हे आर्य अष्टागिक मार्ग का उपदेश दिया। वे पाँचो भिक्खु इस आर्य मार्ग मे प्रविष्ट हुए। "ऋषिपत्तन ( वाराणसी ) मे मृगदाय मे बुद्ध ने धर्म का वह अनुत्तर चक्र चला दिया जो किसी श्रमण या ब्राह्मण ने, किसी देवता या मार ने, और सृष्टि मे किसी ने भी पहले कभी नहो चलाया था[2]।" यही उन का धर्म-चक्र-प्रवर्तन था। अब तक अनेक दिग्विजयी राजा चक्रवर्त्ती होने की महत्त्वाकांक्षा मे अपने पड़ोस के देशो का विजय करने की चेष्टा किया करते थे। उन मे से किसी की दृष्टि उतनी दूर तक न गई थी, किसी की विजय-कामना उतनी व्यापक न हुई थी, किसी का चक्रवर्त्ति-क्षेत्र का स्वप्न उतना विशाल न हुआ था, जितना बुद्ध का। और वह केवल बड़े स्वप्न लेने वाला ही नहीं, प्रत्युत अत्यन्त कर्मठ व्यक्ति था। अपने विजयों की पक्की नींव उस ने अपने जीवन-काल में ही डाल दी।

उस चौमासे मे बुद्ध बनारस के पास के बन में ही रहे। उन दिनों वहाँ बनारस के एक समृद्ध सेट्ठी का लड़का यश नामक एक नवयुवक रहता था। हर मौसम के लिए यश के पास अलग अलग महल थे। उस विलास के

---

१. म० व०, १, १।

२. वहीं।

जीवन से ऊब कर वह बुद्ध के पास आया, और उन के उपदेश से अष्टांगिक मार्ग मे प्रविष्ट हो कर वह बुद्ध का पहला उपासक ( गृहस्थ चेला ) हुआ। धीरे धीरे बुद्ध के साठ के लगभग भिक्खु चेले हो गये।

तथागत ने कहा—"भिक्खुओ, अब तुम लोग जाओ, घूमो, जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए, देवो और मनुष्यो के कल्याण के लिए घूमो। कोई दो एक तरफ़ न जाओ। तुम लोग उस धर्म का उपदेश करो जो आदि मे कल्याण है, मध्य मे कल्याण है, पर्यवसान मे कल्याण है[1]।"

किसी महापुरुष वा आचार्य के शिष्यो ने अपने गुरु से ऐसी प्रबल प्रेरणा नही पाई, और उस के आदेश के पालन मे ऐसा उत्साह नहीं दिखाया जैसा गौतम के अनुयायियो ने। और बुद्ध ने अपने इन अनथक अनुयायियो को जिन के द्वारा वे देश-देशान्तर मे अपना चक्र चलाना चाहते थे, एक सघ के नमूने पर सगठित कर दिया। यह उन के विजय की पक्की नींव थी। किसी एक व्यक्ति की महन्ती होने से जल्द ही भिक्खु-समूह मे अनेक बुराइयाँ आ जातीं। संघ-राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और क्षमता समूह के काम आ सकती है। बुद्ध स्वय एक सघ-राज्य मे पैदा हुए थे, और सघो के शासन को वे बहुत चाहते भी थे। अपने भिक्खुओं का भी उन्हो ने एक सघ अर्थात् प्रजातन्त्र बना दिया। उस सघ का चक्र शीघ्र ही उन सुदूर देशो मे चलने लगा जिन के विजय का स्वप्न बुद्ध ने लिया था।

## § ९१. बुद्ध का पर्यटन

दूसरे भिक्खुओ की तरह बुद्ध भी भ्रमण को निकले। वे उरबेला की ओर गये। वहाँ बिल्वकाश्यप नदीकाश्यप और गयकाश्यप नाम के तीन भाई रहते थे, जो बड़े विद्वान् कर्मकाण्डी थे, और जिन के आश्रम मे सैकडो विद्यार्थी पढ़ते थे। बुद्ध के उपदेश से कर्मकाण्ड को छोड़ यज्ञ की सामग्री —अरणी आदि—उन्हो ने निरजरा नदी मे बहा दी, और बुद्ध के साथ हो लिये।

---

१. सयुत्त० ४, १, ४, म० व० १, २।

उन के साथ वे राजगह पहुँचे। काश्यप बन्धुओ जैसे विख्यात विद्वानों को बुद्ध का चला बना देख राजा सेनिय बिम्बिसार और मगध की प्रजा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। और उन मे से अनेक बौद्ध उपासक (बुद्ध के गृहस्थ अनुयायी) बन गये। राजगह के पास संजय आचार्य के आश्रम मे सारिपुत्त और मोग्गलान (मौद्गलायन)[1] नाम के दो बड़े विद्वान् रहते थे। वे बौद्ध संघ मे शामिल हुए और बुद्ध के अग्गसावक अर्थात् प्रधान शिष्य कहलाये। सारिपुत्त बौद्ध सघ का धम्मसेनापति भी कहलाता था।

गौतम का यश अब उन की जन्मभूमि तक पहुँच चुका था। राजगह से उन्हे शाक्यो का निमन्त्रण पा कर कपिलवत्थु जाना पड़ा। अपने नियम के अनुसार वे नगर के बाहर ठहरे। और जब वे भिक्खुओ के साथ नगर में भीख मांगने निकले कपिलवत्थु के लोग गद्गद हो अपनी खिड़कियो से उन्हे देखने लगे। राहुलमाता देवी ने शुद्धोपन से कहा—आर्यपुत्र आज इसी नगर में हाथ मे खप्पड़ लिये भीख माँग रहे हैं! शुद्धोदन बड़ा आग्रह कर उन्हे भिक्खुओ सहित भोजन के लिए अपने महल मे लिवा ले गये जहाँ उन के परिवार के सब स्त्री-पुरुषो ने तथागत का उपदेश सुना।

किन्तु राहुल की माता उस मण्डली मे न थी। बुद्धदेव सारिपुत्त और मोग्गलान के साथ स्वयं उस के मकान पर गये। वह उन्हे देख कर एकाएक गिर पड़ी और उन के पैर पकड़ रोने लगी। किन्तु उस ने अपने को सँभाला और बुद्ध ने उसे शान्ति का उपदेश दिया। सात दिन बाद भिक्खुओं के साथ बुद्धदेव फिर शुद्धोदन के घर भोजन करने आये, तब उस देवी ने राहुल को बतलाया कि वे तुम्हारे पिता हैं, जाओ उन से पितृ-दाय माँगो। कुमार राहुल दौड़ता हुआ बुद्ध के पास गया और उन से कहने लगा, श्रमण,

---

1. इन की माताओं का नाम क्रमशः रूपसारी और मोग्गली (मौद्गली) था, इस लिए इन के वे नाम थे। माता के नाम के अनुसार पुत्रों को बुलाने का रवाज प्राचीन भारत में बहुत था।

मुझे मेरा दाय दो। बुद्ध ने सारिपुत्त से कहा—राहुल को पवज्जा ( प्रव्रज्या, संन्यास ) दान करो, और वह कुमार उस दिन से भिक्खु हो गया।[1]

कपिलवत्थु से गौतम राजगह वापिस गये। इस बार जब वे कपिलवत्थु आये थे, वहाँ का राजा भद्दिय ( भद्रक ) शाक्य था। अनुरुद्ध शाक्य अपनी माँ के पास गया, और भिक्खु बनने की आज्ञा माँगने लगा। माँ ने कहा, बेटा, यदि राजा भद्दिय ससार त्याग दे तो तू भी भिक्खु हो जा। अनुरुद्ध भद्दिय के पास गया और वे दोनो भिक्खु बनने को उद्यत हो गये। आनन्द, भगु, देवदत्त, और किंबिल भी उन के साथ हुए, और उपालि कप्पक ( नाई ) को साथ ले वे मल्लो के देश को जहाँ राजगह के मार्ग मे तथागत ठहरे हुए थे, चले। "और कुछ दूर जा कर उन्हो ने. .... अपने आभरणो को उतार कर उन्हे दुपट्टे ( उत्तरासग ) मे बाँध कर उपालि कप्पक से कहा, 'उपालि, अब तुम लौट जाओ, तुम्हारी जीविका को यह बस होगा'।" परन्तु उपालि के दिल मे कुछ और ही था, और वह भी उन के साथ साथ गया। आगे चल कर ये लोग बडे प्रसिद्ध हुए। आनन्द गौतम का बड़ा प्रिय शिष्य और बुद्ध के अन्तिम पच्चीस बरस मे उन का उपट्ठाक[2] ( उपस्थाता या उपस्थापक, निजी सहायक ) और हर समय का सगी रहा। वह बौद्ध सघ का धम्मभण्डागारिय ( खजानची ) कहलाता था। उपालि नाई ने बौद्ध सघ मे ऐसा आदर पाया कि बुद्ध के बाद वही सघ मे पामोक्ख ( प्रमुख ) चुना गया। देवदत्त को संघ मे लेते समय बुद्ध ने मानव प्रकृति की पहचान मे कुछ गलती की, और वह आगे चल कर सघ मे फूट का बीज डालने वाला विद्रोही सिद्ध हुआ।

## § ९२. जेतवन का दान

बोध के बाद बुद्ध ने पहला वर्षावास सारनाथ मे किया था, और उस के बाद एक बरस के अन्दर इतना कार्य्य कर के दूसरा वर्षावास उन्हो ने राज

१. चुल्लवग्ग ७।
२. जुण्ह जातक (४५६)।

गह में किया। वहीं सावत्थी का सेट्ठी सुदत्त अनाथपिंडक उन्हें तीसरे चौमासे के लिए सावत्थी का निमन्त्रण दे गया। सुदत्त अपने ज़माने का बहुत बड़ा व्यापारी था, और उसे अनाथपिडक इस कारण कहते थे क्योंकि वह अनाथों का भोजनदाता था। उस ने बौद्ध संघ के लिए सावत्थी मे एक विहार (मठ) बनवा देने का इरादा किया। इस मतलब से वह राजकुमार जेत के पास उस का एक बगीचा खरीदने गया। सुदत्त ने जेत से कहा[1]—"आर्य-पुत्र, मुझे यह बगीचा आराम बनाने को दे दो"।—"नहीं गृहपति, करोड़ों (सिक्के) बिछा कर लेने से भी (अर्थात् ज़मीन पर जितने सिक्के बिछ जाँय उतनी कीमत ले कर भी) वह आराम नही दिया जा सकता।"—"आर्य-पुत्र, मैंने आराम (उसी कीमत पर) ले लिया।"—"नहीं गृहपति, आराम नहीं लिया गया (मेरा बेचने का मतलब न था)।"—"खरीदा गया या नहीं खरीदा गया, इस का फैसला कराने वे दोनों वोहारिक महामत्त (न्याया-धीश) के पास गये। महामत्तों ने राजकुमार जेत के खिलाफ़ फैसला दिया।" "क्योंकि आर्यपुत्र, तुम ने उस के दाम किये थे, इस लिए आराम खरीदा गया।" तब अनाथपिडक गृहपति ने छकड़ों पर सोने के सिक्के ढुवा कर जेतवन को उन से ढक दिया। किन्तु एक बार लाये हुये सिक्के काफ़ी न हुए, तब जेत ने बाकी हिस्सा दान कर दिया।

बुद्ध अपने जीवन मे बहुत बार उसी जेतवन मे आ कर ठहरा करते। दूसरे किसी विहार की ज़मीन इस तरह सोना बिछा कर खरीदी न गई थी, तो भी सावत्थी के जेतवन की तरह उस समय के सभी बड़े नगरों मे बौद्ध संघ के लिए विहार बन गये थे।

## § ९३. भिक्खुनी-संघ की स्थापना

लगभग तीन बरस पीछे बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्य कपिलवत्थु मे स्वर्ग सिधार गये। प्रजावती और राहुलमाता देवी ने तब भिक्खुनी बनने का

---

१. चुल्लवग्ग ६, २।

सकल्प किया, और जब बुद्धदेव वेसाली ठहरे हुए थे तब बहुत सी शाक्य स्त्रियो के साथ चल कर वे वेसाली पहुँचीं। कुछ देर तथागत इस चिन्ता मे पड़ गये कि स्त्रियो को सघ मे लेना उचित होगा या नहीं, पर आनन्द के विचार स्त्रियो के विषय मे बड़े उदार थे। और उस के परामर्श से उन्हो ने उन सब को प्रव्रज्या दी, और भिक्खुनी-सघ की स्थापना की। आगे चल कर मगध की रानी खेमा ( क्षेमा ) जो जन्म से मद्र देश के शाकल नगर की थी, कोशल के राजा प्रसेनजित् की बूआ सुमना, शाकल नगर के ब्राह्मणो की लड़की विदुषी भद्दा ( भद्रा ) कापिलानी और अनेक प्रसिद्ध स्त्रियाँ भिक्खुनी-संघ मे सम्मिलित हुईं। बौद्ध धर्म के इतिहास मे भिक्खुनियो का कार्य कुछ कम नहीं है। प्रसिद्ध बौद्ध भिक्खुओ या थेरो ( स्थविरो, वृद्धो ) की शिक्षाये और चरित्र जिस प्रकार थेरगाथा और थेर-अपपदादान मे सकलित है, उसी प्रकार भिक्खुनियो की वाणियाँ और वृत्तांत थेरी-गाथा और थेरी-अपदान मे हैं। शिक्षाओ की पवित्रता और उच्चता मे थेरीगाथा किसी प्रकार थेरगाथा से कम नहीं है।

## ९४. बौद्ध-संघ का संयत जीवन और कार्य

तथागत के श्रमणो की कहानी बडी लम्बी है। वे लगातार ४५ बरस तक उत्तर भारत मे प्रचार करते रहे। मगध का राजा सेनिय बिम्बिसार, कोसल का पसेनधि, कोसम्बी का उदेन ( उदयन ) आदि उन के जीवन-काल मे ही उपासक हो गये, और मध्यदेश के सब बड़े केन्द्रो मे भिक्खु-सघ के विहार स्थापित हो गये। भिक्खुओ और भिक्खुनियो को सयत जीवन बिताना होता था, और उन के जीवन की प्रत्येक साधारण बात स्वयं बुद्ध ने बड़ी सावधानी के साथ नियमित कर दी थी, जिस से किसी प्रकार की दुर्बलता भिक्खु-संघ मे न आने पाय। इस अश मे वे कितने सावधान थे यह जीवक कोमारभच्च के मनोरञ्जक वृत्तांत[1] से जाना जाता है।

---

१. म० व० ८, १।

बुद्ध के समय मे मगध मे जीवक कोमारभच्च ( कुमारभृत्य ) नाम का एक बहुत विख्यात वैद्य और शल्यचिकित्सक था। वह राजगह की गणिका सालवती का पुत्र था जिस ने उसे पैदा होने के बाद एक घूर पर फेक दिया था। वह राजा बिम्बिसार के पुत्र अभय की दृष्टि मे पड़ा, जिस ने उसे उठा कर पाला पोसा। बड़ा होने पर जीवक वैद्यक पढ़ने के लिए तक्खसिला चला गया। कहते हैं, सात बरस पढ़ने के बाद वह घबड़ा उठा। उस ने देखा इस विद्या का तो कही अन्त ही नही है, अब मुझे घर जा कर कमाना-खाना भी चाहिए। और उस ने गुरु के पास जाकर कहा—भगवन्, मैं सात बरस से जी लगा कर पढ़ रहा हूँ, इस विद्या का तो कहीं अन्त नहीं है, अब मुझे घर जा कर कमाने-खाने की आज्ञा दीजिये। गुरु ने उस की परीक्षा लेनी चाही। उस के हाथमें एक फावड़ा दे कर उन्हो ने कहा—जाओ, तक्खसिला के चारो तरफ एक योजन की परिधि में घूम जाओ, उस के अन्दर जिस वनस्पति का चिकित्सा मे प्रयोग तुम्हे मालूम न हो उसे उखाड़ लाओ। जीवक तक्ख-सिला के चारो तरफ घूम गया, पर उसे वैसा कोई पौदा नहीं मिला। तब गुरु ने उसे जाने की इजाज़त दी, और रास्ते का खर्चा भी दिलवा दिया। पर साकेत पहुँचने तक उस का खर्चा चुक गया। साकेत के नगरसेट्ठी की स्त्री बीमार थी। उसे कोई सिर का रोग था, जिसे सब वैद्य असाध्य बता चुके थे। जीवक ने उसे ठीक कर दिया, और सोलह हजार कहापण ( कार्षापण ) भेंट पाई। घर पहुँचने तक उसे फिर राह-खर्च की फ़िक्र न करनी पड़ी। राजगह पहुँच कर वह मगध का राजवैद्य बना। उस की चिकित्सा के चमत्कारो की अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध है।

जब जीवक भिक्खु-सघ का चिकित्सक नियत हुआ, तब बहुत लोग मुफ़्त चिकित्सा के प्रलोभन से सघ में आने लगे। इस बात का पता लगते ही तथागत ने नियम कर दिया कि कोई रोगी संघ में न आ सके[1]। इसी

---

१. वहीं १, ८।

प्रकार दुर्बल-चित्त व्यक्तियो को भी संघ मे न लिया जाता था। यह भिक्खु-संघ की आदर्शपरायणता, उट्ठान अप्पमाद और सातातिकता, सयत विनीत जीवन और सच्ची साध का ही परिणाम था कि बुद्धदेव के निर्वाण के बाद सात आठ सौ बरस के अन्दर एशिया महाद्वीप का बडा अंश आर्य अष्टांगिक मार्ग का अनुयायी हो गया। भिक्खुओ और भिक्खुनियो की सच्ची धुन के सामने दुर्गम पहाडो बीहड जगलो और अथाह समुद्रो की रुकावटे लुप्त हो गई, और उन्हे पार कर चारो दिशाओ मे बुद्ध का सदेश गूँज उठा।

## § ९५. बुद्ध का अन्तिम समय और महापरिनिर्वाण

बुद्धदेव के अन्तिम समय[1] मे उन के बहुत से साथी ससार से उठ गये थे। पसेनधि के पीछे उस के पुत्र विडूडभ (विडूरथ) ने कपिलवत्थु पर चढ़ाई कर शाक्यो का बुरी तरह सहार किया, और जब बुद्ध अपना पैंतालीसवां वर्षावास सावत्थी मे बिता कर राजगह जा रहे थे, राह मे उन्हे कपिलवत्थु के खँडहर देखने पड़े। इधर जब वे राजगह पहुँचे, बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु वेसाली पर चढ़ाई करने की सोच रहा था।

राजगह से पाटलीगाम (भावी पाटलिपुत्र=आधुनिक पटना) होते हुए तथागत वेसाली पहुँचे। अम्बपाली गणिका ने सुना कि बुद्धदेव वेसाली आये है, और उस की आम की बगीची में ठहरे है। उस ने उन के पास जा कर उन्हे भिक्खु-सघ सहित दूसरे दिन के भोजन का न्यौता दिया, जो उन्हो ने चुप रह कर स्वीकार किया। लिच्छवि लोग बुद्ध का आना सुन सुन्दर रथो पर सवार हो आम की बगीची की ओर चले, और जब उन्हो ने देखा कि अम्बपाली उन के बराबर रथ हाँकते हुए और उन के पहियो से पहिया टकराते

---

1. अन्तिम समय की घटनाओं का वृत्तान्त महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० १६) के आधार पर।

हुए लौट रही है, तब उन्हो ने उस से पूछा—यह क्या बात है कि तू लिच्छ-वियो के बराबर अपना रथ हाँक रही है ?

अम्बपाली ने कहा—"आर्य्यपुत्रो, मैंने भगवान् को भिक्खु-संघ के साथ कल के भोजन के लिए निमन्त्रण जो दे दिया है।" उन्होंने कहा—"अम्ब-पाली, हम से एक लाख ले कर यह भोजन हमे कराने दे।"—"आर्यपुत्रो, यदि आप मुझे वेसाली का समूचा राज्य दे तो भी यह जेवनार नहीं दूँगी।" तब लिच्छवि लोगों ने निराश हो कर कहा, हमे अम्बका ने हरा दिया, और वे उस की बगीची मे पहुँचे ।

लिच्छवियो के संघराज्य को बुद्धदेव बहुत पसन्द करते थे । और उन्हों ने लिच्छवियो को दूर से आते देख कर भिक्खुओ से कहा—"भिक्खुओ, जिन भिक्खुओ ने तावतिंश देवताओ को नहीं देखा है, वे लिच्छवियो की इस परिषद् को ध्यान से देखे, लिच्छवियों की इस परिषद् की आलोचना करें, और लिच्छवियो की इस परिषद् से तावतिंश देवताओ की परिषद् का अनुमान करें।" लिच्छवियों ने बुद्ध का उपदेश सुन चुकने पर उन्हे दूसरे दिन के भोजन के लिए निमन्त्रित किया। बुद्ध ने कहा—लिच्छवियो, मैंने कल के लिए अम्बपाली गणिका का न्यौता स्वीकार कर लिया है । तब उन्हो ने निराश हो कर अपने हाथ पटके, और कहा—हमे अम्बका ने हरा दिया ! और दूसरे दिन भगवान् ने भिक्खु-संघ के साथ अम्बपाली के घर जा कर भोजन किया, और उसे धर्म का उपदेश दिया। तब अम्बपाली ने कहा—भगवन् मैं यह आराम ( बगीचा ) भिक्खुओं के सघ के लिए जिस के मुखिया बुद्ध हैं देती हूँ। और वह दान स्वीकार किया गया। अम्बपाली उस के बाद थेरी हो गई; उस की वाणी थेरीगाथा में विद्यमान है।

वेसाली के पास वेलुवगाम मे बुद्ध ने वर्षाकाल काटा । वहीं उन्हें बड़ा दर्द उठा और मृत्यु निकट दीखने लगी। आनन्द ने उन से कहा—भगवन्

जब तक आप भिक्खु-सघ को ठीक राह पर नही डाल देते, तब तक हमे आशा है आप देह न त्यागेगे।—"आनन्द, भिक्खु-संघ मुझ से क्या आशा करता है ? मैने धर्म का साफ साफ उपदेश कर दिया, तथागत के धर्म मे कोई गांठ और पहेली ( आचरियमुट्ठी ) तो नही है। जिसे यह ख्याल हो कि मै ही भिक्खु-सघ को चलाऊँगा, सघ मेरा ही मुख देखा करेगा, वह भिक्खु-सघ का रास्ता बनाये। तथागत की तो सो बात नहीं है। मैं तो अब जीर्ण बूढ़ा अस्सी बरस का हो गया हूँ, जैसे जर्जर छकड़ा वैसे मेरा शरीर। इस लिए आनन्द, अब तुम अपनी ही ज्योति मे चलो, अपनी ही शरण जाओ किसी दूसरे की शरण मत जाओ, धर्म्म की ज्योति धर्म्म की शरण मे चलो।[1]"

वेलुवगाम से बुद्धदेव मल्लो के अनेक गाँव घूमते हुए पावा पहुँचे। वहाँ चुन्द कम्मारपुत्त ( लोहार ) ने उन्हे भोजन कराया और उस मे सूअर का मांस भी परोस दिया[2]। उस के खाने से उन का दर्द बढ गया और रक्तातिसार जारी हो गया, मृत्यु के समय तक उन्हे बडी पीडा होती रही।

पावा से वे कुसिनार की तरफ, जो हिरण्यवती ( गडक ) नदी के तट पर था, रवाना हुए। रास्ते मे ककुधा नदी मे स्नान कर एक आम की बगीची मे ठहरे, और आनन्द से कहा—"आनन्द, शायद कोई चुन्द कम्मार-पुत्त के मन मे यह शका पैदा कर दे कि तू कैसा अभागा है जो तेरी भिक्षा खा कर बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया, सो चुन्द की उस शका को दूर करना। आयुष्मान् चुन्द से कहना मेरे लिए सुजाता का दिया हुआ भोजन और चुन्द का दिया हुआ भोजन एक समान हैं, क्योकि एक को पा कर बोध हुआ, और दूसरे को पा कर परिनिर्वाण होता है।"

---

१. अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा धम्मदीपा धम्मसरणा अनञ्ञ-सरणा।

२. कइयों का कहना है कि चुन्द ने शूकर कन्द परोसा था। वह हो सकता है; पर बुद्ध को मांस से परहेज़ न था। दे० तेलोवाद जातक ( २४६ )।

इस के बाद वे हिरण्यवती नदी के पार कुसिनार के पड़ोस में मल्लों के साल-वन मे गये, और वहाँ आनन्द से कहा कि जोड़े साल के बीच उत्तर की तरफ सिर कर के मेरा आसन बिछा दो। साल के पेड़ अपने फूल उन के ऊपर बरसाने लगे। उस के बाद भी आनन्द की और दूसरे भिक्खुओं की शकाये निवृत्त करते रहे। इसी बीच सुभद्द ( सुभद्र ) नाम का एक पडित उन के पास कुछ सन्देह दूर करने आया। आनन्द ने उसे बाहर रोक दिया, पर जब बुद्ध को मालूम हुआ उन्हो ने अपने पास बुला कर उसे उपदेश दिया।

अन्त मे भिक्खुओ से कहा—भिक्खुओ अब मैं तुम्हे अन्तिम बार बुलाता हूँ; संसार की सब सत्ताओ की अपनी अपनी आयु है, अप्रमाद से काम करते जाओ, यही तथागत की अन्तिम वाणी है। और ऐसा उपदेश करते हुए भगवान् बुद्धदेव ने अस्सी बरस की आयु मे भौतिक जीवन को त्याग दिया। यही उन का महापरिनिर्वाण था ( ५४४ ई० पू० )।

कुसिनारा के मल्लो ने उन के शरीर का दाह किया। और उन की धातु ( फूल, अस्थि-अवशेष ) को भालों और धनुषो से घेर कर सात दिन तक नाच-गान और माल्य-सुगन्ध से उस का सत्कार किया। महापरिनिर्वाण का समाचार सुन भिन्न भिन्न राष्ट्रो के दूत धातु ( फूलो ) का भाग माँगने के लिए लगे। अन्त मे उन के आठ भाग किये गये। मगध के अजातशत्रु ने एक भाग पाया, जिस पर राजगह मे एक स्तूप बनवाया गया। वेसाली के लिच्छवियों, कपिलवत्थु के शाक्यों, पावा और कुसिनारा के मल्लो, रामगाम[1] के कोलियों, अल्लकप्प[1] के बुलियो, और वेठदीप[1] के ब्राह्मणो ने एक एक भाग पाया, और उन पर स्तूप बनवाये। पिप्पलीवन के मोरिय, जिन का एक

---

[1] इन स्थानों का निर्धारण अभी नहीं हो सका, पर ये निश्चय से मल्लराष्ट्र के नज़दीक हिमालय की तराई में थे।

छोटा सा गणराज्य था, पीछे पहुँचे, और उन्हे चिता की भस्म से सन्तोष करना पडा।

## § ९६. बौद्धों की संगीतियाँ तथा धार्मिक वाङ्मय

महापरिनिर्वाण के बाद वृद्ध भिक्खु महाकस्सप ने प्रस्ताव किया कि सब लोग मिल कर बुद्ध की शिक्षाओ का एक साथ गान करे। ५०० अर्हत् ( भिक्खु ) इस कार्य के लिए राजगह मे इकट्ठे हुए। उपालि विनय अर्थात् सघ की नियमचर्या के विषय मे प्रमाण माना गया, और आनन्द धम्म मे। सब ने मिल कर उन का पाठ किया। इसी को बौद्धो की पहली सगीति कहते हैं। एक सौ बरस बाद वेसाली मे दूसरी सगीति हुई, और फिर उस के दो शताब्दी बाद अशोक के राज्यकाल मे तीसरी। बौद्ध भिक्खुओ और विद्वानो की ये संगते सगीतियाँ इस लिए कहलातीं थीं क्योंकि उन मे बुद्ध की शिक्षाये गाई जातीं अर्थात् उन का पाठ किया जाता था। इन्हीं संगीतियो मे बौद्धो के धार्मिक वाङ्मय अथवा तिपिटिक का विकास हुआ। शुरू मे उस वाङ्मय के दो ही विभाग थे—धम्म और विनय, धम्म अर्थात् धर्म के सिद्धान्त, और विनय अर्थात् भिक्खु-सघ के आचरण के नियम। तीसरी सगीति के कुछ अरसा बाद बौद्धों का धार्मिक वाङ्मय त्रिपिटिक रूप मे पूर्ण हो गया, विनय का विनयपिटक बना, धम्म सुत्तपिटक मे रक्खा गया, और अभिधम्म नाम से एक तीसरा पिटक हो गया जिस में दार्शनिक और आध्यात्मिक विवेचना थी। यह सब मूल वाङ्मय उस समय की बोलचाल की परिष्कृत भाषा पालि मे है। बाद मे उस के आधार पर संस्कृत मे तथा अन्य अनेक देशी विदेशी भाषाओ मे एक बड़े वाङ्मय की सृष्टि हुई जो अब तक भारतवर्ष, सिंहल, बरमा, स्याम, चीन, जापान, तिब्बत, मगोलिया, आदि देशो का और किसी समय अफ़गानिस्तान, फ़ारिस, कश्मीर, मध्य एशिया आदि का भी पवित्र वाङ्मय था।

## § ९७. भगवान् महावीर

बुद्धदेव अपने समय के अकेले सुधारक न थे। अन्य कई सुधारकों ने भी उन दिनो भारतवर्ष में जन्म लिया था जिन में सब से अधिक प्रसिद्ध वर्धमान महावीर हैं। वे बहुत-कुछ बुद्धदेव के समकालीन थे। वेसालि के निकट कुण्डग्राम मे वृजि-गण के ज्ञात्रिक[1] कुल के एक राजा सिद्धार्थ के घर वर्धमान का जन्म हुआ था। उन की माता का नाम त्रिशला था, और वह लिच्छवि राजा चेटक की बहन थी। इसी चेटक की लड़की चेल्लना मगध के राजा बिम्बिसार को ब्याही थी, और उस का पुत्र कुणिक अजातशत्रु था। सिद्धार्थ के एक लड़की और दो लड़के थे, जिन मे वर्धमान छोटे थे। सिद्धार्थ और त्रिशला तीर्थङ्कर पार्श्व के अनुयायी थे। वर्धमान का बड़े होने पर यशोदा नामक युवती से विवाह हुआ, जिस से एक लड़की पैदा हुई। माता पिता के देहान्त के बाद तीस बरस के वय मे अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन से इजाज़त ले कर वर्धमान ने घर छोड़ जंगल की राह ली। बारह बरस के भ्रमण और तप के बाद उन्हो ने "जृम्भिक ग्राम के बाहर ऋजुपालिका नदी के उत्तर तट पर......" कैवल्य ( मोक्ष ) प्राप्त किया। तब से वे अर्हत् ( पूज्य ) जिन ( विजेता ) निर्ग्रन्थ ( बन्धनहीन ) और महावीर कहलाने लगे, और चौबीसवे तीर्थङ्कर माने गये। उन के अनुययियो को आजकल हम जैन कहते हैं, पर प्राचीन काल मे वे निर्ग्रन्थ कहलाते थे।

वर्धमान के भ्रमण और साधना-काल में गोशाल मङ्खलीपुत्र नामक एक व्यक्ति उन का शिष्य बन कर छ: बरस तक उन के साथ रहा था। बाद में मतभेद के कारण वह अलग हो गया। गोशाल ने श्रावस्ती में एक कुम्हार

---

1. ज्ञात्रिक वृजियों का एक प्रसिद्ध कुल था। आजकल बिहार के भूमिहारों में जैथरिया लोग शायद उसी को सूचित करते हैं।

स्त्री हालाहला की दुकान को अपना अड्डा बनाया, और अपना एक अलग सम्प्रदाय चलाया, जो आजीवक कहलाता था।

निग्गण्ठ नातपुत्त ( निर्ग्रन्थ ज्ञात्रिकपुत्र ) अथवा महावीर अर्हत् होने के बाद अपने निर्वाण-काल तक लगातार मगध अग मिथिला कोशल आदि देशों में भ्रमण और उपदेश करते रहे। राजगृह के निकट पावापुरी मे कार्तिक अमावस की रात उन का निर्वाण हुआ।

पार्श्व ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह की शिक्षा दी थी, महावीर ने उन के अतिरिक्त एक पाँचवी बात—ब्रह्मचर्य्य—पर भी बहुत बल दिया। बुद्ध और महावीर की शिक्षा मे मुख्य भेद यह था कि बुद्ध जहाँ मध्यम मार्ग का उपदेश देते वहा महावीर तप और कृच्छ्र तप को जीवन-सुधार का मुख्य उपाय बतलाते थे।

मगध आदि देशो मे महावीर की शिक्षाओ का बहुत जल्द प्रचार हो गया। कलिंग देश भी शीघ्र उन का अनुयायी हो गया,[1] और सुदूर पच्छिम भारत मे भी[2] उन के निर्वाण के बाद एक दो शताब्दी के अन्दर ही जैन धर्म की बुनियाद जम गई। अनेक उतार-चढ़ावो के बाद आज तक भी उन के अनुयायियों की एक अच्छी सख्या भारतवर्ष मे बनी हुई है। अर्धमागधी प्राकृत मे, जो आधुनिक अवधी बोली की पूर्वज थी उन का एक विस्तृत वाङ्मय भी है।

१. ज० बि० ओ० रि० सो० १३, पृ० २४६।
२. दे० ॐ २१।

## ग्रन्थनिर्देश

प्राचीन पालि वाङ्मय में बुद्ध की जीवनी कहीं एक जगह समूची नहीं पाई जाती, प्रसंगवश उस की अनेक घटनाओं का जगह जगह उल्लेख है। पीछे जो जीवनियाँ लिखी गईं, उन में अलौकिक चमत्कारों से बुद्ध का ऐतिहासिक व्यक्तित्व बिलकुल ढक दिया गया है। प्राचीन पालि वाङ्मय में जो जीवनी के निर्देश हैं,

उन में भी चमत्कारों का काफ़ी से कहीं अधिक स्थान है। जिन आधुनिक आलोचकों नेभी जीवनियाँ लिखी हैं, उन्हें भी कुछ चमत्कारों का उल्लेख करना ही पड़ता है, क्योंकि बौद्ध धर्म के इतिहास में उन चमत्कार-विषयक विश्वासों का भी स्थान है, और आधुनिक आलोचकों ने प्रायः बौद्ध धर्म का स्वरूप और इतिहास दिखलाने को ही बुद्ध की जीवनियाँ लिखी हैं। ऊपर के पृष्ठों में बुद्ध की जीवनी को दिव्य चमत्कारों से अलग रखते हुए शुद्ध ऐतिहासिक रूप में संक्षेप से कहने का जतन किया गया है। दो-एक रुचिकर कहानियाँ उस में आ जाने दी गई हैं, पर साथ ही स्पष्ट संकेत कर दिया है कि वे कहानियाँ हैं। आधुनिक ग्रन्थों में से कुछ एक का उल्लेख नीचे किया जाता है—

कर्न—मैनुअल ऑव इंडियन बुद्धिज़्म् ( भारतीय बौद्ध मत ), स्ट्रासबर्ग १८६६।

ओल्डनबर्ग—बुद्ध हिज़ लाइफ, हिज़ डौक्ट्रिन, हिज़ औऑर्डर ( बुद्ध, उन की जीवनी, उन के सिद्धान्त, उन का संघ ), मूल जर्मन (बर्लिन १६०३) का अंग्रेज़ी अनुवाद, भाग १ ( जीवनी ) तथा विषयान्तर २।

जगन्मोहन वर्मा—बुद्धदेव, ना० प्र० सभा। मूल बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है, पर लेखक का चमत्कारो में विश्वास प्रतीत होता है।

रौकहिल—लाइफ़ ऑव दि बुद्ध ( बुद्ध की जीवनी ), ट्रुबनर, लडन १८८४; तिब्बती ग्रन्थों के आधार पर।

बिगान्डेट—लाइफ़ आर लिजेन्ड आव गौद्म ( गौतम की जीवनी अथवा ख्यात ) बरमी आधार पर। ३ संस्क०, लंडन १८८०।

ई० एच्० ड्यूस्टार—लाइफ़ ऑव गौतम दि बुद्ध ( गौतम बुद्ध की जीवनी ) ट्रुबनर १६२६। बहुत अच्छी नई पुस्तक। लेखक अपने मुँह से कुछ नहीं कहते, प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद देते हुए बुद्ध की पूरी जीवनी कह गये हैं। मुझे यह ग्रन्थ यह प्रकरण लिख चुकने के बाद मिला।

श्रीमती सिंक्लेयर स्टीवन्सन—दि हार्ट ऑव जैनिज़्म् ( जैन धर्म का तत्व ), आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस १६१५।

इस के आगे निम्नलिखित शब्द मैंने सन् १९३० में बढ़ाये थे—"मेरे विद्वान् मित्र बाबा रामोदर साकृत्यायन त्रिपिटकाचार्य्य तथा प्रिय शिष्य भिक्खु आनन्द कौसल्यायन मिल कर मूल बौद्ध ग्रथों के उन अंशो का संग्रह कर रहे हैं जिन में बुद्ध की जीवनी का वृत्तान्त है। उन खण्डों को एक क्रम में ला कर उन का ठीक हिन्दी शब्दानुवाद करने का उन का 'विचार है। यह विचार उन का अपना था, मुझ से जब उन्हों ने बात की उन्हें ग्रयूस्टार की पुस्तक का पता न था। और उन का सग्रह उस की अपेक्षा बड़ा और प्रामाणिक होगा। "

उक्त शब्दों के लिखे जाने और छपने के बीच बाबा रामोदर भिक्खु राहुल बन चुके, और उन का ग्रन्थ बुद्धचर्या छप कर प्रसिद्धि पा चुका।

# परिशिष्ट इ

## बौद्ध धर्म और वाङ्मय के विकास का दिग्दर्शन

### १. थेरवाद

बौद्ध धर्म का प्राचीनतम वाङ्मय विनय और धम्म था, जो अब विनय-पिटक और सुत्तपिटक के अन्तर्गत है। विनय और धम्म के रूप मे वह वाङ्मय बुद्ध के निर्वाण के एक शताब्दी पीछे दूसरी संगीति के बाद तक प्रायः पूर्ण हो चुका था। अभिधम्मपिटक उस के बाद भी बनता रहा, उस मे का एक ग्रन्थ कथावत्थु अशोक-कालीन तीसरी संगीति के प्रमुख मोग्गलिपुत्त तिस्स का लिखा हुआ है, और उस मे उस समय बौद्ध धर्म के जो अठारह वाद (सम्प्रदाय) हो गये थे उन सब के मुकाबले मे थेरवाद का समर्थन किया गया है। कथावत्थु अभिधम्मपिटक के सब से पीछे लिखे गये अशो मे से है। उस के लिखे जाने के समय तक त्रिपिटक प्राय: पूर्ण हो चुका था, तब तक उस का नाम त्रिपिटक पड़ा हो या न पड़ा हो। यह प्राचीनतम वाङ्मय पालि में है। पालि भारतवर्ष के किस प्रदेश मे उस समय बोली जाती थी, सो अब तक विवाद का विषय है। वह उस समय भारतवर्ष की प्रचलित राष्ट्रभाषा सी थी। थेरवाद का सब वाङ्मय पालि में ही है। उस के विद्यमान तिपिटक का दिग्दर्शन इस प्रकार है—

## क. विनयपिटक

विनयपिटक का विषय विनय अर्थात् आचार-सम्बन्धी नियम है। उस के तीन भाग हैं ( १ ) विभङ्ग या सुत्तविभङ्ग ( २ ) खन्धक ( ३ ) परिवार। विभङ्ग के दो भाग हैं—महाविभंग ( भिक्खुविभंग ) और भिक्खुनीविभग। उन दोनो मे से पहले के फिर सात और दूसरे के छ: अश हैं, जिन मे प्रत्येक मे एक एक प्रकार के धम्म ( नियम ) कहे है। उन धम्मो मे से पाराजिक और पाचित्तिय मुख्य है।

पाराजिक वे अपराध हैं जिन के करने से भिक्खु या भिक्खुनी पराजित या पतित हो जाते है। पाचित्तिय धम्मो मे छोटे अपराधो के प्रायश्चित्तो का विधान है। समूचा विभग इतिहास-वर्णन-शैली मे है—भगवान् उस समय अमुक दशा मे अमुक स्थान मे थे, तब ऐसी घटना हुई, तब उन्हों ने ऐसा नियम बनाया, इत्यादि।

आजकल सिंहल मे, जो थेरवाद का प्रसिद्ध केन्द्र है, सुत्तविभग दो जिल्दो मे छपता है। पहली जिल्द मे मुख्य वस्तु भिक्खु-पाराजिक होती है, इस से उसे साधारणतया पाराजिक कहते है। दूसरी जिल्द को पाचित्तिय कहते हैं। उस मे भिक्खु-पाचित्तिय के साथ भिक्खुनी-विभग सम्मिलित रहता है।

खन्धक के दो पुस्तक है—महावग्ग और चुल्लवग्ग। महावग्ग मे बड़ी शिक्षायें हैं, जैसे सामनेर ( तरुण श्रमण ) और भिक्खु के कर्तव्य आदि। चुल्लवग्ग में छोटी शिक्षायें है, जैसे भोजन के बाद हाथ धोना आदि। वैसे उन मे भगवान् की जीवनी बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद से कही गई है, और उसी मे प्रसगवश सब शिक्षाये आ गई हैं। चुल्लवग्ग के अन्त मे पहली और दूसरी संगीति का वृत्तान्त भी शामिल हैं।

परिवार विनय का सार है, उस मे विनय-विषयक प्रश्न हैं। वह पीछे की चीज़ है।

## ख. सुत्तपिटक

धम्म की वास्तविक शिक्षाये सुत्तपिटक मे हैं। सुत्त का संस्कृत अनुवाद सूत्र किया जाता है, पर वास्तव मे वे सूक्त हैं। ये सब सूक्त निम्नलिखित पाँच निकायों में विभक्त हैं—

( १ ) दीघ निकाय, जिस के तीन खन्ध हैं और उन में कुल ३४ लम्बे सुत्त है। सुप्रसिद्ध महापरिनिब्बाण सुत्त इन्ही मे से एक है।

( २ ) मज्झिम निकाय, जिस मे तीन पण्णासक ( पंचाशिका ) हैं, और उन में कुल १५२ मध्यम लम्बाई के सुत्त हैं।

( ३ ) अगुत्तर निकाय, जिस मे कुल सुत्त वर्णित विषय की बढ़ती सख्या ( १ से ११ तक ) के क्रम से रक्खे गये हैं। नमूना—एकक निपात मे उन विषयो का वर्णन जो एक ही हैं, जैसे, एक ही वस्तु सब से बड़ी है और वह धर्म, इत्यादि; फिर दुक निपात में, दो धर्म हैं—एक शुक्ल धर्म दूसरा कृष्ण धर्म, इस प्रकार दो दो वाली वस्तुओं का वर्णन। इसी प्रकार आगे त्रिलक्षण का वर्णन तिक निपात में, पञ्च स्कन्ध का पंचक निपात में इत्यादि।

( ४ ) संयुत्त निकाय, जिस के सुत्त संयुक्त ( सम्बद्ध ) समूहों में अर्थात् विषय-वार बाँटे गये हैं, जैसे देवता-सयुत्त में सब देवता विषयक सुत्त इत्यादि। वह सब निकायों से बड़ा है, और उस के ५६ संयुक्त निम्नलिखित पाँच वग्गो मे बँटे हैं—सगाथवग्ग, निदानव०, खन्धव०, सळायतनव०, महाव०।

( ५ ) खुद्दक निकाय, जिस मे निम्नलिखित १५ छोटे और विविध पुस्तक हैं—
खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इत्तिवुतक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसाभिदा, अपदान,बुद्धवस और चरियापिटक ।

इन मे से कुछ-एक बहुत ही प्रसिद्ध हैं। धम्मपद और सुत्तनिपात तो एक तरह से बौद्ध धर्म की गीता है, उन मे उस की शिक्षा शुद्ध मूल रूप मे पाई जाती है। वे है भी तिपिटक के प्राचीनतम अशो मे से। सुत्तनिपात के सुत्त बुद्ध के ५० बरस बाद तक के होंगे, उन सब का एक साथ निपात भले ही कुछ पीछे हुआ हो। उन के उद्धरण खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, थेरगाथा आदि मे विद्यमान हैं। उस के कुल सुत्त पाँच वग्गों मे विभक्त हैं, जिन मे से कम से कम अट्ठकवग्ग और पारायणवग्ग का सकलन भी बहुत पहले हो गया था, क्योकि उन दोनो का नाम सयुत्त निकाय, अगुत्तर निकाय, उदान और विनय मे पाया जाता है। सुत्तनिपान के अट्ठक वग्ग, पारायण वग्ग और खग्गविसाण सुत्त की अट्ठकथा (अर्थकथा=भाष्य) ही का नाम निद्देस है, और वह सारिपुत्त की लिखी मानी जाती है। सुत्तनिपात एक छोटी सी पुस्तक है, और उस के विचार और शैली बिलकुल उपनिषदो की सी है। उपनिषदो और गीता की ही तरह उस के छन्दो मे गणो का विचार भी नही है, वे वैदिक अनुष्टुभ् त्रिष्टुभ् जगती आदि हैं। इस से यह स्पष्ट है कि उपनिषदो और सुत्तनिपात के समय मे भी परस्पर बहुत अन्तर नहीं है।

उदान उन अर्थभरी उक्तियो को कहते है जो विशेष अवसर पर आप से आप मुँह से निकल पडी हो। इतिवुत्तक मे बुद्ध की उक्तियो का सग्रह है। थेरगाथा और थेरीगाथा भी तिपिटक के बहुत प्रसिद्ध पुस्तक है।

इतिहास की दृष्टि से जातक सब से अधिक महत्त्व की वस्तु है। इस समय करीब साढे पाँच सौ कहानियो के जिस संग्रह को सादे तौर पर जातक कह दिया जाता है, उस का ठीक नाम जातकत्थवण्णना है, और वह आरम्भिक

जातकट्ठकथा के, जो अब नहीं मिलती, सिंहली अनुवाद का फिर से किया हुआ पालि अनुवाद है। इस पालि अनुवाद का कर्ता बुद्धघोष को कहा जाता है। मूल जातकट्ठकथा में दो वस्तुएँ थीं, एक तो गाथायें जिन के लिए पालि या पोत्थका या पालि-पोत्थका शब्द आते हैं, और दूसरे उन की अट्ठकथा। गाथा शब्द वैदिक संस्कृत पालि और अवस्ता वाङ्मय में सदा आख्यायिकामयी गीतियों के लिए प्रयुक्त होता है, उस का अर्थ कथा-कहानी नहीं है। वही गाथायें जातकट्ठकथा में पालियो अर्थात् पंक्तियाँ कहलाती हैं। पालि भाषा का नाम पालि भी शायद इस कारण पड़ा है कि शुरू में उस में वैसी रचनायें ही बहुत थीं। सिंहली अनुवाद में वे पालियाँ ज्यों की त्यों मूल रूप में बनी रहने दी गई थीं, और पालि पुनरनुवाद में भी फिर वही उद्धृत कर दी गईं। वे पालियाँ या गाथायें बुद्ध से भी पहले की हैं। जातकत्थवण्णना के अब चार अंग हैं, और वही मूल जातकट्ठकथा के भी रहे होंगे—एक पच्चुपन्न वत्थु, दूसरे अतीतवत्थु, तीसरे वेय्याकरण, चौथे समोधान। दूसरे अंग को छोड़ कर बाकी तीनों अट्ठकथा में सम्मिलित हैं। समूची जातकत्थवण्णना में शुरू में भूमिका-स्वरूप एक लम्बी निदानकथा है, जिस में बुद्ध के पूर्व जन्मों और इस जन्म का बोध होने के कुछ बाद तक का वृत्तान्त है। वह भी पच्चुपन्नवत्थु ही है। वैसे पच्चुपन्नवत्थु या प्रत्युत्पन्न वस्तु (उपस्थित या विद्यमान वस्तु) से प्रत्येक जातक शुरू होता है। उस में यह कहा होता है कि बुद्ध के जीवन में अमुक अवसर पर इस प्रकार अमुक घटना घटी, जिस से उन्हें अपने पूर्व जन्म की वैसी ही बात याद आ गई। तब बुद्ध एक पुरानी कहानी सुनाते हैं, और वही असल जातक और अतीतवत्थु होती है। उस का कुछ अंश पालियों या गाथाओं में और बाकी गद्य में होता है; वह गद्य भी अट्ठकथा ही है। जहाँ बीच में पालि आती है, वहाँ उस के बाद उस में गूढ शब्दों का अर्थ आदि एक दो पंक्ति में दिया रहता है, और वही वेय्याकरण है। कहानी समाप्त होने पर बुद्ध उस के पात्रों में से इस जन्म में कौन कौन है सो घटा कर बताते हैं, और वही समोधान कहलाता है। क्योंकि

अतीतवत्थु का गद्य अश भी पालियो मे पूरी तरह गुथा हुआ है—उन गद्यात्मक कहानियो के बिना उन पालियो का अर्थ मुश्किल से बनता है—इसी लिए उस गद्य अश मे भी पुरानी सामग्री ज्यो की त्यो सुरक्षित चली आती माननी पडती है। दो बार अनुवाद जरूर हुआ है, पर अनुवादको ने प्राय: ठीक शब्दानुवाद किया जान पडता है। जातको की पालियाँ और कहानियाँ वास्तव मे बुद्ध से पहले की है, उन्हे बुद्ध के जीवन पर घटा कर बुद्ध के पूर्व जन्मो की कहानियाँ बना दिया गया है, इसी लिए उन्हे जातक कहते हैं। संसार के वाङ्मय मे जनसाधारण की कहानियो का वह सब से पुराना बड़ा सग्रह है। मनोरञ्जकता, सुरुचि और शिक्षापूर्णता मे उन का मुकाबला नहीं हो सकता, प्राचीन भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू पर वे अनुपम प्रकाश डालती हैं। फौसबोल ने रोमन अक्षरो मे छः जिल्दो मे तमाम जातको का सम्पादन किया है, और उन का पूरा अंग्रेज़ी अनुवाद भी हो चुका है।

अपदान=(स०) अवदान=ऐतिहासिक प्रबन्ध, किसी शिक्षादायक या महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का वर्णन, जैसे अशोकावदान, कुणालावदान, एवं उन सब का संग्रह दिव्यावदान। तिपिटक के अपदान मे थेर-अपदान और थेरी-अपदान सम्मिलित हैं। बुद्धवस मे पहले २४ बोधिसत्वो और पचीसवें गौतम बुद्ध के जीवन का सक्षिप्त वृत्तान्त है।

पहले चार निकायों मे वर्णन की शैली सब जगह एक सी है। एवं मया सुत—'ऐसा मैंने सुना है'—से कहानी शुरू होती है, और उस समय भगवान् वहाँ थे, तब ऐसी घटना घटी, तब अमुक आदमी ने यह बात पूछी, और उन्हो ने यह उत्तर दिया, इस प्रकार अन्त मे बुद्ध का सवाद (वार्तालाप) आ जाता है। वही असल सुत्त होता है। कहीं कहीं बुद्ध के बजाय सारिपुत्त, महाकस्सप आदि के भी उपदेश हैं, और निर्वाण के बाद की घटनायें भी। खुद्दक मे सब जगह यह शैली नहीं है। उस के अनेक अंश तो पहले चार निकायों की तरह, बल्कि उन से भी अधिक प्राचीन हैं, किन्तु कुछ में अशोक के समय तक की बातें आ गई हैं। तीसरी शताब्दी ई० पू० के

अभिलेखो मे पञ्चनेकायिक, पेटकी आदि शब्द पाये जाते हैं,[1] जिस से उस समय पाँचों निकायो का बन चुकना तथा पिटको का भी किसी रूप मे होना सिद्ध होता है।

## ग. अभिधम्मपिटक

अभिधम्मपिटक मे धम्म का दार्शनिक विवेचन और अध्यात्मशास्त्र है। उस में निम्न लिखित सात ग्रन्थ हैं—(१) धम्मसगनि, (२) विभग, (३) धातुकथा (४) पुग्गलपञ्ञति (५) कथावत्थु (६) यमक (७) पट्ठान।

थेरवाद का पालि तिपिटक यही कुछ है। यह अशोक के कुछ काल बाद पूरा हो गया था। तिपिटक के पीछे के पालि ग्रन्थों मे मिलिन्दपञ्हो प्रसिद्ध है। ५ वीं शताब्दी ई० के शुरु में मगध मे बुद्धघोष आचार्य हुआ। उस ने सिंहल जा कर अशोक के पुत्र महिन्द द्वारा मूल पालि से अनुवादित जो सिंहली अट्ठकथायें वहाँ थीं, उन के आधार पर फिर पालि अट्ठकथाये लिखी। उस के बचे हुए काम को फिर बुद्धदत्त, धम्मपाल, महानामा, नव मोग्गलान और चुल्ल बुद्धघोष ने पूरा किया। आजकल थेरवाद सिंहल बरमा और स्याम में प्रचलित है। उन तीनों देशों मे पालि तिपिटक का अध्ययन-अध्यापन भली भाँति चलता है। सिंहल मे अशोक के समय मे ही बौद्ध धर्म गया था। बरमा और स्याम की अनुश्रुति के अनुसार वहाँ बुद्धघोष ही लंका से तिपिटक ले गया था। आधुनिक विद्वान् उस बात को पूर्ण सत्य नहीं मानते।

सिहली भाषा आर्य है (दे० ऊपर §§ ११, १६, तथा नीचे § ११०), किन्तु बरमी और स्यामी का भारतीय भाषाओ से मूलतः कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु अब तीनो की वर्णमालाये और लिपियाँ भारतीय हैं (दे० ऊपर § २३)। इसी कारण तीनों देशो की अपनी अपनी लिपियों मे पालि बड़ी सरलता और शुद्धता से लिखी जाती है। उन तीनो भाषाओ पर भी पालि का

1. एपि० इं० २, ९३; बु० इं० पृ० १६७।

यथेष्ट प्रभाव हुआ है। और वे अब तक अपने पारिभाषिक शब्द बहुत-कुछ पालि से लेती हैं। पालि तिपिटक इन तीनो लिपियो मे छपता है। लण्डन की पालि टेक्स्ट सोसाइटी ने उसे रोमन अक्षरो मे भी समूचा छाप डाला है। बरमी और स्यामी मे भी वह समूचा छप चुका है, पर सिंहली मे अभी तक पूरा एक साथ कही नही छपा। दुर्भाग्य से नागरी अक्षरो मे दो-एक विरले ग्रन्थो के सिवाय अभी तक वह नहीं छपा। धम्मपद के कई नागरी संस्करण हो चुके हैं। मज्झिम-निकाय का मूल-पण्णासक १९१९ मे तथा सुत्तनिपात १९२४ ई० मे पूना से प्रकाशित हुआ है।

यद्यपि नागरी या अन्य कोई भारतीय लिपि पढ़ने लिखने वाले व्यक्ति के लिए सिहली बरमी या स्यामी लिपि सीखना कुछ घटो का ही काम होता है, तो भी समूचे त्रिपिटक का नागरी लिपि मे प्रकाशित होना अत्यन्त आवश्यक है।

## २. सर्वास्तिवाद आदि

बुद्ध का आदेश था कि उन के अनुयायी उन की शिक्षाओ को अपनी अपनी भाषा मे ही कहे सुने। इसी कारण प्रत्येक वाद का वाङ्मय उस प्रदेश की भाषा मे रहा होगा जो उस का मुख्य केन्द्र रहा होगा। किन्तु उन वादो के वाङ्मय अब प्रायः नष्ट हो चुके हैं, और उन मे से अब कोई कोई ग्रन्थ मिलते हैं।

सर्वास्तिवाद एक प्रसिद्ध सम्प्रदाय था। असल मे तीन सर्वास्तिवाद थे—

( क ) मगध का सब से पहला सर्वास्तिवाद जिस के ग्रन्थ मागधी भाषा मे रहे होगे।

( ख ) आर्य-सर्वास्तिवाद मौर्य साम्राज्य के पतन-काल मे मथुरा मे था। उन के ग्रन्थ सस्कृत मे थे। अशोकावदान उन्हीं की पुस्तक है।

( ग ) मूल-सर्वास्तिवाद जो कनिष्क के समय ( पहली शताब्दी ई० अन्त ) गान्धार और कश्मीर मे प्रचलित था। आजकल जब सर्वास्तिवाद

का उल्लेख किया जाता है, तब मूल-सर्वास्तिवादियों के इस सम्प्रदाय से ही अभिप्राय होता है। कश्मीर और गान्धार के सर्वास्तिवादियो का पारस्परिक मतभेद मिटाने के लिए कनिष्क ने चौथी सगीति बुलाई थी, और उस मे महाविभाषा नामक त्रिपिटक का एक बड़ा भाष्य तैयार हुआ था। वह समूचा ताम्रपत्रों पर खुदवा कर एक स्तूप की बुनियाद में रख दिया गया था, और कश्मीर में खोजने पर कभी न कभी कही न कहीं गड़ा हुआ ज़रूर मिलना चाहिए। महाविभाषा के हिस्सो को विनयविभाषा, सुत्तविभाषा, अभिधम्मविभाषा कहते है। इस ग्रन्थ के कारण मूल-सर्वास्तिवादियो को वैभाषिक भी कहा जाता है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदायो मे थोड़ा ही भेद है।

वैभाषिको का वाङ्मय संस्कृत मे था, और भारत मे वह प्रायः सब नष्ट हो चुका था; किन्तु चीन मध्य एशिया तिब्बत आदि मे उस के अनेक ग्रन्थ अब मूल या अनुवाद रूप मे मिल गये हैं। उन का विनय विनयवस्तु कहलाता है, और उस मे जातक भी सम्मिलित है। साधारणतः सर्वास्तिवादियो का विनय और सुत्त थेरवाद के उक्त दोनो पिटको से मिलता है, पर अभिधम्म दोनो का भिन्न है। महावस्तु नामक एक बड़ा ग्रन्थ अब उपलब्ध है जो महासांघिक सम्प्रदाय का विनय है, किन्तु उस मे विभग और खंधक का भेद नहीं है। उस की भाषा भी प्राकृत-मिश्रित विचित्र संस्कृत है। अन्य प्राचीन सम्प्रदायों के ग्रन्थो मे से किसी किसी के अनुवाद उपलब्ध हैं; जैसे सौत्रान्तिकों के सत्यसिद्धिशास्त्र का चीनी अनुवाद।

## ३. महायान

महायान का विकास वैभाषिक सम्प्रदाय से ही हुआ है। बुद्धत्व-प्राप्ति के तीन मार्ग बतलाये गये थे। एक अर्हत-यान, दूसरे पच्चेक (प्रत्यक्)-बुद्ध-यान, तीसरे सम्मासम्बुद्ध (सम्यक्सम्बुद्ध)-यान। पहला स्वल्पकष्ट-साध्य है। पच्चेकबुद्ध का अर्थ है जिसे केवल अपने लिए बोध हो, और

सम्मासम्बुद्ध वह जिसे सब को देने के लिए बोध हो। महायान नाम का उदय यो हुआ कि कनिष्क-कालीन आचार्य‸नागार्जुन ने पहले दोनो यानो को हीन कह के तीसरे सम्मासम्बुद्ध-यान की विशेष प्रशसा की, और उसे महायान कहा। और उस महायान की प्रशसा मे नये 'सुत्त' बनाये गये जो सब सस्कृत मे हैं। महायान वाङ्मय भी अब त्रिपिटक मे बाँट दिया जाता है, पर वास्तव मे उस मे विनय आर अभिधम्म नहीं हैं, सब सुत्त ही हैं। उन सुत्तो मे से कुछ बहुत प्रसिद्ध हैं, जैसे, रत्नकूट सुत्त जो तिब्बती अनुवाद मे पाये जाते हैं, नेपाल मे पाये गये वैपुल्य (वेथुल्ल)-सूत्र जैसे ललितविस्तर ( बुद्ध की जीवनी ) सद्धर्मपुण्डरीक करुणापुण्डरीक आदि, प्रज्ञापारमिता सूत्र, सूखावती-व्यूह, इत्यादि। आर्यशूर ने आठवी शताब्दी ई० मे सस्कृत जातकमाला का सग्रह किया, किन्तु उस मे उस ने केवल ३४, ३५ जातक रक्खे हैं।

यो जब महायान वाङ्मय का त्रिपिटक मे विभाग किया जाता है, तो बुद्ध-जीवनी-सम्बन्धी ग्रन्थो ( जैसे ललितविस्तर या अश्वघोष-कृत बुद्ध-चरित आदि ) को, एव जातक तथा अवदान-ग्रथो ( जैसे अवदानशतक, अशोकावदान आदि ) को विनय मे गिना जाता है। सुत्तों मे अवतसक-गन्धव्यूह, सद्धर्मपुण्डरीक, सुखावती-व्यूह, प्रज्ञापारमितासूत्र ( माध्यमिक वाद का ), विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र, लङ्कावतार-सन्धिनिर्मोचन तथा सुवर्णप्रभाश ( योगाचार सम्प्रदाय ) की गिनती होती है। इन सब मे वही सुत्तो की शैली—एव मया श्रुतम्—पायी जाती है। अभिधर्म मे कुछ ग्रन्थ माध्यामिको के तथा कुछ योगाचारो के सम्मिलित हैं। पहली कोटि मे नागार्जुन कृत प्रज्ञापारमितासूत्र-शास्त्र, द्वादशनिकाय-शास्त्र और माध्यमिक-शास्त्र, आर्यदेव-कृत शतशास्त्र तथा शान्तिदेव-कृत बोधिचर्यावतार नामक ग्रन्थ हैं। दूसरी कोटि में मुख्यतः मैत्रेय की योगाचारभूमि, तथा आसंग और वसुबन्धु के ग्रन्थ सम्मिलित हैं। वसुबन्धु और आसंग नामक दो विद्वान् भाई ५ वीं शताब्दी ई० मे पेशावर मे हुए थे। वसुबन्धु ने जब अभिधर्मकोष लिखा, वह सर्वास्तिवादी था, बाद आसंग ने उसे योगाचार-महायान सम्प्रदाय का बना लिया। उन दोनों भाइयों के समय तक महायान वाङ्मय पूर्ण होता

रहा। वसुबन्धु की त्रिंशिका पर विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नाम का भाष्य लिखा गया, जिस का चीनी अनुवाद य्वान च्वाङ ने किया। मूल अब नहीं मिलता। आसंग और वसुबन्धु हमारे देश के सब से बड़े दार्शनिको मे से थे। उन की दार्शनिक पद्धति पर ही शंकर का अद्वैतवाद निर्भर है।

उन के बाद दिङ्नाग के समय से बौद्ध तार्किक होने लगे, जिन के मूल ग्रन्थ अब नष्ट हो चुके हैं।

महायान अब चीन, कोरिया और जापान मे रह गया है। किसी समय समूचे उत्तरपच्छिम भारत, अफगानिस्तान, पूर्वी ईरान, मध्य एशिया आदि मे भी वह पूरी तरह फैला हुआ था। मध्य एशिया की कूची[1] तुखारी[1] तुर्की आदि भाषाओ मे, एव ईरानी की एक शाखा सुग्धी[2] में भी महायान ग्रन्थो के अनुवाद पाये गये है। आज के तरुण तुर्क विद्वान् अरबी के प्रभाव से अपनी भाषा को मुक्त करने की चेष्टा मे अपने उसी प्राचीन वाङ्मय की फिर शरण लेने लगे हैं।

## ४. वज्रयान

वज्रयान तान्त्रिक बौद्ध मत या बौद्ध वाम मार्ग का नाम है, जो आजकल तिब्बत और मगोलिया मे प्रचलित है, और मध्य काल मे भारतवर्ष, परले हिन्द और मलायु द्वीपावली मे बड़े जोरो पर था। तिब्बत के बौद्ध मत को पाश्चात्य विद्वान् लामा-पन्थ कहते हैं, किन्तु स्वय तिब्बती अपने पन्थ को दोर्जेथेप्पा कहते है, जो वज्रयान का ठीक शब्दानुवाद है, दोर्जे=वज्र, थेप्पा=यान, मार्ग।

वाम मार्ग बौद्ध मत मे कैसे आ गया? उस का बीज शुरू से मौजूद था। वैदिक काल मे भी ऊँची श्रेणियो का धर्म भले ही प्रकृति-देवताओं की पूजा थी, किन्तु साधारण जनता का जड़-पत्थर देवताओ भूत-प्रेत जादू-

१. दे० नीचे §§१६१, १७९, १८८ अ, २०८; ॐ २८।

२. दे० नीचे §§१०४ अ, ११८।

टोना कृत्या-अभिचार आदि पर विश्वास था ही। वह जनता का धर्म अथर्ववेद मे संकलित है,—आथर्वण मन्त्र-तन्त्र भारतवर्ष मे सदा से प्रसिद्ध रहे हैं[1]। टिळक ने अथर्ववेद को काल्दी वेद कहा है, और पार्जीटर ने ऋग्वेद १०—८६ की इन्द्र वृषाकपि और इन्द्राणी की कुछ भद्दी सी कहानी मे गोदावरी-काँठे की द्राविड देव-कथाओ की झलक सिद्ध की है[2]। इस प्रकार यह प्रतीत होता है, और दूसरे बहुत से विद्वानो का रुझान भी यही मानने का है, कि भारतवर्ष की जड-पूजा जन्तु-पूजा और अश्लील-पूजा अनार्य-मूलक है। समाज के निचले अश मे वह सदा से प्रचलित थी, और ऊँचे धर्म और उस धर्म मे सदा परस्पर प्रभाव और आदान-प्रदान भी होता रहता था। उस मन्त्रयान या जादू-अभिचार-मार्ग से कई अच्छी वस्तुओं का जन्म भी हुआ है। वैद्यक-शास्त्र का आरम्भ न केवल भारतवर्ष मे प्रत्युत ससार मे सभी जगह उसी से हुआ है। आरम्भ मे मन्त्र-प्रयोगो मे कुछ ओषधियो की सहायता ली जाती थी, तजरबा करते करते ओषधियो के प्रभावो का ज्ञान अधिक निश्चित हो गया, और उसी से आयुर्वेद का जन्म हुआ। रसायन-शास्त्र का जन्म भी सब जगह इसी प्रकार हुआ है। फलित ज्योतिष तो इस मार्ग की उपज है ही, यद्यपि उस की अच्छी वस्तुओ मे गिनती नही हो सकती। प्रकृति-देवता-पूजा से एक-देवता-पूजा पैदा हुई, और उस ने बुद्ध के आचार और सयम-मार्ग को जन्म दिया। सयम के अभ्यास के लिए मन को एकाग्र करने, चित्तवृत्तियो के निरोध और ध्यान का मार्ग चला था, जिसे योग कहते है। इधर मन्त्र-अभिचार-मार्ग मे भी बाह्य क्रियाओ की सहायता से मनुष्य ने अपने अन्दर शक्ति केन्द्रित करने के अभ्यास किये, और उन से हठयोग आदि की उत्पत्ति हुई। हठ योग जहाँ तक शरीर की शुद्धि और नियन्त्रण सिखाता था वहाँ तक दक्षिण मार्ग का योग भी उस की क्रियाओ को अपना सहायक मान सकता था, यद्यपि अलौकिक जादूभरी सिद्धियाँ पाने के

१. दे० अथर्व० १, ६।
२. ज० रा० ए० सो०, १९११ पृ० ८०३-८०४।

अभ्यास दक्षिण मार्ग की प्रवृत्ति के प्रतिकूल थे। इस प्रकार दक्षिण और वाम मार्ग मे परस्पर प्रभाव और आदान-प्रदान होना स्वाभाविक था; दोनो की ठीक ठीक सोमाये निश्चित करना भी बहुत बार कठिन हो जाता है। वाम मार्ग मे अच्छाई का यह अश मिला रहने के कारण ही उस का जीवन इतने दीर्घ काल तक बना रहा है, और कभी कभी उस का प्रभाव समूचे समाज पर फैल जाता रहा है।

बुद्ध से पहले और उन के समय भी वह अनेक रूप से जनता में विद्यमान था। और यद्यपि बुद्ध अन्ध विश्वासो और रहस्यपूर्ण बातो के घोर विरोधो थे, यद्यपि उन के मार्ग मे कोई आचरियमुट्ठी न थी, तो भी उन का मार्ग साधारण जनता के लिए था, और उस जनता मे से वाम प्रवृत्तियाँ निकाल देना लगभग असम्भव था।

जिस सम्यक् समाधि से बुद्ध को बोध हुआ था, उसी मन को एकाग्र और ध्यान को केन्द्रित करने के अभ्यास के बहुत निकट वाम योग के इलाके की सीमा पहुँचती थी। इसी से मुद्रा, मन्त्र-जप, धारणी ( सुत्तों के संक्षेप जिन का जादू-मन्त्र की तरह प्रभाव के लिए पाठ किया जाता था ) आदि का बहुत जल्द बौद्ध मार्ग मे चलन हो गया।

बौद्ध मत मे तान्त्रिक यान के पैदा हो जाने का मै एक और कारण भी समझता हूँ, और क्योकि मेरे उस विचार का न केवल बौद्ध मत के इतिहास और भारतीय इतिहास की व्याख्या से प्रत्युत मानव मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की विस्तृत विचारधारा से भी सम्बन्ध है, इस लिए मैं उसे खुली और बारीक आलोचना के लिए विद्वानों के सामने रखता हूँ। बुद्ध के विहारो और प्राचीन ऋषियो के आश्रमो मे एक भारी और बुनियादी भेद था। उन आश्रमो मे स्त्रियाँ और पुरुष एक कुल या परिवार की तरह साथ साथ रहते थे, जब कि बौद्ध विहारो में वे फ़ौजी छावनियो की तरह अलग अलग रक्खे जाते, और बौद्ध मार्ग में युवको और युवतियों को भी बहुत आसानी से प्रव्रज्या मिल जाती थी। साधारण मनुष्यों के समाज में स्त्री

और पुरुष को इस प्रकार एक दूसरे से अलग करना बहुत कुछ प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल था, और मानव प्रकृति पर इस प्रकार दबाव डालने से उस की आवश्यक प्रतिक्रिया हुई। बुद्ध जैसे महापुरुष के स्थापित किये हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य के ऊँचे दीख पडने वाले आदर्श के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला मुँह खोलने का उन के किसी अनुयायी ने साहस न किया, पर मानव प्रवृत्ति भी दबी न रह सकती थी, उस ने ढोंग की शरण ली, और रहस्यपूर्ण शब्द-जाल के द्वारा सम्यक्-सम्बुद्ध के आदर्श मे ही वज्र-गुरु का आदर्श मिला दिया। इस प्रकार प्रकृति ने ऐसा बदला चुकाया कि ससार के सब से शुद्ध आचार-मूलक धर्म के बडे आदर्शों की परिभाषाओ के खोल मे बीभत्स गुह्य पाप आ छिपा।

मध्य काल मे तिब्बत और नेपाल से जावा सुमात्रा तक समूचे बृहत्तर भारत मे बौद्ध और अबौद्ध सभी मार्गो मे वाम पहलू के इतने प्रभावशाली हो उठने और जाति के राजनैतिक जीवन पर उस का प्रभाव प्रकट होने लगने का मुझे यही कारण प्रतीत होता है। यह भूलना न चाहिए कि उस मे कुछ अच्छा—शक्ति-उपार्जन का—अश भी था, और उसी के कारण उस का जीवन बना रह सका। जाति के जीवन और विचार मे प्रवाह और गति बन्द हो जाने की दशा उस के फूलने-फलने के लिए बहुत ही अनुकूल थी।

तान्त्रिक बौद्ध मत का पहला ग्रन्थ आर्य-मजुश्री-मूलकल्प[1] है, जिस की वैपुल्य सूत्रों मे गिनती है। वैपुल्य सूत्र ४थी-५वीं शताब्दी ई० तक पूरे हो चुके थे। इस प्रकार वाम प्रवृत्ति महायान मे ही शुरू हो गई थी। वह ग्रन्थ दूसरी तीसरी शताब्दी का होगा। फिर गुह्यसमाज या तथागतगुह्यक या अष्टादशपटल नामक ग्रन्थ बना, जिस मे पहले-पहल वज्रयान का नाम है। उस के बाद सातवीं-आठवी-नौवीं शताब्दी ई० मे ८४ सिद्ध हुए जो सब इसी यान के यात्री थे। उन के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी हरप्रसाद शास्त्री-कृत बौद्ध गान ओ दोहा मे है। उन मे गुह्यसिद्धि के लेखक पद्म-

1 गणपति शास्त्री सम्पादित, त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सीरीज़ में।

वज्र या सरोरुहवज्र, उस के समकालीन ललितवज्र, कम्बलपा, कक्कुरिपा आदि, पद्मवज्र के शिष्य अनगवज्र, उस के शिष्य उड्डीयान या ओडियान के राजा इन्द्रभूति तथा उस की शिष्या और बहन लक्ष्मीङ्करा देवी, और इन्द्रभूति के पुत्र गुरु पद्मसंभव तथा उस के साथी शान्तरक्षित के नाम तिब्बती वाङ्मय मे प्रसिद्ध है। पद्मसम्भव और शान्तरक्षित ने तिब्बत जा कर ( ७४७-७४९ ई० मे ) वहाँ साम्ये विहार बनवाया था, इसी लिए उन का समय सातवी शताब्दी ई० का पिछला अश है। अनंगवज्र आदि का नाम तिब्बती तंज्यूर मे है, और उन के ग्रन्थो के तिब्बती अनुवाद भी हैं। अब उन के मूल संस्कृत ग्रन्थ भी मिले हैं और गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ मे छपे है—अनगवज्र-कृत प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, इन्द्रभूति-कृत ज्ञानसिद्धि[1] तथा संग्रह-ग्रन्थ साधनमाला। उत्तर भारत की जनता मे योगी गोरखनाथ का नाम बहुत प्रसिद्ध है, वह भी वज्रयान के ८४ सिद्धो मे से एक था। तिब्बत मे जब भारतवर्ष से बौद्ध मत गया उस से पहले यहाँ वज्रयान का उदय हो चुका था, यही कारण था कि त्रिपिटक के साथ साथ वहाँ वज्रयान भी पहुँचा। कुछ ही पहले वहाँ भारतीय लिपि भी पहुँची थी। तिब्बत की वर्णमाला तब से भारतीय ( ब्राह्मी ) चली आती है। कुछ उच्चारण अधिक है जिन के लिए नये चिह्न बना लिये गये थे। नमूने के लिए उक्त दोर्जे शब्द मे ओकार ह्रस्व है, तेलुगु मे भी ह्रस्व और दीर्घ दोनो ओकार होते है। तिब्बती शब्दो को आधुनिक नागरी लिपि में लिखने के लिए उन विशेष उच्चारणो के लिए नये संकेत विद्वानो को निश्चित कर लेने चाहिएँ।

तिब्बती भाषा का आर्य भाषाओ से कोई सन्बन्ध नही। तिब्बती-बर्मी भाषाओ का एक अलग ही परिवार है ( ऊपर §§१८, २०—२२)। उसी

---

१. वज्रयान-वाङ्मय का उक्त इतिहास इन्हीं ग्रन्थों की विनयतोष भट्टाचार्य्य-लिखित भूमिका के आधार पर है।

परिवार की बर्मी भाषा मे भरपूर पालि शब्द आ गये है, और अब तक लिये जाते है। किन्तु तिब्बती मे, यद्यपि उस का समूचा वाङ्मय सस्कृत से अनुवादित है, सस्कृत शब्द बहुत नहीं है। उस मे व्यक्तियो और स्थानो के संस्कृत नामो का भी हूबहू शब्दानुवाद कर दिया जाता है।

त्रिपिटक का पूरा तिब्बती अनुवाद है जो कज्यूर कहलाता है। क=शास्त्र, ज्यूर=अनुवाद। उस के साथ दूसरा सग्रह तज्यूर है, जिस मे उस की व्याख्या, अनुवादको का वृत्तान्त आदि है। समूचे कज्यूर का तिब्बती म मगोल भाषा मे अनुवाद भी हुआ है। मंगोल भाषा की लिपि अलग है। तो भी उस मे बौद्ध वाङ्मय के साथ सस्कृत शब्दो का अच्छा प्रवेश हो गया था। मंगोल लोगो ने बौद्ध धर्म के पारिभाषिक शब्द सस्कृत से ले लिये है। उन शब्दो का उच्चारण मगोल मुखो मे कुछ बदल गया है, और बहुत से शब्दो का अपभ्रश हो गया है। उदाहरण के लिए, ( संस्कृत ) विहार= ( मंगोल ) बोखारा, मध्य एशिया का प्रसिद्ध नगर बोखारा यही शब्द है। इस प्रकार भारतवर्ष के विहार प्रान्त और मध्य एशिया के बोखारा प्रान्त के नामों का मूल एक ही है।

---

बारहवाँ प्रकरण

# मगध का पहला साम्राज्य

( लगभग ५६० ई० पू०—३७४ ई० पू० )

## § ९८. अवन्ति कोशल और मगध की होड़

हम देख चुके हैं ( § ८३ ) कि कोशल मगध अवन्ति और वत्स ये चार बड़े एकराज्य छठी सताब्दी ई० पू० के आरम्भ मे भारतवर्ष के केन्द्र-भाग मे थे। उस ज़माने मे जब कि बुद्धदेव ने अपना धर्म-चक्र चला कर चातुर्दिश ( चारो दिशाओं के अन्त तक पहुँचने वाले, सार्वभौम ) धर्म-संघ की नींव डाली थी, भारतवर्ष के राज्यों में भी अपने को चातुरन्त सार्वभौम ( समूचे भारत का ) राज्य बनाने की होड़ चलती थी। सार्वभौम आदर्श उस समय भारतवर्ष के महापुरुषों के दिमाग़ो में समाया हुआ था। उक्त राज्यों में से विशेष कर पहले तीन—अर्थात् अवन्ति कोशल और मगध—अपनी अपनी शक्ति बढ़ाने और एक दूसरे को पछाड़ने की होड़ में लगे थे।

## § ९९. अवन्तिराज प्रद्योत और वत्सराज उदयन

सब से पहले अवन्ति ने अपने हाथ बढ़ाना शुरु किया। राजा प्रद्योत से उस के सब पड़ोसी डरते और उस के आगे झुकते थे। भारतवर्ष के

राजवशो का उदय और अस्त करना उस के हाथ मे था[1] । निश्चित रूप से नहीं कह सकते, पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रद्योत ने उत्तर की तरफ मथुरा को विजय कर लिया था, और वहाँ का शासन अवन्ति के एक राजपुत्र ( अवन्तिपुत्र ) को दे दिया था। प्राचीन युगो मे मथुरा की वही सामरिक और भौगोलिक स्थिति थी जो आज दिल्ली की है। मथुरा और दिल्ली एक ही इलाके मे हैं, वह इलाका पञ्जाब मध्यदेश राजपूताना और मालवा के बीच पडता, तथा पञ्जाब से मध्यदेश राजपूताना एवं मालवा के, और मध्यदेश से पजाब राजपूताना और मालवा के रास्तो को काबू करता है। दिल्ली को अथवा मथुरा को लेने का अर्थ उस इलाके को लेना ही होता है। प्राचीन युगो मे जब दिल्ली नही थी, तब मथुरा को लेने का वही अर्थ होता था जो आज दिल्ली को लेने का होता है।

अवन्ति की राजधानी उज्जेनि ( उज्जेयिनी ) एक बडे महत्त्व की नगरी थी। पच्छिम समुद्र के तीर्थों (बन्दरगाहो) और उत्तर भारत के बीच जो व्यापार होता वह सभी उज्जेनि हो कर गुज़रता था। उज्जेनि से पच्छिमी मध्यदेश तथा पञ्जाब के सार्थ (काफले) मथुरा चले जाते, एव पूरबी मध्यदेश ( कोशल ) और मगध के कोसम्बि ( कौशाम्बी )। मथुरा से पञ्जाब और पच्छिमी मध्यदेश ( गङ्गा-जमना दोआब के उत्तरी भाग ) के रास्ते अलग होते, उसी प्रकार कोसम्बि से कोशल और मगध के रास्ते फटते थे । अवन्ति के राज्य को फैलने के लिए एक तरफ मथुरा का मार्ग था तो दूसरी तरफ कोसम्बि का।

मगध और कोशल जैसे समृद्ध देशो के व्यापार-मार्ग पर रहने के कारण कौशाम्बी बडी समृद्ध नगरी थी। वह वत्स देश की राजधानी थी जहाँ उस समय भारत वश का राजा उदयन राज्य करता था। आर्यावर्त्त के उस समय के सब राजवंशो मे भारत वश सब से प्राचीन और कुलीन था। उस समय के लोग यह

---

1. भास—स्वप्नवासवदत्तम् ( त्रिवेन्द्रम्, ) पृ० ६७।

अनुभव करते थे कि वही वह वश था जिस के राजर्षियो की कीर्ति वेदों मे भी गाई गई है[1]। कुलीन होने के अतिरिक्त उदयन बड़ा ही प्रजानुरक्त वीर रसिक और सुन्दर जवान था। उस के साहस और प्रेम को गाथाये शताब्दियो पीछे तक जनसाधारण मे गाई जाती रही[2]।

कहते है[3] उसे हथिकन्त सिप्प ( हस्तिकान्त शिल्प ) आता था; एक मन्त्र का प्रयोग कर और हथिकन्त वीणा को बजा कर वह किसी भो हाथी को पकड़ सकता था। उज्जेनि के राजा चण्ड पज्जोत ने अपने अमात्यो से सलाह कर एक षड्यन्त्र रचा, और दोनो देशों की सीमा के घने जगल मे, जहाँ उदेन शिकार के लिए आया हुआ था, एक काठ का बनावटी हाथी, जिस पर चीथड़े लपेट कर रग किया हुआ था, छोड़वा दिया। खबर पा कर उदेन उसे पकड़ने पहुँचा, मन्त्र चलाया, वीणा बजाना शुरू किया, पर हाथी मानो वीणा सुनता ही न था और उलटी तरफ दौड़ पड़ा! घोड़े पर चढ़ कर उदेन उस के पीछे दौड़ा, उस के साथी पीछे रह गये, और हाथी के और जगल के अन्दर छिपे पज्जोत के पुरुषो ने उसे पकड़ लिया। पज्जोत ने उसे एक चोर-गेह मे बन्द करवा दिया, और तीन दिन बड़ी खुशियाँ मनाई। उदेन ने तीसरे दिन आरक्खिकों से पूछा—तुम्हारा राजा कहाँ है?

"दुश्मन पकड़ा गया है इस लिए हमारा राजा जय-पान पीता है।"

"क्या यह औरतों की सी बात तुम्हारा राजा करता है! शत्रु राजा को पकड़ा है तो या तो उसे छोड़ना चाहिए या मारना चाहिए।"

---

१. प्रकाशराजर्षिनामधेयो वेदाक्षरसमवायप्रविष्टो भारतो वशः—प्रतिज्ञा-योगन्धरायणम् (त्रिवेन्द्रम्) पृ० २४।

२. कालिदास—मेघदूत १, ३१।

३. धम्मपदट्ठकथा—अप्पमादवग्ग, उदेनवत्थु के अन्तर्गत घासुलदत्ताय वत्थु। यही कथा थोड़े अन्तर से प्रतिज्ञायौगन्धरायण में है।

उन लोगो ने जा कर पज्जोत से वह बात कही। पज्जोत ने आ कर उदेन से कहा—बात तो तुम ठीक कहते हो, मैं तुम्हे छोड दूंगा, पर तुम्हे ऐसा मन्त्र आता है, वह मुझे सिखा दो।

"सिखा दूँगा, पर क्या तुम मुझे ( गुरु बना कर ) अभिवादन करोगे ?"

"क्या! मै तुम्हे अभिवादन करूँगा ? कभी न करूँगा।"

"मैं भी न सिखाऊँगा।"

"तब तो जरूर तुम्हे ( छोड कर तुम्हारा ) राज्य दे दूँगा।"

"जो जी मे आय करो, मेरे शरीर के तुम मालिक हो, चित्त के तो नही।"

पज्जोत ने देखा, यो तो उदेन काबू न आयगा, उसे एक उपाय सूझा। उस ने उदेन से पूछा—दूसरा कोई तुम्हे अभिवादन करे तो उसे सिखा दोगे ? उदेन के हाँ करने पर उस ने कहा—हमारे घर की एक कुबडी तुम से सीखेगी, वह चिक के अन्दर बैठा करेगी, तुम बाहर बैठ कर मन्त्र सिखाया करना। उधर पज्जोत ने अपनी बेटी वासुलदत्ता ( वासवदत्ता ) से कहा—एक कोढ़ी एक अनमोल मन्त्र जानता है, तुम्ही उस से सीख सकती हो, तुम चिक के अन्दर बैठा करना, वह बाहर से सिखाया करेगा।

इस तरह वासुलदत्ता मन्त्र सीखने लगी। लेकिन वह पाठ ठीक न दोहराती, और एक दिन उदेन गुस्से मे चीख उठा—अरी कुबड़ी, बड़े मोटे तेरे होठ और जबडे हैं! ऐसे बोल!

—क्या बकता है बे दुष्ट कोढ़ी ? मेरे ऐसी कुबड़ी होती है ?

उदेन ने चिक को एक किनारे से हटा कर देखा और सब भेद खुल गया! उस दिन मन्त्र और शिल्प की ओर पढ़ाई न हुई और वह बाहर भी न बैठा रहा। रोज वही कुछ होने लगा। राजा बेटी से नित्य पूछता—शिल्प

सीख रही है न ? वह कहती, सीख रही हूँ। कुछ दिन बाद युवक और युवती एक षड्यन्त्र रच कर उज्जेनि से भाग निकले।

जो हुआ, अच्छा ही हुआ। कैदी उदेन की अपेक्षा दामाद उदेन पज्जोत की महत्वाकांक्षा पूरी करने मे अधिक सहायक हो सकता था।

## § १००. कोशल-मगध-युद्ध, शाक्यों का संहार

उधर इसी बीच कोशल और मगध मे युद्ध जारी था। राजा बिम्बिसार के बाद उस का बेटा अजातसत्तु ( अजातशत्रु ) मगध की गद्दी पर बैठा। उस के गद्दी पर बैठते ही कोशल और मगध मे किसी कारण अनबन हो गई, और राजा महाकोसल ने अजातसत्तु की विमाता के दहेज मे काशी का जो गाँव दिया था उसे पसेनदि न जब्त कर लिया। अजातसत्तु ने युद्ध-घोषणा कर दी। 'वह तरुण और समर्थ था जब कि पसेनदि बूढ़ा था।' पसेनदि तीन लडाइयो मे हारा, किन्तु चौथी बार उस ने अजातसत्तु को कैद कर लिया। जब अजातसत्तु ने काशी के गाँव पर अपना दावा छोड़ दिया, तब पसेनदि ने न केवल उसे छोड़ दिया, प्रत्युत अपनी लडकी वजिरा से उस का विवाह भी कर दिया, और दहेज मे फिर वही कासी-गाम दे दिया।

तीन बरस पीछे पसेनदि शाक्य-राष्ट्र की सीमा पर गया हुआ था जब उस के बेटे विडूडभ ( विडूरथ ) को सेनापति दीघ कारायण ने राजा बना दिया। पसेनदि अपने दामाद के पास मदद लेने की आशा से राजगह गया, पर नगर के बाहर ही उस का देहान्त हो गया। अजातशत्रु ने बड़े आदर से उस का शरीर-कृत्य किया। पिछले युद्ध मे बार बार जीतने और अन्त मे फिर अजातशत्रु के छुट जाने से मगध की शक्ति बढ़ ही गई होगी।

विडूडभ अपने एक और कारनामे के लिए भी प्रसिद्ध है। उस ने अपने पड़ोसी शाक्यों के गण को जड़ से उखाड़ देने का निश्चय कर रक्खा था। उस समय की कहानियो के अनुसार इस का एक व्यक्तिगत कारण था। कहते हैं राजा पसेनदि ने शाक्यो की लड़की से विवाह करने

की इच्छा प्रकट की, और उस का प्रस्ताव आने पर शाक्य अपने सन्थागार मे उस पर विचार करने को जुटे। उन्हे अपने कुल का इतना अभिमान था कि राजा पसेनदि को कोई शाक्य कन्या देने से उन के विचार में उन का कुल-वश टूट जाता। महानामा शाक्य ने कहा—मेरी सोलह बरस की लडकी वासभखत्तिया है जो एक दासी से पैदा हुई थी, वही भेज दी जाय। राजा पसेनदि का उसी से विवाह हो गया, वह दासी की लडकी थी यह बात छिपा रक्खी गई। उसी का बेटा विडूडभ था। सोलह बरस की उम्र में वह अपनी माँ के साथ कपिलवत्थु गया। जब वह वहाँ से लौटता था, तब जिस चौकी पर वह बैठा था उसे एक दासी दूध-पानी ( खीरोदक ) से धोने लगी कि दासी-पुत्र इस पर बैठ गया है। विडूडभ को वह बात मालूम हो गई। कहते हैं, उस ने उसी समय कहा कि ये लोग इस चौकी को दूध-पानी से धोते हैं, मैं राजा होने पर इसी को इन के लहू से धोऊँगा।

राजा पसेनदि को बात मालूम हुई तो उस ने बुद्ध से शाक्यो की शिकायत की। बुद्ध ने कहा—"शाक्यो ने अच्छा नहीं किया, उन्हे अपनी समजातिक लडकी देनी चाहिए थी, किन्तु वासभखत्तिया एक राजा की बेटी है, और क्षत्रिय राजा के घर उस का अभिषेक हुआ है माता के गोत्र से क्या होता है? पिता का गोत्र ही प्रमाण माना जाता है, सो पुराने पण्डितो ने भी कहा है।" उस समय वह बात टल गई, पर विडूडभ के मन का सकल्प तो न टला था। राज पाने के बाद तीन बार उस ने शाक्यो पर चढ़ाई करनी चाही, पर बुद्ध के समझाने से प्रत्येक बार रुक जाता रहा। चौथी बार वह न रुका। बुद्ध ने कहा—शाक्यो को अपने किये का फल मिलेगा ही। और विडूडभ ने उन पर चढ़ाई कर, कहते हैं, उन के दूध-पीते बच्चो को भी क़तल करने से न छोड़ा[1]।

---

१. भद्दसाल जातक ( ४६५ ) पच्चुप्पन्नवत्थु।

## § १०१. मगध-अवन्ति की होड़, वृजि-संघ का अन्त

कोशल ने जब से स्वतन्त्र काशी-राज्य की समाप्ति कर दी थी ( § ८३ ), तब से वत्स और मगध की सीमाये परस्पर मिलती थी। वत्स और अवन्ति के मिल जाने के बाद से अब मगध की सीमा अवन्ति से छूने लगी। साथ ही कोशल की हार के बाद से मगध और अवन्ति ये दो ही भारतवर्ष के बड़े राज्य रह गये। अवन्ति का राजा चण्ड प्रद्योत और मगध का अजातशत्रु दोनो ही महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्य के भूखे थे। पड़ोस के कारण दोनो की प्रतिद्वन्द्विता और बढ़ गई। अजातशत्रु ने प्रद्योत के डर से राजगृह को नये सिरे से किलाबन्दी शुरू कराई। प्रद्योत की मृत्यु ( ५४५ ई० पू० )[1] से उस प्रतिद्वन्द्विता का अन्त हुआ।

जिस रात भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, कहते हैं कि ठीक उसी रात अथवा अजातशत्रु के राज्य के छठे बरस मे[1] चण्ड प्रद्योत के बाद पालक उज्जयिनी की गद्दी पर बैठा, और उस ने २४ बरस राज्य किया। पालक से अजातशत्रु को वैसा डर न था। उधर से निश्चिन्त हो उस ने घर के नज़दीक अपनी शक्ति सगठित करने को ओर ध्यान लगाया।

अजातशत्रु की आँख अपने पड़ोसी वृजि-सघ पर लगी थी। वृजि-संघ उस समय भारतवर्ष के समृद्ध सम्पन्न और स्वतन्त्र राष्ट्रो मे प्रमुख था। राजा प्रसेनजित् के समय एक बार कोशल की सेनाओ ने उस पर चढ़ाई की थी। समकालीन दन्तकथाओ ने उस के लिए भी एक मनोरञ्जक व्यक्ति-गत कारण ढूढ़ निकाला था! कहते हैं, प्रसेनजित् का सेनापति बन्धुल मल्ल था। उस को स्त्री मल्लिका के पहले तो देर तक गर्भ ही न रहता था, बाद जब एक दफा रहा तो उस का जी अजब बातो के लिए करने लगा। उस ने पति से कहा, तो पति ने पूछा—क्या जी करता है?—'मेरा जी करता है, वेसालि नगर मे गण-राज-कुलो को जो अभिसेक-मंगल-पोखरनी है उस में

1. रूपरेखा में आरज़ी तौर से स्वीकार किये तिथिक्रम के अनुसार।

उतर कर नहाऊँ और पानी पिऊँ!'—वह एक गजब की स्त्री थी! किसी बाहरी आदमी के लिए वेसाली की उस पोखरनी मे उतरना मौत से खेलना था। लेकिन बन्धुल अपनी स्त्री की बात को कैसे टाल सकता था? और जब उस प्रसग मे उसे लिच्छवियो से लडना पडा, मल्लिका उस के रथ की बागे थामे हुए सारथी का काम करती रही! और वे दोनो लिच्छवियो की पोखरनी मे नहा कर ही लौटे।

मल्लिका की उमग पूरा करने के लिए हो अथवा कोशल राजा की महत्त्वाकाक्षा पूरा करने के लिए, कोशल की सेनाओ ने राजा प्रसेनजित् के समय एक बार वृजि-गण पर आक्रमण किया था, सो निश्चित है। बाद, राजा प्रसेनजित् ने अपने इस विश्वस्त सेनापति और उस के सब लडको को ईर्ष्या के मारे धोखे से मरवा दिया, और उस के भानजे दीघ कारायण को सेनापति बनाया। उसी दीघ कारायण की सहायता से विडूडभ ने राजा के विरुद्ध विद्रोह किया था[1]।

कोशल के बाद अब मगध की नजर वृजि-सघ पर लगी थी। विडूरथ ने जैसे शाक्य-गण को उखाड डाला था, अजातशत्रु उसी तरह वृजि-सघ का अन्त कर देना चाहता था। वह कहता—'चाहे ये वज्जि बडे समृद्ध (महिद्धिके) हैं, चाहे इन का बडा प्रभाव है (महानुभावे), तो भी मै इन्हे उखाड़ डालूँगा, नष्ट कर डालूँगा, अनीति-मार्ग मे फँसा दूँगा।' और जब बुद्धदेव अन्तिम बार राजगह के बाहर गिज्झकूट (गृध्रकूट) मे ठहरे थे, अजातशत्रु के अमात्य सुनीध और वस्सकार नये सिरे से राजगह की किलाबन्दी करवा रहे थे। अजातसत्तु ने मगध महामात्र वस्सकार ब्राह्मण को बुला कर कहा—भगवान् के पास जा कर उन का कुशल-क्षेम पूँछ कर उन्हे मेरी इच्छा का समाचार कह दो, और देखो वे उस पर क्या कहते है, जो कुछ कहे मुझे लौट कर बताना।

---

१. भद्दसाल जातक (४६५), पच्चुप्पन्नवत्थु।

जब वरसकार वहाँ पहुँचा, और उस ने वह चर्चा की, बुद्धदेव ने आनन्द से पूछा—क्यो आनन्द तुम ने क्या सुना है, क्या वज्जियो के जुटाव ( सन्निपात ) बार बार और भरपूर होते हैं ( अर्थात् उन मे बहुत लोग जमा होते है ) ?

—श्रीमन्, मैने ऐसा ही सुना है कि वज्जी बार बार इकट्ठे होते, और उन के जुटाव भरपूर होते हैं।

—जब तक आनन्द, वज्जियों के जुटाव बार बार और भरपूर होते हैं, तब तक आनन्द, उन की बढ़ती की ही आशा करनी चाहिए न कि परिहाणि की।

इसी प्रकार बुद्ध ने आनन्द से निम्नलिखित प्रश्न और पूछे—क्यो आनन्द, तुम ने क्या सुना है, क्या वज्जि इकट्ठे जुटते, इकट्ठे उठते ( उद्यम करते ), और इकट्ठे वज्जीकरणीयों ( अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्यो ) को करते हैं ? क्या वज्जी ( सभा द्वारा ) बाकायदा कानून बनाये बिना कोई आज्ञा जारी नहीं करते, बने हुये नियम का उच्छेद नही करते, और नियम से चले हुए पुराने वज्जीधम्म ( राष्ट्रीय कानून और संस्थाओ ) के अनुसार मिल कर बर्त्तते हैं ? क्या वज्जी वज्जियो के जो वृद्ध-बुजुर्ग हैं उन का आदर-सत्कार करते, उन्हें मानते-पूजते और उन की सुनने लायक बातो को मानते हैं ? क्या वज्जी जो उन की कुल-स्त्रियाँ और कुलकुमारियाँ हैं उन पर जोर-जबर्दस्ती तो नहीं करते ? क्या वज्जी जो उन वज्जियो के अन्दरले और बाहरले वज्जी-चैत्य (जातीय मन्दिर—अरहतो की समाधें) है, उन का आदर-सत्कार करते और उन के पहले दिये हुए धार्मिक बलि को नहीं छीनते ? क्या वज्जियो मे अरहतो की रक्षा करने का भाव भली प्रकार है ? क्या बाहर के अरहत उन के राज्य ( विजित ) मे आ सकते हैं ? और आये हुए सुगमता से विचर सकते हैं ?[१]

---

१. दे० * २३।

इन सातों प्रश्नो का उत्तर बुद्धदेव को वज्जियो के पक्ष मे मिला, और इस लिए उन्हो ने प्रत्येक उत्तर सुन कर उन के अभ्युदय और वृद्धि की ही आशा प्रकट की। बुद्धदेव जब वज्जि-रट्ठ मे थे, तब स्वय उन्हो ने वज्जियो को ये सत्त अपरिहाणि-धम्म अर्थात् अवनति न होने की सात शर्त्तें समझाई थी।

अजातशत्रु ने समझ लिया, इस दशा मे वृजि-गण जीता नहीं जा सकता, और इस लिए उस ने वस्सकार को प्रेरित किया कि अपने गुप्तचरो और रिश्वत द्वारा वृजि-सघ मे फूट का बीज बोवे, और उन्हे अपने कर्त्तव्य से डिगा दे। बुद्ध के निर्वाण के चार बरस बाद (५४० ई० पू०)[1] उसे वैशाली का विजय करने मे सफलता हुई।

## § १०२. अवन्ति में फिर विप्लव, गान्धार-राज्य का अन्त

अवन्ति का राजा पालक प्रजापीडक था। अपने भाई गोपाल-दारक को उस ने कैद कर रक्खा था। उस के पीडन से तंग आ कर उज्जयिनी की जनता ने उसे गद्दी से उतार दिया, और उस के स्थान मे गोपालदारक को कैद से छुड़ा कर गद्दी पर बैठाया। सम्भवतः गोपाल-दारक (या गोपाल-बालक) का ही दूसरा नाम विशाखयूप था, जिस ने पचास बरस उज्जयिनी मे राज किया।

मगध मे इसी समय अजातशत्रु का उत्तराधिकारी राजा दर्शक था, जिस का राज्य-काल अन्दाज़न ५१८-४८३ ई० पू० कूता गया है। मगध और अवन्ति के राज्यो की, अथवा भारतवर्ष के केन्द्र-भाग की, इस समय की कोई विशेष घटना प्रसिद्ध नहीं है। किन्तु छठी शताब्दी ई० पू० के अन्त (लग० ५०५ ई० पू०) मे पारस के सम्राट् दारयवउ[2] ने भारतवर्ष का उत्तर-पच्छिमी छोर जीत कर गान्धार-राज्य की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया। इस घटना का पूरा वृत्तान्त जानने के लिए, तथा भारतवर्ष के इतिहास

---

१. रूपरेखा में स्वीकृत तिथिक्रम के अनुसार।

२. आधुनिक फ़ारसी रूप—दारा, अंग्रेज़ी—Darius

का पारस और मध्य एशिया के इतिहास के साथ जो सदा सम्पर्क बना रहा है उसे भी ठीक ठीक समझने के लिए प्राचीन पारस तथा उस के साम्राज्य के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है।

## १०३. पच्छिमी जगत् की आर्य जातियाँ और राज्य

दजला-फरात काँठों और उन के पच्छिम की प्राचीन सभ्य जातियो का और उन के साथ भारतीय आर्यों के सम्पर्क का उल्लेख पीछे ( §§६८ उ, ८४ उ ) किया जा चुका है। उन सामी ( सेमेटिक ) जातियो के पच्छिम और पूरब दोनो तरफ—आधुनिक लघु एशिया और फारिस मे—अढ़ाई हज़ार ई० पू० के करीब से आर्य जातियाँ आ पहुँची थी। पच्छिम तरफ लघु एशिया मे खत्ती या हत्ती नाम की आर्य जाति आई, और पूरब तरफ ईरानी आर्य। वे कहाँ से आये, यह प्रश्न बड़े विवाद का है, और उसे यहाँ छेड़ना अभीष्ट नहीं है। ईरानी आर्यों का ईरान मे उत्तरपच्छिम पंजाब से जाना रूपरेखा में माना गया है (ऊपर §§१७, ३३, ✻✻ ५, १२)। १२०० ई० पू० के करीब हत्तो के राज्य को पच्छिम से आने वाली एक और आर्य जाति ने छीन लिया। वे लोग यूनान के उत्तरपूरब थ्रेस और फ्रुजिया के रहने वाले थे, इसी कारण उस शाखा को थ्रेस-फ्रुजी कहा जाता है। हमे उन के इतिहास से विशेष मतलब नहीं है। उन से अधिक वास्ता हमे यूनान से पड़ेगा। यूनान मे भी उसी प्राचीन काल से, अर्थात् लगभग २५०० ई० पू० से, एक और प्रतिभाशाली आर्य जाति बस रही थी। वह जाति अपने देश को हेलास तथा अपने को हेलेन कहती थी। हेलास का ही एक पूर्वी प्रदेश इओनिया था, और उसी के नाम से पारसी यौन और हमारे योन, यवन तथा यूनान शब्द निकले हैं।

किन्तु यूनान से भी अधिक प्रयोजन हमे ईरान से है। ईरान का मूल रूप है ऐर्यान, जिस का अर्थ है ऐर्यों अर्थात् आर्यों की भूमि। शुरू में ऐर्यान

भारतवर्ष के पच्छिम हिन्दूकुश के ठीक साथ लगते प्रदेश का ही नाम था, किन्तु बाद मे ऐर्यान की जातियाँ दजला-फरात के सामी राज्यो की सीमा तक और आधुनिक कास्पियन सागर तक फैल गई, और वह समूचा देश ऐर्यान हो गया।

इन सब आर्य जातियो की अपने पडोसी सभ्य हामी और सामी राज्यो के साथ लगातार मुठभेड मेल-जोल और चढाउपरी जारी थी। इस पारस्परिक सम्पर्क से आर्य और अनार्य दोनो ने एक दूसरे से बहुत कुछ सीखा। आध्यात्मिक विचार धर्म और सस्कृति मे सामी जातियाँ भले ही आर्यों से पीछे रही हो, भौतिक सभ्यता मे वे बढी-चढी थीं। फरात के उत्तरी कोँठे मे पदन अरम नाम का एक प्रान्त था, जिसे अब मेसोपोटामिया[1] कहते है। ईरानी आर्यो की प्राचीन लिपि, जिस मे उन के साधारण कारोबार की लिखत-पढ़त चलती थी, उसी अरम की अरमइक लिपि से निकली थी।

इसी प्रकार यूनानी आर्यो ने कानान के नाविक लोगो से नौ-विद्या, व्यापार करना तथा लिखना सीखा था। प्राचीन यूनानी लिपि जिस से आज-कल की सब युरोपी लिपियाँ निकली है, कानानी अक्षरो से ही पैदा हुई थी।

आर्यावर्त्त ऐर्यान और हेलास आदि के आर्य भाषा धर्म-कर्म रीति-रिवाज आदि मे एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते थे। उन के देवी-देवता भी बहुत कुछ एक से थे। ईरानी आर्य अग्नि और सूर्य्य की पूजा करते, यज्ञ करते, और यज्ञों मे सोम का हवन करते थे। सोम को वे लोग होम कहते, क्योकि वैदिक स प्राचीन ईरानी भाषा मे ह बन जाता था। छठी शताब्दी ई० पू० मे या उस से पहले जरथुस्त्र नाम के एक बड़े महात्मा धर्मसुधारक ईरान में हुए जिन्हो ने वहाँ के धार्मिक जीवन मे भारी संशोधन किया। उन की शिक्षाओ विषयक गाथायें अवस्ता नामक पवित्र पुस्तक मे संकलित हैं।

---

१. मेसोपोटामिया का शब्दार्थ है मध्य, दोआब।

## § १०४. प्राचीन ईरान और उस के पड़ोसी

### अ. प्राचीन ईरान

ऐर्यान की नदियो, पर्वतो, प्रदेशो के नाम भी बहुत कुछ आर्यावर्त्त के नामो की तरह थे। उन की विभिन्न जातियो के नामों से ऐर्यान के प्रदेशों के नाम बन गये। मद,[१] पार्स, पार्थव (या पह्लव) आदि उन की प्रसिद्ध जातियाँ थी। मदो या मन्दो का प्रदेश आधुनिक ईरान के उत्तरपच्छिम भाग मे अश्शुरो के राज्य से लगता और पहले बहुत समय तक उन की अधीनता मे था। पार्सों का प्रदेश मदो के दक्खिन फारिस की खाड़ी पर था, वही आधुनिक फार्स प्रान्त है। उसी के कारण, जब पार्सों की प्रधानता हुई, समूचा देश पारस कहलाने लगा। पार्थव या पह्लव प्रदेश को आधुनिक खुरासान[२] सूचित करता है। पार्थव देश के पच्छिम, जिसे युरोपियन लोग कास्पियन सागर तथा अरब लोग दरिया ए-कुलज़ुम कहते है, उस के दक्खिन तट पर, एलबुर्ज़ पर्वतशृखला के उत्तर की मैदान की पट्टी मे जिसे अब मज़न्देरान कहा जाता है, वर्कान या वेह्र्कान नाम की ईरानी जाति रहती थी,—वेह्र्कान उन के नाम का पार्थव रूप था, और वर्कान पारसी[३]। इसी कारण ईरानी लोग उस समुद्र को भी वर्कान समुद्र कहते थे।

किन्तु प्राचीन ऐर्यान आजकल के ईरान से बहुत बड़ा और उत्तर तरफ दूर तक फैला हुआ था। हिन्दूकुश और आधुनिक ईरान के उत्तर आमू और सीर नदियो के उपजाऊ काँठे है। वे दोनों नदियाँ अराल 'सागर'

---

१. अंग्रेज़ी रूप Medes.

२. खुरासान का शब्दार्थ—पहाड़ी प्रदेश।

३. संस्कृत ग्रन्थों के वोकाण भी शायद वही हैं। यूनानी रूप—हुर्कान (Hyrcanae)।

मे गिरती हैं,—जिस के पच्छिम उस्त उर्त्त की मरुभूमि और फिर कास्पियन सागर है। कास्पियन पुराने जमाने मे उथले पानी और दलदलों के बढ़ाव द्वारा अराल तक फैला हुआ था, उस्त उर्त तब नही था। आमू का भारतीय नाम वक्षु था ( औक्सस् उसी का रूपान्तर है )। सीर का मूल आर्य नाम रसा या रहा था। आमू और सीर के काँठे तथा उन के पच्छिम मर्व और खीवा का वर्कान सागर तक फैला प्रदेश आजकल तुर्किस्तान कहलाता है, जिस की दक्खिनी सीमा अब फारिस का खुरासान प्रान्त तथा बन्दे-बाबा पर्वत हैं,—उस पर्वतशृङ्खला के उत्तर का बलख प्रान्त भी अब अफ़गानी तुर्किस्तान कहलाता है। पामीरो के पठार के पूरब, दरदिस्तान और तिब्बत के उत्तर, तथा चीन के कानसू प्रदेश के पच्छिम चीन साम्राज्य का सिम् कियांग प्रान्त है, उसे भी हम लोग चीनी तुर्किस्तान कहते हैं। इस प्रकार आजकल समूचा मध्य एशिया तुर्किस्तान है, और वह रूस अफगानिस्तान और चीन तीन शासनों मे बँटा हुआ है। तुर्क और हूण तातारी जातियाँ है। उन का मूल घर इर्तिश नदी और अल्ताई पर्वत के पूरब आमूर नदी तक था। प्राचीन काल मे वे वहीं रहते थे।

आधुनिक तुर्किस्तान का बडा भाग उस समय ऐर्यान मे सम्मिलित था। बलख का भारतीय नाम वाह्लीक और पारसी नाम बाख्धी और बाख्त्री थे। वह भारत और ईरान का साझा प्रदेश था। वाह्लीक नाम का एक जन शायद भारत-युद्ध के समय तक मद्र के साथ पजाब मे भी था[1]। बलख के उत्तर सीर नदी तक बोखारा-समरकन्द का इलाका है; उस का पुराना नाम सुगुदु या सुग्ध[2] था, और वह ऐर्यान का एकदम उत्तरपूरबी प्रदेश था। भारतवर्ष का कम्बोज देश सुग्ध के ठीक दक्खिनपूरब लगता था। सुग्ध के पच्छिम

---

१. प्रा० भा० ऐ० अ०, पृ० २६३।

२. यूनानी रूप—सुग्दियान ( Sogdiana )।

मर्गु और उवरज़्मिय ( आधुनिक ख्वारिज़म्[1] ) भी ईरानी प्रदेश थे जिन्हे अब मर्व और खीवा सूचित करते हैं।

हिन्दूकुश के दक्खिनपच्छिम अरगन्दाब नदी का काँठा है, जिस मे कन्दहार शहर है। अरगन्दाब का मूल रूप सरस्वती और उस का प्राचीन ईरानी रूप हरह्वैती या हरक्वैती था, जिसे यूनानी लोग अरखुती बोलते, जिस से अन्त मे अरगन्द-आब या अरगन्दाब हो गया। उस के प्रदेशो को भी हरह्वैती या हरउअती कहते, और वह भारतीय प्रदेश था। हरउअती नदी हएतुमन्त ( सेतुमन्त, आधुनिक हेलमन्द ) की एक धारा है। हएतुमन्त के निचले काँठे का प्रदेश ज़रक[2] ऐर्यान का सब से पूरबी प्रदेश था। बाद मे आठवी शताब्दी ई० पू० मे वहाँ शक लोगो के बस जाने से वह शकस्थान (आधुनिक सीस्तान) भी कहलाने लगा।

## इ. दाह और शक

इन प्रदेशो के उत्तर कुछ और ईरानी जातियाँ रहतीं थीं जो फिरन्दर और लुटेरी थी, और ऐर्यान के कृषको को सताया करतीं थीं। मर्गु और उवरज़्मिय के उत्तर जहाँ आजकल रूसी तुर्किस्तान के बार ( Steppes[3] ) है, तुर या तूरान प्रदेश था। वहाँ के लोग भी बहुत सम्भवतः ईरानी ही थे। कोहे-काफ या काकेशस पर्वत के उत्तर दक्खिनी रूस मे भी फिरन्दर ईरानी

---

१. यूनानी रूप खोरस्मी ( Chorasmii ), चौथी शताब्दी ई० का संस्कृत रूपान्तर—खरश्मि।

२. यूनानी रूप द्रंगियान ( Drangiana )।

३. वे Steppes पंजाब के बारों के केवल बड़े संस्करण हैं; दोनों की रचना एक सी है—सूखी ऊँची धूलि-धूसर ज़मीनें जिन के सपाट मैदान पर दूर तक छोटी छोटी विरल झाड़ियों के सिवाय कोई हरियावल नहीं दीखती। इसी लिए Steppe के अर्थ में बार शब्द का प्रयोग मैंने शुरू किया है। दे० भारतभूमि पृ० ३३-३४।

जातियाँ फैली हुईं थी। इधर सुग्ध के पूरब थियेन शान पर्वत तक तथा उस के दक्खिन समूचे आधुनिक चीनी तुर्किस्तान मे भी वैसी ही जातियाँ थी।

इन फिरन्दर जातियो मे मुख्य शक थे, और साधारणत सभी को शक कहा जाता है। फिरन्दर होने के कारण उन के देश का ठीक निश्चय नही किया जा सकता। चीन के पडोस से यूनान के उत्तर तक वे फैले हुए थे, और यूनानी ईरानी तथा भारतीय सभी उन्हे जानते थे। प्राचीन यूनानी उस समूचे देश को शको का देश ( Skythia ) कहते थे। प्राचीन ईरानियो को शको की तीन बस्तियो से विशेष वास्ता पडता था। एक को वे कहते थे सका तिग्रखौदा अर्थात् नुकीली टोपी वाले शक, वे लोग पामीर के नीचे सीर के काँठे पर रहते थे। दूसरे थे सका हौमवर्का, वे जरंक प्रदेश मे रहते थे, जो उन के कारण शकस्थान या सिजिस्तान ( आधुनिक सीस्तान ) कहलाने लगा। तीसरे थे सका तरदरया या समुद्र-तीर के शक, वे वर्कान सागर से काले सागर तक और उस के उत्तर फैले हुए थे। इन शको को उवारज्मिय ( खीवा ) और पार्थव ( खुरासान ) प्रदेश के ईरानी कृषक दाह ( दास, दस्यु ) विशेषण से भी पुकारते थे। तूरान इन्हीं दाहों का घर था। ये तीनो शक बस्तियाँ ८ वीं शताब्दी ई० पू० से निश्चय से विद्यमान थी।

भारतवर्ष के इतिहास मे हमे सीर काँठे के तथा शकस्थान के शको से ही विशेष वास्ता पडेगा। शको की बोली भी आर्य थी[१]।

---

१. ईरान-प्रवासी यूनानी वैद्य हिरोदोत ( ५ वीं शताब्दी ई० पू० ) ने शको और उन के देवताओ के जो नाम लिखे है, प्रथमत उसी से यह परिणाम निकाला जाता है। किन्तु विदेशी भाषा में उद्धृत शब्दों का मूल रूप पहचानना बहुत कठिन है, इसी लिए किसी किसी का मत है कि वे लोग फ़िन-उग्री थे। रूस के उत्तर-पच्छिमी छोर पर फ़िनलैंड के निवासी जिस नस्ल के है वह फ़िन-उग्री कहलाती है, और वह तातारी वंश की एक शाखा है, जिस की दूसरी शाखायें तुर्क हूण आदि

थियेन शान पर्वत चीनी तुर्किस्तान के ठीक उत्तर है। थियेन शान चीनी शब्द है, जिस का अर्थ है देवताओ का पर्वत। भारतीय आर्यों को शकों के उस प्रदेश का बहुत धुँधला परिचय था, जिस मे कल्पना और गप्प खूब मिली हुई थी। विद्वानो ने पता निकाला है कि हमारे वाङ्मय मे जिस उत्तर कुरु देश का नाम मिलता है, वह इसी थियेन शान के आँचल मे था[1], और उस के पूरब हूणों का देश था[1] जिस का हमारे पूर्वजो को शायद पता न था।

## § १०५. हखामनी साम्राज्य तथा उत्तरपच्छिम भारत में पारसी सत्ता

ईरान के आर्यों मे पहले तो मदो की बडी सत्ता रही, फिर पार्स आगे बढ़े। ७ वीं शताब्दी ई० पू० मे पार्स मे हखामनि नामक व्यक्ति ने एक राजवंश स्थापित किया जो आगे चल कर सम्राटो का वश बन गया। इसी

---

हैं। कइयों के मत में शक लोग मिश्रित जाति के थे। अवस्ता में हूनु शब्द है, जिस का अर्थ सूनु अर्थात् पुत्र किया जाता रहा है। परन्तु डा० जीवनजी जमशेद-जी मोदी का कहना है कि बहुत जगह उस का अर्थ हूण है, और अवस्ता के अनुसार हुनु या हूण लोग तूरान के निवासी थे (भं० स्मा० पृ० ६४ प्र)। किन्तु साथ ही वे कहते हैं कि ईरानियों और तूरानियों के पूर्वज एक ही थे, दोनों का धर्म भी लगभग एक था (वहीं पृ० ७६-७७)। इस दशा में अवस्ता के तूरानी हूनुओं और चीनी लेखकों के हियंगनू को (दे० नीचे § १६०), जिन्हें बाद के इतिहास में हूण कहा गया है, दो भिन्न भिन्न जातियाँ मानना होगा। दोनों में सम्पर्क और मिश्रण होते रहने की सम्भावना है, और यह भी असम्भव नहीं कि एक का नाम दूसरे पर उस मिश्रण के कारण जा चिपका हो। किन्तु हम जब हूण शब्द का प्रयोग करते हैं हमारा अभिप्राय चीन के हियगनू या पिछले वाङ्मय के हूणों से ही होता है। शकों के विषय में अब तो यह निश्चित ही है कि वे आर्य वंश के थे; दे० नीचे § १६१ तथा ॐ २८।

१. इं० आ० १९१९, पृ० ६५ प्र।

वंश में दिग्विजयी सम्राट् कुरु[1] हुआ (५५९—५२९ ई० पू० ), जिस के समय समूचा ऐर्यान हखामनियों की सत्ता में आ गया । पच्छिम तरफ उस ने बावेरु से मिस्र तक तथा पशिया की अन्तिम यूनानी बस्तियों तक सब प्रदेश जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिये । हेलस की बस्तियाँ उस समय ईजियन सागर के दोनों तरफ थीं, और उन में से पूरबी अष या आष (एशिया) और पच्छिमी युरोप कहलातीं थीं । अष या आष का अर्थ उदय, और युरोप का अस्त था । ये दोनों शब्द उस समय और बहुत ज़माना बाद तक उन्हीं बस्तियों के लिए परिमित थे, महाद्वीपों के नाम न थे ।

कुरु के वे विजय विश्व के इतिहास में एक नये युग के आरम्भ को सूचित करते हैं । प्राचीन हामी और सामी साम्राज्यों की शक्ति आर्य जातियों के हाथ में चली जाना एक महान् घटना थी, जिस के कारण छठी शताब्दी ई० पू० को मानव इतिहास में एक युगान्तर का समय माना जाता है ।

पूरब तरफ कुरु ने बाख्त्री, शकों और मकों, तथा पक्थों और थतगु[2] लोगों के भारतीय प्रदेशों को भी जीत लिया । शकों का प्रदेश शकस्थान (आधुनिक सीस्तान) और मकों का मकरान था । पक्थ आधुनिक पठानों के पूर्वज थे । थतगु कौन थे उस का ठीक निश्चय नहीं हो सका, पर वे पक्थों के ही पड़ौसी कोई अफ़गान कबीला थे[3] । हिन्दूकुश पर्वत और काबुल (कुभा) नदी के बीच कपिश देश में दो भारतीय जातियाँ रहतीं थीं जिन के नाम आष्टक या अश्वक[4] कुछ ऐसे थे । उन की राजधानी कापिशी थी । कुरु ने कापिशी नगरी को नष्ट कर उन दोनों जातियों को भी अपने अधीन किया ।

---

१. कुरुष् (Cyrus) में जो अन्तिम ष् है वह कर्त्तृ-कारक (प्रथमा विभक्ति) एकवचन का प्रत्यय है, जैसे संस्कृत कुरुस् या कुरुः में स् या विसर्ग ।

२. यूनानी रूप—सत्तगुदी (Sattagydae)

३. वे आजकल के खटकों के पूर्वज तो न थे ?

४. दे० नीचे § ११३ ।

सीर-काँठे के उत्तरी शक भी पारसी साम्राज्य के अधीन हो गये । मकरान के रास्ते कुरु ने आगे आधुनिक सिन्ध प्रान्त पर भी चढ़ाई करनी चाही, पर उस मे उस की बुरी हार हुई, और वह केवल सात साथियों के साथ बच कर भागा ।

कुरु के बाद इस वंश का प्रसिद्ध राजा विश्तास्प का पुत्र दारयवहु (५२१—४८५ ई० पू० ) हुआ । उस ने अपने एक जलसेनापति स्कुलाक्स को ( ५१६ ई० पू० के बाद कभी ) भारतवर्ष की तरफ सिन्ध नदी का रास्ता जाँचने के लिए भेजा । पक्थो के प्रदेश मे काबुल नदी में अपना बेड़ा डाल कर वहाँ से बहते हुए सारी सिन्ध नदी की यात्रा कर स्कुलाक्स समुद्र के किनारे किनारे मिस्र देश के तट तक पहुँच गया । उस के बाद दारयवहु ने कम्बोज ( कम्बुजिय ), गान्धार का पच्छिमी भाग, और सिन्धु प्रदेश[1] जिसे पारसी लोग हिदु ( हिन्दु ) कहते थे, जीत लिया ।

तक्षशिला की उस समय से अवनति हो गई । अपने शिलालेखों मे दारयवहु अपने आप को बड़े अभिमान से पेर्य पेर्यपुत्र कहता है । उस के

---

१. पारसी हखामनी साम्राज्य का हिदु आजकल का सिन्ध प्रान्त नहीं, प्राचीन सिन्धु ही होना चाहिए । सिन्धु के विषय में दे० ऊपर §§ ३४, ४४, ८२, ८४उ । डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी स्वय यह मान कर कि सिन्धु आजकल का सिन्ध न था, पारसी प्रकरण में हिदु का अर्थ सिन्ध प्रान्त करते हैं, क्योंकि यूनानी लेखकों के अनुसार उस के पूरब मरुभूमि थी । किन्तु वह मरुभूमि सिन्ध के पूरब का थर न हो कर सिन्धसागर दोआब का थल थी । थल के विषय में दे० भारतभूमि, पृ० ३४ । मकरान की तरफ से जब कुरु हार कर लौट गया था, तब सिन्ध पारसियों के हाथ में हो ही कैसे सकता था ? सिन्धु सिन्ध न था, इस के पक्ष में यह एक और प्रमाण है । किन्तु भारतीय इतिहास के प्रायः सभी लेखकों ने हिदु को आधुनिक सिन्ध मानने की गलती की है ।

साम्राज्य के २३ प्रान्त थे और उन प्रान्तो के शासक त्थ्रपावन् या त्थ्रप कहलाते थे। गान्धार कम्बोज और सिन्धु भी उन प्रान्तो मे से थे, और साम्राज्य के सब प्रान्तो से अधिक आमदनी सिन्धु प्रान्त से ही होती थी।

दारयवहु का उत्तराधिकारी सम्राट् खृषयार्श (Xerxes) था (४८५—४६५ ई० पू०)। उस ने यूनान की पच्छिमी (युरोप वाली) बस्तियों पर भी चढाई की (४८० ई० पू०), उस समय उस की सेना मे गान्धार और सिन्धु के सैनिक, तथा पजाब के एक और हिस्से के भाड़े के सैनिक भी थे। पारसी साम्राज्य ने उत्तर भारत को पच्छिमी एशिया मिस्र यूनान आदि देशो के साथ पूरी तरह जोड दिया। साम्राज्य की सुरक्षा मे व्यापार अधिक सरलता से चलने लगा। भारतवर्ष और यूनान का पहला सम्पर्क शायद पारसी साम्राज्य द्वारा ही हुआ। भारतवर्ष की कपास और सूती कपड़े का परिचय यूनानियो को इसी युग मे हुआ। कपास को देख वे बहुत चकित हुए, और पहले पहल उस पौदे को ऊन का पेड कहते थे।

पाँचवी शताब्दी ई० पू० के अन्तिम भाग मे (लगभग ४२५ ई० पू०) भारत का उत्तरपच्छिमी आँचल हखामनी साम्राज्य से निश्चित रूप से स्वतन्त्र हो गया। किन्तु उस के बाद भी उस का एक चिह्न लगभग सात आठ सौ बरस तक बना रह गया। वह चिह्न था खरोष्ठी या खरोष्ट्री लिपि। पीछे (§ २३) कह चुके है कि भारतवर्ष मे आजकल जितनी लिपियाँ चलती हैं, सब की वर्णमाला एक ही है, और वह बहुत पुरानी है (§ ७३ इ)। केवल लिपि या वर्णों के निशानो मे धीरे धीरे परिवर्तन होता रहा है। उस वर्णमाला का पुराना नाम ब्राह्मी है। उस की प्राचीनतम लिपि को भी हम ब्राह्मी ही कहते हैं। वह हमारी आजकल की लिपियो की तरह बायें से दाहिने लिखी जाती थी। खरोष्ठी जो उत्तरपच्छिम भारत मे चलती थी उस से उलटी—दाहिने से बाये—लिखी जाती थी। वह कैसे पैदा हुई, ठीक नहीं कहा जा सकता। दो चीनी ग्रन्थो मे उस के उद्भव का वृत्तान्त दो तरह से दिया है। एक तो यह कि वह खरोष्ठ नामक आचार्य ने

चलाई, दूसरे यह कि वह भारत के पड़ोस के खरोष्ट्र नामक देश की लिपि थी। आधुनिक विद्वानों का अन्दाज़ है कि शायद प्राचीन पारसी की अरमइक लिपि से वह बनी। किन्तु है वह उत्तरपच्छिम भारत ही की लिपि; वह केवल वहीं पर पाई जाती है, और उस मे केवल वहीं की भाषाये—प्राकृत और संस्कृत—ही लिखी पाई गई है, कोई विदेशी भाषा नही। उस की वर्णमाला भी विदेशी नही, ब्राह्मी ही है। केवल उस मे इतनी कमी है कि ह्रस्व-दीर्घ का भेद नही किया जाता, और संयुक्त अक्षर का विवेचन ठीक नहीं होता, जैसे धर्म और ध्रम एक ही तरह लिखे जाते हैं। इन अपूर्णताओ और दाहिने तरफ से लिखे जाने के सिवा उस की और ब्राह्मी की पद्धति मे कोई अन्तर नहीं है।

## § १०६. मगध-सम्राट् अज उदयी, पाटलिपुत्र की स्थापना, अवन्ति मगध-साम्राज्य में सम्मिलित

इधर केन्द्र भारत मे पौन शताब्दी की शान्ति के बाद ५ वीं शताब्दी ई० पू० की दूसरी चौथाई मे मगध और अवन्ति की पुरानी कशमकश फिर से ताज़ा हो उठी। राजा दर्शक का बेटा और उत्तराधिकारी अज उदयी अपने दादा की तरह विजेता और साम्राज्य-कामी था। उस का राज्य-काल ४८३—४६७ ई० पू० अन्दाज़ किया गया है। उस ने गङ्गा और सोन के ठीक सगम पर बड़े मौके से पाटलिपुत्र नगर बसा कर राजगृह से अपनी राजधानी वहीं बदल दी। पाटलिपुत्र आधुनिक पटना का प्राचीन नाम है; पर सोन की धारा अब आठ मील पच्छिम खसक गई है, जिस से पटना अब ठीक संगम पर नहीं रहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने राज्यकाल के शायद दूसरे ही बरस मे उदयी ने अवन्ति-राज्य को जीत कर राजा विशाखयूप को अपने अधीन कर लिया। दस बरस बाद विशाखयूप की मृत्यु हुई; तब अज उदयी अवन्ति का सीधा राजा हो गया। किन्तु मगध और अवन्ति के शासनों को उस ने

अलग अलग रक्खा। अवन्ति का मगध-साम्राज्य मे सम्मिलित होना इस युग की सब से बडी घटना थी। अब पूरबी समुद्र से पच्छिमी समुद्र तक मगध का एकच्छत्र साम्राज्य हो गया, और केन्द्र भारत मे उस का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रह गया। शिशुनाक और बिम्बिसार के समय से वह सगठित होने लगा था, सवा सौ बरस की कशमकश के बाद उस के सब प्रतिद्वन्द्वी परास्त हुए। बिम्बिसार के समय तक अग देश जीता जा चुका था, अजात-शत्रु ने कोशल का पराभव किया, अवन्ति का मुकाबला किया, और वृजिसघ को अपने राज्य में मिलाया, अन्त में अज उदयी ने अवन्ति को जीत कर उसे केन्द्र भारत की एकमात्र प्रमुख शक्ति बना दिया। उस के वशज नन्दि-वर्धन और महानन्दी के समय अगले एक सौ बरस मे मगध का यह पहला चातुरन्त राज्य अपने अन्तिम उत्कर्ष पर पहुँच गया।

## १०७. मगध साम्राज्य का चरम उत्कर्ष, पहले नन्द राजा—नन्दिवर्धन और महानन्दी

अज उदयी के वंशज शैशुनाक राजा अनुश्रुति मे नन्द राजा कहलाते हैं, जैन अनुश्रुति तो उदयी को भी नन्दो मे गिनती है। अन्तिम शैशुनाक नन्द के कामज बेटे महापद्म ने बाद मे एक तरह से एक नया राजवश शुरू किया। क्योकि वह भी नन्द वश कहलाया, इस कारण पहले नन्दो से भेद करने के लिए उन्हे नव नन्द ( नये नन्द ) कहा गया। उन नव नन्दों के मुका-बले मे हम पहले ( शैशुनाक ) नन्दो को पूर्व नन्द कहते है।

अज उदयी के शायद तीन बेटे—अनुरुद्ध, मुण्ड और नन्दी—राजगद्दी पर बैठे। इन मे से एक ने नन्दी से पहले नौ बरस तथा दूसरे ने शायद नन्दी के बाद आठ बरस राज्य किया। नन्दी या नन्दिवर्धन का राज्यकाल चालीस बरस का था। उस का बेटा महानन्दी या महानन्द था, जिस का राज्यकाल ३५ बरस, तथा उस के बाद उस के बेटो का राज्यकाल केवल आठ बरस का अन्दाज किया गया है।

नन्दिवर्धन और महानन्दी प्रतापी सम्राट् थे। वर्धन उपाधि नन्दी के बड़प्पन की ही सूचक है। अवन्ति का राज्य निश्चय से नन्दिवर्धन के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले कुछ बरस तक उस ने अपने पिता की तरह अवन्ति राज्य की पृथक् सत्ता बनाये रक्खी, किन्तु बाद मे उसे मगध साम्राज्य का केवल एक प्रान्त बना दिया। अनुश्रुति मे राजा नन्द के नाम से जो बाते प्रसिद्ध है, उन मे से बहुत सी में नन्दिवर्धन की स्मृति सुरक्षित है। बौद्ध धर्म के इतिहास-विषयक प्राचीन ग्रन्थों में इस युग मे मगध के एक राजा कालाशोक या कामाशोक का उल्लेख है। वह भी नन्दिवर्धन का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है।

नन्द ( नन्दि )-वर्धन अथवा कालाशोक एक दिग्विजयी सम्राट् था। मगध के दक्खिनपूरब समुद्र-तट पर कलिग देश को जीत कर उस ने अपने साम्राज्य मे मिला लिया। कलिग या उड़ीसा उस युग मे जैन धर्म का अनुयायी हो चुका था। नन्द राजा वहाँ से विजय के चिन्ह-रूप मे जिन की प्रतिमाये ले आया। पच्छिमी सागर तक उस का साम्राज्य था ही। उत्तर तरफ कालाशोक ने कश्मीर तक दिग्विजय किया। यह निश्चित बात है कि गान्धार से पारसी सत्ता इस समय ( लगभग ४२५ ई० पू० ) उठ गई, और इस बात की बड़ी सम्भावना है कि नन्दिवर्धन ने ही उसे उठा दिया। किन्तु कालाशोक ने पञ्जाब और कश्मीर को अपने साम्राज्य का स्थायी भाग न बनाया था।

राजा नन्द अथवा कालाशोक ने पाटलिपुत्र के अलावा वैशाली को भी अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। उसी के राज्य-काल मे बुद्ध के निर्वाण के अन्दाजन सौ बरस पीछे वैशाली मे बौद्धो की दूसरी सगीति हुई। पाटलि-पुत्र मे भी तब विद्वान् शास्त्रकारो की सभा जुटा करती थी। सुप्रसिद्ध आचार्य पाणिनि नन्द राजा की उस सभा मे आये थे[1]। पाणिनि सिन्ध पार पच्छिम

---

१. राजशेखर—काव्यमीमांसा पृ० ५५।

गान्धार ( आधुनिक युसुफजई ) प्रदेश के रहने वाले थे । उत्तरापथ के दिग्विजय के कारण नन्दिवर्धन की सत्ता उस प्रदेश तक पहुँच चुकी थी।

नन्द राजा ने एक सवत् चलाया था, ऐसी एक प्राचीन अनुश्रुति भी चली आती है। उस नन्द-सवत् के चलन के कई एक चिह्न भी मिले है। नन्द-सवत् यदि कोई था तो वह इसी राजा नन्दिवर्धन का चलाया हुआ था, और उस के अभिषेक से, ४५८ ई० पू० मे, शुरू हुआ था।

नन्दिवर्धन का बेटा महानन्द या महानन्दी भी उसी की तरह प्रतापी था। वह अपनी राजनीति-कुशलता के लिए प्रसिद्ध था। उस के समय (अन्दाजन ४०९- ३७४ ई० पू०) मगध-साम्राज्य का उत्कर्ष ज्यो का त्यो बना रहा। राजा नन्द-विषयक अनुश्रुति के कई अश महानन्दी से सम्बन्ध रखते होगे।

महानन्दी की सन्तान अच्छी न थी। उस के लड़को ने आठ बरस के लिए केवल नाम का राज्य किया, जब कि वास्तविक शासन उन के अभिभावक महापद्म के हाथ मे था।

## § १०८. पूर्व-नन्द-युग में वाहीक (पञ्जाब-सिंध) और सुराष्ट्र के संघ-राष्ट्र

पञ्जाब और सिन्ध के राष्ट्रो का सिलसिलेवार वृत्तान्त प्राय: हमारे इतिहास मे नहीं आता, तो भी उन की झाँकी बीच बीच मे हमे मिल जाती है। उस का एक विशेष कारण भी है । यौधेय मद्र केकय गान्धार शिवि अम्बष्ठ सिन्धु सौवीर आदि राष्ट्र किस प्रकार स्थापित हुए, तथा समय समय पर भारतीय इतिहास मे क्या कुछ भाग लेते रहे सो हम ने देखा है। आरम्भ मे ये जन थे, धीरे धीरे एक आन्तरिक परिवर्त्तन द्वारा जनपद बनते गये ( § ८० )। इतिहास और कहानियों मे इस के अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं कि केकय गान्धार शिवि और मद्र आदि देशों की स्त्रियों को व्याहने मे

मध्यदेश के राजा और कुलीन लोग बड़ा गौरव मानते थे[1]। इस का कारण यह था कि उस समय पञ्जाब के लोग अपने सौन्दर्य और अपनी स्वतन्त्रता शिक्षा तथा संस्कृति के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। ब्रह्मवादी जनकों के समय में कठ मद्र केकय और गान्धार के विद्वानों के पास भारतवर्ष के सुदूर प्रदेशों के विद्यार्थी शिक्षा पाने जाते थे, सो हम देख चुके हैं। महाजनपद-युग में भी तक्षशिला में पढ़ने के लिए हजारों कोस चल कर राजा और रंक सभी की सन्तान पहुँचा करती थी, और गान्धार तथा मध्यदेश के बीच का रास्ता खूब सुरक्षित रूप से चलता था। पारसी सत्ता में चले जाने से गान्धार और सिन्धु की अवनति ज़रूर हुई, परन्तु वह दशा भी देर तक जारी न रही। पूर्व-नन्द-युग में व्याकरण के सुप्रसिद्ध आचार्य पाणिनि मुनि पच्छिमी गान्धार में प्रकट हुए। पुष्करावती प्रान्त में सुवास्तु (स्वात) नदी के काँठे में शालातुर[2] नामी स्थान पाणिनि की जन्मभूमि था। उन के ग्रन्थ अष्टाध्यायी से हमें पञ्जाब और सिन्ध की तत्कालीन राजनैतिक दशा की एक झाँकी मिलती है।

सिन्ध नदी के दाहिने तट पर गान्धार (पुष्करावती) और वर्णु[3] (आधुनिक बन्नू) से ले कर सतलज के काँठे तक तथा उन छहों नदियों के प्रवाह के साथ साथ समुद्र-तट तक के देश को, अर्थात् आधुनिक पञ्जाब और सिन्ध प्रान्तों को, उन दिनों वाहीकाः अर्थात् वाहीक देश कहते थे।

---

१. हरिश्चन्द्र की रानी शैब्या, दशरथ की कैकेयी, धृतराष्ट्र की गान्धारी और पाण्डु की माद्री के दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। बिम्बिसार की रानी क्षेमा भी माद्री थी। पौराणिक और पालि वाङ्मय में वैसे और दृष्टान्त अनेक हैं। सर्वाङ्गसुन्दर युवतियों की तलाश में उस समय के भारतवासियों की कहानियों को भी मद्र राष्ट्र का ही रास्ता सूझता था; दे० कुस जातक (५३१)।

२. य्वान च्वाङ् १, पृ० २२३, आ० स० रि० २, पृ० ९५।

३. अष्टाध्यायी ४, २, १०३; ४, ३, ९३।

पुष्करावती के पच्छिम कपिश की राजधानी कापिशी थी[1] । वाहीको मे अनेक छोटे छोटे राष्ट्र थे, और प्राय वे सभी सघ या गणराज्य थे । यौधेय त्रिगर्त्त मद्रक आदि वाहीक-राष्ट्रो का हम पीछे जिक्र कर चुके है । या तो वे शुरू से ही सघ राज्य रहे हो, या बीच मे किसी समय उन मे एक-राज्य की समाप्ति हो कर सघ-राज्य की स्थापना हो गई हो, किन्तु इस समय वे सब निश्चय से सघ थे। इन मे से बहुत से आयुधजीवि-सघ थे, अर्थात् उन मे प्रत्येक प्रजा को शस्त्रो का अभ्यास करना पडता और सदा युद्ध के लिए तैयार रहना पड़ता था। उन की कोई खडी भृत सेना न होती, आवश्यकता पडने पर सारी प्रजा ही सेना हो जाती, और सेनापति चुन लिये जाते। यौधेय क्षुद्रक मालव और त्रिगर्त्त आदि मे ऐसी प्रथा थी । त्रिगर्त्त राष्ट्र, जिस का प्रदेश आधुनिक काँगड़ा हुशियारपुर और जालन्धर था, उस युग मे त्रिगर्त्तषष्ठ कहलाता, वह छ जातियो का सयुक्त राष्ट्र था । इन राष्ट्रो के अतिरिक्त वृक दामनि पर्श्व आदि अनेक छोटे छोटे आयुधजीवि सघ पाणिनि के समय वाहीको मे थे, किन्तु उन के स्थान का ठीक निश्चय अभी तक नहीं हो सका।

मद्रक आदि सघ दूसरे किस्म के थे, वे आयुधजीवी न थे।

वाहीको के दक्खिन आधुनिक सुराष्ट्र ( काठियावाड़ ) मे प्रसिद्ध अन्धक-वृष्णि-सघ था जो सात्वत लोगो (§ ८०) का था। उस मे एक साथ दो राजन्य या मुखिया चुनने की प्रथा थी, और प्रत्येक राजन्य एक एक वर्ग का प्रतिनिधि होता। उन के अतिरिक्त मध्यदेश के वृजि भर्ग[2] आदि सघो का नाम भी हम अष्टाध्यायी मे पाते है, किन्तु ये सब अब मगध-साम्राज्य के अधीन या उस मे सम्मिलित हो चुके थे। उस साम्राज्य को पच्छिमी तट पर पञ्जाब से सुराष्ट्र और शायद विदर्भ तक स्वतन्त्र सघ राज्यो का आँचल घेरे हुए था।

---

१. अष्टाध्यायी ४, २, ९९ ।

२. कोसम्बी के नज़दीक ही सुंसुमारगिरि के भग्गों का उल्लेख बौद्ध वाङ्मय में भी है। वे वत्स-राज्य के अधीन थे।

## १०९. पाण्ड्य चोल केरल राष्ट्रों की स्थापना

( लगभग ४०० ई० पू० )

महाजनपद-युग मे ही मूळक अश्मक और अन्ध्र-राष्ट्रो के दक्खिन दामिल-रट्ठ या तामिल राष्ट्र मे तथा सिंहल के तट तक आर्य तापसो और व्यापारियो का जाना आना शुरू हो गया था सो देख चुके है । पाणिनि के समय के अर्थात् नन्दिवर्धन के राज्यकाल के ठीक बाद पाण्डु नाम की एक आर्य जाति ने उत्तर भारत से सुदूर दक्खिन जा कर पाण्ड्य राष्ट्र बसाया। बाद के यूनानी लेखकों के लेखो से पाया जाता है कि पाण्डु जाति का मूल स्थान या तो पञ्जाब और या शूरसेन प्रदेश था। मेगास्थनी ने कहानी लिखी है कि हिरेकल ( कृष्ण ) को भारतवर्ष मे पाण्डिया नाम की एक लड़की पैदा हुई, जिसे उस ने भारत के सुदूर दक्खिन का राज्य दिया; उस के राज्य मे ३६५ गाँव थे, और ऐसा प्रबन्ध था कि रोज एक गाँव अपना कर लाता। दूसरी शताब्दी ई० के रोमन भूगोल-लेखक प्तोलमाय (Ptolemaios) के अनुसार पाण्डु जाति पञ्जाब मे रहती थी।

प्राचीन पाण्ड्य राष्ट्र आजकल के मदुरा और तिरुनेवली जिलो मे था; कृतमाला, ताम्रपर्णी और वैगै उस की पवित्र नदियाँ थीं। उस की राजधानी मधुरा थी जिस का नाम स्पष्टत: उत्तरी मधुरा या मथुरा नगरी के नाम पर रक्खा गया था। वह अब तक मदुरा कहलाती है। पाण्ड्य राष्ट्र मे काली मिरच और मसाले होते तथा उस के तट पर समुद्र से मोती निकलते, जिन के व्यापार के कारण वह बहुत जल्द एक समृद्ध राष्ट्र बन गया।

पाण्ड्य के उत्तर चोल तथा उस के पच्छिम चेर या केरल राष्ट्र की स्थापना भी इसी समय के लगभग हुई। चोल राष्ट्र पूर्वी तट पर था । केरल मलबार का पुराना नाम है; त्रावंकोर और कोच्चि[1] भी उस मे सम्मिलित हैं।

---

१. पुर्त्तगाली लोग कोच्चि को कोचिं बोलते, जिस से अँग्रेज़ी कोचीन बन गया है।

इतिहास मे तामिल दामिल या द्रविड देश के चोल पाण्ड्य और केरल यही तीन सब से पुराने राष्ट्र थे, अर्थात् इन की स्थापना के बाद ही उस प्रान्त का इतिहास शुरू होता है। इन मे से पाण्ड्य राष्ट्र की स्थापना उत्तर से आर्य प्रवासियो ने आ कर की, सो हम जानते है। किन्तु चोल और केरल की स्थापना कैसे हुई, सो अभी तक ठीक नहीं कहा जा सकता।

## § ११०. सिंहल में आर्य राज्य, विजय का उपाख्यान

लगभग इसी समय सिंहल द्वीप मे भी एक आर्य जाति जा बसी और उस ने वहाँ एक प्रसिद्ध राष्ट्र की नीव डाली[1]। सिंहल का नाम सिंहल भी उसी जाति के नाम से हुआ। अरबी शब्द सरन्दीब, पुर्त्तगीज सिलॉओ, अंग्रेज़ी सीलोन सब उसी के रूपान्तर हैं। सिंहल की दन्तकथा है कि पहले वहाँ नाग लोग रहते थे, उन्हो ने उत्तर और पच्छिम के भाग से पहले निवासियो को निकाल दिया था। लका के उत्तरपच्छिमी भाग का नाम बहुत देर तक नाग-द्वीप या नाग-दीप था भी। वहाँ पर आर्यों के पहुँचने का वृत्तान्त भी सिंहली दन्तकथा तथा बौद्ध धर्म्म की अनुश्रुति मे सुरक्षित है। कल्पना ने उस पर रग चढ़ा कर उसे खूब मनोरञ्जक बना दिया है।

कहते हैं, कलिंग देश की एक राजकुमारी वग के राजा को ब्याही थी। उन के एक कन्या हुई जो अत्यन्त रूपवती और कमनीय थी। वह निर्लज्ज और निडर भी थी। युवती होने पर वह स्वैरचार और सुख की अभिलाषा से घर से अकेली निकल भागी, और मगध जाने वाले एक सार्थ के साथ हो ली। रास्ते मे लाळ रट्ठ[2] ( राढ देश = पच्छिमी बंगाल ) के जगल मे एक

---

१ दे० ॐ २४।

२. लाळ रट्ठ या तो लाट ( दक्खिनी गुजरात ) होना चाहिए, या राढ। लाळ से बही हुई नावें सुप्पारक पहुँचीं, इस से तो स्पष्ट लाट सिद्ध होता है, पर

सिंह ने उस सार्थ को तोड़ दिया। सब लोग जहाँ तहाँ भाग गये, वह कन्या सिंह के साथ चल दी। सिंह उसे अपनी गुफा मे उठा ले गया। उस से उस के जोड़ा बेटा-बेटी हुए, जिन के नाम सिहबाहु और सिंहवल्ली रक्खे गये। बड़ा होने पर सिंहबाहु अपनी माँ और बहन के साथ ननिहाल चला आया। उस का बाप सिंह उस की तलाश मे वग के प्रत्यन्त ( सीमान्त ) गाँवों को उजाड़ने लगा। राजा के आदेश से सिहबाहु ने उसे मार डाला। इधर राजा की मृत्यु हो गई। तब सिंहबाहु वंग का राजा चुना गया। किन्तु वंग को छोड़ वह अपने लाळ राष्ट्र मे वापिस चला आया, जहाँ उस ने सिंह-पुर बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया। उस का बेटा विजय बड़ा उच्छृ-ङ्खल था, और प्रजा को सताता था। राजा ने प्रजा के कहने से उसे उस के दुष्ट साथियो और उन की स्त्रियो के साथ नावों मे बैठा कर देशनिकाला दे दिया। विजय और उस के साथी सुप्पारक ( सोपारा, कोंकण में ) पहुँचे। वहाँ की जनता ने पहले तो उन का स्वागत किया, पर फिर उन के बर्ताव से तंग आ उन्हे निकाल दिया। वे लंका पहुँचे, जहाँ उस समय यक्षो का राज्य था। विजय ने यक्ष राजपुत्री कुवण्णा या कुवेणी से व्याह किया, किन्तु पीछे उसे त्याग दिया। तब उस ने मदुरा के पाण्ड्य राजा की कन्या को व्याहा, और सिंहल द्वीप में तम्बपन्नी नगरी बसा कर अड़तीस बरस तक धर्म से राज्य

---

कहानी के पहले अंश से वह राढ प्रतीत होता है। यह कहानी दीपवंस ९ तथा महावंस ६ में है। पहला अंश—सार्थ का सीमान्त जगल में से गुज़रना आदि—केवल महावंस में है। दीपवंस की कहानी की व्याख्या तो यह भी हो सकती है कि वग-राजा की कन्या घर से निकल कर पहले ही लाट जा पहुँची। पर महावंस की कहानी में सामञ्जस्य एकमात्र इस कल्पना से हो सकता है कि विजय का जहाज़ दिशामूढ हो कर भारतीय समुद्र में भटकता रहा। किन्तु असामञ्जस्य स्पष्ट है, और कहना पड़ता है कि ये निरी कहानियाँ हैं।

किया। उस के साथियों ने अनुराधपुर, उपतिस्सगाम, विजितगाम, उरुवेला, उज्जेनी आदि नगरियाँ बसायीं।

इस कहानी मे इतिहास का अश कल्पना मे बुरी तरह उलझ गया है। तो भी यह बात निश्चित प्रतीत होती है कि सिंहल मे जो आर्यों का प्रवाह पहुँचा उस मे एक स्रोत वग-कलिंग का था, किन्तु मुख्य धारा जो सुप्पारक से गई महाराष्ट्र-कोकण की थी, और उस मे एक पाड्य लहर भी मिल गई थी। निश्चय से वह प्रवाह बहुत प्रबल था, क्योकि सिहली भाषा शुद्ध आर्य है और वैदिक सस्कृत के बहुत निकट। यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक तामिल-नाड और सिंहल मे आर्यों का आना जाना पहले व्यापार द्वारा हुआ (§ ८४ उ), और उसी से बाद मे वहाँ उन की बस्तियाँ और राज्य स्थापित हुए। विजय जिस सामुद्रिक मार्ग से लका गया, वह व्यापारियो का ही मार्ग था।

## § १११. दक्खिनी राष्ट्रों का सिंहावलोकन

पाण्ड्य चोल केरल और सिंहल राष्ट्रो की स्थापना से आर्य और द्राविड का वह समन्वय पूरा हो चला जिस का आरम्भ वैदिक काल से या और पहले से हुआ था और जिस से भारतवर्ष एक देश बना और उस का एक इतिहास हुआ है।

विन्ध्यमेखला के दक्खिन आर्यो का प्रवेश कैसे हुआ, और किस प्रकार वहाँ विभिन्न राष्ट्रो की क्रम से स्थापना हुई, इस पर एक सरसरी दृष्टि डालना यहाँ सुविधाजनक होगा। उस मेखला का पूरबी भाग अधिक विकट है, पच्छिम तरफ नर्मदा तापी की दूनें उस मे रास्ते खोले हुए हैं। आर्यो ने पहले-पहल विन्ध्य के पच्छिमी छोर को पार किया, फिर वे क्रमशः पूरब बढ़ते गये। विन्ध्य के दक्खिन उन की सब से पहली बस्ती माहिष्मती थी, जो विन्ध्य और सातपुडा के बीच है (§ ३२)। वहाँ से वे धीरे धीरे शूर्पारक

प्रदेश या कोकण की तरफ जाने लगे (§ ३७)। उस के एक अरसा पीछे आर्यों की एक दूसरी और प्रबल विजय की लहर ने विदर्भ और मेकल राष्ट्रो की स्थापना की (§ ३९), जिस से विन्ध्यमेखला का पश्चिमार्ध पूरी तरह उन के काबू मे आ गया, और विदर्भ द्वारा गोदावरी काँठे से उन का सम्बन्ध हो गया। उधर लगभग उसी समय पूरबी बिहार (अग देश) से आर्यों की एक दूसरी लहर बंगाल होते हुए कलिग—उडीसा के तट—तक जा पहुँची (§ ४१)। बिहार से जो लहर चली उस का यो घूम कर जाना स्वाभाविक था, क्योंकि उस मैदान के रास्ते के थोड़े से चक्कर से पहाड और जगल का रास्ता बच जाता है। मेकल और कलिग के बीच विन्ध्याचल के पूरबी भाग झाड़खण्ड मे पुरानी जातियाँ ज्यो की त्यो बनी रही।

उस के बाद दक्खिण कोशल की बारी आई (§ ५१)। वह प्रदेश एकाएक नहीं जीता गया; उत्तर तरफ चेदि देश से धीरे धीरे उस मे आर्यों का प्रवाह झरता रहा। चेदि, दक्खिण कोशल, कलिंग, अंग और मगध (§§ ३५, ५९) के बीच चारो तरफ से घिरी हुई पुरानी जातियाँ बनी रहीं। उन की भौगोलिक स्थिति ने ही उन्हे सभ्यता के संसर्ग से बचाये रक्खा।

उधर गोदावरी-काँठे के साथ आर्यों की बस्तियाँ आगे बढ़ने लगीं। मूळक अश्मक के आर्य राज्यो का उल्लेख कर चुके है (§ ७५)। बाद मे अश्मक और कलिंग के बीच छोटा सा मूतिब या मूषिक राष्ट्र, तथा अश्मक के दक्खिनपूरब आन्ध्र-राष्ट्र उठ खड़ा हुआ। इन राष्ट्रों मे आर्य अंश अपेक्षया कम था, तो भी आर्यों का सम्पर्क और सान्निध्य इन जातियों के राष्ट्र बन खड़े होने का कारण था। सह्याद्रि की दूनो के रास्ते आर्यों का प्रवाह धीरे धीरे महाराष्ट्र से आधुनिक कर्णाटक तक पहुँच गया। साहसी तापस और व्यापारी वहाँ से दामिल-रट्ठ और तम्बपन्नी-दीप तक जाने आने लगे।

अन्त मे दो नई लहरो ने चोल पाण्ड्य और केरल राष्ट्रों की तथा सिंहल की स्थापना की। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के अन्त मे यह लहर एक तरह से अपनी अन्तिम सीमाओ तक पहुँच गई;[1] उस के बाद भी नई लहरे आ कर पहली बस्तियो को पुष्ट करती रहीं। विन्ध्यमेखला के पूर्वी भाग और उस के दक्खिन गोदावरी-तट तक के पहाड़ों के बीच जो पहाड़ी दुर्गम प्रदेश नदी की बाढ़ मे दियारो की तरह बचे रहे, उन में रहने वाली जातियाँ सभ्यता के ससर्ग से बहुत कुछ बची रहीं। उन की बस्तियाँ अटवी या जगल के राज्य कहलाने लगी।

---

१. दे० ❀ २४।

## ग्रन्थनिर्देश

पुराणपाठ, सम्बद्ध अश।

बु० इं०, अ० १।

जायसवाल—शैशुनाक और मौर्य कालगणना, ज० बि० ओ० रि० सो० १, पृ० ६७-११६।

अ० हि०, अ० २।

का० व्या० १, २। पाण्ड्य-राष्ट्र की स्थापना-विषयक पूरी विवेचना इसी में मिलेगी, किन्तु दे० ❀ २४।

रा० इ० पृ० ११५-१३६, १४५-१४७। का० व्या० तथा इस में मगध-अवन्ति का इतिहास सिंहली बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार है। उस के विषय में दे० ❀ २२।

कै० इ०—अ० १३. १४ ( पारस ), २५ ( सिंहल )

हिं० रा०—§§ २१, २३, अ० ५।

प्राचीन पारस और पच्छिमी एशिया के विषय में—

हाल—एन्श्यॅट हिस्टरी ऑव दि नियर ईस्ट ( पच्छिम एशिया का प्राचीन इतिहास )।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, १३ सस्क०, में पर्शिया (फ़ारिस) विषयक लेख का इतिहास प्रकरण। किन्तु शक मंगोल-मूलक हैं, यह बात अब नहीं मानी जा सकती।

प्राचीन मध्य एशिया, शकों तथा हूणों के विषय में—

जीवनजी ज० मोदी—अर्ली हिस्टरी ऑव दि हून्स ( हूणों का प्राचीन इतिहास ), ज० ब० रा० ए० सो०, सं० ७० ( जि० २४ की स० ३,—१९१६-१७ );—अवस्ता में हूण, भं० स्मा० पृ० ६५ प्र।

सिल्व्याँ लेवी—सेंट्रल एशियन स्टडीज़ ( मध्य एशिया-विषयक विमर्श ), ज० रा० ए० सो० १९१४, पृ० ९५३ प्र।

स्टेन कोनौ—खोतन स्टडीज़ ( खोतन-विषयक विमर्श ), वहीं, पृ० ३३९ प्र;—औन दि इंडोसिथियन डिनैस्टीज ऐंड देयर प्लेस इन दि हिस्टरी ऑव सिविलिज़ेशन ( भारतीय शक राजवंश और उन का सभ्यता के इतिहास में स्थान ), मॉडर्न रिव्यू, अप्रैल १९२१।

कृष्णस्वामी ऐयंगर—भारतीय इतिहास में हूण-समस्या, इं० आ० १९१९, पृ० ६३ प्र।

मोदी के सिवाय अन्य सब लेखकों का यही मत है कि प्राचीन काल में हूण और तातार अल्ताई पर्वत के पूर्वोत्तर ही रहते थे।

मथुरा-दिल्ली-प्रदेश के सामरिक महत्त्व तथा विन्ध्य और दक्खिन के रास्तों के विषय में—

भारतभूमि, पृ० ५१-५४, §§ ९, १२।

तेरहवाँ प्रकरण

# पूर्व-नन्द-युग का जीवन और संस्कृति

## § ११२. पूर्व-नन्द-युग का वाङ्मय

न केवल राजनैतिक जीवन मे प्रत्युत विचार और वाङ्मय के क्षेत्र मे भी पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के भारतीय आर्यों ने अपने प्रक्रम मौलिकता और सचेष्टता का भरपूर परिचय दिया।

### अ. सूत्र-ग्रन्थ

उत्तर वैदिक वाङ्मय के वेदाङ्गो का परिचय पीछे ( § ७८ ) दिया जा चुका है। इस समय उस वाङ्मय मे एक नई और अद्भुत शैली चली जिसे सूत्र-शैली कहते हैं। सूत्र का अर्थ है अत्यन्त सङ्क्षिप्त वाक्य जिस मे बहुत सा अर्थ समाया हो। यह शैली उस समय न केवल वेदाङ्गो मे प्रत्युत सभी विषयो की रचनाओ मे चल पडी थी। पाणिनि के ग्रन्थ[1] मे पाराशर्य के बनाये भिक्षु-सूत्र तथा शिलालि के नटसूत्रों का उल्लेख है, जिस से पता चलता है कि

---

१. अष्टाध्यायी ४, ३, ११०।

नाट्यकला जैसे विषय भी सूत्रबद्ध होने लगे थे। स्वयं पाणिनि की अष्टाध्यायी मे सूत्र-शैली की पूर्णता की परा काष्ठा है। थोड़े से थोड़े और अत्यन्त सुनिश्चित परिमित शब्दो बल्कि अक्षरो मे अधिक से अधिक अर्थ रखने का जो नमूना उस में है, वह एकदम अद्वितीय है। अर्थ बिगाड़े बिना उस मे से आधी मात्रा भी कम नही की जा सकती। पाणिनि के मुकाबले का वैयाकरण शायद संसार के इतिहास मे दूसरा नही हुआ। सस्कृत भाषा जैसी पूर्ण है, वैसा ही उन का व्याकरण भी। किन्तु यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि अष्टाध्यायी की पूर्णता केवल पाणिनि की व्यक्तिगत योग्यता को सिद्ध नही करती। वे एक ऐसा ग्रन्थ लिख सके इस का अर्थ यह है कि अनेक पीढ़ियो से उस विषय के अध्ययन का क्रम-विकास होता आता था—वाक्यों और शब्दों की बनावट की जाँच (व्युत्पत्ति) कर मूल शब्द और मूल धातु छाँटे गये थे, फिर उन के परिवर्त्तनो का ध्यान से निरीक्षण कर तथा उस निरीक्षण के आधार पर उन शब्दो और धातुओं का वर्गीकरण कर उन के गण बनाये गये थे, इत्यादि। इस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी अनेक पीढ़ियो की क्रमिक और सामूहिक चेष्टा का परिणाम है, अनेक विद्वानो के प्रारम्भिक प्रयत्नो के बाद पाणिनि अन्त मे एक पूर्ण वस्तु तैयार कर सके।

किन्तु पाणिनि का व्याकरण वेदाङ्ग मे सम्मिलित नहीं है, वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। वेद की अथवा छन्दस् की भाषा के नियम वह अपवाद रूप से देता है, छन्दस् की भाषा की अपेक्षा लौकिक भाषा की ओर उस का अधिक ध्यान रहता है। यो कहना चाहिए कि व्याकरण का आरम्भ एक वेदाङ्ग के रूप मे हुआ था, किन्तु अब वह एक स्वतन्त्र शास्त्र बन गया था। यही दशा अन्य बहुत से शास्त्रो की थी।

किन्तु सूत्र-ग्रन्थ कहने से हमारा विशेष ध्यान जिन ग्रन्थो की ओर जाता है वे वेदाङ्गों मे के कल्प-सूत्र और उन मे से भी विशेषतः धर्म-सूत्र हैं। पीछे (§ ७८) कह चुके है कि उन (कल्पसूत्रों) मे आर्यो के व्यक्तिगत

पारिवारिक और सामाजिक जीवन तथा विशेषत: अनुष्ठान के नियम है। पहले धर्मसूत्र सब चरणों और शाखाओं की उपज थे। अष्टाध्यायी मे किसी चरण के नाम से उस के धर्मसूत्र का नाम बनाने का नियम दिया है[1]। उस के उदाहरण मे महाभाष्य-कार पतञ्जलि ने ( लग० १७० ई० पू० मे, दे० नीचे § १५० ) काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक, और आथर्वण धर्मसूत्रो के नाम दिये है। इन सब को पतञ्जलि ने धर्मशास्त्र भी कहा है। आज इन मे से कोई भी उपलभ्य नही है। इस परिगणन मे सब से पहले कठ शाखा के धर्मसूत्र का नाम है जो शायद सब से पुराना रहा होगा। कठ जाति का प्रदेश पञ्जाब के आधुनिक माझा मे था[2]। इस समय प्रकाशित धर्मसूत्रो मे से वैखानस धर्म-प्रश्न ( नारायण-पूजा-परक पीछे प्रक्षिप्त अंश को छोड कर ) सब से पुराना है, और वही एक ऐसा है जो अपने कल्प मे सम्मिलित है। बाकी सब स्वतन्त्र हैं। उन का समय प्रायः पाँचवी शताब्दी ई० पू० तथा उस के आगे-पीछे है। श्रौत सूत्र उस से कुछ पहले के हैं, धर्म-सूत्र बाद के।

बाद के सस्कृत वाङ्मय मे मनुस्मृति विष्णुस्मृति आदि जो स्मृति-ग्रन्थ पाये जाते है, वे साधारण रूप से धर्मसूत्रो पर निर्भर है, यद्यपि उन मे एक और धारा भी आ मिली है, जैसा कि हम आगे ( § १९० ) देखेंगे। स्मृतियों का हमारे देश के जीवन मे बहुत ही अधिक महत्त्व है—उन मे उन कानूनो का सकलन है जिन के अनुसार हमारे समाज का जीवन शताब्दियो से नियमित होता आया है। इसी लिए उन के एक मुख्य स्रोत-रूप धर्मसूत्रो के विषय से हमे परिचित होना चाहिए।

धर्मसूत्रो के समूचे चिन्तन की बुनियाद मे यह विचार है कि मनुष्य का जीवन चार आश्रमो मे बँटता है, उन मे से प्रत्येक मे मनुष्य का धार्मिक

---

१. चरणेभ्यो धर्मवत्,—४ २ २६।

२. दे० ऊपर § ७७ अ तथा नीचे § १२१।

अनुष्ठान और जीवन का सचालन किस प्रकार होना चाहिए, इसी का वे विवेचन करते है। इस विवेचन मे वे यह भी नहीं भूलते कि समाज के सब मनुष्य एक ही दर्जे के नही हैं, सब की जीवनयात्रा का मार्ग एक ही नहीं हो सकता। और इस लिए वे समाज को मोटे तौर पर वर्णो मे बाँट कर धार्मिक अनुष्ठानो और कर्त्तव्यो की विवेचना वर्ण-वार करते है। उसी प्रसङ्ग मे वर्णो के परस्पर-सम्बन्धो का विचार आ जाता है। जीवन-यात्रा का अन्तिम अनुष्ठान अन्त्येष्टि और श्राद्ध होता है, जिसे मनुष्य के उत्तराधिकारी करते है, इस प्रसङ्ग मे यह विवेचना आ जाती है कि कौन ठीक उत्तराधिकारी या दायाद होता है, और उसे दाय-भाग किन नियमों से मिलना चाहिए। क्षत्रिय वर्ण के धर्मों का विचार करते हुए राजा नामक विशेष क्षत्रिय का प्रसङ्ग आ जाता है, और उस के लिए कुछ आदेश दिये जाते है। वैखानस धर्म-प्रश्न मे वैसा प्रसङ्ग नहीं है, पर पिछले सब धर्मसूत्रो मे है। धर्म का उल्लंघन होने पर ये धर्मशास्त्र प्रायश्चित्त की व्यवस्था करते हैं, पर कहीं प्रायश्चित्त की मदद के लिए राज-दण्ड की भी जरूरत उन्हे दीखती है। तमाम राजनियम उन के विचार-क्षेत्र मे नहीं आ पाते; उन के राजधर्म मे वही बातें रहती हैं जिन का धर्म की दृष्टि से राजा के ध्यान मे लाना आवश्यक है—जैसे नमूने के लिए, कि आर्यों के युद्ध मे विषैले बाण चलाना या निःशस्त्रों और शरणागतो को मारना वर्जित है, राजा को द्यूत और समाह्वय ( जानवरों की लड़ाई का तमाशा और उन पर बाजी लगाना[1] ) पर नियन्त्रण रखना चाहिए, सन्देह रहने पर अभियुक्त को दण्ड न देना चाहिए, राजा को प्रजा से निश्चित और नियमित बलि-भाग ही लेना चाहिए जो कि प्रजा के रक्षण-रूप सेवा के बदले मे ली हुई उस की भृति है, इत्यादि इत्यादि।

धर्मसूत्रो और स्मृति-ग्रन्थो का कालनिर्णय करने का जतन बहुत से विद्वानो ने किया है। कुछ बरस पहले तक उन मे से डा० जौली का मत

---

१. दे० नीचे §§ १२४, १४४ अ, १४५ अ।

अन्तिम मान लिया गया था, किन्तु श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने कलकत्ता युनिवर्सिटी के टागोर व्याख्यानों मे उस विवेचना को और आगे बढाया है, और वह विवेचना हमे बहुत से पुराने विचार छोडने को बाधित करती है। डा० जौली के मत से, उपलभ्य धर्मसूत्रो मे से गौतम अन्दाज़न छठी या पॉचवीं शताब्दी ई० पू० का है, बौधायन उस के बाद का, फिर आपस्तम्ब ५वीं या ४ थी शताब्दी ई० पू० का, और वासिष्ठ उस से भी पीछे का है। जायसवाल आपस्तम्ब के विषय मे जौली से सहमत है, उसे वे अन्दाज़न ४५० ई० पू० का मानते हैं, किन्तु गौतम को वे उस से पुराना नहीं स्वीकार करते। वह उन के मत मे ३५०—३०० ई० पू० का है, और २०० ई० पू० के करीब उस का फिर एक सस्करण हुआ है। मूल बौधायन अन्दाज़न ५०० ई० पू० का—आपस्तम्ब से पहले का—था, किन्तु उस का भी विद्यमान रूप दूसरी शताब्दी ई० पू० का है। वासिष्ठ १०० ई० पू० से पहले का नहीं है। इस प्रकार १०० ई० पू० तक धर्मसूत्रो का निर्माण या सस्करण-सम्पादन होता रहा। उन का आरम्भ ७ वीं शताब्दी ई० पू० से हुआ था। पूर्व-नन्द-युग को हम उन का केन्द्रिक काल कह सकते हैं। सूत्र-ग्रन्थ उत्तर वैदिक वाङ्मय का अन्तिम अश है।

## इ. सुत्तों के निकाय

जहाँ वैदिक वाङ्मय इस युग मे अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच रहा था, वहाँ पालि बौद्ध वाङ्मय का भी यही नवयौवन-काल था। बौद्धो की दूसरी सगीति निर्वाण के सौ बरस बाद वैशाली मे हुई। बौद्ध सुत्तों के निकाय ( समूह, सहिता ) इसी समय सकलित हो रहे थे। विद्यमान धर्मसूत्र निकायों के कुछ अश में समकालीन और कुछ अश मे पीछे के हैं।

## उ. अर्थशास्त्र

किन्तु वैदिक और बौद्ध धार्मिक वाङ्मय के अतिरिक्त बहुत से लौकिक वाङ्मय का भी इस युग तक उदय हो चुका था। धर्म के वाङ्मय की तरह

अर्थ के वाङ्मय का भी अपना स्वतन्त्र और विस्तृत क्षेत्र था। जातकों मे धर्म और अर्थ मे निपुण अमात्यो का उल्लेख है; उसी प्रकार आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे धर्म और अर्थ मे कुशल राज-पुरोहित का[1]। इस से यह सिद्ध है कि आपस्तम्ब के समय तक अर्थशास्त्र एक स्वतन्त्र विद्या के रूप मे धर्मशास्त्र के बराबर स्थापित हो चुका था। चौथी शताब्दी ई० पू० के अन्तिम भाग मे कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे अर्थ का लक्षण यों किया है—

मनुष्यों की वृत्ति ( जीविका या जीवनचर्या ) ही अर्थ है, यानी मनुष्य-सहित भूमि ( मनुष्यो की जीविका और उस जीविका के साधन ), उस पृथिवी ( अर्थात् मनुष्यो के जीविका-साधनो ) के लाभ और पालन का उपाय-रूप शास्त्र ( ज्ञान ) अर्थशास्त्र है[2]।

फलतः मनुष्यों के लौकिक कल्याण-विषयक तमाम ज्ञान अर्थशास्त्र के अन्तर्गत गिने जाते थे। कौटिल्य के पहले—महाजनपद-युग से पूर्व-नन्द-युग तक—भी अर्थशास्त्र के कम से कम १८ आचार्य और सम्प्रदाय ( वैदिक चरणों के सदृश ) हो चुके थे, जिन के उद्धरण कौटिलीय अर्थशास्त्र मे पाये जाते है। इतने विभिन्न सम्प्रदायो के उदय और विकास के लिए चार शताब्दियो का समय कूता जाता है। उस हिसाब से अर्थशास्त्र का उदय कम से कम ७०० ई० पू० से हुआ होगा। उस शास्त्र के आचार्यों के मानसिक क्षितिज मे अपने समकालीन ज्ञान का कुल कितना विस्तार था, सो कौटिल्य की निम्नलिखित विवेचना से प्रकट होता है—

आन्वीक्षकी त्रयी वार्त्ता और दण्डनीति ये विद्याये हैं। मानवों ( मानव सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियो ) का कहना है कि त्रयी वार्त्ता और दण्डनीति ही,—आन्वीक्षकी त्रयी का ही विशेष है। बार्हस्पत्यों का मत है कि वार्त्ता

---

1. आप २. ५. १०. १४।
2. अर्थ १५. १।

और दण्डनीति,—लोकयात्रा को जानने वाले के लिए त्रयी केवल बाहरी खोल है। औशनसों का मत है कि दण्डनीति ही एक विद्या है—उसी मे सब विद्याओ की जड जमी है। कौटिल्य के मत मे चार ही विद्याये है। उन से धर्म और अर्थ का ज्ञान पाय ( विद्यात् ) यही विद्याओ का विद्यापन है।

साख्य योग और लोकायत यह आन्वीक्षकी (=दर्शन, जिस से देखा जाय, तर्कशास्त्र ) है। त्रयी मे धर्म और अधर्म ( का विचार होता है ), वार्त्ता ( धनविज्ञान ) मे अर्थ और अनर्थ ( का ), दण्डनीति (=राजनीति, अर्थशास्त्र ) मे नय ( नीति ) और अनय तथा बल और अबल ( का )। इन सब का हेतुओ से अन्वीक्षण (=निरीक्षण, दर्शन ) करती है ... सो सब विद्याओं का प्रदीप आन्वीक्षकी मानी गई है।[1]

इस विवेचना से स्पष्ट है कि उस समय वैदिक वाङ्मय ( त्रयी ) के अतिरिक्त दर्शन ( तर्कशास्त्र ) तथा अनेक लौकिक ज्ञानो का उदय हो चुका था। दर्शन अभी तक तीन ही थे—साख्य, योग और लोकायत (=चार्वाक, पूर्ण नास्तिक )। किन्तु बुद्धदेव और महावीरस्वामी आदि ने आर्यावर्त्त के विचारो मे जो खलबली पैदा कर दी थी, उस से इस से अगले युगो मे स्पष्ट और विशद दार्शनिक विचार को बडी उत्तेजना मिली। बार्हस्पत्य और औशनस जैसे विचारक-सम्प्रदायो की दृष्टि मे त्रयी या वैदिक वाङ्मय की कुछ भी कीमत न थी, उन की दृष्टि एकदम लौकिक थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र के विषयो की पडताल से जाना जाता है कि व्यवहार अर्थात् व्यावहारिक कानून अर्थशास्त्रियों की विवेचना का एक विशेष विषय था। धर्मशास्त्र मे भी कुछ कानून था, किन्तु केवल प्रायश्चित्तीय कानून—केवल धार्मिक अनुष्ठान-सम्बन्धी वे विधि नियम प्रतिषेध जिन के उल्लघन का दण्ड प्रायश्चित्त होते थे। समाज के आर्थिक और राजनैतिक व्यवहार—अर्थात् दीवानी और फ़ौजदारी कानून—सब अर्थशास्त्र के विषय थे।

---

१. अर्थ० १, २।

## ऋ. इतिहास-पुराण

इतिहास की गणना किस वर्ग मे होती थी सो उक्त वर्गीकरण से प्रकट नही होता। किन्तु आगे कौटिल्य कहता है—

साम ऋक् और यजुः तीन वेद त्रयी है। अथर्ववेद और इतिहासवेद ये सब वेद हैं। शीक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द-चयन और ज्योतिष ये अङ्ग हैं।

यह त्रयीधर्म चारो वर्णों और आश्रमो ( तमाम मनुष्य-समाज ) को अपने धर्म मे स्थापित करने से उपयोगी है। ( अर्थ० १.३ )।

इस से प्रतीत होता है कि इतिहास की गणना त्रयी के परिशिष्ट-रूप मे थी। किन्तु दूसरी जगह कहा है—पुराण इतिवृत्त ( घटनाओं का वृत्तान्त ) आख्यायिका उदाहरण ( दृष्टान्तरूप कहानी ) धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र यह इतिहास है ( वहीं १.५ )। इस से पाया जाता है कि न केवल धर्मशास्त्र का प्रत्युत अर्थशास्त्र का भी मूल इतिहास मे था, दोनो उसी के फल समझे जाते थे।

और इतिहास-विषयक वाङ्मय भी ५ वीं शताब्दी ई० पू० मे विद्यमान था, इस के निश्चित प्रमाण हैं। आपस्तम्ब पुराण से और विशेष कर भविष्यत् पुराण से उद्धरण देता है[1]। वे उद्धरण मत्स्य वायु ब्रह्माण्ड पद्म और हरिवंश पुराणो मे खोज निकाले गये है, और विद्यमान भविष्य-पुराण मे वे नहीं हैं[2]। इस से एक तो यह सूचित होता है कि इन पुराणों के विशेष अश, एक या भिन्न भिन्न रूपो मे, आपस्तम्ब से पहले उपस्थित थे। दूसरे, कि सम्प्रदाय-भेद से कई पुराण हो चुके थे, और उन में से एक भविष्यत् भी था;—पुराण

---

१. आप० १, ६, १९, १३; १, १०, २९, ७; २, ९, २३, ३–५; २, ९, २४, ३–६।

२. पूरी विवेचना के लिए दे० प्रा० अ०, पृ० ४३–५२।

एक व्यक्तिवाचक के बजाय जातिवाचक नाम बन चुका था । तीसरे, पुराण का मूल अर्थ था कोई पुराना वृत्तान्त; पुराण और भविष्यत् परस्पर-विरोधी शब्द है, इस लिए पुराण का विशेषण भविष्यत् तभी हो सकता था जब पुराण शब्द का मूल अर्थ उस मे से गुम हो चुका हो। फलत' इस समय तक पुराण शब्द इतिहास ग्रन्थ के अर्थ मे योगरूढि हो चुका था, जिस से यह परिणाम निकलता है कि आपस्तम्ब के कम से कम दो एक शताब्दी पहले से अलग अलग पुराण ग्रन्थ बन चुके थे । पहले पुराणो मे जहाँ भारत-युद्ध तक का या अधिसीमकृष्ण तक का वृत्तान्त था, वहाँ भविष्यत् मे बाद का । आजकल सभी पुराणो मे वह भविष्य अश है, और स्वय भविष्य-पुराण मिलावट के कारण सर्वथा भ्रष्ट हो चुका है। किन्तु दूसरे पुराणो ने भविष्यत्-पुराण से भविष्य अश पूर्व-नन्द-युग के बाद उद्धृत किया है, उस युग तक उन मे वह अश न था, तथा भविष्यत् एक अलग पुराण था।

## ऌ. रामायण और भारत

वाल्मीकि मुनि की रची हुई राम की प्राचीन ख्यात के आधार पर रामायण का काव्य रूप मे पहले-पहल सस्करण भी ५ वी शताब्दी ई० पू० मे ही हुआ माना जाता है। बाद मे दूसरी शताब्दी ई० पू० मे उस का पुनः-सस्करण हुआ, जो अन्तिम सस्करण कि अब हमे मिलता है । किन्तु उस पिछले संस्करण से उस के रूप मे विशेष भेद नही हुआ, उस का मुख्य अश अब भी ५ वी शताब्दी ई० पू० वाले काव्य को बहुत कुछ ज्यो का त्यो उपस्थित करता है। उस की ख्यात—अर्थात् उस मे की घटनाओ के वृत्तान्त-विषयक अनुश्रुति—पुरानी है, उस मे जिन विभिन्न देशो और द्वीपो आदि के भौगोलिक नाम और निर्देश हैं वे दूसरी शताब्दी ई० पू० तक के हैं, कुछ धार्मिक अश भी उस मे उसी पिछले युग के है—जैसे राम के अवतार होने का विचार जो कि रामायण के प्रधान अंश मे नही है, किन्तु रामायण का

बड़ा अश—विशेष कर उस का समाज-चित्रण—५ वीं शताब्दी ई० पू० का है। उस मे हमे ५ वी शताब्दी ई० पू० के भारतीय समाज के आर्थिक राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक जीवन का अच्छा चित्र मिलता है।

महाभारत का—या ठीक ठीक कहे तो भारत काव्य का—भी एक आरम्भिक संस्करण इस युग मे हो गया था, जिस का कि आश्वलायन गृह्य सूत्र में उल्लेख है[1]। बाद के सस्करणो मे उस का रग-रूप छिप गया है।

## ए. भगवद्गीता

भगवद्गीता के विषय मे भी तेलंग, टिळक और रामकृष्ण गोपाल भडारकर जैसे प्रामाणिक आचार्यों का मत है कि वह इसी युग की उपज है। उन का कहना है कि उस के विचारो की बुनियाद एक तरफ उपनिषदों मे और दूसरी तरफ सुत्तनिपात जैसी बौद्ध रचनाओ मे दीख पड़ती है; विस्तृत अनेकमार्गी दार्शनिक विचार का उस के समय तक विकास नही हुआ था। दूसरी तरफ, बौद्ध दर्शन के क्रम-विकास का अध्ययन करने वाले विद्वानों का कहना है कि तीसरी-चौथी शताब्दी ई० तक बौद्ध दार्शनिको को गीता का कहीं पता नहीं है, इस लिए उस का समय पहली-दूसरी शताब्दी ई० होना चाहिए। जायसवाल गीता को शुग-युग की उपज मानते हैं, उस मे उन्हे स्पष्ट शुग-युग के विचार दीखते हैं[2]। रूपरेखा मे मैंने भी पहले दोनो पक्षों के समझौते के तौर पर उसे शुग-युग का मान लिया था; किन्तु इस विषय की फिर से पड़ताल करने के बाद मुझे स्वर्गीय रामकृष्ण भण्डारकर के मत के आगे सिर झुकाना पडता है। गीता के समय तक अनेक-मार्गी दार्शनिक विचार ( षड्-दर्शन-पद्धति ) का विकास न हुआ था, तेलग और टिळक की इस युक्ति के उत्तर मे पहले मैंने यह लिखा था कि "गीता के विचार खूब परिपक्व है, यदि उस मे अनेक दार्शनिक सम्प्रदायो का भेद-प्रभेद नहीं

---

१. आश्व० ३. ४. ४।

२. नीचे § १५४।

दिखाया गया तो इस कारण कि वह एक काव्य है जिस मे एक दर्शन-ग्रन्थ की तरह अनेक मतो की विवेचना न हो सकती थी।"

अपने इस तर्क के विषय मे जहाँ अब मुझे यह कहना पडता है कि केवल "दिल के खुश करने को यह ख्याल अच्छा" था, वहाँ भण्डारकर की युक्तिपरम्परा अकाट्य प्रतीत होती है। भगवद्गीता का वासुदेव के पूजा-परक धर्म से विशेष सम्बन्ध है, वह पूजा चौथी शताब्दी ई० पू० मे प्रचलित थी सो खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत निद्देस नामक ग्रन्थ से सिद्ध होता है। तीसरी दूसरी और पहली शताब्दी ई० पू० तथा पहली शतब्दी ई० के अभिलेखो और वाङ्मय से भी भारतवर्ष मे उस पूजा का प्रचलित होना सिद्ध होता है[1]। इस पिछले वाङ्मय मे वासुदेव को नारायण तथा विष्णु का अवतार कहा गया है, और उस के चार व्यूह अर्थात् मूर्त्त रूप माने गये है। चौथी तीसरी और दूसरी शताब्दी ई० पू० के उक्त प्रमाणो से भी उस समय दो व्यूहों की कल्पना का रहना सिद्ध होता है। गीता मे न तो उन व्यूहो की कल्पना है, और न वासुदेव के नारायण होने या विष्णु का अवतार होने की। वासुदेव जब अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखलाता है, तब उस के तेज के कारण उसे विष्णु अवश्य कहा गया है, किन्तु वहाँ विष्णु का नाम आदित्यो मे से प्रथम आदित्य के रूप मे ही आया है। इस प्रकार गीता का काल अवतार और व्यूह-कल्पना से पहले का तथा उस युग का होना चाहिए जब कि विष्णु का सूर्य-देवता रूप अर्थात् अपना पुराना वैदिक रूप बना हुआ था।[2]

अभिलेखो और वाङ्मय के इन निश्चित विध्यात्मक प्रमाणो के मुकाबले मे बौद्ध दर्शन-ग्रन्थो की निषेधात्मक युक्ति का विशेष मूल्य नही दीखता।

---

१. नीचे §§ १४६, १६६।

२. वै० शै० पृ० १३।

उपनिषदो के विचारो की गीता पर इतनी स्पष्ट छाप है कि उन के अनेक वाक्यो का गीता मे सीधा रूपान्तर पाया जाता है । सर रामकृष्ण भण्डारकर के मतानुसार श्वेताश्वतर उपनिषद् गीता से ठीक पहले की है ।

पूर्व-नन्द-युग की वाङ्मयिक उपज मे भगवद्गीता शायद सब से कीमती रतन है । उस के लेखक ने उसे बड़े मौजूँ ढंग से कौरव-पाण्डव-युद्ध की घटना के साथ जोड़ कर कृष्ण के मुँह से कहला दिया है । कोई आधुनिक लखक वैसी ही वस्तु लिखता तो गुरु गोविन्दसिंह के मुँह से बन्दा वैरागी को दिये उपदेश के रूप मे उसे पेश कर सकता था ।

## § ११३. धर्म और दर्शन

बुद्ध महावीर और उन के समकालीन सुधारको ने छठी शताब्दी ई० पू० मे सुधार की जो नई लहरे चलाई थी, उन की धाराये इस युग मे और पुष्ट होती गईं । उन के अतिरिक्त अन्य कई धर्म पूजाये और अन्ध विश्वास भी पाँचवी-चौथी शताब्दी ई० पू० मे प्रचलित थे । पाणिनि की अष्टाध्यायी ( ५, ३, ९९ ) से सूचित होता है कि देवताओ की छोटी-मोटी मूर्त्तियाँ उस युग में चल चुकीं थीं, और उन से अपनी जीविका चलाने वाले पुजारी भी थे । खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत निद्देस नामक पुस्तक मे उस युग की अनेक पूजाओ का यो वर्णन है[1]—

"बहुत से श्रमण और ब्राह्मण ऐसे है जो व्रतो से शुद्धि मानते हैं । वे हाथी का व्रत करते हैं, या घोड़े का, या गाय का, या कुत्ते का, या कौए का, या वासुदेव का, या बलदेव का, या पूर्णभद्र का, या मणिभद्र का, या अग्नि का, या नागो का, या सुपर्ण ( गरुड ) का, या यक्षो का, या असुरों का, या

---

१. महानिद्देस पृ० ८९ (सु० नि० ७९० पर ) । स्व० रा० गो० भंडारकर ने वै० शै० पृ० ३ पर इस का जो अनुवाद दिया है, उस में न जाने कहाँ से शुरू में तीन-चार नाम अधिक बढ़ा दिये हैं ।

गन्धर्वों का, या महाराज का, या चन्द्र का, या सूर्य का, या इन्द्र का, या ब्रह्म का, या देवो का, या दिशाओ का।"

इस परिगणन मे एक तो अग्नि सूर्य चन्द्र इन्द्र आदि वैदिक प्रकृति-देवताओ के नाम है, दूसरे, यक्षो असुरो गन्धर्वो आदि कल्पित बुरी आत्माओ और हाथी घोड़े कौए कुत्ते आदि जन्तुओ के, तथा तीसरे, वासुदेव बलदेव इन ऐतिहासिक महापुरुषो के। एक बौद्ध लेखक के लिए इन सब की पूजाये एक ही लेखे की थीं। किन्तु हमे उन तीन धाराओ मे विवेक करना चाहिए।

महाभारत और अन्य पिछले वाङ्मय से जाना जाता है[1] कि वासुदेव कृष्ण और बलदेव का नाम सुधार की उस लहर के साथ जुडा हुआ था जो पहले-पहल वसु चैद्योपरिचर के समय यज्ञो की हिसा कर्मकाण्ड और सूखे तप के विरुद्ध उठी थी[2], भक्ति और अहिसा जिस के मुख्य सिद्धान्त थे, उपनिषदो ने जिसे सामान्य रूप से पुष्ट किया, और जिस के धर्म का भगवद्गीता मे उपदेश है। उस सुधार की साधारण लहर मे से एक पन्थ पैदा हो गया था, उस पन्थ के अनुयायियो के लिए गीता के समय तक वासुदेव ही परम पुरुष बन चुका था, और निद्देस के समय उस के साथ बलदेव की पूजा भी चल चुकी थी। बौद्ध सुधार-मार्ग मे और इस एकान्तिक धर्म मे यह समानता थी कि दोनो कर्मकाण्ड और देह-शोषणात्मक तप के तथा हिसा के विरोधी थे, किन्तु दोनो मे बडा भेद यह था कि एकान्तिक धर्म भक्तिप्रधान आस्तिकवाद था जब कि बौद्ध धर्म सदाचार-प्रधान अनीश्वरवाद। इस एकान्तिक धर्म का, जिस की बुनियाद भगवद्गीता मे है, बाद मे बहुत प्रचार हुआ। भगवद्गीता का भारतवर्ष के समूचे जीवन पर बडा प्रभाव हुआ है। इस लिए यहाँ उस के विचारो का सक्षेप से उल्लेख करना अनुचित न होगा।

---

१. नीचे § १६६।

२. ऊपर § ७०।

भारतीय विचार और दर्शन के क्रमविकास को समझने के लिए भी गीता का बड़ा महत्त्व है, बशर्ते कि उस की तिथि के विषय मे कोई सन्देह न हो।

गीता के उपदेश का आरम्भ इस कथन से होता है कि आत्मा नित्य और अनश्वर है, न्याय्य युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है, उस की हिंसा से उसे कोई पाप नहीं लगता। सुख-दुःख लाभालाभ और जयाजय का विचार न कर कर्त्तव्य कर्म मे जुटना चाहिए। इसे साख्य का मत कहा गया है; और इस के बाद योग का मत यो बतलाया है कि मन को कामनाओ-वासनाओ से हटा कर फल की आकांक्षा न करते हुए कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए; उस से स्थितप्रज्ञता होती है, और स्थितप्रज्ञ पुरुष ब्रह्म की दशा को पा लेता है। किन्तु स्थितप्रज्ञ होने के लिए मन और इन्द्रियो का संयम आवश्यक है। साख्यों का मार्ग ज्ञानयोग का है, और योगियों का कर्मयोग का। यदि कर्म स्वार्थ के लिए न किया जाय, प्रत्युत यज्ञ के लिए, तो वह बाँधता नही है। इस प्रसग मे आलकारिक यज्ञो का वर्णन किया गया है—इन्द्रियो और विषयो का संयम की आग मे हवन करना ही यज्ञ है, तपोयज्ञ स्वाध्याय-यज्ञ ज्ञान-यज्ञ आदि ही वास्तविक यज्ञ हैं। कर्मकाण्ड वाले यज्ञो से स्वर्ग की प्राप्ति जरूर होती है, पर वह सुख नश्वर होता है। साख्य का मार्ग सन्यास-मार्ग—ज्ञान-यज्ञ का मार्ग—है, योग का मार्ग कर्म-योग का है, दोनों मार्ग वास्तव मे एक हैं। ज्ञानपूर्वक और सन्यास अर्थात् त्याग की बुद्धि से जो निष्काम कर्म किया जाता है, उस से मनुष्य लिप्त नही होता। इस प्रकार फलो की आकांक्षा न कर कर्म करने वाला सन्यासी भी है और योगी भी, वह अपने मन को एकाग्र कर आत्मा मे स्थित करता है, वह ब्रह्म-रूप हो जाता है, सब जगह भगवान् को ही देखता है।

यज्ञो के विषय मे गीता के उपर्युक्त विचार बिलकुल उपनिषदो के से हैं; निष्काम कर्म विषयक विचार महाजनपद-युग मे साधारण जनता तक भी पहुँच चुके थे[१]।

---

१. ऊपर § ८६ उ।

इन्द्रियो और मन के निग्रह और सन्यास अर्थात् त्याग-भाव के द्वारा निष्काम बुद्धि को पाना, ज्ञान द्वारा कर्तव्य को पहचानना, और कर्म योग—यह सब एक शुद्ध कर्तव्य-मार्ग या सदाचार-मार्ग है जिस मे ईश्वर की कोई आवश्यकता नही पडती। इसी लिए छठे अध्याय के अन्त मे जहाँ इस मार्ग की विवेचना समाप्त होने को आती है उसे उक्त शब्दो से एक आस्तिकवाद मे ढाल दिया गया है—साख्य और योग के सिद्धान्तो को अनीश्वरवाद मे जाने से यत्नपूर्वक बचाया गया है। आगे छ. अध्यायो मे भक्ति या उपासना-मार्ग का विवेचन है। उस का सार यह कि अपने को भगवान् के अर्पित करने और भगवान् मे लीन कर देने से निष्काम कर्म को भावना सहज ही मे जाग उठती है। भगवान् ससार मे सर्वोत्तम है। भगवान् मे ध्यान लगाने से स्त्रियाँ वैश्य और शूद्र भी मुक्ति पाते है, भगवान् का ध्यान करते हुए देह त्यागने वाला भगवान् को पा लेता है। अक्षर ब्रह्म की ध्यानयोग द्वारा प्राप्ति मुडक उपनिषद्[1] मे भी कही गई है, श्वेताश्वतर[2] मे वही अक्षर ब्रह्म देव कहलाया है। और गीता मे उस अव्यक्त ब्रह्म को भगवान् कृष्ण कह कर एक स्पष्ट व्यक्तित्व दे दिया गया है। ध्यानयोग का पर्यवसान भी इस प्रकार ईश्वरवाद मे होता है।

इसी प्रसग मे भगवान् के स्वरूप और सृष्टि से सम्बन्ध पर विचार किया गया है। भगवान् की प्रकृति अष्टविध है—पञ्च भूत, मन, बुद्धि और अहकार, जीव इन सब से अलग है। देह क्षेत्र है, और जीव क्षेत्रज्ञ, भगवान् भी सब क्षेत्रो का क्षेत्रज्ञ है। यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार अनेक ऋषियो ने किया है, और ब्रह्मसूत्रो मे भी किया गया है। आगे क्षेत्र के ३१ तत्व गिनाये हैं। उन मे से २४—पञ्च भूत, अहकार, बुद्धि, अव्यक्त ( प्रकृति ), ग्यारह इन्द्रिय, पाँच विषय—वही है जिन का उस दर्शन-पद्धति मे वर्णन है जिसे

---

१. मुण्डक उप० २. २. ३।

२. श्वेता० उप० १. १४।

अब हम साख्य कहते हैं; बाकी सात—इच्छा द्वेष आदि—वे है जो प्रचलित वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा के गुण है। किन्तु गीता मे यहाँ सांख्य और वैशेषिक नाम नहीं दिये। वैसे गीता का पुरुष और प्रकृति-विवेचन बिलकुल सांख्य का सा है, सब कर्म प्रकृति करती है, और आत्मा निश्चेष्ट साक्षी मात्र है, यह भी सांख्य दर्शन का ही सिद्धान्त है। किन्तु जीव के साथ परमात्मा की भी सत्ता कही गई है जो सांख्य मे नही है। ब्रह्मसूत्रों से गीता का क्या अभिप्राय है, ठीक नही कहा जा सकता। सत्व रज तम—प्रकृति के इन तीन गुणों का वर्णन भी गीता मे सांख्य की तरह है।

इस प्रकार गीता की सब धर्मविवेचना या तो उपनिषदों के विचारो पर, या सृष्टितत्व और कर्तव्यतत्व का विचार करने वाले कुछ पुराने दर्शन-ग्रन्थो पर निर्भर है। बौद्ध धर्म के उदय से पहले के धार्मिक और दार्शनिक विचारो का उस मे परिपाक है। साख्य शब्द उस मे ज्ञानमार्ग के अर्थ मे और योग शब्द कर्ममार्ग के अर्थ मे बर्ता गया है। इन दोनो मार्गों के सिद्धान्तो का गीता से पहले उदय हो चुका था। यह तो स्पष्ट ही है कि गीता के लिखे जाने से पहले वासुदेव कृष्ण को देवता की हैसियत मिल चुकी थी।

दूसरे पन्थो की तरफ गीता का भाव अत्यन्त उदारता का है, क्योंकि उस की दृष्टि मे सभी प्रकार की पूजाये परम्परा से भगवान् की ही पूजाये हैं।

"मुझे जो जिस प्रकार से भजते है, मैं उन्हे उसी प्रकार प्राप्त होता हूँ।" "जो दूसरे देवताओं के भक्त भी श्रद्धायुक्त हो कर यजन करते है, वे भी चाहे अविधि-पूर्वक करे तो भी मेरा ही यजन करते है। ..जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो, जो तप करते हो, सब मेरे अर्पण कर के करो[1]।"

---

१. भगवद्गीता ४. ११; ६. २३, २७।

इसी दृष्टि के कारण बाद का हिन्दू धर्म अनेक प्रकार के पन्थो और पूजाओ को अपने मे जज्ब कर लेने मे सफल हुआ।

उपनिषदो और गीता ने एव बौद्ध और जैन सुधारो ने वैदिक यज्ञो के कर्मकाण्ड-मार्ग को भले ही कमजोर कर दिया, तो भी वह मर न गया था। खास कर गृह्य सस्कारो और अनुष्ठानो के रूप मे उस की जो विधियाँ इस युग मे स्थिर हुई, वे हमारे समाज के जीवन मे आज तक बहुत कुछ चली आती है। थोड़े बहुत अनुष्ठान के बिना किसी समाज के जीवन मे व्यवस्था नहीं रह सकती। चाहे वह मूढ विश्वासो पर निर्भर हो चाहे सुन्दर आदर्शो पर, कुछ न कुछ अनुष्ठान प्रत्येक समाज के नियमित जीवन के लिए आवश्यक है। किन्तु वैदिक देवताओ की गद्दियो मे भी इस युग तक बहुत कुछ उलटफेर हो चुका था। गृह्य सूत्रो मे विष्णु और शिव ही प्रधान देवता हो गये है, घरेलू सस्कारो मे भी उन से बहुत वास्ता पड़ता है। हिरण्यकेशी और पारस्कर[1] गृह्य सूत्रो के अनुसार विवाह मे सप्तपदी के समय विष्णु की ही प्रार्थना की जाती है, यद्यपि आपस्तम्ब और आश्वलायन मे उस का नाम नही है।

रुद्र-शिव को श्वेताश्वतर उपनिषद् ने चाहे पर-ब्रह्म का रूप दिया था, तो भी गृह्य सूत्रो मे वह वही पुराना डरावना देव है। आश्वलायन, हिरण्यकेशी और पारस्कर के अनुसार ढगरो की बीमारी से बचाव करने के लिए गाँव के बाहर शूलगव नाम का यज्ञ किया जाता है[2], जिस मे रुद्र को बैल की बलि दी जाती है। उस यज्ञ का शेष गॉव मे नहीं लाया जाता, और वपा से रुद्र के बारह नामो को आहुतियॉ दी जाती है। यह होम गो-व्रज मे किया जाता है।

---

१. हि० गृ० सू० १. २१. १, २, पा० गृ० सू० १. ८. २। पारस्कर एक देश का नाम था, उसी के नाम से इस सूत्र-ग्रन्थ का नाम पड़ा है। वह देश पच्छिम में था, सिन्ध के थर-पारकर ज़िले में शायद वही नाम विद्यमान है।

२. आश्व० ४. ६, हि० २. ८, पा० ३. ८।

पथ चतुष्पथ नदी का तीर्थ ( घाट ) वन गिरि श्मशान गोष्ठ आदि लाँघते समय, साँप घूर पुराना बडा पेड़ या कोई अन्य भयानक वस्तु दीखने पर विशेष मन्त्रो से रुद्र का अभिमन्त्रण किया जाता है[1]। रुद्र भव आदि देवताओ की स्त्री रुद्राणी भवानी आदि के नाम गृह्य सूत्रो मे हैं, पर शक्ति या किसी स्वतन्त्र देवी का नहीं। विनायक का अर्थ बुरी आत्मा है—भूत की तरह। मानव गृह्य सूत्र मे चार विनायको के नाम है, वे जिस मनुष्य को पकड़ ले वही निकम्मा हो जाय।

सूर्य की मन्त्र से दैनिक पूजा का भी विधान है, और उपनयन आदि संस्कारों मे उस की विशेष उपासना का भी[2]। रामायण ( १. ३७ ) मे स्कन्द देवता का उल्लेख है, वह अग्नि और गगा का पुत्र था, और कृत्तिका तारो ने उसे पाला था इस लिए उस का नाम कार्त्तिकेय हुआ। स्कन्द की पूजा अगले जमाने मे हम बहुत देखेगे[3]। अग्नि को शिव का रूप मानने से बाद मे उसे शिव का बेटा माना गया।

## § ११४. आर्थिक जीवन और राज्यसंस्था का विकास

### अ. मौलिक निकाय[4] वर्ग या समूह—ग्राम श्रेणि निगम पूग गण आदि

पीछे ( §§ ८४-८५ ) हम श्रेणि निगम आदि संस्थाओं का उल्लेख कर चुके है। वे मूलतः आर्थिक संस्थाये थी, किन्तु वे भारतीय समाज और

---

१ पा० गृ० सू० ३. १५. ७—१६; मानव गृ० सू० १. १३. ६—१४; आप० १. ११. ३१. २१।

२. आश्व० ३. ७. ४—६; १. २. ६।

३ नीचे §§ १८४, १६६।

४. निकाय शब्द के लिए दे० अष्टाध्यायी ३. ३. ४२, ८६।

राज्य के समूचे ढाँचे का आधार थी। जनमूलक ग्राम-सस्था उन सब का भी आरम्भिक नमूना थी। हमारे प्राचीन वाड्मय मे इन की जातिवाचक सज्ञा सस्था नही, प्रत्युत निकाय समूह और वर्ग थी। न केवल महाजनपद-युग मे प्रत्युत उस के बाद जब तक भारतीय समाज और राज्यसस्था जीवित रही, उन के जीवन के आधार यही मौलिक समूह या निकाय ही रहे। इन निकायो का और इन के कार्यो और शक्तियो का विकास भारतीय राज्यसस्था और समाज के विकास की भित्ति है।

पूर्व-नन्द युग के ठीक अन्त मे हमे उन मौलिक निकायो या समूहो के विषय मे एक ऐसी बात का पता मिलता है जिस से उन का पहले से अधिक परिपक्व दशा मे होना स्पष्ट निश्चित होता है। श्रेणि और निगम पिछले युग की सस्थाये थीं। एक जगह रहने वाले शिल्पियो ( कारुओं ) की श्रेणिया बन जाना बहुत ही स्वाभाविक था, किन्तु इस युग मे हम उन के अतिरिक्त कृपक वणिक् पशुपालक कुसीदी ( साहूकार, रुपया उधार देने वाले )—सभी की श्रेणियाँ सगठित पाते है[1]। बिखर कर रहने वाले कृषको का श्रेणियो मे सगठित होना सामूहिक जीवन की उत्कट सचेष्टता का सूचक है।

श्रेणि और निगम आर्थिक समूह थे। अपने अन्दर के समूचे सामूहिक जीवन का सञ्चालन भी वे कर सकते थे। किन्तु एक बस्ती वा नगरी मे जहाँ अनेक श्रेणियों के कारु ( शिल्पी ) वणिज् और अन्य लोग रहते थे, उस बस्ती या नगरी के सामूहिक कार्यो के निर्वाह के लिए भी किसी समूह का होना आवश्यक था। हम ने देखा है कि महाजनपद-युग मे नगर का प्रबन्ध चलाने वाला निकाय या समूह भी निगम ही कहलाता था, जिस का यह अर्थ है कि वह वणिज्-निगम का ही बढ़ाव था। पूर्वनन्द-युग मे इस कार्य के लिए स्पष्ट

---

१. गौत० ११. २१।

रूप से नये निकायो या समूहों का उदय हो गया था जिन्हे पूग या गण कहते थे। श्रेणि मे अनेक कुलो के किन्तु एक ही जीविका वाले व्यक्ति रहते थे, पूग[1] विभिन्न कुलो के और विविध जीविका वाले ( अनियतवृत्ति ) लोगो के समूह थे। इस प्रकार एक पूग मे अनेक श्रेणियॉं रह सकतीं थी। श्रेणि का दायरा आर्थिक था, पूग का प्रादेशिक। गण शब्द का कई बार पूग के अर्थ मे भी प्रयोग होता था, और पुराना नाम निगम भी उस अर्थ मे जारी था[2]। जायसवाल का मत है कि राष्ट्र की मुख्य नगरी या राजधानी का प्रबन्ध करने वाला निकाय पौर कहलाता था।

कह चुके है कि श्रेणि निगम आदि समूहो को अपने आन्तरिक प्रबन्ध मे यथेष्ट स्वाधीनता थी। उस के अतिरिक्त देश की राज्य-संस्था मे उन के स्पष्ट और सुनिश्चित अधिकार और कार्य थे। वे कार्य शासन-सम्बन्धी, न्याय-सम्बन्धी तथा नियम-स्थापना-सम्बन्धी (legislative) थे। न केवल अपने आन्तरिक शासन मे प्रत्युत देश के अनुशासन मे भी उन का हाथ किस प्रकार था, सो एक दृष्टान्त से मालूम होता है। यदि कोई स्त्री जो चोरी का अपराध कर चुकी है भिक्खुनी होना चाहे तो वह राजा के, संघ के, गण के, पूग के और श्रेणि के अनुशासन के बिना न हो सकती थी। अर्थात् जिस श्रेणि जिस पूग जिस राजा के अधिकारक्षेत्र मे वह हो उन की अनुमति पाये बिना उसे भिक्खुनी नहीं बनाया जा सकता था।

---

१. नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः—काशिकावृत्ति. अष्टाध्यायी ५. ३. ११२ पर। जाति शब्द काशिका के ज़माने का है, प्रस्तुत काल तक जातियाँ अर्थात् ज़ातें पैदा न हुईं थीं, न उन का विचार ही था; इस लिए पूग के लक्षण में विभिन्न कुल कहना ही ठीक है।

२. आप० १ ३. ६. ४ में निगम का वही अर्थ करना चाहिए न कि रास्ता।

अपने अन्दर के सब मामलो का फैसला तो विभिन्न समूहो की सभाये या न्यायालय स्वय करते हो थे—यहाँ तक कि श्रेणि के एक सदस्य और उस की स्त्री के बीच भी श्रेणि के मध्यस्थता करने का उदाहरण है। किन्तु राजकीय न्यायालयो (विनिच्चयों, विनिच्छया[1] या विनिच्चयट्ठानों) मे भी न्यायाधीश ( विनिच्चायिक या वोहारिक=व्यावहारिक ) के साथ विचार करने के लिए एक सभा या उब्बहिका ( उद्वाहिका=जूरी ) बैठती थी, और उस उब्बहिका मे प्रत्येक वर्गी के अपने ही वर्ग के व्यक्तियो के बैठने का नियम था।

किन्तु इन समूहों या वर्गों का सब से महत्त्व का अधिकार यह था कि वे अपने लिए स्वय कानून बना सकते थे। उन के ठहरावो ( समय, सवित् ) की हैसियत अपने अपने दायरे मे कानून ( धर्म या व्यवहार ) की होती, और राजा उन के समय-धर्म को चरितार्थ करने के लिए बाधित होता, जब तक कि उन के समय देश के मूल धर्मों और व्यवहारो ( कानून ) के विरुद्ध न हो। कोई वर्गी अपने वर्ग के समय को तोडने से दण्ड पाता था।

हम देखते है कि इस युग के बौद्ध सघो के अन्दर विचार करने की परिपाटी खूब परिष्कृत थी। सदस्यो को सभा मे तरतीबवार बैठाने के लिए एक विशेष अधिकारी—आसन-पञ्ञापक—होता था। निश्चित कोरम की उपस्थिति ( गणपूर्त्ति ) मे कार्य होता था। [ जिस सघ मे पाँच का कोरम होने से कार्य हो सके वह पञ्चवग्ग सघ कहलाता, इसी प्रकार दस के कोरम वाला दसवग्ग सघ, इत्यादि। विभिन्न कार्यो के लिए नियमानुसार विभिन्न सख्यक वर्गों की आवश्यकता होती थी। ] प्रस्ताव रखने (कम्मवाचा =कर्मवचन) की निश्चित विधि थी। प्रत्येक प्रस्ताव ( प्रतिज्ञा ) की ज्ञप्ति ( ञत्ति, सूचना ) विशेष निश्चित ढग से—एक बार (ञत्तिदुतीय कम्म मे) या

---

१. जातक २, ३८०, ४, १२० । ये उस समय के खूब प्रचलित शब्द थे।

तीन बार (अत्तिचतुत्थ कम्म मे)—दी जाती, और वैसा न करने से वह प्रस्ताव ग़ैरकानूनी (अधम्म) होता। फिर विधिवत् सम्मति (छन्द) लेने की प्रथा थी। मतभेद की दशा मे बहुमत से फैसला करने ( ये-भुय्यसिकम् = ये-भूयसीयकम् ) की रीति थी। सम्मति प्रकट ( विवटकम् ) रूप से, कान मे फुसफुसा कर ( सकण्णजप्पकम् ), तथा गुप्त (गूळ्हकम् ) रूप से दी जा सकती। गुप्त सम्मति ( गूळ्हक छन्द ) लेने के लिए रंगीन शलाकाये होती, और सम्मति गिनने वाला ( सलाका-गाहापक=शलाका-ग्राहक ) एक अधिकारी होता। अन्त मे अधिक विवादग्रस्त विषयो को उब्बहिका के सिपुर्द करने की पद्धति भी थी। बौद्ध सघ ने ये सब परिपाटियाँ प्रायः अपने समकालीन आर्थिक और राजनैतिक समूहो और संघों की सभाओ से ही ली थीं, और इसी लिए हम इन से उक्त समूहो और सघो की कार्यप्रणाली को समझ सकते है।

इसी से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि श्रेणि निगम पूग आदि समूहों के समय या सवित् विधिवत विचार के बाद निश्चित किये हुए स्पष्ट ठहराव होते थे न कि खाली रिवाज-मात्र। और उन के समय-धर्म (ठहराव-कानून) की हैसियत राज-धर्म के बराबर थी।

उक्त सब बाते हमे इस युग के वाङ्मय से मालूम हुई है। प्राचीन स्थानों की खुदाई से जो ठोस [illegible] मिले है, उन से इन परिणामों की पुष्टि हुई है। गोरखपुर से १४ मील दक्खिन-दक्खिन-पूरब राप्ती के दाहिने किनारे पर सोहगौरा नाम की प्राचीन बस्ती से एक छोटी सी ताँबे की पत्री पाई गई है, जिस पर वहाँ के दो कोट्ठागालों ( कोष्ठागारो, अनाज के भंडारो ) के विषय मे एक सासन ( शासन, आदेश ) खुदा है। वे कोष्ठागार वहाँ तीन महामार्गो के संगम पर तियवनि (त्रिवेणी घाट ?) मथुरा और चंचु ( गाज़ीपुर ? ) इन तीन नगरो से आने वाले बोझों को शरण देने के लिए, और विशेष आवश्यकता के समय (अतियायिकाय) सार्थों के काम आने के लिए बनवाये गये थे। उस शासन के एक किनारे पर उन तीनो नगरो के अपने अपने निशानो (लाञ्छनों या अङ्कों) की मोहरे है। लिपि भाषा और लेखशैली से सिद्ध होता

है कि वह ताँबे की पत्री मौर्य युग से पहले की है। वह भारतवर्ष के सब से पुराने लेखों में से एक है[1]। उस से यह सिद्ध है कि पूर्व-नन्द-युग के भारतीय नगर-निकायों का अपना अपना व्यक्तित्व था, उन के हाथ में शासन-शक्ति थी, उन के अपने निशान थे, और कि दूर दूर के नगर परस्पर मिल कर भी अनेक कार्य करते थे।

इसी प्रकार इलाहाबाद जिले के एक भीटे की खुदाई से एक प्राचीन विशाल नगरी में की एक बड़ी भव्य इमारत की बुनियाद और ढाँचा प्रकट हुआ है, और उस के दबे खँडहरों के ढेर में एक मोहर पाई गई है जिस पर लेख है—शहिजितिये निगमश। वे खँडहरों के ढेर भूमि के जिस स्तर में से निकले हैं वह अन्दाजन मौर्य युग का है, या कुछ पहले का हो सकता है, और उसी प्रकार उस मुद्रा पर की लिपि भी। खुदाई के संचालक सर जान मार्शल ने निगम का अनुवाद शिल्पियों का निकाय (guild) किया है[2]। वास्तव में उस अर्थ में हमारे वाङ्मय में श्रेणि शब्द है न कि निगम, और बिना कारण दोनों के प्रयोग में गोलमाल हुआ मानना उचित नहीं है। दूसरे मार्शल ने यह भी नहीं पहचाना कि सहिजिति उस नगरी का नाम था। सहजाति नगरी बौद्ध वाङ्मय में बहुत प्रसिद्ध है। बौद्धों की दूसरी संगीति के प्रमुख पात्र स्थविर रेवत से पक्ष-विपक्ष के भिक्खु वहीं पर मिले थे। रेवत अपने निवास-स्थान सोरेय्य ( सोरों, जि० एटा ) से चल कर सकाश्य ( सकीसा, जि० फर्रुखाबाद ) कन्नौज और दो और पड़ाव तय कर के सहजाति पहुँचे थे, और वहीं वैशाली के भिक्षु नाव द्वारा उन के पास उपस्थित हुए थे[3]।

---

१. उस की पूरी विवेचना के लिए दे० ज० रा० ए० सो० १९०७, पृ० ५०९ प्र।

२. पूरे ब्यौरे के लिए दे० आ० स० इ० १९११-१२ पृ० ३० प्र।

३. चु० व० १२।

इस वर्णन से सहजाति या सहिजिति का स्थान ठीक वही सूचित होता है जहाँ उक्त भीटा अब है । भीटा आजकल भी उस जगह का व्यक्तिवाचक नाम नहीं है; भीटा का शब्दार्थ है खेड़ा—पुराने खँडहरों की ढेरी। जमना-तट के उस भीटे को सहिजिति या सहजाति का भीटा ही कहना चाहिए। फलत. वह मोहर भी वणिजो के किसी निगम की नही, प्रत्युत सहिजिति नगरी के निगम की थी, और वह भव्य शाला उस निगम का सस्थागार।

## इ. जनपद या राष्ट्र का केन्द्रिक अनुशासन

उक्त छोटे छोटे सुसंगठित निकाय समूह या वर्ग राष्ट्र की बुनियाद थे। राष्ट्र की आर्थिक और सामरिक शक्ति उन्ही पर निर्भर थी। इसी कारण राष्ट्र के शासन मे उन का बहुत दखल था । युवराज के अभिषेक और अन्य राष्ट्रीय संस्कारो मे श्रेणिमुख्यों निगमजेट्ठको आदि को विशेष स्थान दिया जाता था।

यह सर्वसम्मत बात है कि राज्य के प्रधान अधिकारी जो राजा की परिषद् अर्थात् मन्त्रिपरिषद् मे सम्मिलित होते थे, विद्वान् ब्राह्मणो श्रेणि-मुख्यो आदि मे से ही चुने जाते थे। वे भले ही राजा द्वारा नियुक्त होते तो भी वे जनता के भिन्न भिन्न वर्गों के प्रतिनिधि होते। और परिषद् प्राचीन समिति के राजकृतः की ही उत्तराधिकारिणी थी। इसी कारण परिषद् प्रजा की तरफ से राजा पर कुछ नियन्त्रण अवश्य रखती थी।

जायसवाल का मत है कि श्रेणि निगम पूग आदि निकाय जिस प्रकार अपने अपने दायरे मे स्थानीय शासन करते थे, उसी प्रकार राजधानी या पुरी का निकाय पौर कहलाता, और राजधानी के सिवाय बाकी समूचे जनपद का निकाय जानपद कहलाता, और पौर-जानपद मिल कर राष्ट्र का शासन करने वाला सब से बड़ा निकाय था, जो प्राचीन समिति का स्थानापन्न था। पौर-जानपद मे धर्म और अर्थ को जानने वाले विद्वान् ब्राह्मणो के, क्षत्रिय गृह-पतियों ( कृषक-भूस्वामियो ) के, और कारुओ व्यापारियो और श्रमियो की

श्रेणियो और निगमो के प्रतिनिधि, विशेषत धनाढ्य लोग, रहते थे। यह विषय अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है। दूसरे विद्वान् पौरजानपदा से केवल 'नगर तथा जनपद के लोग' का अर्थ लेते है, और पौर-जानपद को कोई सगठित संस्था नही मानते। किन्तु एक तो इस कारण कि पौर-जानपद को समूह (निकाय) कहा गया है, तथा दूसरे उस स भी बढ कर इस कारण कि पौर के तथा जनपद सघ के समय तथा सवित् ( ठहरावो ) का उल्लेख है, और उसे ही जानपद धर्म कहा गया है, मुझे जायसवाल जी का मत निराधार नही प्रतीत होता[1]।

राजा प्रजा से जो उस की कमाई का अश लेता है वह सेवा के बदले मे राजा की भृति है, यह विचार आर्य राज्यसस्था मे शुरू से था। इस युग मे हम इस का यह मनोरञ्जक रूप पाते है कि प्रजा के धर्माधर्म की कमाई का भी अश राजा को मिलता है[2]।

## उ. सार्वभौम आदर्श की साधना

सार्वभौम आदर्श पूर्व-नन्द-युग की विशेष साध थी। इस नये परिवर्त्तित काल मे जब कि नये व्यावसायिक और राजनैतिक निकाय बन रहे थे, जब एक नये धर्म का चातुर्दिश सघ अपने चक्र को समूची भूमि पर चलाने के स्वप्न ले रहा था, राजनैतिक विचारको के मन मे भी सार्वभौम धुन समाई हुई थी। पुराने छोटे छोटे क्षेत्रों वाले राजवश ( § ७५ ) इस नये शक्ति-युग मे उन्हे तुच्छ और निरर्थक दीख पडने लगे थे। वे अब क्यो बने रहे, इस का कोई प्रयोजन प्रतीत न होता था। ऐसे कई निर्घृण अर्थोपदेशक पैदा हो गये थे जिन का कहना था कि निकम्मे और निर्बल राजवशो को बल से वा छल से जैसे बने मिटा देना चाहिए। कणिङ्क भारद्वाज वैसा एक आचार्य था, जिस के मतो का उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इस युग ( ६००—४०० ई० पू० ) मे सार्वभौम आदर्श को वस्तुतः वैसी सफलता

१. दे० ❀ १६।
२. गौत० ११, ११।

मिली जैसी पहले कभी न मिली थी, और मगध का पहला स्थायी साम्राज्य पुराने राजवशो को दबा कर खड़ा हुआ, सो हम देख चुके है।

सार्वभौम आदर्श की साधना मे छोटे निकायो की स्वतन्त्रता बाधक और सहायक दोनो हो सकती थी। विभिन्न जनपदो नगरियो निगमो और श्रेणियो के निकाय जैसे अपने छोटे राजा के अधीन रह सकते थे वैसे ही एक बड़े साम्राज्य के भी। किन्तु श्रेणियों और निगमो के आर्थिक संगठन ही साम्राज्य-शक्ति की बुनियाद थे, और उन्हीं के बल पर इस युग का साम्राज्य खडा हुआ था।

## § ११५. 'धर्म' और 'व्यवहार' (कानून) की उत्पत्ति और स्थापना

छोटे बड़े निकायों वर्गों या समूहों के समयों की जो विवेचना ऊपर की गई है, वह हमे एक बडे महत्त्व के प्रश्न पर पहुँचा देती है। हम देख चुके हैं कि पूर्व-नन्द युग धर्म और अर्थ ( राजनीति, अर्थनीति ) की विवेचना का युग था। उसी युग मे पहले-पहल धर्म और व्यवहार अर्थात् पारलौकिक और लौकिक अथवा धार्मिक और व्यावहारिक कानून सूत्रबद्ध किया गया। किन्तु इसी युग मे कानून क्यो सूत्र-बद्ध होने लगे ? और उन का उद्भव और आधार क्या था ? ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिन की विवेचना हमे करनी होगी। उस विवेचना मे समूहों या वर्गों के समयों का विशेष स्थान है। किन्तु इस विवेचना से पहले धर्म और व्यवहार का ठीक ठीक अर्थ तथा दोनो का परस्पर-सम्बन्ध स्पष्ट समझना चाहिए।

मनुस्मृति याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि स्मृति ग्रन्थो या धर्मशास्त्रो का कानून हिन्दू समाज मे व्यक्तिगत कानून के रूप मे आज तक चलता है। ये स्मृतियाँ श्लोकबद्ध हैं; और कुछ बरस पहले तक यह विचार प्रचलित था कि इन श्लोकबद्ध स्मृति-ग्रन्थो का ही नाम धर्मशास्त्र था। इन स्मृतियो के कानून का उद्भव क्या था ? इस सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त मान लिया गया था कि प्रत्येक स्मृति एक निश्चित धर्मसूत्र पर न केवल निर्भर है, प्रत्युत उस का रूपान्तर मात्र है; इस लिए प्रत्येक स्मृति का परोक्ष रूप से किसी न किसी वैदिक शाखा से

सम्बन्ध है, और उन वैदिक शाखाओ या चरणो मे ही भारतवर्ष के प्राचीन कानूनो का विकास हुआ। विष्णुस्मृति अशत काठक धर्मसूत्र पर निर्भर है, इस पर कोई विवाद नही है। इसी प्रकार मनुस्मृति या मानव धर्मशास्त्र के विषय मे यह मान लिया गया था कि वह एक मानव धर्मसूत्र का पुनःसस्करण मात्र है, और कि वह मानव धर्मसूत्र आजकल उपलभ्य मानव गृह्यसूत्र के साथ एक मानव कल्प-सूत्र का अश रहा होगा। यह मत एक तरह से सर्वसम्मत सिद्धान्त बन चुका था, कौटिलीय अर्थशास्त्र पाया जाने पर पहले-पहल श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने इस का विरोध किया, और फिर अपने टागोर व्याख्यानों मे उन्हो ने इस का पूरा पूरा प्रत्याख्यान किया। उन्हो ने दिखलाया है कि धर्मशास्त्र शब्द का प्रयोग पतञ्जलि ने धर्मसूत्रो के लिए भी किया है, कि स्मृतियो के विषय-क्षेत्र मे धर्मसूत्रो के विषय-क्षेत्र के अतिरिक्त अर्थशास्त्र की धारा भी आ मिली है, और कि मानव धर्मसूत्र की कल्पना निराधार है, स्मृतियो का वैदिक चरणो से कोई सीधा सम्बन्ध नहा है। फिर उन्हो ने दिखलाया है कि धर्मसूत्रो मे जो राजधर्म है, वे केवल पाँच सात उपदेश या आदेश है[1], जिन मे देश के समूचे दीवानी और फौजदारी विधान किसी तरह नहीं समा सकते। लेन-देन, क्रय-विक्रय, रेहन, धरोहर, ऋण और ऋण-शोध, भृति और दासत्व, सम्पत्ति का स्वत्वपरिवर्तन आदि विषयक असल दीवानी कानून, एव अनेक अपराधो से सम्बन्ध रखने वाला फ़ौजदारी कानून उन मे कही भी नही है।

उस प्रकार के कानून कौटिलीय अर्थशास्त्र के धर्मस्थीय और कण्टक-शोधन अधिकरणो मे हैं, जो क्रमश. धर्मस्थों अर्थात् दीवानी मामलों के न्यायाधीशो और कण्टकशोधकों अर्थात् फौजदारी न्यायाधीशो की राहनुमाई के लिए है। कौटिल्य से पहले भी अर्थशास्त्र के सम्प्रदायो मे उन विषयो का विचार होता

---

१. दे० ऊपर § ११२ इ।

चला आता होगा। अर्थशास्त्र का वह सब लौकिक कानून व्यवहार कहलाता था। यों व्यवहार का मुख्य अर्थ इकरार ( contract )-सम्बन्धी कानून था; किन्तु लौकिक कानून में क्योंकि वही मुख्य होता है, इसी कारण समूचे कानून का नाम व्यवहार पड़ गया। महाजनपद-युग में हम पहले-पहल वोहारिक अमच्च ( व्यावहारिक अमात्य ) नामक न्यायाधीशों की सत्ता देखते हैं[1]—शायद व्यवहार का उदय पहले-पहल उसी युग में हुआ था। धर्म प्रायश्चित्तीय थे, उन के टूटने पर प्रायश्चित्त करने से दोष दूर हो सकता था, व्यवहार का उल्लंघन होने पर राजदण्ड मिलता था। कई प्रश्न ऐसे थे जो धर्म और व्यवहार दोनों के शास्त्रों के विचार में आ जाते थे। किन्तु दोनों की दृष्टि में थोड़ा भेद था। अर्थ जिस प्रश्न पर केवल भौतिक लाभालाभ की दृष्टि से विचार करता, धर्म उसी को सदाचार की—उचितानुचित की—दृष्टि से भी देखता था। अर्थ के विचारकों में से बार्हस्पत्य जैसे कुछ सम्प्रदाय भी थे जो धर्म की दृष्टि को बिलकुल फालतू समझते थे; और औशनस सम्प्रदाय के विचारक तो यह देख कर कि भौतिक लाभालाभ का मूल भी शक्ति है केवल राजनीति को ही एकमात्र शास्त्र कहते थे। किन्तु सयाने विचारक धर्म और अर्थ की दृष्टि में समतुलन रखते थे।[2]

कानून के विभिन्न स्रोतों की आपेक्षिक हैसियत गौतम धर्मसूत्र के राजधर्म-प्रकरण के निम्नलिखित सूत्रों से विदित होती है—

तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्।
देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्।
कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवश्च स्वे स्वे वर्गे।
११, १९—२१।

---

१. दे० ऊपर § ९२।
२. ऊपर § ११२ उ।

"उस ( राजा ) के लिए व्यवहार, वेद, धर्मशास्त्र, अङ्ग, उपवेद, पुराण,—और देश जाति कुल के धर्म जो आम्नायो के विरुद्ध न हो, प्रमाण हैं। और किसान वणिज् पशुपालक महाजन और शिल्पी अपने अपने वर्ग मे।"

इस गिनती मे व्यवहार का पहला स्थान है, वेद उस के पीछे है। धर्मशास्त्र अगो से अलग है—अर्थात् धर्मसूत्र वेदाङ्गो से स्वतन्त्र हो चुके थे। पुराण अर्थात् प्राचीन इतिहास मे भी कर्तव्याकर्तव्य जाना जाता था, आपस्तम्ब मे भी पुराण के तीन उद्धरण है सो पीछे ( § ११२ ऋ ) कह चुके है। देश जाति और कुल के धर्मों की भी वही हैसियत थी, कृषक कारु आदि की श्रेणियो की व्यवस्थाये अपने अपने वर्ग पर लागू होतीं थी। देश के धर्म यानी जानपद धर्म। जाति और कुल का अर्थ सम्भवत जन और उन के फिरके हैं, क्योकि इस युग तक भी भारतीय समाज के कई अश जनमूलक रहे होगे।

किन्तु देश के और भिन्न भिन्न वर्गिया के धर्म क्या थे ? क्या खाली उन के रिवाज ? और धर्मशास्त्रो मे जो धर्म और अर्थशास्त्रो या व्यवहारशास्त्रो मे जो व्यवहार सूत्रित किया गया था, उस का भी आधार क्या था ? क्या वे ग्रन्थ स्वत प्रमाण थे ? अर्थात् क्या एक लेखक के ग्रन्थ मे लिख देने से ही कोई बात कानून हो जाती थी ? या उन लेखको को किसी विशेष शक्ति से अधिकार मिला था ? या उन ग्रन्थो मे पुराने रिवाजो का सग्रह और विवेचन था, और वैसा होने के कारण ही उन की प्रामाणिकता मानी जाती थी ? दूसरे शब्दो मे क्या रिवाज ही कानून था ?

इस प्रकार हम अपने पहले प्रश्न पर लौट आते है। यह कहने से कि रिवाज ही कानून था, असल प्रश्न सुलझता नहीं है। क्योकि रिवाज का अर्थ है पुरानी प्रथा या पद्धति, और पिछले युगो मे जो प्रथा या पद्धति प्राचीन

दीखने लगी, पहले किसी युग मे उसी का आरम्भ हुआ था, और हम यहाँ ठीक उसी युग की बात कह रहे हैं जब कि धर्म और व्यवहार पहले-पहल सूत्रबद्ध होने लगा था। क्या उन्हे सूत्रित करने वाले शास्त्र उस युग मे भी केवल पुरानी प्रथाओ और पद्धतियो का संग्रह करते हैं, या किसी अश तक नया धर्म और व्यवहार बनने की—या धर्म और व्यवहार मे परिवर्तन होने की—भी गुञ्जाइश रखते है? और जिस अश तक वे पुरानी पद्धति का संकलन करते है, उस का भी मूल वे क्या बतलाते है?

हम ने देखा कि गौतम धर्मसूत्र देश जाति और कुल के धर्मो को तथा कृषक कारुओ आदि के वर्गो के निश्चयो को राजा के लिए प्रमाण बतलाता और उन की व्यवहार और वेद के समान हैसियत कहता है। राजा और उस के मन्त्री के विषय मे गौतम कहता है कि उन्हे लोक और वेद जानना चाहिए, सामयाचारिक धर्मो मे शिक्षित होना चाहिए[1]। लोक का अर्थ टीकाकार करता है—लोकव्यवहारसिद्ध जनपदादि के धर्म। सामयाचारिक का अर्थ स्पष्ट है—समय से सिद्ध आचार का। प्रश्न यह है कि वे वर्गो की व्यवस्थाये और देश या जनपद आदि के धर्म क्या खाली रिवाज थे या सोच विचार कर किये हुए ठहराव? इस प्रश्न पर सामयाचारिक शब्द प्रकाश डालता है। उपलब्ध धर्मसूत्रो मे से सब से प्राचीन का लेखक आपस्तम्ब न केवल लौकिक व्यवहार को प्रत्युत अपने समूचे प्रायश्चित्तीय धर्मो को भी सामयाचारिक कहता है। वह अपने ग्रन्थ का आरम्भ ही यो करता है—

अब हम सामयाचारिक धर्मों की व्याख्या करेंगे ॥१॥
धर्मज्ञों का समय प्रमाण है ॥२॥
और वेद भी ॥३॥[2]

---

१. गौत० ८, ४, ११।
२. आप० १.१.१. १—३।

आगे भी जगह-ब-जगह आपस्तम्ब अपनी व्यवस्था की पक्ष-पुष्टि के लिए कहता है—यही सामयाचारिक है, यही आर्यों का समय है[1], इत्यादि। समय का अर्थ पिछले टीकाकार प्राय करते हैं—पौरुषेयी व्यवस्था, पुरुषों की की हुई व्यवस्था। किन्तु वह व्यवस्था कैसे की जाती थी, इस पर वे प्रकाश नहीं डालते। समय शब्द स्वय उस प्रश्न को हल करता है। उस का यौगिक और आरम्भिक अर्थ है—मिल कर, सगत हो कर, किया हुआ ठहराव ( सम्-अय, अय का मूल धातु इ ) उस शब्द का वही अर्थ उन ग्रन्थो मे सदा घटता है[2]। पिछली स्मृतियो मे भी हम समय का वही अर्थ देखेंगे[3]। फलत आपस्तम्ब के अनुसार सब धर्मों का मूल समय अर्थात् ठहराव ही थे। आरम्भ मे सभी धर्म सामयाचारिक—ठहराव-मूलक थे, धर्मज्ञो का—जिन्हे धर्म या कानून बनाने का अधिकार था उन का—समय या मिल कर किया हुआ ठहराव ही धर्म के विषय मे प्रमाण था। पुराने ठहरावो की धीरे धीरे एक पद्धति बनती गई, पर अनिश्चित धर्मो का निश्चय आपस्तम्ब के युग मे भी परिषदों द्वारा होता था[4]। गोतम धर्म के क्षेत्र मे वेद की प्रामाणिकता को पहला स्थान देता है, और परिषद् की सदस्यता सीमित कर के उस का कार्य केवल सन्दिग्ध अर्थों के निश्चय करने तक परिमित कर देता है[5]। ज्यो ज्यो प्रथाये और पद्धतियाँ स्थिर होती गईं, धर्म के शास्त्र या ग्रन्थ बनते गये, उन ग्रन्थो का प्रभाव इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढता गया। आपस्तम्ब के समय तक विभिन्न जनपदो के

१. वही १.२ ७. ३१, १ ४ १२ ६ आदि।

२. उदाहरण के लिए आप० १ ४. १३ १० में टीकाकार **समय** का अर्थ करता है—शुश्रूषा। एक जगह व्यवस्था, दूसरी जगह शुश्रूषा, दोनों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। पर ठहराव या इकरार का अर्थ इस दूसरे प्रसग में भी ठीक घटता है। इसी प्रकार गौत० १८.१० तथा आश्व १ ६ १. में भी।

३. दे० नीचे §§ १४१,१६४ ऋ।

४ आप० १ ३ ११ ३८।

५. गौत० १, १—४, २८ ४६—४८।

आर्यों का एक वृत्त या आचार-पद्धति भी बन चुकी थी। वह बड़े रुचिकर ढग से कहता है—जिस काम को करने से आर्य प्रशंसा करें वह धर्म है, जिस की गर्हा करें वह अधर्म[1]।

पूर्व-नन्द-युग का कोई अर्थशास्त्र उपलब्ध नहीं है; पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी उक्त बातों की पुष्टि होती है ( दे० नीचे § १४१ )। हम ने यह भी देखा है कि इस युग के निकायों या समूहों के ठहराव एक परिष्कृत परिपाटी से विचार करने के बाद मिल कर किये हुये निश्चय होते थे, न कि आरम्भिक जत्थों या ग्रामों के घरेलू फ़ैसले।

हम ने देखा कि इस युग में जो आचार प्रथा या पद्धति बन चुके थे, वे भी आरम्भ में बहुत कुछ समय-मूलक ठहराव ही थे। किन्तु पुराने काल में श्रेणि निगम पूग सघ गण आदि समूह न थे, केवल जनमूलक ग्राम और जन की समिति तथा सभा थी। जन और ग्राम एक तरह के पारिवारिक जत्थे थे, न कि विचारपूर्वक बने हुये निकाय। उन जत्थों की ठहराव करने की परिपाटी भी उतनी परिष्कृत और पूर्ण न रही होगी। तो भी जो कुछ प्राचीन धर्म था वह प्रायः उन्हीं के समयों अर्थात् ठहरावों की उपज था; और श्रुति भी तो उसी समाज के विचारों का प्रकाश था।

क्या कारण था कि वे प्राचीन धर्म और व्यवहार पहले सकलित नहीं किये गये, और अब महाजनपद-युग या पूर्व-नन्द-युग में ही सूत्रबद्ध किये जाने लगे? उन के सुस्पष्ट सूत्रबद्ध किये जाने में मूल प्रेरणा क्या थी? वास्तव में जिस प्रेरणा ने इस युग में नये व्यावसायिक राजनैतिक और धार्मिक निकायों को जन्म दिया था, और जिस ने उन निकायों और सघों की विचार-परिपाटी को उतना परिष्कृत बना दिया था, उसी ने धर्मों और व्यवहारों को सूत्रित करने की प्रवृत्ति को भी जगाया था। समाज का जीवन अब परिपकता की एक विशेष अवस्था पर पहुँच रहा था, जिस में प्रत्येक व्यक्ति

---

1 आप० १, ७, २०, ७–८।

और वर्ग के अधिकारो और कर्तव्यो को स्पष्ट समझने और सूत्रित करने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसी परिपक्वता के कारण विभिन्न धन्दे करने वाले विविध श्रेणि समूहो का पृथक् पृथक् उदय हो गया था, इसी के कारण उन की सभाओ मे बाकायदा विचार करने की परिपाटी चली, और इसी के कारण कानून को विधिवत् सूत्रित करने का आरम्भ हुआ।

ध्यान रहे कि यदि देश मे कोई पौर-सघ और समूचे देश का जानपद-सघ भी था, और उस के भी समय होते थे तो इस का यह अर्थ होगा कि न केवल स्थानीय प्रत्युत केन्द्रिक शासन भी बहुत कुछ विधिवत् किये हुए ठहरावो से चलता था, न कि केवल रिवाज या राजा की स्वेच्छाचारी आज्ञाओ से।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के दृष्टि-भेद के विषय मे पीछे कुछ कहा गया है। वैदिक चरण और अर्थ के सम्प्रदाय दोनो अपनी अपनी दृष्टि से राष्ट्र के जीवन पर विचार करते और धर्म की मर्यादा तथा राज्य की नीति की व्याख्या करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के विचारक समूहों और वर्गों को स्वतन्त्रता तथा उन के समयों की रक्षा पर अधिक बल देते थे, अर्थ के कई उपदेशक तो एकराज्य या साम्राज्य की सुविधा के अनुसार छोटे निकायो को दबाने या नष्ट करने की और स्वेच्छाचार को नीति मे भी सकोच न करते थे।

## § ११६. सामाजिक जीवन

सामाजिक ऊँचनीच सदा समाज के व्यावसायिक और राजनैतिक जीवन के अनुसार ही होती है। महाजनपद-युग मे हम जो अवस्था देख आये हैं ( § ८६ अ ), उस से पूर्व-नन्द-युग की अवस्थाओ मे केवल कुछ अधिक परिपक्वता आ गई थी, और विशेष अन्तर नहीं था। विनयपिटक के एक सन्दर्भ[1] मे हम इस युग को ऊँचनीच का ठीक चित्र पाते हैं—

---

1. सुत्तविभङ्ग, पाचित्तीय, २, २, सा० जी० पृ० ३७८ पर उद्धृत।

"जातियाँ दो हैं—हीन जाति और उत्कृष्ट जाति। हीन जाति कौन सी?—चाण्डाल जाति वेण जाति नेषाद जाति रथकार जाति पुक्कस जाति यह हीन जाति है। उत्कृष्ट जाति कौन सी?—क्षत्रिय जाति ब्राह्मण जाति यह उत्कृष्ट जाति है।..

शिल्प दो है—हीन शिल्प और उत्कृष्ट शिल्प। हीन शिल्प जैसे नळकार (चटाई बुनने का)-शिल्प, कुम्हार का शिल्प, हरकारे का शिल्प, चमार का शिल्प, नाई का शिल्प, और जो उन उन जनपदो मे ...अवज्ञात .. 'परिभूत हो (हीन समझा जाता हो)। उत्कृष्ट शिल्प जैसे मुद्रा-गणना लेख अथवा उन उन जनपदो मे .. '(जो ऊँचा गिना जाता हो)।... हीन कर्म जैसे कोठा बनाने का काम, (मन्दिरो से सूखे) फूल बटोरने का काम, उत्कृष्ट कर्म जैसे कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा।"

इस से स्पष्ट है कि कृषक कुनबी (कुटुम्बी—गृहपति), बनिया, ग्वाला, हरकारा, सराफ, नाई, कुम्हार, चमार आदि सब भिन्न भिन्न जनपदो की स्थिति के अनुसार ऊँचे-नीचे काम और शिल्प थे; ये सब जातें नही थीं। चण्डाल वेण निषाद आदि के भी विशेष कार्य और पेशे थे, किन्तु ये वास्तव मे अनार्य जातियाँ या नस्लें थीं, इसी कारण उन्हे यदि हीन गिना जाता था तो उन के नस्ल-भेद के कारण। शूद्र यद्यपि आर्यों के समाज का एक दर्जा बन गये थे, तो भी वे भिन्न जाति के थे; उन मे और आर्यो मे इस युग तक भी रंग का स्पष्ट भेद चला आता था; वे कृष्ण-वर्ण थे[1]। आर्य जाति की शुद्धता के पक्षपाती आर्यो के साथ शूद्रो का सम्प्रयोग (मिलना-जुलना) भरसक रोकने की चेष्टा करते थे—उन का आदेश था कि आर्य शूद्र का भोजन भी ग्रहण न करे, यद्यपि विशेष अवस्थाओ मे उन्हे इस निषेध का अपवाद करना पड़ता था[2]। तो भी व्यवहार मे वह सम्प्रयोग रोका न जा सकता था; इस का स्पष्ट प्रमाण यह है कि आर्य स्त्री का शूद्र-गमन बहुत से

---

१. आप० १. ६. २७. ११।

२. वहीं १. ६. १८. १४।

धर्मशास्त्रियों के अनुसार निषिद्ध मांस खाने की तरह केवल एक अशुचिकर कर्म था, कुछ ही लोग उसे पतनीय ( पतित करने वाला ) मानते थे[1]।

हम ने देखा था कि महाजनपद-युग में पुराने कुलीन क्षत्रियों में अपने कुल की उच्चता का विशेष भाव ( गोत्तपटिसारियो ) था। वह भाव अब बढ कर इतना परिपक्व हो चुका था कि क्षत्रिय अपने को एक जाति कहने लगे थे, और ब्राह्मण भी उन्हीं के नमूने पर अपने को एक जाति गिनना चाहते थे[2]। क्षत्रियों और ब्राह्मणों में अपनी जाति की या जन्म की पवित्रता के भाव का उदय हो गया था। किन्तु वास्तव में क्षत्रिय जाति और ब्राह्मण जाति कल्पित जातियाँ थीं, वे दूसरे आर्य कृषकों शिल्पियों और व्यापारियों से भिन्न जातियाँ न थीं। और ब्राह्मणों को एक जाति मानने की बात अभी तक विवादग्रस्त थी। बहुत से ब्राह्मण स्पष्ट यह कहते थे कि ब्राह्मणपन का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं, व्रत और शील से है[3]—

न जच्चा ब्राह्मणो होति न जच्चा होति अब्राह्मणो।
कम्मना ब्राह्मणो होति कम्मना होति अब्राह्मणो॥

यह कहना भी गलत होगा कि कर्म के अनुसार समाज का ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चार वर्णों में बँटवारा हो गया था। चाहे जन्म से चाहे कर्म से चार वर्णों में समाज को बाँटने का विचार केवल वैदिक विचारकों का था, और वे भी कभी स्पष्ट रूप से अपने समाज को चार वर्णों में न बाँट पाते थे, उन्हें मिश्रित वर्णों की कल्पना करनी पडती थी[4], जो वस्तुतः

---

१. वहीं १ ७. २१. १३, १६।

२ दे० ॐ २०।

३. सु० नि०, वासेट्ठसुत्त ( ३५ ) वत्थुकथा, तथा ६५०।

४. नमूने के लिए गौत० ४. १४-१५।

निरर्थक थी[1]। उस युग के साधारण लोग जब अपने भारतीय समाज का कर्म के अनुसार बँटवारा करते तब कस्सक (कृषक), सिप्पक (शिल्पी या कारु), वाणिज, पेस्सिक (प्रेष्य, जिसे भेजा जाय, सन्देशहर, हरकारा) चोर, योधाजीव (भाड़े का सिपाही), याजक (पुरोहित), राजा इत्यादि ढंग से करते थे[2]। और जब वे अपने समाज की जातियाँ गिनते तब क्षत्रिय जाति तो प्राय: एक गिनी ही जाति थी, ब्राह्मण को भी कोई जाति गिनते और कोई न गिनते थे, पर उन के मुकाबले मे वैश्य और शूद्र नाम की कोई जातियाँ न थी, प्रत्युत चण्डाल वेण निषाद पुक्कस आदि जातियाँ थी, जो वस्तुत: जातियाँ थी। क्षत्रिय और ब्राह्मण नाम की कल्पित जातियो का उदय इस युग की नवीनता थी।

इसी युग मे जब कि धर्म और व्यवहार पहले-पहल सूत्रित किये गये, हम विवाह-प्रकारो का वर्गीकरण करने के सर्व-प्रथम प्रयत्न होते देखते हैं। मानव गृह्य सूत्र के अनुसार विवाह दो प्रकार के हैं—एक ब्राह्म, दूसरे शौल्क[3]—एक मे सस्कार मुख्य बात थी, दूसरे मे शुल्क। हिरण्यकेशी, पारस्कर आदि गृह्य सूत्रों मे विवाह के भेदो का कही नाम नहीं है, पर आश्वलायन मे हम पहले-पहल आठ भेदो का उल्लेख पाते है[4], और फिर धर्मसूत्रों मे उसी बात को दोहराया देखते है[5]।

---

१. दे० नीचे § ११५ अ।
२. सु० नि० ६१२—१६, ६५०—५२।
३. मानव गृ० सू० १ ७. ११।
४. आश्व० १. ६. १।
५. गौत० ४. ४—११।

विधवा-विवाह और नियोग इस युग मे भी खूब प्रचलित थे, किन्तु उन्हे सीमित करने की एक हलकी सी चेष्टा धर्मसूत्रो मे दीख पडती है[1]।

आर्यों का खाना पीना पहले की अपेक्षा परिष्कृत होता जाता था। कई प्रकार के मास—जैसे एक खुर वाले जानवरो, ऊँट, ग्राम्य सूकर आदि के—अभक्ष्य गिने जाने लगे थे। तो भी गोमास इस युग तक भक्ष्य था, और अतिथि के आने पर, विवाह मे तथा श्राद्ध मे वह आवश्यक गिना जाता था[2]।

---

१. वही १८ ४ प्र।

२. आप० १. ५. १७. २९ ३१, आपस्तम्ब गृ० सू० १. ३. ६।

## ग्रन्थनिर्देश

वाङ्मय के विषय में—

प्रा० अ० पृ० ४३—५१ ( पुराण )।

बु० इ० अ० १० ( बौद्ध वाङ्मय )।

हि० रा० पृ० ४ टि० ४ ( अर्थ-वाङ्मय )।

तैलंग—भगवद्गीता का अंग्रेज़ी अनुवाद, सैक्रेड बुक्स आव दि ईस्ट ( प्राच्य-धर्म-ग्रन्थ-माला ) जि० ८, भूमिका।

टिळक—भगवद्गीतारहस्य, गीता की बहिरंगपरीक्षा।

पाणिनि की तिथि के विषय में दे० ❀ २४।

रामायण का तिथि-निर्णय याकोबी ने अपने द्वारा रामायण में किया है।

आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन के विषय में—

हिं० रा० § ४३, अ० ११-१२, अ० २७-२८ में विशेष कर §§ २४६—५३, २५८-५६, २६१, २६४-६५, २७४—८२, २८३ ख, २८५, २८७ क; §§ २६४, २६६, ३०१, ३०३, ३१७, ३३६, ३६४।

सा० जी०, पृ० २४-२५, १०७—६, १२६, १३८-३६, १४२, ३५१—५४, ३७८—८०।

मनु और याज्ञ०, व्याख्यान १; तथा परिशिष्ट अ ( पृ० ५३-५४ ) जिस में धर्मसूत्रों की तिथिविवेचना है।

वै० शै०, सम्बद्ध अंश।

# परिशिष्ट उ

## घटनावली की तालिकाये और तिथियाँ

सभी तिथिया ईसवी पूर्व की है, तथा जो तिथियां बारीक पाइका टाइप मे छापी गई है उन के सिवाय सभी लगभग है। विभिन्न मतो के विषय मे दे ❀ २२।

### [१] शैशुनाको से पहले की घटनायें

| घटना | तिथि जायसवाल के अनुसार | अन्य विद्वानो का मत |
|---|---|---|
| वेदो की रचना | | १२००—८०० (मैक्स मुइलर) |
| वसु चैद्योपरिचर, मगध के बार्हद्रथ वश का सस्थापक— | १७२७ | |
| भारत-युद्ध, वैदिक काल की समाप्ति, उत्तर वैदिक (ब्राह्मण-उपनिषद्-) काल का आरम्भ— | १४२४ | १४७१ (ओझा)<br>९५० (पार्जीटर)<br>८०० ( मै० मु०) |
| पश्चिमी एशिया मे बोगाजक्योई का लेख जिस मे वैदिक देवताओ का उल्लेख है— | | १४०० (सर्वसम्मत) |
| परीक्षित् का अभिषेक, कलियुग का आरम्भ— | १३८८ | |
| हस्तिनापुर का राजा अधिसीमकृष्ण जिस के समय पुराण पहले-पहल सकलित हुआ— | ११६७—११३२ | ८५० (पार्जीटर) |
| हस्तिनापुर का बहना ( अधिसी० के बेटे के समय), कुरु लोगो का कौशाम्बी मे बसना— | | ८२० (पार्जीटर) |
| ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा उपनिषदो की रचना— | | ८००—६०० (मैक्स मुइलर) |

## [२] शैशुनाक तथा नन्द-वंश-कालीन घटनायें

| घटना | तिथि जायसवाल के अनुसार | तिथि मुनि कल्याण-विजय के अनुसार | तिथि अ० हि० (३ सस्क) के अनुसार | तिथि अ० हि० (४ संस्क) के अनुसार |
|---|---|---|---|---|
| मगध मे बार्हद्रथ वश समाप्त कर शिशुनाक ने राज्य लिया [ अवन्ति मे वीतिहोत्र वंश जारी ] | ७२७ | | ६०२ | ६४२ |
| कोशल द्वारा काशी पर पहली चढ़ाई | ६७५ | | | |
| महावीर का जन्म | ६२६ | ६०१ | | |
| राजा महाकोशल द्वारा काशी का विजय | ६२५ | | | |
| बुद्ध का जन्म | ६२४ | ६२४ | ५६७ | ६२४ |
| अग मगध मे सम्मिलित बिम्बिसार मगध का राजा [ कोशल मे प्रसेनजित् ] | ६०१—५५२ | ६०१—५५२ | ५३०—५०२ | ५८२—५५४ |
| अवन्ति मे वीतिहोत्र वश का अन्त कर प्रद्योत गद्दी पर बैठा | ५६८ | | | |
| अजातशत्रु मगध का राजा [ कौशाम्बी मे उदयन ] | ५५२—५१८ | ५५२—५१८ | ५०२—४७५ | ५५४—५२७ |
| नये राजगृह की स्थापना | ५५२ | | | |
| मगध-कोशल-युद्ध | ५५१ | | | |
| वत्स-अवन्ति का मेल | ५५० | | | |
| प्रद्योत की मृत्यु, पालक अवन्ति का राजा बना | ५४५ | | | |
| महावीर का निर्वाण | ५४५ | ५२८ | | |
| बुद्ध का निर्वाण | ५४४ | ५४४ | ४८७ | ५४४ |
| अजातशत्रु ने वैशाली जीती | ५४० | | | |

| घटना | तिथि जायसवाल के अनुसार | तिथि अ० हि० (३ सस्क) के अनुसार | तिथि अ० हि० (४ सस्क) के अनुसार |
|---|---|---|---|
| पारस के कुरु ने बावेरु जीता | ५३८ | (सर्वसम्मत) | |
| कुरु की मृत्यु | ५२८ | (सर्वसम्मत) | |
| दारयवहु पारस की गद्दी पर आया | ५२१ | (सर्वसम्मत) | |
| पालक का अवन्ति की गद्दी से उतारा जाना, गोपालबालक उर्फ विशाखयूप का गद्दी पर बैठना | ५२१ | | |
| दर्शक मगध का राजा | ५१८—४८३ | ४७५—४५१ | ५२७—५०३ |
| दारयवहु ने पञ्जाब का उत्तर-पच्छिम आँचल जीता | ५०५ | (सर्वसम्मत) | |
| दारयवहु की मृत्यु, ख्शयार्श पारस का सम्राट् हुआ | ४८५ | (सर्वसम्मत) | |
| अज उदयी मगध का राजा | ४८३—४६७ | ४५१—४१८ | ५०३—४७० |
| उदयी अवन्ति का अधिपति बना | ४८१ | | |
| पाटलिपुत्र की स्थापना | | | |
| विशाखयूप का अन्त | ४७१ | | |
| अनुरुद्ध मगध का राजा | ४६७—४५८ | | |
| नन्दिवर्धन मगध का सम्राट् | ४५८—४१८ | ४१८— | ४७०— |
| नन्द-सवत् का आरम्भ | ४५८ | | |
| कलिंग मगध साम्राज्य मे सम्मिलित | | | |
| बौद्धो की दूसरी सगीति | ४४० | | |
| उत्तरपच्छिम पञ्जाब से पारसी सत्ता उठी | ४२५ | | |
| अवन्ति मगध-साम्राज्य का प्रान्त बनाया गया | | | |
| मुण्ड मगध का सम्राट् | ४१८—४१० | | |
| महानन्दी मगध का सम्राट् | ४०९—३७४ | | |
| महानन्दी के दो बेटे मगध की गद्दी पर | ३७४—३६६ | | |

## नव नन्द वंश

| घटना | तिथि जायसवाल के अनुसार | तिथि अ. हि. (३रे संस्क०) के अनुसार | तिथि अ.हि. (४थेसस्क०) के अनुसार |
|---|---|---|---|
| महापद्म नन्द मगध का सम्राट् | ३६६—३३८ | ३७०— | ४१३— |
| धन नन्द ,, ,, | ३३८—३२६ | | |
| सिकन्दर पञ्जाब मे | ३२६ | (सर्वसम्मत) | |
| **मौर्य वंश** | | | |
| चन्द्रगुप्त मगध की गद्दी पर | ३२६-२५ —३०२ | ३२२— | |

## टिप्पणियाँ

### * १५. नाग आक्रमण तथा कुरु राष्ट्र का विनाश

भारत युद्ध के बाद की अवस्था का पार्जीटर ने इस प्रकार वर्णन किया है—"युद्ध मे जो क्षत्रियो का भारी सहार हुआ उस से राज्यो मे अस्थिरता और और निर्बलता आ गई होगी, विशेष कर उत्तरपच्छिम के राज्यो मे जिन का सीमान्त की विरोधी जातियो से सामना था। फलत इस मे कुछ आश्चर्य नहीं कि उस समय के वृत्तान्त विश्रृङ्खलता ( disorganisation ) सूचित करते है। नागो ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया, और हस्तिनापुर पर हमला किया। इस से सूचित होता है कि पञ्जाब के राज्य जिन्हो ने युद्ध मे प्रमुख भाग लिया था गिर चुके थे, और निश्चय से उन के विषय मे फिर बहुत कम सुनाई देता है। नागो ने परीक्षित् को मार डाला, पर उस के बेटे जनमेजय ने उन्हे हटा दिया और शान्ति हुई। तो भी उत्तरपच्छिम मे वे बने रहे। इन्द्रप्रस्थ का राज्य तथा सरस्वती-तट के राज्य लुप्त हो गये, और उत्तर भारत के हिन्दू राज्यो का अन्तिम थाना हस्तिनापुर रह गया।

कुछ समय तक यही दशा रही, पर जनमेजय के चौथे उत्तराधिकारी ने हस्तिनापुर छोड़ दिया, और कौशाम्बी को राजधानी बनाया, क्योकि ( कहा जाता है ) हस्तिनापुर को गङ्गा बहा ले गई थी। यह व्याख्या

अपर्याप्त है, क्योंकि यदि यही पूरी सचाई होती तो वह नजदीक के किसी नगर को नई राजधानी बना सकता था, और दक्षिण पञ्चाल को लाँघ कर ३०० मील से अधिक परे कौशाम्बी तक जाने की आवश्यकता न थी। स्पष्टतः वह गङ्गा-जमना दोआब का सारा उत्तरी भाग छोड़ने को बाधित हुआ था, और इस मे सन्देह नहीं कि पञ्जाब की तरफ से दबाव पड़ने के कारण ही बाधित हुआ था।" ( प्रा० अ० पृ० २८५ )।

इस व्याख्या से मेरी पूरी असहमति है। उन दिनों उत्तरपच्छिम के राज्यों को कौन सी सीमान्त की विरोधी जातियों से सामना था ? नाग लोग तो वहाँ के स्थानीय मूल निवासी ही थे, न कि सीमा पार के आक्रान्ता। आधुनिक युग की अवस्थाओं को विद्वान् लेखक ने अकारण ही प्राचीन काल पर मढ़ दिया है। भारत युद्ध केवल १८ दिन की "संक्षिप्त लड़ाई"[1] थी, उस मे बहुत भयंकर जनसंहार हुआ हो सो नहीं हो सकता। दूसरे, यदि हुआ भी हो तो यह बात निश्चय से गलत है कि पञ्जाब के राज्यों विषय मे "फिर बहुत कम सुनाई देता है"। ठीक उल्टी बात है। सिकन्दर के समय हम पञ्जाब मे उन्हीं आर्य्य राष्ट्रों—अभिसार क्षुद्रक-मालव शिवि आदि—को फलता फूलता पाते है। सिकन्दर के समय क्यों, भारत युद्ध के कुछ ही काल पीछे उपनिषदों के समय मे और उस के ठीक बाद जातक कहानियों के समय मे हम पञ्जाब के राष्ट्रों—गान्धार केकय मद्र आदि—की समृद्धि और सभ्यता के विषय मे इतना सुनते हैं जितना पहले कभी नहीं सुन पाते।

पारसियों द्वारा गान्धार जीते जाने तक वह प्रदेश विद्या और संस्कृति का केन्द्र था। फलतः पञ्जाब के राष्ट्रों की निर्बलता क्षणिक थी, और तक्षशिला मे नागों का उत्थान भी क्षणिक। यह कहना ठीक नहीं है

---

१. प्रा० अ० पृ० २८३।

कि जनमेजय ने नागो को हरा दिया तो भी उत्तरपच्छिम मे वे बने रहे। अनुश्रुति का कहना है कि जनमेजय ने तक्षशिला पर चढ़ाई कर उन की सत्ता का मूलोच्छेद कर दिया। इस कथन को न मानने का कोई कारण नही है।

फलत कुरु राजा जब 'गङ्गा-जमुना दोआब का सारा उत्तरी भाग छोडने को बाधित हुआ था' तब 'पञ्जाब की तरफ से दबाव पडने' का कोई प्रश्न ही न था। छान्दोग्य उपनिषद् मे मटची (लाल टिड्डी) के लगातार उपद्रव से कुरु देश मे घोर दुर्भिक्ष पडने का उल्लेख है—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥१॥ स हैभ्य कुल्माषान् खादन्त बिभिक्षे त होवाच। नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥ ( छा० उप० १ १० )

हत शब्द से दुर्भिक्ष की भयकरता सूचित होती है। हस्तिनापुर को बहा ले जाने वाली गङ्गा की बाढ भी अकेली असम्बद्ध घटना न रही होगी, उस का कारण भारी अतिवृष्टि हुई होगी जिस न गॉवो और फसलो को बहा कर दुर्भिक्ष को और भयकर बना दिया होगा। इसी कारण न केवल हस्तिनापुर को प्रत्युत समूचे उत्तरी दोआब को छोडना पडा होगा। ( मिलाइए रा० इ० पृ० २३ )।

## * १६. उत्तर वैदिक काल में भारतवर्ष का व्यक्तित्व-प्रकाश

यह कहना ठीक होगा कि भारतवर्ष का व्यक्तित्व पहले-पहल उत्तर वैदिक काल मे प्रकट होता है, भारतीय सभ्यता और सस्कृति की मूल स्थापना इसी काल मे होती है, इसी मे उन का स्वरूप निश्चित होता है,— भारतीय जाति मे, उस की सस्कृति मे, विचार- और व्यवहार-पद्धति मे और दृष्टि मे जो विशेष भारतीयपन है, जो उन्हे दूसरी जातियो से और सस्कृतियो से पृथक् करता है, जो उन के व्यक्तित्व का निचोड है, वह इसी काल मे स्थापित और प्रकट होता है। यो तो भारतीय सस्कृति का मूल प्राग्वैदिक और

वैदिक कालों मे है, किन्तु उन युगो मे अभी वह तरल द्रव-रूप प्रतीत होती है, इस युग मे उस की ठोस बुनियाद पड़ती है, उस का व्यक्तित्व मूर्त्त रूप धारण करता है। गौतम बुद्ध के समय तक हम भारतीय जाति के जीवन मे अनेक प्रथाओ सस्थाओ और व्यवस्थाओ ( constitutions ) एवं पद्धतियों और परिपाटियो को स्थापित और बद्धमूल हुआ पाते है, उन के समय तक एक धम्मो सनातनो जड़ पकड़ चुका और खड़ा हो चुका था। वे पोराणक पंडितों और पोराण ब्राह्मणों की बातो को आदरपूर्वक उद्धृत करते है[1]।

वैदिक और प्राग्वैदिक काल का जीवन इतिहास विचार और कल्पनाये वे उपादान है जिन्हे हाथ मे ले कर उत्तर वैदिक काल का शिल्पी एक उस्ताद कारीगर की तरह गढ़ता ढालता और शकल देता है, और इस प्रकार भारत-वर्ष के उस व्यक्तित्व को जन्म देता है जिस का स्वरूप जिस की शिक्षा-दीक्षा और जिस के सस्कार शताब्दियो के आँधी-पानी मे मिटने नही पाते, और जो जातियो और सभ्यताओ के अनेक सम्मर्दों और कशमकशो को झेल कर अपनी विशेषता को खोता नहीं दीखता।

वैदिक आर्यों के जीवन के लिए कोई बँधे हुए नियम न थे। वह एक तरुण स्वाधीन प्रतिभाशाली जाति थी जो अपनी सहज बुद्धि से जीवन के अछूते क्षेत्र मे अपनी राह आप खोजती और बनाती थी। उस की जीवन-चर्या ने उस के वंशजो के लिए प्रथाये और सस्थाये बना दीं। जैसे वे बोले वैसे मन्त्र बनते गये, जैसे वे चले वही पद्धति हो गई, जो उन्हों ने किया वही अनुष्ठान बन गया। वेद स्वत प्रमाण है। उत्तर वैदिक काल में पहले-पहल भारतीय जीवन की प्रथाओ का संकलन और वर्गीकरण, छानबीन और काटछाँट होती है। यहाँ आ कर पहले पहल प्रथायें और परिपाटियाँ

---

1. जातक ४, १४८; सु० नि० ब्राह्मणधम्मिक सुत्त ( १९ ) की वत्थुगाथा; इत्यादि।

कानून ( धर्म-व्यवहार ) सस्कार और सस्था का रूप धारण करती है। किन्तु उत्तर वैदिक काल का शिल्पी एक गुलाम अन्ध अनुयायी की तरह बने बनाये नमूनो पर पकी पकाई ईंटे नही रखता जाता। वह एक स्वतन्त्र उस्ताद कारीगर की तरह काटता तराशता और ढालता है, और स्वय नई रचना भी करता है। उस के लिए वैदिक आर्य जीवन एक द्रव उपादान है जिसे वह स्वतन्त्रतापूर्वक ढालता है। वह स्वतन्त्र रचनाशक्ति न केवल उत्तर वैदिक काल मे प्रत्युत प्राचीन काल के अन्त—छठी शताब्दी ई० के आरम्भ—तक स्पष्ट बनी रहती है। उत्तर वैदिक काल मे भारतवर्ष का व्यक्तित्व स्पष्ट प्रकट हो जाता है, इस मे सन्देह नही। विशिष्ट भारतीय विचार-व्यवहार और समाज-सस्थान का आरम्भ तो इस युग मे स्पष्ट है ही, भारतवर्ष की वे प्रादेशिक राज्यसस्थाये भी, जो ५०० ई० तक लगातार जारी रहती हैं, पहले-पहल इसी युग मे प्रकट होती है।

## * १७. कम्बोज देश

कम्बोज देश की ठीक शिनाख्त करना प्राचीन भारतीय इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझाने के लिए, विशेष कर आर्यावर्त्त ईरान और मध्य एशिया के पारस्परिक सम्बन्धो के इतिहास को स्पष्ट करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु अभी तक पुरातत्त्ववेत्ताओ को उस मे सफलता न हुई थी। वि० स्मिथ एक नोट मे लिखते है[1] कि फूशे ( Foucher ) ने नेपाली अनुश्रुति के अनुसार उसे तिब्बत मे कही माना है—आइकनोग्राफी बूधीक ( बौद्ध प्रतिमा-कला ) पृ० १३४, किन्तु कम्बोज लोग तिब्बती न थे, वे एक ईरानी बोली बोलते थे। यह ईरानी बोली की बात स्मिथ ने डा० ग्रियर्सन की टिप्पणी, ज० रा० ए० सो० १९११ पृ० ८०२, का प्रमाण दे कर दर्ज की है। डा० ग्रियर्सन ने उस टिप्पणी मे यास्क मुनि के शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते

---

१. अ० हि० पृ० १८३।

विकारॉस्त्वस्य आर्या भाषन्ते ( निरुक्त २. १. ३. ४ )—इस निर्देश की ओर ध्यान दिलाया है, और यह दिखलाया है कि शवति या शुदन धातु चलने के अर्थ मे अब फारसी मे बर्त्ता जाता है। यास्क का समय पाणिनि से पहले है, और उस के कुछ ही शताब्दियाँ पहले वश-ब्राह्मण मे कम्बोजो का नाम पहले-पहल सुना जाता है।

यास्क के उक्त निर्देश की ओर ग्रियर्सन से भी सात बरस पहले, दस्तूर पेशोतनजी बहरामजी सजाना-स्मारक ग्रन्थ ( लाइपजिग १९०४ ) मे, जर्मन विद्वान् कुह्न ने ध्यान दिलाया था। उस के अतिरिक्त उन्हो ने वहाँ जातक ( ६, पृ० २१० ) की निम्नलिखित गाथा भी उद्धृत की थी—

> कीटा पतगा उरगा च भेका
> 　　हन्त्वा किमि सुज्झति मक्खिका च।
> एते हि धम्मा अनरियरूपा
> 　　कम्बोजकानं वितथा बहुन्नन् ॥

और इस के आधार पर उन्हो ने दिखलाया था कि कम्बोज लोग प्राचीन ईरानी विश्वास के अनुसार ज़हरीले—अहरमनी—जन्तुओ को मारना अपने धर्म का अश मानते थे।

कुह्न के उक्त लेख की तरफ नरिमान ने ज० रा० ए० सो० की दूसरी जिल्द ( १९१२, पृ० २५५ ) मे ध्यान दिला दिया था। किन्तु सन् १९०४ अथवा सन् १९११-१२ के बाद अब तक किसी ने यह निश्चय करने का जतन नहीं किया कि ईरानी भाषा के ठीक किस प्रदेश का नाम कम्बोज था। अधिकतर विद्वान् इस बीच कम्बोज का अर्थ गोलमाल तरीके से पूरबी अफग़ानिस्तान कर देते रहे है। किन्तु पूर्वी अफग़ानिस्तान का कौन प्रदेश ? काफिरिस्तान ? वह तो पुराना कपिश—चीनियो का कि-पिन्—है। तब लमग़ान ? वह लम्पाक है। तब निंग्रहार ? वह नगरहार है। तब अफरीदी-तीराह से सुलेमान तक का कोई प्रदेश ? नहीं, वह भी प्राचीन

पक्थ है । तब चितराल ? लेकिन वह अफगानिस्तान मे नही है । उसी प्रकार यागिस्तान भी उस से बाहर है, और वह प्राचीन उड्डीयान और पुष्करावती है। तब वखाँ ? किन्तु वह तो उत्तर-पूर्वी न कि पूरबी अफगानिस्तान है, और ठेठ अफगानिस्तान मे नहीं है। जब हम अफगानिस्तान के एक एक प्रदेश को कम्बोज की शिनाख्त करने के लिए टटोलते है तब कम्बोज मृगमरीचिका की तरह आगे आगे भागता जाता है।

इस गोलमाल को डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी ने दूर कर दिया है। महाभारत द्रोणपर्व ४ ५ मे कहा है—

कर्ण राजपुर गत्वा काम्भोजा निर्जितास्त्वया।

इस के आधार पर उन का कहना है कि राजपुरी (=कश्मीर के दक्खिन आधुनिक राजौरी) के चौगिर्द प्रदेश ही कम्बोज महाजनपद था (रा० इ० पृ० ९४-९५)। प्रो० भडारकर ने भी इस शिनाख्त को स्वीकार कर लिया है (अशोक पृ० ३१), उन का कहना है कि दारयवहु का जीता हुआ कम्बुजिय और अशोक के अभिलेखो का कम्बोज वही है।

दोनो विद्वानो ने महाभारत की एक अस्पष्ट उक्ति की अनिश्चित व्याख्या के आधार पर तथा और सब प्रमाणो की पूरी उपेक्षा कर के यह मनमाना फैसला कर डाला है। अशोक से ठीक पहले सिकन्दर के समय राजौरी-पुँच-भिम्भर की उपत्यका अभिसार कहलाती थी[1], और पौन शताब्दी मे उस का नाम बदल जाने का कोई कारण न था। अभिसार देश के राजा के भारत युद्ध मे भी पाण्डवो की तरफ से लडने का महाभारत मे उल्लेख है (§ ६४), इस लिए महाभारत मे उस का दूसरा नाम हो सो नही कहा जा सकता। समूचे सस्कृत वाङ्मय मे राजौरी प्रदेश का नाम लगातार अभिसार पाया जाता है, और वह कोई गुमनाम नही खूब प्रसिद्ध देश है। अभिसार और कम्बोज कभी समानार्थक शब्द रहे हो, इस के लिए रत्ती भर प्रमाण नहीं है, न कभी मिल सकेगा। कम्बोज देश सदा भारतवर्ष की अन्तिम सीमा पर माना जाता रहा है, किन्तु ये दोनो प्रसिद्ध विद्वान् उसे जेहलम नदी के पूरब और

1, नीचे § १२०।

कश्मीर के दक्खिन ठेठ पञ्जाब मे उतार लाये है। अर्थात् पूर्वी गान्धार के भी पूरब और केकय के ठीक उत्तर। फिर बिलकुल मनमाने ढग से वे कहते है कि जेहलम और सिन्ध के बीच का प्रदेश भी कम्बोज मे सम्मिलित था, जिस से उस की सीमा गान्धार से लगती थी। किन्तु व्यथ और सिन्ध के बीच का प्रदेश सदा से उरशा कहलाता रहा है। महाभारत सभापर्व अ० २८ मे अर्जुन के दिग्विजय-प्रकरण मे दार्व अभिसारी उरशा (गलत पाठ उरगा) कम्बोज सब का अलग अलग उल्लेख है। यदि कम्बोज हिमालय की उपत्यका मे हो तो रघुवश सर्ग ४ मे रघु के कम्बोज जीतने के बाद हिमालय पर चढ़ने (श्लोक ७१) और फिर किरातों किन्नरो को जीत कर भारतवर्ष मे उतरने (श्लोक ८०) की बात कैसे चरितार्थ होगी ? यदि रघु दक्खिन से हिमालय चढ़ा होता तो बजाय भारत के चीनी तुर्किस्तान जा उतरता। डा० रायचौधुरी ने स्वय यह सिद्ध किया है कि सोलह महाजनपदो के युग मे कश्मीर भी गान्धार महाजनपद के अधीन था[1]। किन्तु यदि कश्मीर के दक्खिन और पच्छिम का छिभाल और हज़ारा प्रदेश—जिसे वे कम्बोज कहते है—स्वतंत्र रहा हो, तो गान्धार का राज्य उस कम्बोज देश को अधीन किये बिना कश्मीर तक किस रास्ते पहुँच सकता था, यह असगति उन्हे नहीं दीख पड़ी।

सब से बढ़ कर कश्मीर के किसी प्रदेश की शिनाख्त करते समय कल्हण की गवाही तो सुननी चाहिए थी। राजतरगिणी तरंग ४ मे राजा मुक्तापीड ललितादित्य के दिग्विजय-प्रकरण मे कम्बोजो का उल्लेख है (श्लोक १६५), किन्तु कल्हण ने उन्हे कश्मीर के उत्तर (१६३) रक्खा है, जब कि ये विद्वान् कश्मीर के ठीक दक्खिन उतार लाये हैं ! राजौरी का

---

१. ऊपर § ८२।

प्रदेश ललितादित्य के दादा कर्कोट-वश-स्थापक दुर्लभवर्धन के समय से कश्मीर के अधीन था, यदि वही कम्बोज होता तो उसे जीतने की ललितादित्य को कोई जरूरत न होती।

मैंने कम्बोज देश की तलाश राजतरगिणी के उस प्रकरण के ही सहारे की है। वहाँ कम्बोज के ठीक बाद तु×खार या तुखार देश का नाम है (१६५), फिर मुम्मुनि नामक तुर्क राजा का। डाक्टर स्टाइन ने वहाँ कम्बोज का अर्थ वही पूर्वी अफगानिस्तान किया है। किन्तु पूरबी अफगानिस्तान कश्मीर के उत्तर कैसे गिना जा सकता है ? कश्मीर के ठीक उत्तर दरद लोग हैं, और पच्छिम, क्रम से उरशा, पश्चिम गान्धार (पुष्करावती) तथा कपिश। दरदो का उक्त प्रसग मे अलग उल्लेख है (१६९)। कश्मीर के पडोस के सब प्रदेशो मे से एक चितराल का ही पुराना नाम अज्ञात था, और वह है भी कश्मीर के उत्तरपच्छिम, तथा तुखार देश (बदख़्शा) से ठीक लगा हुआ। इस लिए सन् १९२८ ई० मे रूपरेखा की कम्बोज-विषयक टिप्पणी मे मैंने कम्बोज को चितराल मानने का प्रस्ताव कुछ झिझक के साथ किया था। झिझक इस कारण कि चितराल के निवासी मूलत· दरद थे यद्यपि अब उन मे थोडा मिश्रण है। भारतवर्ष की जातीय भूमियों का अध्ययन करते हुए मैं यह सिद्धान्त स्थापित कर चुका था कि प्राचीन प्रदेश आधुनिक बोलियो के क्षेत्रो से प्राय· मिलते है[1]। इसी से, चितराल यदि कम्बोज होता, तो वह दरद-देश का एक अश माना जाता, पर वैसी बात नही है। चितराल की बोली खोवार मे और वहाँ के निवासी खो लोगो मे दरद के अतिरिक्त गल्चा मिश्रण है। गल्चा बोलियो और जाति को पहले मैं भारत की सीमा के बाहर समझता था।

---

१. दे० ऊपर § १०।

किन्तु सन् १९३० मे जब मै रूपरेखा के लिए भारतवर्ष की जातीय भूमियों की विवेचना करने लगा, तब मुझे यह सूझा कि कही गल्चा प्रदेश ही तो प्राचीन कम्बोज नही है। गल्चा प्रदेश कश्मीर के सीधा उत्तर है, और तुखार देश जहाँ चितराल की केवल एक नोक को छूता है, वहाँ वह गल्चा-क्षेत्र की समूची पच्छिमी सीमा के साथ साथ चला गया है।

रघुवश मे रघु के उत्तर-दिग्विजय मे भी कम्बोज देश का उल्लेख है। ललितादित्य के उत्तर दिग्विजय की विवेचना से मुझे कम्बोज का जो अर्थ सूझा था, रघु के दिग्विजय की पड़ताल ने उसे पूरी तरह पुष्ट और पक्का कर दिया। यही नही; गल्चा-क्षेत्र को कम्बोज मानने से यह विकट पहेली भी सुलझ गई कि कालिदास ने क्यो कम्बोज के ठीक दक्खिनपूरब गङ्गा का उल्लेख किया है ( रघुवश ४, ७३ ) । गल्चा क्षेत्र की पूर्वी सीमा सीता ( यारकन्द ) नदी है। प्राचीन भारतीय विश्वास के अनुसार सीता और गंगा का स्रोत एक ही था—अनवतप्त सर। सीता उस के उत्तर तरफ से निकलती थी, और गंगा पूरब तरफ से[1]। इस प्रकार उस सर के उत्तर से पूरब परिक्रमा करने से रघु की सेना कम्बोज-देश के ठीक बाद गंगा के स्रोत पर पहुँच सकती थी। कालिदास का अभिप्राय कश्मीर के उत्तर की किशन-गंगा ( कृष्णा ), उत्तर-गगा ( व्यथ की शाखा सिन्ध ) या उत्तरगगा की एक शाखा के स्रोत गगा-सर से नही हो सकता, क्योंकि वे सब हिमालय की गर्भ-शृङ्खला के नीचे हैं, किन्तु कालिदास के वर्णन के अनुसार रघु की सेना कम्बोज के बाद हिमालय चढ़ी और किन्नरो को जीतने के बाद उस पर से उतरी थी। स्पष्ट है कि हिमालय से अभिप्राय वहाँ गर्भ-शृङ्खला से कारकोरम शृङ्खला तक के पहाड़ो से है।

---

१. वसुबन्धु—अभिधर्मकोष ( राहुल सांकृत्यायन-सम्पा०, काशी १९८८ ), ३, ५७, य्वान च्वाङ १, पृ० ३२-३५।

प्रसगवश यहाँ यह कह दिया जाय कि अनवतप्त-सर-सम्बन्धी विश्वास भी निरी गप्प और अन्ध विश्वास नही प्रतीत होता। उस विश्वास की कुछ बुनियाद दीख पडती है, और अनवतप्त सर को हम आधुनिक नक्शे पर अन्दाजन अकित कर सकते हैं। सिन्धु उस सर के दक्खिन उतरती मानी जाती थी, और सीता उत्तर। यदि श्योक को सिन्धु की मुख्य धारा मान ले तो कारकोरम जोत के पास के गलो ( glaciers ) पर उक्त बात ठीक घटती है—सिन्धु उन के दक्खिन और सीता उत्तर उतरती है। किन्तु वक्षु और गगा का स्रोत वहाँ कैसे माना जा सकता था? इस सम्बन्ध मे हमे आधुनिक भूगोलशास्त्रियो के इस मत पर ध्यान रखना चाहिए कि पामीर और कारकोरम की अनेक नदियो के प्रस्रवण-क्षेत्र गलो के रास्तो की पथरीली रचनाओ ( moraine formations ) मे परिवर्त्तन होते रहने के कारण ऐतिहासिक युगों में बदलते रहे हैं। यह असम्भव नहीं है कि कभी पामीर की जोरकुल (विक्टोरिया) झील का पानी पूरब और चकमकतिन का पच्छिम—आजकल से ठीक उलटा—बहता रहा हो[1]। इस दशा मे क्या यह सम्भव नही कि कारकोरम के गलो से पूरब तरफ प्राचीन काल मे कोई धारा बहती रही हो जिस के विषय मे यह भ्रम रहा हो कि वह गगा की उपरली धारा है? वैसे भ्रम को हम अन्ध विश्वास नहीं कह सकते,—सन् १८८०-८३ मे भारतीय पहाडी भूगोल-खोजी किन्थुप के ब्रह्मपुत्र-दून का समूचा रास्ता टटोल न लेने तक आधुनिक भूगोलवेत्ता यह निश्चय से न जानते थे कि तिब्बत की चाङ्पो ब्रह्मपुत्र की उपरली धारा है या इरावती या साल्वीन की। यह भी याद रहे कि हम अनवतप्त सर को जहाँ पर अकित कर रहे है, वह प्रदेश संसार के उन इने-गिने भागो मे से है जिस की पूरी भौगोलिक पडताल अभी तक नही हो पाई। भविष्य की पडताल से क्या मालूम हमे

---

१. ब्रिटिश विश्वकोश, १३ सस्क०, जि० २०, पृ० ६५७।

प्राचीन भारतीयों के उक्त विश्वास का स्पष्ट युक्तिसगत कारण उसी रूप मे मिल जाय जिस का ऊपर निर्देश किया गया है ?

कम्बोज से ठीक पहले कालिदास ने हूणों का उल्लेख किया है। हूणो का प्रदेश तब वक्षु की दो धाराओ—वक्षाब ( आधुनिक वख़ ) और अक्साब ( आधुनिक अक्सू या मुर्गाब )—के बीच का दोआब—पारसी लेखको का हैतल, और अरबो का खुत्तल प्रदेश—था, सो विद्वान् लोग निश्चित कर चुके हैं[1]। आजकल भी गल्चा प्रदेश की उत्तरी सीमा उसी अक्सू नदी के करीब करीब साथ कही जा सकती है। इस प्रकार समूचा ग़ल्चा क्षेत्र ही कम्बोज था, सो ठीक निश्चित होता है।

किन्तु यास्क मुनि ने २५०० बरस पहले कम्बोजो की बोली के विषय मे जो बात लिखी है, कहीं उस का भी कोई निशान क्या आज मिल सकता है ? चितराल की खोवार बोली मे वह मुझे कहीं न मिला। किन्तु ग़ल्चा-क्षेत्र के कम्बोज देश होने मे मुझे रत्ती भर भी सन्देह न रहा, जब मैंने देखा कि डा० ग्रियर्सन ने उस की जितनी बोलियो के नमूने भा० भा० प० की जि० १० मे दिये है, उन मे से वखी के सिवाय अन्य सब के उन छोटे छोटे नमूनो मे भी शवति धातु आज भी गति के अर्थ मे मौजूद है। शिग़्नी या खुग़्नी मे सुत=गया ( पृ० ४६८ ), सरीकोली मे सेत=जाना ( ४७३ ), स्यूत=गया, सेम=जाऊँगा ( ४७६ ), ज़ेबाकी या इश्काशिमी मे शुद=गया ( ५०० ), मुजानी या मुंगी मे शिआ=जाना ( ५११ ), और युइद्‌ग़ा में शुई=गया ( ५२४ )।

---

१. कृष्णस्वामी ऐयगर—भारतीय इतिहास में हूण समस्या, ई० आ० १९१९, पृ० ६५ प्र।

बदख़्शी लोग भी उसी ताजिक जाति के है जिस के गल्चा, और ग्रियर्सन का कहना है कि उन की भाषा भी शायद पहले वही थी[1]। हम ने देखा है कि आधुनिक भाषाओं के क्षेत्र प्राय प्राचीन जनपदो को सूचित करते है। तब बदख़्शा भी कम्बोज मे सम्मिलित था? किन्तु बदख़्शाँ का नाम तुखार-देश प्रसिद्ध है, और कल्हण ने उक्त सन्दर्भ मे उसे कम्बोज से अलग गिनाया है। तो भी इस से कोई कठिनाई नही होती, क्योकि हम यह जानते है कि तुखार जाति बलख बदख़्शाँ और पामीर मे दूसरी शताब्दी ई० पू० मे आई थी[2], और तभी से वे देश तुखार-देश कहलाने लगे। उस से पहले बलख का नाम वाह्लीक था, और पामीर का कम्बोज—सो हम ने अभी देखा, किन्तु बदख़्शाँ का नाम तब क्या था? पामीर और बदख़्शाँ की भाषा और जाति तब एक थी, इसे देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि कम्बोज मे बदख़्शाँ भी सम्मिलित था,—क्योकि कम्बोज एक जातीय नाम ही था। हमारी यह स्थापना महाभारत से पुष्ट होती है, क्योकि उस मे कई जगह ( जैसे ६ ७५ १७ और २.२८. २२-२३ मे ) काम्भोजवाह्लीका का नाम इकट्ठा एक द्वन्द्व मे आता है, कम्बोज मे यदि बदख़्शाँ सम्मिलित रहा हो तो उस की सीमा वाह्लीक से लगती थी। तुखार जाति के कम्बोज मे आ बसने से उस जनपद का तुखार नाम पड गया। धीरे धीरे तुखारो का राज्य खण्डित हो जाने पर तुखार नाम केवल बदख़्शाँ का—जहाँ तुखारो की राजधानी थी—रह गया, और पूरबी भाग—पामीर—के लिए फिर कम्बोज नाम जाग उठा। मध्ययुगीन कम्बोह भी वही है। उसी की ठीक स्थिति मध्य युग मे भी भूली न गई थी सो निम्न-लिखित प्रसिद्ध फारसी पद्य से सूचित होता है—

---

१. वहीं, पृ० ४५६।

२. नीचे § १६२।

अगर् कहत्-उर रिज़ाल् उफ्तद् ज़े ऑकस् उन्स कम गीरी—
यके अफ़ग़ॉ, दोयम कम्बोह, सोयम बदज़ात कश्मीरी!
ज़े अफ़ग़ॉ हीलाँ मीआयद्, ज़े कम्बोह कीना मीआयद्,
ज़े कश्मीरी नमी आयद् बजुज़ अन्दोहो दिलगीरी।[1]

अपने पहाड़ी पड़ोसियो के विषय मे फारिस के कवि ने जो भाव प्रकट किये है, उन से सहमत हुए बिना भी यह कहा जा सकता है कि उन पड़ोसियो का भौगोलिक क्रम उसे ठीक मालूम था।

नेपाली अनुश्रुति कम्बोज को क्यो तिब्बत मे समझती है उस का कारण भी इस पहचान से स्पष्ट हो जाता है। पामीर प्रदेश तिब्बत के ठीक पच्छिम लगा है और नेपाल से देखने वालों को तिब्बत का बढ़ाव प्रतीत हो सकता है। महाभारत ७.४.५ का जो प्रतीक डा० रायचौधुरी ने उद्धृत किया है, उस का या तो यह अर्थ है कि कम्बोज का रास्ता राजपुरी हो कर जाता था, या वहाँ राजपुर का अर्थ है राजगृह। य्वान् च्वाङ् के समय भी बलख की राजधानी छोटा राजगृह कहलाती थी[2], और वह कभी समूचे कम्बोज देश की राजधानी रही हो सकती है। ध्यान रहे कि भारतवर्ष मे पहला राजगृह-गिरिव्रज मगध का नहीं प्रत्युत केकय देश का था[3], और उस के प्रवासियो ने बलख में एक राजगृह स्थापित किया हो सो बहुत सम्भव है।

डा० रायचौधुरी के प्रतीक के विषय मे उक्त बात मैंने सन् १९३० के अन्त मे लिखी थी। दूसरे बरस नेपाल के श्री ६ मान्यवर राजगुरु हेमराज पण्डित ज्यू को नेवार लिपि मे ताळपत्रो पर लिखी महाभारत की एक प्रति

१. इस पद्य के लिए मैं काशी के पं० रामकुमार चौबे एम्. ए. एल्. टी. का अनुगृहीत हूँ।

२. य्वान च्वाङ् १, पृ० १०८।

३. दे० ऊपर § ५४।

मिली जो अन्दाजन ८ ९ सौ बरस पुरानी है। सन् १९३८ के आरम्भ मे नेपाल जाने पर मुझे राजगुरु महोदय की कृपा से उस के विषय मे सब जानकारी प्राप्त हुई। विद्यमान प्रतियो के बहुत से पाठदोषो से वह प्रति मुक्त है। कर्ण का दिग्विजय उस मे है ही नही, जिस से प्रतीत होता है कि वह प्रसग पीछे जोडा गया है।

कम्बोज की इस पहचान के बाद इस के सहारे रघु के उत्तर-दिग्विजय के बाकी अज्ञात प्रदेश और जातियाँ—उत्सव-सकेत और किन्नर—भी पहचाने गये, और फिर जब मैने महाभारत मे अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय की इसी अभिप्राय से जाँच की कि देखू मेरा किया हुआ कम्बोज का अर्थ वहाँ घटता है कि नहीं, तब उस से भी न केवल मेरी शिनाख्त को पूरा समर्थन ही मिला, प्रत्युत एक और प्रसिद्ध जाति का खोया हुआ नाम पाया गया[1]।

प्राचीन उत्तरापथ का भूगोल कम्बोज की उक्त पहचान से उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होता जा रहा है।

प्रो० तोमास्चेक का मत था कि ईरानी परिवार की सब भाषाओ मे से गल्चा मुजानी बोली अवस्ता की भाषा के सब से अधिक नज़दीक है[2]। यदि यह बात ठीक हो तो अवस्ता की भाषा को प्राचीन कम्बोज भाषा कहना चाहिए। कम्बोज जनपद का उदय हमारे वाङ्मय के अनुसार पहले-पहल नौवी-आठवी शताब्दी ई० पू० मे हुआ। उसी समय या उस के कुछ ही पीछे महात्मा ज़रथुस्त्र प्रकट हुए। कम्बोज उस युग मे आर्यावर्त्त और ईरान के बीच साझा देश था। हम देख चुके है कि प्रो० कुहन ने जातक की गाथा के आधार पर कम्बोजो को प्राचीन ईरानी धर्म का अनुयायी सिद्ध किया था। यदि ज़रथुस्त्र का कार्यक्षेत्र कम्बोज ही रहा हो तो अवस्ता

---

१ दे० नीचे ❀ २८।

२. भा० भा० प०, १०, पृ० ५०१।

वाङ्मय में आर्यावर्त्त और ईरान के सम्बन्ध-सूचक जो अनेक निर्देश हैं, उन की भी सुन्दर व्याख्या हो सकेगी। और तब जरथुश्त्री धर्म के उद्भव और विकास को हमें एक नई दृष्टि से देखना होगा।

## * १८. प्राग्बुद्ध भारत का पच्छिमी जगत् से सम्पर्क

वैदिक काल में भी भारतवर्ष का पच्छिमी जगत् से व्यापारिक और अन्य सम्पर्क रहने के अनेक चिन्ह हैं, जिन की विवेचना ऊपर (* १२) कर चुके हैं। उत्तर वैदिक काल और सोलह महाजनपद-युग में वैसे चिन्ह और अधिक पाये जाते हैं, और अन्त में ८वीं-७वीं शताब्दी ई० पू० से तो भारतवर्ष का बाबुल कानान आदि पच्छिमी देशों से व्यापार चलते रहने की बात सर्वसम्मत है।

बावेरु-जातक (३३९) में यह कहानी है कि भारतवर्ष के कोई व्यापारी एक कौए को पकड़ कर बावेरु-रट्ठ (बाबुल देश) में ले गये। उस समय बावेरु में पक्षी न होते थे (तस्मिं किर काले बावेरुरट्ठे सकुना नाम नऽत्थि)। वह देसावर का कौआ (दिसाकाक) सौ कहापन (कार्षापण) में बिका। तब दूसरी बार वे व्यापारी एक मोर ले गये जो एक हजार कहापन में बिका। इस कहानी की जड़ में कुछ सचाई जरूर है, इस का प्रमाण यह है कि बाबुली भाषा में मोर का वाचक शब्द तुकी था जो तामिल तोगै का रूपान्तर है। इसी प्रकार चावल के लिए वहाँ जो शब्द था वह तामिल ही था, और अन्य कई वस्तुओं के लिए भी। इस से यह भी सिद्ध है कि ये वस्तुएँ वहाँ द्राविड भारत से जाती थीं।

किन्तु आर्यावर्त्त के साथ भी पच्छिम के सामी राज्यों का व्यापार-सम्पर्क होने के निश्चित प्रमाण हैं। शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन की कथा है; वह कथा बहुत देशों के वाङ्मय में पायी जाती है, पर मूलतः वह बाबुली है। फिर उसी ब्राह्मण (३.२.१.२३-२४) में सब से पहले म्लेच्छ शब्द का प्रयोग असुरों के लिए हुआ है। संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार म्लेच्छ का

अर्थ अव्यक्त बोली बोलना है, और उस धातु की निरुक्ति कइयो ने म्लै (म्लान होना, मुरझाना) धातु से की है। जायसवाल का कहना है कि यह निरुक्ति वैसी ही कल्पित है जैसी यह व्याख्या कि यवन लोग क्षत्रियो और शूद्रो के संकर से पैदा हुई जाति है, वास्तव म म्लेच्छ धातु मे एक विदेशी शब्द छिपा है, वह उस सामी (सेमेटिक) शब्द का रूपान्तर है जो हिब्रू (यहूदियो की भाषा जिस मे मूल बाइबल लिखी गई है) मे मेलॅख बोला जाता है। संस्कृत मे उस का म्लेच्छ बन गया है, पर पालि और अर्धमागधी मे वह मलिक्ख और मिलक्खु ही रहा है। सामी मेलॅख शब्द का अर्थ है राजा। शतपथ के उक्त सन्दर्भ मे कहा है कि असुर म्लेच्छ लोग हेलवो हेलवा बोलते थे। जायसवाल का कहना है कि ये शब्द अश्शुर भाषा के ह-ऍलोवा (परमात्मा) का रूपान्तर है[1]। इस प्रकार असुर शब्द शुरू मे स्पष्टत अश्शुर लोगो का और म्लेच्छ उन के राजाओ का वाचक था, बाद मे वे शब्द विस्तृत अर्थो मे बर्त्ते जाने लगे जैसे अब यवन शब्द बर्त्ता जाता है। जायसवाल के इस मत को भण्डारकर ने भी स्वीकार किया है[2]।

अश्शुरो के साथ आर्यावर्त्त के सम्पर्क का एक बडा प्रमाण दोनो देशो के ज्योतिषशास्त्र की तुलना से मिलता है। वेंकटेश बापूजी केतकर का मत है कि भारतवासियो ने दैव (फलित ज्योतिष) भले ही यूनानियो से सीखा हो, ज्योतिष उन से नही सीखा, प्रत्युत भारतीय और यूनानी दोनो ने अश्शुरो से सीखा। किन्तु वह बात तो दूसरी तीसरी शताब्दी ई० की है। उस से पहले भी दोनो देशो की कालगणना और ज्योतिष मे अनेक प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध केतकर ने सिद्ध किया है। सूर्यसिद्धान्त (१. २—४) मे लिखा है कि कृतयुग के अन्त मे मय नामक असुर ने बडा तप किया जिस से

१. ज़ाइटशिफ़्ट, ६८ (१९१४), पृ० ७१९-२०।
२. कार० व्या० पृ० १४५।

प्रसन्न हो कर सूर्य भगवान् ने उसे ग्रहो का चरित बतलाया। उसी मयासुर के तप के विषय मे शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त मे लिखा है—

> भूमिकक्षाद्वादशेऽब्दे लंकायाः प्राक् च शाल्मले।
> मयाय प्रथमे प्रश्ने सूर्यवाक्यमिदं भवेत्॥
>
> ( १. १६८ )

अर्थात् मय ने शाल्मल द्वीप मे तप किया था जहाँ से लंका की देशान्तर-रेखा भूमिपरिधि की $\frac{1}{12}$ अर्थात् ३०° पूरब है। आजकल बाबुल और लंका का अन्तर ३१°१५′ है, पर काल्दी और अश्शुर लोगो के पुराने तुलांशमान के अनुसार वह ३०° था। इस प्रकार केतकर ने सिद्ध किया है कि शाल्मलद्वीप बाबुल देश का नाम था। ८५६ ई० पू० मे उसे काल्दी लोगो के राजा शाल्मनेसर ने जीत कर अश्शुर साम्राज्य की नीव डाली थी; केतकर का अन्दाज़ है कि शाल्मनेसर के ही नाम से हमारे देश मे बाबुल देश शाल्मल कहलाने लगा। सूर्यसिद्धान्त के अश्शुर-मूलक होने के अन्य अनेक प्रमाण भी उन्हो ने दिये है[1]। उन की विवेचना से यह स्पष्ट है कि सिद्धान्तग्रन्थो की रचना के समय ( तीसरी—छठी शताब्दी ई० ) मयासुर को एक अश्शुर महापुरुष माना जाता था न कि भूत-प्रेत के समान एक अमानुष योनि का जीव। महाभारत मे पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ भी उसी मयासुर की बनाई कही गई है। अश्शुर लोग न केवल ज्योतिष मे प्रत्युत वास्तुविद्या ( स्थापत्य, भवननिर्माण-कला ) मे भी बड़े प्रवीण थे, और भारतीय आर्यों ने उक्त दोनो विषयो मे उन से बहुत कुछ सीखा था, यह इस से प्रतीत होता है। सिद्धान्त-ग्रन्थो के समय मयासुर को कृत-युग के अन्त मे हुआ माना जाता था, किन्तु वास्तव मे वह कब हुआ था सो जानने के लिए अभी तक कोई साधन नही है। शाल्मल नाम से केवल यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म-

---

१. इंडियन ऐन्ड फ़ौरिन क्रौनोलोजी ( भारतीय और विदेशी कालगणना ) ज० बं० रा० ए० सो०, सं० ७४ अ ( अतिरिक्त अंक ), १९२३, पृ० १५१-६२।

सिद्धान्त के समय वह देश शाल्मल कहलाता था, किन्तु मयासुर के समय भी उस के वैसा कहलाने का कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार मयासुर-विषयक अनुश्रुति जहाँ दोनों देशों का प्राचीन पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट करती है, वहाँ उस का समय निश्चित करने में कोई सहायता नहीं देती।

किन्तु केतकर ने यह सम्भावना भी दिखलाई है कि भारतवासियों ने उन्नत ज्योतिष जैसे असुरों से सीखा था, वैसे ही आरम्भिक काल में पहले काल्दी लोगों ने भारतवासियों से ज्योतिष का ज्ञान पाया था। आर्यावर्त्त का सब से पहला पञ्चाङ्ग वैदिक पञ्चाङ्ग था। उस के बाद हमारे देश में आर्य पञ्चाङ्ग चला जो ११९३ ई० पू० से २९१ ई० तक चलता रहा। केतकर का कहना है कि काल्दी और मिस्र में ८ वीं शताब्दी ई० पू० से चलने वाला नबोनस्सर का पञ्चाङ्ग ठीक वही है[1]। यूनानी ज्योतिषी तोलमाय की गणना उसी नबोनस्सर-पञ्चाङ्ग के अनुसार थी। और क्योंकि वह आर्यावर्त्त में काल्दी और मिस्र की अपेक्षा चार शताब्दी पहले से उपस्थित था, इसलिए आर्यावर्त्त से ही उन देशों में गया।

ज्योतिष-शास्त्र से बिलकुल अनभिज्ञ होने के कारण मैं केतकर की खोज के विषय में अपनी कोई सम्मति प्रकट नहीं कर सकता हूँ, साधारण रूप से उन की बातें बहुत युक्ति सगत जान पडती हैं।

जायसवाल ने सुप्पारक जातक (४६३) के भौगोलिक ज्ञान से भी वही बात सिद्ध करने की चेष्टा की है। उस जातक की अतीतवत्थु यह है कि भरुकच्छ के कई सौ व्यापारी एक जहाज ले कर और सुप्पारक नामी एक आदमी को अपना निय्यामक नियुक्त कर महासमुद्र की यात्रा को चले। सात दिन की अच्छी यात्रा के बाद उन्हें अकालवात का सामना पड़ा जिस ने उन

की नाव को प्रकृतिसमुद्र ( अछूते महासागर ) के तल पर चार महीने विचरा कर एक समुद्र मे पहुँचा दिया जहाँ खुर ( उस्तरे ) की सी नाक वाली आदम-कद मछलियाँ डुबकियाँ लगातीं थी। सुप्पारक ने बतलाया कि वह खुरमाल समुद्द है। उस समुद्र मे वज्र पैदा होता था। उस के बाद वे अग्गिमाल समुद्द मे पहुँचे जो जलती आग या दोपहर के सूरज की तरह चमकता था। उस मे सोना पाया जाता था। फिर दधिमाल समुद्द आया जिस का पानी दूध या दही की तरह झलकता था, और जिस मे चाँदी पाई जाती थी। फिर कुसमाली समुद्द आया जिस का रग नीली ( हरी ) कुशा के खेत की तरह था, और जिस मे से नीलम निकाला जाता था। उस के आगे वे नळमाल समुद्द मे पहुँचे जो नळ के वन या मूँगे की तरह लाल था; उस मे मूँगा उपजता था। अन्त मे वे एक समुद्र मे पहुँचे जहाँ टीलों की तरह लहरे ऊपर उठतीं और घोर शब्द करती हुई गिरती थी। सुप्पारक ने बताया वह वलभामुख समुद्द है, जिस मे पड़ कर लौटना असम्भव है। उस नाव पर सात सौ आदमी थे, जो सब यह सुन कर चिल्ला उठे। किन्तु सुप्पारक स्वय बोधिसत्त्व था, और अपनी सच्चकिरिय ( सत्य-क्रिया ) से उस ने नाव को वापिस किया।

यह तो स्पष्ट है कि इन सब समुद्रो के नाम मूलतः और और कारणो से पड़े होंगे, और उक्त व्याख्याये बाद मे कहानीकारो और लालबुझक्कड़ो ने बना ली। जायसवाल उन नामो की व्याख्या यो करते हैं। खुरमाली समुद्र आधुनिक फारिस-खाड़ी का नाम था, क्योंकि उस के तट पर रहने वाले बाबुली लोग मत्स्य-मानुष को अपनी सभ्यता का विधाता मानते और पूजते थे, और खुर भी एक बाबुली देवता था जिस का नाम राजा खम्मुराबी ( लग० २२०० ई० पू० ) के अभिलेखों मे पाया गया है। दधिमाल आधुनिक लाल सागर है, जिस मे दही सी मोटी मोटी गाढ़ी चीज़ तैरती है, जिस के रङ्ग के कारण आजकल उस का नाम लाल सागर हुआ है। अग्गिमाल उन दोनो के बीच अदन के पास सोमाली तट का समुद्र रहा होगा। चौथा समुद्र

कुशमाली जातक के अनुसार नील कुसतिन के समान था, उस से नील नदी के निकास के देश और कुशद्वीप के तट-समुद्र का अभिप्राय है। पुराणों मे कुशद्वीप मे नील नदी की उत्पत्ति मानी गई है, इस प्रकार आधुनिक नूबिया को कुशद्वीप मानना चाहिए। पुराणों के कुशद्वीप के वर्णन का अनुसरण कर के ही स्प्रान स्पीक ने नील के निकास को टटोल निकाला था। नूबिया का नाम कुशद्वीप वहाँ कुश लोगो के राज्यकाल के समय से ही पड़ सकता था, कुशो का राज्य वहाँ २२००—१८०० ई० पू० मे था सो वहाँ के अभिलेखों से सिद्ध हो चुका है। नळमाल समुद्र का अर्थ जायसवाल करते हैं नहर की परम्परा। आधुनिक स्वेज नहर की तरह प्राचीन काल मे भी एक नहर थी जो लाल सागर को नील नदी से मिला देती थी, और इस प्रकार 'भू'-मध्यसागर और लाल सागर को नील नदी द्वारा जोड देती थी। वह नहर १३९० ई० पू० मे जरूर थी, पर ई० पू० की पहली सहस्राब्दी में—६०९ ई० पू० तक—न रही थी। वलभामुख समुद्र का अर्थ स्पष्ट ही ज्वालामुखी-समुद्र है, और जायसवाल के अनुसार उस का अर्थ 'भू'-मध्यसागर का पूरबी भाग है[1]।

अन्त मे भारतीय और शेबाई लिपियों मे परस्पर जो समानता है ( ऊपर ॐ १४ उ ) उस के आधार पर जायसवाल दोनो देशों का प्राचीन काल मे सम्पर्क मानते हैं। लिपि का वह सम्बन्ध उलटे रूप मे दूसरे बहुत से विद्वान् भी मानते हैं। कनिंगहाम का कहना था कि शेबाई लिपि भारतीय लिपि से निकली है, और भारतवासी जिस प्रकार सोलह सौ मील पूरब जावा मे अपनी लिपि ले गये, उसी प्रकार पच्छिम तरफ भी[2]। मिस्र और शेबा का परस्पर सम्बन्ध २३०० ई० पू० से तथा भारतवर्ष और शेबा का १००० ई० पू० से निश्चित रूप से माना जाता है[3]।

---

१. ज० बि० ओ० रि० सो० १९२०, पृ० १९३ प्र।

२. कौइन्स ऑव एन्श्यैंट इन्डिया ( प्राचीन भारत के सिक्के ), पृ० ३९-४१।

३. टेलर—आल्फ़ाबेट ( वर्णमाला ), जि० २, पृ० ३१५।

# § १९. पौर-जानपद

जायसवाल का कहना है कि महाजनपद-युग से आर्यावर्त्त के राज्यो में पौर-जानपद नाम की जनता की एक केन्द्रिक संस्था थी[1]। उन की युक्तियो मे से एक यह भी है कि रामायण (लग० ५०० ई० पू०) आदि मे पौरजानपदः या पौरः और जानपद शब्दो का एकवचन मे प्रयोग है, और इस लिए उन का अर्थ शहर के लोग और देहात के लोग करने के बजाय शहर की संस्था और देश भर की संस्था करना चाहिए। खारवेल (नीचे §§ १५१, १५३) के अभिलेख मे भी राजा के पौर जानपद को अनुग्रह या कानूनी रियायतें देने का उल्लेख है।

दूसरे विद्वानो को प्रायः इस से तसल्ली नहीं हुई। प्रो० विनयकुमार सरकार का कहना है कि पौरजानपद को एक संस्था मानना गलत है, रामायण आदि के उल्लेखो मे केवल जातैकवचनम् है, और वे उल्लेख तथा खारवेल वाला उल्लेख भी केवल हिन्दुओ के राजनैतिक चिन्तन का सामान्य प्रजा-सत्तापरक रुझान सूचित करते है, अधिक कुछ नहीं[2]। जहाँ तक उक्त युक्तियो से वास्ता है, प्रो० सरकार की आलोचना ठीक है, किन्तु जायसवाल की स्थापना कुछ और बातो पर भी निर्भर है, जिन्हे आसानी से नहीं उड़ाया जा सकता।

उन मे से भी सब से स्पष्ट बात याज्ञवल्क्य-स्मृति की मध्यकालीन टीका मित्र मिश्र-कृत वीरमित्रोदय की विवेचना मे है। मित्र मिश्र ने बृहस्पति का यह श्लोक उद्धृत किया है—

---

१. हि० रा० अ० २७-२८।

२. पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स एण्ड थियरीज़ ऑव द हिन्दूज़ (हिन्दुओं की राजनैतिक संस्थायें और स्थापनायें). लाइपज़िग १९२२, पृ० ७१-७२।

ग्रामो देशश्च यत्कुर्यात्सत्यलेख्यं परस्परम् ।
राजाविरोधिधर्मार्थं संवित्पत्र वदन्ति तत् ॥

अर्थात्, ग्राम और देश परस्पर मिल कर राजा के अविरुद्ध जो धर्म-विषयक सच्ची तहरीर करे उसे संवित्पत्र कहते है। इस से सिद्ध है कि समूचा देश ( जनपद ) मिल कर तहरीरी ठहराव कर सकता था।

उसी लेखक का फिर कहना है कि पौर पुरवासिनां समूह —पौर पुरवासियो के समूह को कहते है—,और समूह शब्द हिन्दू कानून की परिभाषा मे एक सगठित सस्था (निकाय) के अर्थ मे आता है, न कि जमघट (निचय) के अर्थ मे। इस के लिए जायसवाल ने यथेष्ट प्रमाण दिये हैं। चण्डेश्वर के विवादरत्नाकर मे कात्यायन और बृहस्पति के मत उद्धृत हैं, जिन मे गण पाषण्ड पूग व्रात श्रेणि आदि समूहस्थ वर्गों का, वणिज आदि के समूह पूग का, समूहों के धर्म ( कानून ) का, और समूह और उस के मुखिया के बीच मुकद्दमा होने का उल्लेख है। समूहस्था वर्गा का अर्थ चण्डेश्वर ने किया है—मिलिता। फिर वीरमित्रोदय मे कहा है कि ग्राम, पौर, गण और श्रेणि के लोग सब वर्गी होते है। इस प्रकार इन मध्यकालीन टीकाकारो के मत मे पौर एक समूह या वर्ग था, सो स्पष्ट है। अमरकोष ( २. ८ १८ ) मे प्रकृति शब्द के दो अर्थ दिये है—( १ ) स्वामी अमात्य आदि राज्य के सात अग, ( २ ) पौरो को श्रेणियाँ। उस की टीका मे क्षीरस्वामी उसी कात्यायन का वचन उद्धृत करता है, जिस के अनुसार प्रकृति क दो अर्थ है—अमात्य और पौर। अर्थात् जिस अर्थ मे कात्यायन पौरा कहता है, उसी अर्थ मे अमर ने पौराणा श्रेणयः कहा है। इस प्रकार पौरा की व्याख्या पुरनिवासियो का साधारण निचय नही, प्रत्युत श्रेणिबद्ध पौर अर्थात् समूहस्थ पौर—यानी पौर निकाय है।

टीकाकारो की इन व्याख्याओ को ध्यान मे रख कर हमे धर्मशास्त्रो की गवाही पर विचार करना चाहिए। उसी वीरमित्रोदय मे बृहस्पति का एक और उद्धरण है—

देशस्थित्यानुमानेन नैगमानुमतेन वा ।
क्रियते निर्णयस्तत्र व्यवहारस्तु बाध्यते ॥

इस मे देश ( जनपद ) की स्थिति ( ठहराव ) का उल्लेख है, किन्तु स्थिति का अर्थ रिवाज करने का रिवाज चल पड़ा है, इस लिए इसे सन्दिग्ध बात कहा जा सकता है। किन्तु मनुस्मृति के इस श्लोक मे तो सन्देह की कोई गुंजाइश ही नही है—

यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् ;
विसंवदेन्नरो लोभात्त राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥
( ८ २१९ )

—"ग्राम और देश के संघो की सचाई के साथ संविद् कर के जो मनुष्य लोभ से उस का विसंवाद करे, उसे राष्ट्र से निर्वासित कर दे।"

यहाँ देश ( जनपद ) के संघ और उस संघ की संवित् ( ठहराव ) का स्पष्ट उल्लेख है; इस से अधिक क्या चाहिए ? इसे ध्यान मे रखते हुए अब मनुस्मृति की दूसरी व्यवस्था देखिये—

जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥
( ८. ४१ )

जानपद धर्म क्या जनपद के ठहराव नहीं हैं ? देश के रिवाज अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि एक तो साथ ही श्रेणी-धर्मों का उल्लेख है, दूसरे देश-संघ की संवित् होती थी यह मनुस्मृति के ही ऊपरले उद्धरण से निश्चित हो चुका है। और समूचा जनपद किसी संस्था मे संगठित हुए बिना कैसे ठहराव कर सकता था ?

धर्मशास्त्रों से और पहल की अर्थशास्त्र का गवाही है। कौटिल्य देश-जाति-कुल सघाना समयस्यानपाकर्म ( देश जाति कुल के सघों के समय का न बिगडने देना ) ( पृ० १७३ ) की विवेचना करता, और फिर ग्राम-सघ आदि के साथ देश सघ का भी उल्लेख करता है ( पृ० ४०७ )। जाति कुल और ग्राम के सघा से उन की सस्थाये ही समझी जाती है, और उन के समय से उन सस्थाओं मे स्वीकृत ठहराव, तब देश के सघ और उस के समय से क्या देश का सस्थात्व निश्चित नही होता ?

कौटिल्य से भी पहले की फिर गोतम धर्मसूत्र की गवाही है। अभिवादन और सत्कार के नियमो मे वहाँ लिखा है कि ससुर चचा मामा आदि यदि अपने से वय मे छोटे हो तो उन के आने पर प्रणाम करने के बजाय उठ खडे होना चाहिए, आर्य वय मे छोटा भी हो तो शूद्र को उस के आने पर उसी प्रकार उठना चाहिए, शूद्र भले ही अस्सी बरस से छोटा हो किन्तु यदि वह भूत-पूर्व पौर हो तो उस के आने पर भी उसी प्रकार सत्कार करना चाहिए ( ६ ९—११ )। यहाँ पूर्व पौर का अर्थ क्या 'भूतपूर्व शहराती' हो सकता है ? अस्सी बरस से बडे शूद्र के सामने उम्र मे छोटा आर्य उठे यह बात समझ मे आ सकती है, किन्तु उम्र मे भी छोटे शूद्र के सामने जब आर्य को उठने को कहा जाता है तब उस शूद्र मे कुछ विशेषता होनी चाहिए। क्या केवल शहराती होना इतनी बडी विशेषता हो सकती थी जिस से वह ऐसा सत्कार-भाजन बन जाता ? पौर संस्था के सदस्य के सिवाय यहाँ पौर का और कोई अर्थ नही हो सकता।

इन सब बातो पर ध्यान देते हुए मेरा केवल यह कहना है कि वैदिक और उत्तरवैदिक काल की समिति की उत्तराधिकारिणी कोई न कोई सस्था जरूर थी, उस का ठीक ठीक रूप अभी तक हम नहीं जान पाये। बिम्बिसार का गामिक-सन्निपात क्या वही जानपद सस्था न थी ? उस जुटाव के लिए सन्निपतन और उपसक्रमण शब्द बर्त्ते गये है, जो पालि वाङ्मय मे हमेशा

सुसगठित सस्थाओ के जुटाव के लिए प्रयुक्त होते है ( जैसे जातक, ४ १४५, १४७ पर शाक्यो का सन्थागार मे सन्निपतन )।

समय स्थिति और सवित् शब्द हमारे वाङ्मय और इतिहास मे ठहराव-मूलक कानून के वाची है। जायसवाल ने यह विवेक करने का यत्न किया है कि सवित् केवल पौर जानपद के ही ठहराव का नाम था ( हिं० रा० २, पृ० १०६-७ )। किन्तु इस अश मे वे सफल नही हुए। इन शब्दो मे यदि कुछ भेद रहा हो तो अभी तक हम उसे नही जानते।

जायसवाल जी ने पहले-पहल पौर-जानपद सस्था की सत्ता मे विश्वास वाङ्मय के उक्त प्रमाणो के आधार पर ही किया था। अब नालन्दा से मिली एक मिट्टी की मोहर ने उन के मत को आश्चर्य-जनक पुष्टि की है। वह मोहर सन् १९२०-२१ की खुदाई मे निकली थी, और उस पर गुप्त-युग की लिपि मे लिखा है—पुरिकाग्रामजानपदस्य—पुरिका के ग्रामो के जानपद की। आन्ध्रो के पतन के बाद पुरिका नाम के एक जनपद के उत्थान का उल्लेख पुराणो मे है। ( इ० आ० १९२९, पृ० १३९-४० )। इस मोहर के आविष्कार के बाद अब जायसवाल जी की स्थापनाओ को सिद्धान्त मानना होगा।

मेरा जायसवाल जी से इस विषय मे केवल एक बात पर मतभेद है जो कि नीचे §§ १४२ ऋ-१४३ अ मे प्रकट होगा। मेरे प्रस्तावित सशोधन के साथ उन के मत को मान लेना दूसरे विद्वानो के लिए भी कठिन न होना चाहिए।

## * २०. क्षत्रियों और ब्राह्मणों का संघर्ष ?

हिन्दुओ की जात-पाँत सनातन नही है। इतिहास की अन्य सब मानव सस्थाओ की तरह वह भी विकास की उपज है। किन्तु जात-भेद का विचार हिन्दुत्व के साथ ऐसा चपक गया है कि उस की बहुत सी दूसरी संस्थाओ को

भी मुफ्त मे ही जात और बहुत से दूसरे विचारो को भी मुफ्त मे ही जात-भेद का विचार मान लेना बहुत स्वाभाविक हो गया है। जहा ब्राह्मण क्षत्रिय कुटुम्बी या कुम्भकार आदि शब्द हो, उन का अर्थ बिना विचारे और बिना प्रसग देखे ब्राह्मण जात क्षत्रिय जात कुनबी जात कुम्हार जात आदि न कर देना चाहिए। किन्तु वडे बडे विद्वान् भी ऐसी गलतियाँ करते है। नमूने के तौर पर घोनसख जातक ( ३५३ ) की यह अतीतवत्थु है कि बनारस मे जब ब्रह्मदत्त राज्य करता था तब तक्कसिला मे बोधिसत्त एक दिसापामोक्ख आचरिय ( जगत्प्रसिद्ध आचार्य ) के रूप मे प्रकट हुए, जम्बुदीप के अनेक खत्तिय माणव और ब्राह्मण माणव उन के पास जा कर शिल्प ग्रहण करते थे ( जि० ३, पृ० १५८ )। माणव शब्द वहाँ स्पष्ट ही सस्कृत माणवक ( पजाबी मुण्डा ) अर्थात् कुमार के अर्थ मे है, किन्तु अंग्रेजी अनुवादको ने वहाँ मुफ्त मे ही क्षत्रिय जात और ब्राह्मण जात बना डाली है। इसी प्रचलित भ्रम के कारण आधुनिक विद्वानो मे से भी बहुतो ने जात-पाँत को बहुत प्राचीन मान लिया है।

जात-पाँत के बीज और अकुर के क्रमविकास की अवस्थाओ का सब से अधिक युक्तिसंगत और सक्षिप्त विवेचन जो मेरी नजर मे पडा है, डा० रमेशचन्द्र मजूमदार के सामूहिक जीवन के अन्तिम अध्याय मे है। मैने प्राय: सभी जगह उन्ही का अनुसरण किया है, किन्तु मुझे ऐसा जान पडता है कि एक आध जगह डा० मजूमदार भी प्रचलित भ्रम मे पड कर सामाजिक ऊँचनीच के कुछ स्वाभाविक विचारो को जात-भेद के विचार मान बैठे हैं। उन का कहना है कि जात-पाँत का अकुर जब पहले-पहल महाजनपद-युग मे फूटने लगा, तब क्षत्रियो और ब्राह्मणो मे परस्पर सघर्ष रहा, ब्राह्मण अपने को सब से बडा कहते पर क्षत्रिय उन्हे अपने से बडा न मानते, उस समय तक साधारण समाज मे क्षत्रिय ब्राह्मणो से बड़े माने जाते, किन्तु बाद मे ब्राह्मण अपनी चतुराई और धूर्तता से बड़े बन बैठे। उन्हो ने इस बात के जितने उदाहरण दिये है, उन मे से एक मे भी मुझे वैसा सघर्ष नहीं दीख पडा, बल्कि समूचे प्राचीन इतिहास मे कहीं खोजने पर भी नहीं मिला।

यदि वैसा संघर्ष होता तो ब्राह्मणों के पास ऐसा कौन सा साधन था जिस से वे क्षत्रियों को पछाड सकते ? डा० मजूमदार राजशक्ति का उल्लेख करते हैं, पर क्षत्रियो की राजशक्ति से ब्राह्मण दूसरो को दबा सकते थे, या स्वय क्षत्रियो को भी ? डा० मजूमदार ने ऐसे उदाहरण दिये है कि क्षत्रिय ब्राह्मण की बेटी को नहीं लेते, वे क्षत्रिय और ब्राह्मणी या ब्राह्मण और क्षत्रिया की सन्तान को अपने मे नही गिनते, किन्तु ब्राह्मण क्षत्रियो की बेटी को आदर-पूर्वक लेते और वैसी मिश्रित सन्तान को अपने मे आदरपूर्वक शामिल करते है। मेरी विनम्र सम्मति मे ऐसे उदाहरणो से ब्राह्मणो का नीची जात होना या क्षत्रियो ब्राह्मणो का सघर्ष कुछ सिद्ध नही होता। उन से केवल एक बात सिद्ध होती है जो रूपरेखा मे लिखी गई है। और वह यह कि क्षत्रियो मे अपनी कुलीनता और गोत्र-शुद्धि का भाव ब्राह्मणो से पहले उपजा, और ब्राह्मणो ने वह भाव उन की नकल कर के लिया, बहुत देर तक ब्राह्मणो मे परस्पर इस पर विवाद रहा, और इसी लिए यह भाव उन मे एक ज़माने तक पक्का न हो सका। ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक था, क्योकि क्षत्रिय एक स्वाभाविक ऊँची श्रेणी थे, जब कि ब्राह्मणो की श्रेणि कृत्रिम थी।

## * २१. बडली का अभिलेख और पच्छिम भारत में जैन धर्म के प्रचार की प्राचीनता

राजपूताना-म्यूज़ियम अजमेर मे बडली-गाँव से उपलब्ध एक टूटे सफेद चिकने पत्थर पर स्पष्ट बड़े बडे ब्राह्मी अक्षरो मे निम्नलिखित खण्डित लेख है—

वी रा य भ ग व त

च तु र सी ति व से

मा झ मि के

अर्थात् "भगवान् वीर के लिए ''८४ वे बरस मे'''मध्यमिका के''।"

श्रद्धेय ओझा जी ने मेरा ब्राह्मी लिपि की शिक्षा का आरम्भ इसी लेख से कराया था। प्रा० लि० मा० पृ० २-३ पर भी उन्हों ने उस का उल्लेख किया है। विद्वानों का ध्यान अभी तक उस की ओर नहीं गया, किन्तु वह छोटा सा लेख बड़े महत्त्व का है। एक तो वह भारतवर्ष के प्राचीनतम उपलब्ध शिलालेखों में से एक है। दूसरे, वह प्राचीन काल में पच्छिम भारत में एक बाकायदा संवत् की सत्ता सिद्ध करता है। उस युग में दो ही संवतों के रहने की सम्भावना है—वीर संवत् या नन्द संवत्। यदि ८४ वाँ बरस वीर संवत् का हो तो महावीर के बाद की पहली ही शताब्दी में, और यदि नन्द संवत् (दे० नीचे ❀ २२ औ) का हो तो वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में मध्यमिका (जिसे चित्तौड़ के पास आधुनिक नगरी के खँडहर सूचित करते हैं) अर्थात् दक्खिनपूरब राजपूताना में जैन श्रावकों की सत्ता सिद्ध होती है। यह उस लेख से पायी जाने वाली तीसरी महत्त्व की बात है।

उस लेख का सम्पादन एपिग्राफिया इंडिका में हो जाना अभीष्ट है[1]।

## ❀ २२ शैशुनाक और नन्द इतिहास की समस्यायें

भगवान् बुद्ध के समय से पौराणिक अनुश्रुति के अतिरिक्त बौद्ध और जैन अनुश्रुति भी हमारे इतिहास के मार्ग पर प्रकाश डालने लगती है। स्व० श्रीयुत पार्जीटर ने पुराणों की विभिन्न प्राचीन प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन से भारत-युद्ध के बाद के राजवंशों विषयक पौराणिक वृत्तान्तों का सम्भावित मूल पाठ तैयार किया, और पुराण टेक्स्ट ऑव दि डिनैस्टीज ऑव दि कलि एज (कलियुग के वंशों विषयक पुराण पाठ) नामक पोथी में प्रकाशित किया था

---

१ यह लिखने के बाद मैंने जायसवाल जी का ध्यान इस लेख की तरफ़ दिलाया, और उन्हों ने ओझा जी से लेख की छाप मँगा कर ज० बि० ओ० रि० सो०, १९३०, में उस का सम्पादन कर दिया है।

(आक्सफर्ड, १९१३)। जायसवाल जी ने उस कार्य को और आगे बढ़ा कर पौराणिक के साथ बौद्ध और जैन अनुश्रुति के तथा अन्य सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन से शैशुनाक और नन्दकालीन राजनैतिक इतिहास का एक मोटा सा ढाँचा खड़ा किया ( ज० बि० ओ० रि० सो० १, पृ० ६७—११५ )। उन्हो ने उस युग के तीन राजाओ की प्रतिमाओं और उन पर के समकालीन छोटे छोटे अभिलेखो का भी उद्धार किया ( वही, जि० ५, पृ० ८८ प्र, ५५०-५१, जि० ६, पृ० १७३ प्र)। तो भी अभी तक उस इतिहास मे बहुत कुछ अस्पष्टता धुधलापन और विवाद बाकी है, अनेक समस्याये हल की जाने को है। भारतीय इतिहास के नवीन सशोधकों का जो सम्प्रदाय पौराणिक अनुश्रुति की उपेक्षा और अवहेलना करता, और इन युगो का इतिहास केवल दक्खिनी (सिंहली) बौद्ध अनुश्रुति के आधार पर बनाना चाहता है, वह जायसवाल के बहुत से परिणामो को स्वीकार नही करता। शैशुनाक राजाओ की प्रतिमाओ के विषय मे भी बडा विवाद है। रूपरेखा मे मैंने जायसवाल जी का अनुसरण कर इस काल का राजनैतिक वृत्तान्त लिखा है, किन्तु मैंने उन की स्थापनाओं को आरजी तौर से ही माना है। कई विवादग्रस्त प्रश्नो के विषय मे मेरी तसल्ली नही हो पाई। इस इतिहास के धुँधलेपन अस्पष्टता और विवाद को दूर करने का तथा इस काल के राजनैतिक इतिहास को ठोस बुनियादो पर खड़ा करने का उपाय मेरे विचार मे यह है कि पार्जीटर ने जिस शैली से आदिम काल के इतिहास की छानबीन की है, उसी शैली का प्रयोग परीक्षित्-नन्द-काल के लिए भी किया जाय। इस युग के लिए पहले युगो से कही अधिक उपादान है, ब्रह्मवादी जनकों के युग के लिए उत्तर वैदिक तथा बाद के युगो के लिए बौद्ध-जैन वाङ्मय की सामग्री पौराणिक सामग्री के अतिरिक्त मौजूद है। किन्तु जब तक कोई विद्वान् इस काम को हाथ नहीं लगाते, तब तक हमारा इस काल का कामचलाऊ वृत्तान्त क्रमश. किन स्थापनाओ पर आश्रित है, और उन मे से प्रत्येक स्थापना कहाँ तक निर्विवाद या विवादग्रस्त है, सो सक्षेप मे स्पष्ट करने का यत्न यहाँ किया

जाता है। नीचे के पृष्ठों मे जहाँ ग्रन्थ का नाम लिये बिना जिल्द का उल्लेख किया गया है, वहाँ ज० बि० ओ० रि० सो० की जिल्दों से अभिप्राय है।

## अ. प्रद्योत वंश का वृत्तान्त पादटिप्पणी के रूप में

पुराणों के उपस्थित पाठ की साधारण व्याख्या के अनुसार मगध मे बार्हद्रथ वंश के बाद प्रद्योत वंश और उस के बाद शैशुनाक वंश ने राज्य किया। किन्तु प्रद्योत वंश अवन्ति मे राज्य करता था, और शैशुनाकों का समकालीन था। जायसवाल यह व्याख्या करते है कि मगध ने जब अवन्ति का विजय किया, तब अवन्ति का वृत्तान्त प्रसंगवश मगध के इतिहास मे आया, वह वृत्तान्त मूल पाठ मे एक कोष्ठक मे या पाद-टिप्पणी के रूप मे पढ़ा जाता था। उसके अन्त मे यह पाठ था—

स ( त ? ) त्सुतो नन्दिवर्धन ।
हत्वा तेषा यश कृत्स्न शिशुनाको भविष्यति ।

यहाँ शिशुनाक का अर्थ था शैशुनाक (शिशुनाक वंशज), और वह नन्दिवर्धन का विशेषण था। किन्तु बाद मे पिछले लेखकों और प्रतिलिपिकारों ने यह न समझ कर कि इसे कोष्ठक में पढ़ना चाहिए, और नन्दिवर्धन को प्रद्योत वंश का अन्तिम राजा तथा शिशुनाक का अर्थ पहला शिशुनाक राजा समझ कर, प्रद्योत वंश को मगध मे शिशुनाकों का पूर्ववर्ती मान लिया, और उन के वृत्तान्त को बार्हद्रथों और शैशुनाकों के बीच रख दिया।

पार्जीटर ने भी इस स्पष्ट गलती को सुधार कर प्रद्योतों के वृत्तान्त को पुराण-पाठ मे मगध के वृत्तान्त से अलग रख दिया है। इस सुलझाने पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। यहाँ तक यह विषय निर्विवाद है।

## इ. दर्शक = नागदासक ?

सिंहल की बौद्ध अनुश्रुति के दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—दीपवंस (= द्वीपवंश अर्थात् सिंहल द्वीप के राजवंश ) और महावंस । दीपवंस का

संकलन अदाज़न चौथी शताब्दी ई० मे और महावस का ६ ठी शताब्दी ई० मे हुआ माना जाता है। उन दोनो के वृत्तान्त का आरम्भ बुद्ध-कालीन मगध के इतिहास से होता है। मगध से बौद्ध धर्म के साथ बौद्ध अनुश्रुति भी सिहल गई थी; इसी प्रकार सिहल से बरमा।

विद्यमान दक्खिनी बौद्ध ( सिंहली और बरमी ) अनुश्रुति मे अजातशत्रु के ठीक बाद उदयी का राज्य बताया है। दीपवस मे उदयी के ठीक बाद नागदासक है, किन्तु महावस और बरमी अनुश्रुति मे उदयो के बाद अनुरुद्ध और मुड, और तब नागदासक है। उत्तरी बौद्ध अनुश्रुति के ग्रन्थ दिव्यावदान मे मुण्ड के बाद काकवर्णि का नाम है। पुराणो मे अजातशत्रु और उदयो के बीच दर्शक है। जायसवाल का कहना है कि नागदासक=दर्शक शिशुनाग (=शैशुनाक), जिस मे शिशुनाग खाली विशेषण है। यह विशेषण लगाने की उस समय विशेष ज़रूरत थी, क्योंकि उस के समकालीन विनय-पामोक्ख ( बौद्ध सघ के चुने हुए मुखिया ) का नाम भी दर्शक था। काकवर्णि भी दर्शक का ही विशेषण है, पुराणो के अनुसार।शिशुनाक का बेटा काकवर्ण था, इस लिए उस का कोई भी वशज काकवर्णि कहला सकता है। यदि नागदासक=दर्शक=काकवर्णि, तो यह कहना होगा कि बौद्ध अनुश्रुति उसे ग़लती से उदयी के पीछे ले गई है, क्योकि भास के नाटक स्वप्नवासवदत्तम् से दर्शक का कौशाम्बी के राजा उदयन का समकालीन होना निश्चित है। प्रा० देवदत्त रा० भण्डारकर भी नागदासक और दर्शक को एक ही मानते है, किन्तु भास की बात को प्रामाणिकता उन्हे स्वीकृत नही है। उन्हो ने सिद्ध किया है कि दर्शक को यदि अजातशत्रु का बेटा माना जाय तो उस के गद्दी बैठने के समय उदयन कम से कम ५६ बरस का रहा होगा; इस दशा मे ५७ बरस के वय मे उस का दर्शक की बहन पद्मावती को व्याहना सर्वथा असंगत है, और भास ने अपने समय की ग़लत अनुश्रुति का अनुसरण किया है (का० व्या० पृ० ६९-७०)। किन्तु वैसे व्याह मे असगति भले ही रही हो, कठिनाई तो कुछ न थी। उसी ज़माने में अजातशत्रु से हार या जीत कर

आये बूढ़े राजा प्रसेनजित् के साथ हम श्रावस्ती के मालाकार-सेट्ठी की सोलह बरस की बेटी मल्लिका को अपनी खुशी से व्याह करता देखते हैं ( जातक ३. ४०५-६ ) ।

बौद्ध अनुश्रुति मे अजातशत्रु को पितृघाती कहा है, महावस मे लिखा है कि फिर उदयी ने अपने पिता आजातशत्रु को मारा, और नागदासक तक यही पितृघातकता का क्रम चलता गया। सभी आधुनिक ऐतिहासिक अब अजातशत्रु पर लगाये गये इस इलजाम को झूठा मानते है, वह कई अशो मे बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त को सहारा देता था, इसी कारण उस पर यह इलजाम लगाया गया होगा।

उस के वशजो के पितृघात की बात स्पष्ट अत्युक्ति है। उदयी को गर्गसहिता मे, जो एक ज्योतिष का स्वतत्र ग्रन्थ है, उलटा धर्मात्मा कहा है।

## उ. अनुरुद्ध और मुण्ड की सत्ता

महावस तथा बरमी अनुश्रुति मे उदयी के बाद अनुरुद्ध और मुण्ड राजाओ के नाम है। दिव्यावदान मे भी मुण्ड का नाम है। तिब्बती अनुश्रुति ( लामा तारानाथ की पुस्तक जो १६०८ ई० मे पुरानी सामग्री के आधार पर तिब्बती भाषा मे लिखी गई ) मे अजातशत्रु के बाद के सभी राजाओ के नाम भिन्न हैं, किन्तु उन की संख्या सूचित करती है कि उस मे दर्शक अनुरुद्ध और मुड तीनो गिने गये है। मुण्ड की सत्ता अगुत्तर निकाय, ५ ५० से, जहाँ उसे पाटलिपुत्र मे राज्य करता लिखा है, सिद्ध है। पुराणो मे कुल दस शैशुनाको का होना लिखा है, किन्तु एक प्राचीन प्रति मे दश वै के बजाय दश द्वौ पाठ है। पुराणो की यह रीति है कि गौण नामो को छोड़ देते हैं, विशेष कर जहाँ वे एक ही पीढी के सूचक हो—अर्थात कई भाइयो ने एक के बाद दूसरे राज्य किया हो—, और उन का राज्य-काल मुख्य नामो मे मिला देते हैं। पुराणो मे उदयी का राज्य-काल ३३ वर्ष है, जब कि बौद्ध अनुश्रुति

मे केवल १६ । फलतः उदयी के राज्य-काल मे अनुरुद्ध और मुंड के ९ तथा ८ वर्ष सम्मिलित है ।

## ऋ. शिशुनाक बिम्बिसार का पूर्वज या नागदासक का अमात्य ?

सब से अधिक विवाद का प्रश्न यही है। बौद्ध अनुश्रुति बिम्बिसार से शुरू होती है, उस के पूर्वजो से उसे कुछ मतलब नहीं। दक्खिनी बौद्ध अनुश्रुति मे उलटा एक सुसुनाग को नागदासक का अमात्य और कालाशोक का पिता कहा है। उस के अनुसार पाँच पितृघातियो के पापो से तग आ कर प्रजा ने सुसुनाग को गद्दी पर बैठाया। पहले शिशुनाक को बार्हद्रथो के राज्य की समाप्ति पर प्रजा ने गद्दी पर बैठाया था, यह बात पुराणो मे भी है। जायसवाल का कहना है कि बौद्ध अनुश्रुति का सुसुनाग वास्तव मे किसी राजा ( दर्शक ) का विशेषण था, जो बाद मे एक पृथक् राजा बन गया, और पहले शिशुनाक की बाते उस पर लग गई। प्रद्योत वश का अन्त करने वाले शिशुनाक की जो व्याख्या की गई थी, वही व्याख्या इस सुसुनाग की भी वे करते हैं। कालाशोक सुसुनाग का पुत्र था, इस का अर्थ केवल यह है कि वह शिशुनाक-वश का था। शिशुनाग बिम्बिसार का पूर्वज था, इस का सब से निश्चित प्रमाण यह है कि ज्योतिष के ग्रन्थ गर्गसंहिता के युगपुराण नामक अध्याय मे उदयी को शिशुनाग-वंशज कहा है। उत्तरी बौद्ध अनुश्रुति ( दिव्यावदान, तारानाथ आदि ) मे भी सुसुनाग का कहीं नाम नहीं है।

परखम गाँव से पाई गई मथुरा अद्भुतालय वाली प्रतिमा पर के अभिलेख का उद्धार कर जायसवाल ने उसे अजातशत्रु की प्रतिमा सिद्ध किया है, जिस से यह भी सिद्ध होता है कि शिशुनाक या शिशुनाग शब्द प्राकृत शेवासिनाग का संस्कृत बनाया हुआ रूप है। पालि अनुश्रुति का अनुसरण करने वाले प्रो० देवदत्त रा० भण्डारकर बिम्बिसार को ही वंशस्थापक मानते

है। डा० रायचौधुरी ने उस के वश का नाम हर्यङ्क कुल ढूढ निकाला है ( इ० हि० का० १ १ )।

## ९. अवन्ति का अज और नन्दिवर्धन = मगध का अज उदयी और नन्दिवर्धन

पुराणो के प्रद्योत-वश-विषयक सन्दर्भ को मगध के वृत्तान्त से अलग कर के कोष्ठक या टिप्पणी के रूप मे पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनो वश नन्दिवर्धन पर आ कर समाप्त होते है। और दोनो वशो की कालगणना करने पर अवन्ति का नन्दिवर्धन और मगध का नन्दिवर्धन समकालीन निकलते हैं। अन्त मे स्पष्ट रूप से अवन्ति के नन्दिवर्धन को शैशुनाक कहा हो है। फलत न केवल दोनो सम-कालीन हैं, प्रत्युत एक ही है। मगध द्वारा अवन्ति का विजय तो निश्चित है ही। इसी से सन् १९१५ मे जायसवाल ने यह परिणाम निकाला था कि मगध के राजाओ मे से नन्दिवर्धन ने ही अवन्ति को जीता। जैन ग्रन्थो के अनुसार अवन्ति मे पालक के वश के बाद नन्द वश ने राज्य किया। नन्दि-वर्धन नन्द कहलाता था, सो आगे देखेगे। पुराण के एक पाठ मे उस का नाम वर्त्तिवर्धन भी है।

अवन्ति के वश मे पुराण के अनुसार प्रद्योत का उत्तराधिकारी पालक और उस का विशाखयूप है। विशाखयूप के बाद और एक राजा का नाम अजक है, किसी किसी प्रति मे उसे विशाखयूप से पहले रख दिया है। कथासरित्सागर के अनुसार पालक का भाई गोपाल-बालक था, और मृच्छकटिक के अनुसार पालक को गद्दी से उतार कर प्रजा ने गोपालदारक को आर्यक नाम से राजा बनाया था। उक्त लेख लिखते समय जायसवाल का ख़्याल था कि अजक आर्यक का ही प्राकृत रूप होगा, विशाखयूप आर्यक का बेटा रहा होगा, और कई प्रतियो मे जो अजक का नाम विशाखयूप के बाद है वह गलती से

होगा। उधर मगध के वंश मे उदयी के बजाय श्रीमद्भागवत पुराण मे अजय ( अज का अपपाठ ) लिखा है, और नन्दिवर्धन को आजेय लिखा है, जिस मे उदयी का नाम अज सिद्ध हो सकता था, किन्तु उस समय जायसवाल को यह नहीं सूझा। सन् १९१९ मे उन्हो ने कलकत्ता-अद्भुतालय मे पडी पटना वाली मूर्त्तियो का उद्धार किया, उन मे से एक राजा अज की और दूसरी वर्त्तनन्दी की निकली। तब यह जानने पर कि पटना मे भी कोई राजा अज था, स्पष्ट हुआ कि अज और उदयी एक ही है, तथा अवन्ति का अजक भी वही है। अवन्ति के विजय का श्रेय भी तब नन्दिवर्धन के बजाय अज उदयी को दिया गया, और नन्दी के दूसरे नाम वर्त्तिवर्धन का अर्थ समझा गया ( ज० बि० ओ० रि० सो० १९१९, पृ० ९६-९७, ५२२—२६ )। यह स्पष्ट है कि मूर्त्तियो की शिनाख्त से अवन्ति और मगध के अज उदयी की एकता प्रकट हुई है, किन्तु मूर्त्तियो की शिनाख्त पर वह स्थापना निर्भर नही है, वह अब स्वतन्त्र रूप से भी सिद्ध हो सकती है।

## ए. शैशुनाक प्रतिमायें

पटना की बस्ती अगम कुआँ से सन् १८१२ मे दो आदमकद मूर्त्तियाँ मिली थीं, जो अब कलकत्ता अद्भुतालय मे है। पिछली शताब्दी मे जनरल कनिंगहाम ने उन की पीठ पर खुदे अभिलेखो को पढ़ कर उन्हे यक्षो की मूर्त्तियाँ कहा। सन् १९१९ मे जायसवाल ने उन लेखों को ध्यान से पढ़ कर उन की असलीयत का आविष्कार किया। जायसवाल के अनुसार सिर वाली प्रतिमा पर पाठ है—

भगे अचो छोनीधीशे

—भगवान् अज क्षोण्यधीशः, अर्थात् श्रीमान् अज पृथ्वीपति; और बेसिर वाली पर

सपखते वटनन्दी

—सर्वक्षेत्रो वर्त्तनन्दी —सम्पूर्ण साम्राज्य वाला वर्त्तनन्दी। इस विषय पर भारी विवाद हुआ। पहले ये मूर्त्तियाँ पहली दूसरी शताब्दी ईसवी की यक्ष-मूर्त्तियाँ मानी जाती थी। यदि ये ५ वी शताब्दी ई० पू० के भारतीय राजाओ की समकालीन प्रतिमाये है, तो भारतवर्ष मे अशोक से पहले भी प्रतिमा-निर्माण-कला विद्यमान थी, पहले अनेक विद्वानो का यह मत था कि वह कला भारत मे पारस से मौर्य काल मे आई थी। उन मूर्तियो पर मौर्य जिलअ ( पालिश ) है, वह भी पहले पारस से सीखी वस्तु मानी जाती थी। तीसरे, प्राचीन भारत मे देवमूर्त्तियो के अलावा पुरुष-प्रतिमाये बनना भी सिद्ध हुआ। चौथे, इन पर के लेखो की लिपि पहली-दूसरी शताब्दी ई० की मानी जाती थी। यदि ये लेख उक्त प्रकार से पढे जाय, और इन अक्षरो को मौर्य माना जाय तो बुइलर की इस कल्पना को धक्का लगता है कि भारतीय ब्राह्मी लिपि पच्छिमी सामी लिपियो से निकली है, क्योकि उक्त कल्पना के अनुसार अशोक से पहले की लिपियो का सामी लिपि से अधिक सादृश्य होना चाहिए, जब कि इन लेखो से उलटी बात सिद्ध होती है ( ऊपर ❀ १४ उ )।

इसी विवाद मे एक विद्वान् ने परखम-मूर्त्ति की पटना-मूर्त्तियो से सदृशता की ओर ध्यान दिलाया, और जायसवाल ने जब उस पर के अभि-लेख को पढ़ा तो वह भी कुणिक शेवासिनाग मागधों के राजा अजातशत्रु की प्रतिमा निकली। पहले वह भी यक्ष-मूर्त्ति मानी जाती थी, अब एक ऐतिहासिक व्यक्ति की प्रतिमा बनी। इन प्रतिमाओ के उद्धार से पौराणिक इतिहास की भी पुष्टि हुई, सो तो स्पष्ट ही है। फलत. भारतीय इतिहास के नवीन सशोधको के अनेक सनातनी विश्वासो की जड पर इन आविष्कारो से चोट लगी।

यहाँ सक्षेप से विभिन्न विद्वानो के इस विषय पर के मतो का उल्लेख मात्र किया जाता है। श्रीयुत राखालदास बैनर्जी ने उन्हे शैशुनाक राजाओ की समकालीन प्रतिमाये मान लिया, किन्तु पहले लेख पर छोनीधीशे के बजाय

छोनीवीको पढ़ा, जिस से कुछ अर्थ नहीं बनता, और दूसरे लेख पर सप के बजाय सब पढ़ा, जिस से अर्थ मे कोई भेद नही होता। उन का कहना था कि राजाओ के नामो—अचो और वटनन्दी—के पाठ के विषय मे दो मत हो ही नहीं सकते। उन का मुख्य मतभेद यह था कि वे अभिलेखो की लिपि को पीछे का, और इस लिए अभिलेखो के बाद का खुदा हुआ मानते थे ( वहीं, पृ० २१०-१४)। लडन मे इस विषय पर जो विवाद हुआ उस मे डा० विन्सेंट स्मिथ ने मोटे तौर पर जायसवाल का मत स्वीकार किया, यद्यपि आग्रह-पूर्वक इस विषय पर कुछ न कहना चाहा। किन्तु डा० बार्नेट ने कहा कि अभिलेख मूर्तियां बनने के पीछे के है, और बुइलर के मत का अनुसरण करते हुए उन्हो ने उन की लिपि को २०० ई० पू० के बाद का माना, जायसवाल के पाठो को प्राकृत व्याकरण से असगत बतलाया, और स्वयं दोनो लेखो को इस प्रकार पढ़ा (क) भगे अच छनीवीके (ख) यखत वटनन्दी। अपने पाठो का कुछ अर्थ उन्हों ने न बताया, अच और वटनन्दी को व्यक्तिगत नाम तो माना, किन्तु शैशुनाक राजाओ का नाम स्वीकार नहीं किया।

प्रो० रमाप्रसाद चन्द और और डा० रमेशचन्द्र मजूमदार को भी जायसवाल का मत पसन्द नहीं आया। केवल यही दो विद्वान् है जिन्हो ने अभिलेखों के दूसरे सार्थक पाठ उपस्थित किये। प्रो० चन्द के मत मे पाठ क्रमशः यो है—(क) भग अचछनीविक (=भगवान् अक्षयनीविकः=कुबेर) (ख) यख सर्वट नन्दी (=यक्ष··नन्दी )। डा० मजूमदार के पाठ यो हैं—(क) गते [यखे] लेच्छई [वि] ४०, ४ ( लिच्छवियो का स० ४४ बीतने पर ), (ख) यखे सं वजिन ७० (यक्ष, स० वजियो का ७०)। डा० मजूमदार ने लिखा कि पुराण मे उदयी का दूसरा नाम अज नहीं अजय है, और आजेय से भी अज का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि उस का अर्थ अजय का बेटा है। ये दोनो विद्वान् बुइलर के अनुयायी होने के कारण अभिलेखों की लिपि को उतना प्राचीन नही मानना चाहते, यही उन के मतभेद का मूल है।

जायसवाल ने बार्नेट के एक एक आक्षेप का पूरा पूरा उत्तर दिया। उन का कहना था कि कोई जिम्मेदार विद्वान् नही कह सकता कि कला की दृष्टि से प्रतिमायें मौर्य काल के पीछे की है, उन पर जिलश्र (पौलिश) भी मौर्यकालीन है। तो भी उन के अभिलेखो की लिपि बुइलर की कल्पना के आधार पर पीछे की मानी जाती है, और इस कारण वे अभिलेख भी पीछे के। किन्तु प्रतिमाओ की पीठ पर दुपट्टे की सलवटों की धारियाँ लेखो के अक्षरो को इस प्रकार बचा बचा कर खोदी गई प्रतीत होती है, जिस से निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि लेख मूर्ति बनाते समय ही धारियो से पहले खोदे गये थे। इस विषय पर कलकत्ते के एक युरोपियन मूर्त्तितक्षक मि० ग्रीन की सम्मति ली गई, जिन्हे इस विवाद के अभिप्राय का कुछ पता न था। मि० ग्रीन ने प्रतिमाओ की जाँच कर कहा कि लेख धारियो से पहले के है। प्राचीन कला के विशेषज्ञ अध्यापक अरुण सेन ने कला की दृष्टि से प्रतिमाओ को आग्रहपूर्वक प्राङ्मौर्य-कालीन कहा। किन्तु दूसरे कलाविशेषज्ञ श्रीयुत अर्धेन्दुकुमार गागुलि ने यक्ष-वाद को इस प्रकार बचाना चाहा कि यदि प्रतिमाये प्राङ्मौर्य हो तो भी वे यक्ष-मूर्त्तियाँ ही है, और उन पर के लेखो का पाठ ठीक वही हो जो जायसवाल ने पढा है तो भी वे कहेगे कि बाद मे जब लोग भूल गये कि वे यक्ष-मूर्त्तियाँ है तब उन्हो ने राजाओ के नाम खोद डाले।

प्रो० चन्द और डा० मजूमदार की आपत्तियों के विषय मे जायसवाल ने कहा कि कोई संस्कृत प्राकृत जानने वाला क्षण भर के लिए भी न मानेगा कि अचछ=अक्षय, और 'अजय का बेटा=आजेय' वही कहेगा जिसे व्याकरण की यह आरम्भिक बात भी न मालूम हो कि तद्धित प्रत्यय विशेषणो के साथ नहीं लगा करते।

इस के बाद तीसरी शैशुनाक प्रतिमा—अजातशत्रु वाली—का उद्धार हुआ। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने जायसवाल से अपनी पूरी सहमति

प्रकट की, केवल वट नन्दी का अर्थ व्रात्य नन्दी किया। समूचा विवाद ज० बि० ओ० रि० सो० जि० ५, पृ० ५१२—५६५ में है। प्रो० चन्द और डा० मजूमदार के लेख इं० आ० १९१९ पृ० २५—३६ पर हैं, तथा श्रीयुत गांगुलि का मौडर्न रिव्यू में। बाद मे पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और पं० चन्द्रधर गुलेरी ने जायसवाल जी से अपनी पूरी सहमति प्रकट की (ना० प्र० प० १ पृ० ७९), और डा० मजूमदार ने लेखो के अन्त मे जो संवत् पढ़े थे, ओझा जी ने उन पाठो को दुःसाहस कहा। हरप्रसाद शास्त्री, ओझा और बैनर्जी जैसे प्राचीन-लिपि-विशेषज्ञ तथा गुलेरी जैसे सस्कृत-प्राकृत-भाषाविज्ञ की सम्मतियो की बड़ी कीमत है। कला की दृष्टि से स्मिथ और अरुण सेन की सहमति होना उस से कम कीमती नही है। दूसरे वर्ष जायसवाल ने अजातशत्रु की प्रतिमा का पाठ फिर से प्रकाशित किया, और उस आधार पर बुइलर की स्थापना की आमूल आलोचना की (वहीं जि० ६, पृ० १७३ प्र)। तो भी इस विवाद का अन्तिम फैसला नहीं हुआ।

## ऐ. कालाशोक = नन्दिवर्धन ?

कालाशोक और नन्दिवर्धन के एक होने की स्थापना भी जायसवाल ने १९१५ मे की थी। सभी बौद्ध ग्रन्थों ने वैशाली मे भिक्खु यश की चेष्टा से ७०० भिक्खुओं की दूसरी संगीति का होना लिखा है, और उस की तिथि विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार निर्वाण के १०० या ११० वर्ष बाद है। पौराणिक काल-गणनानुसार उस समय नन्दिवर्धन राज्य करता था। बौद्ध ग्रन्थों में काला-शोक के राज्य मे संगीति होना लिखा है। इस से नन्दिवर्धन और कालाशोक का एकत्व सम्भव दीखता है। किन्तु तारानाथ स्पष्ट ही कहता है कि यश ने ७०० भिक्षुओ की सभा राजा नन्दी की संरक्षकता में वैशाली मे जुटाई। फलतः नन्दी = कालाशोक। दूसरी तरफ तारानाथ ने एक अध्याय इस पर लिखा है कि यश ने किस प्रकार राजा कामाशोक को उपासक बनाया। उस के सामने नन्दी और कामाशोक दोनों नामों-विषयक अनुश्रुतियाँ

थी। दोनो की एकता पहचाने बिना उस ने दोनो दर्ज कर दीं। खोतनी अनुश्रुति ( रौकहिल की लाइफ ऑव दि बुद्ध मे ) के अनुसार भी नन्द के राज्य मे सगीति हुई थी। हम देखेंगे कि नन्दिवर्धन भी नन्द कहलाता था।

नन्दिवर्धन ने अवन्ति जीता था, सो निश्चित है, खारवेल के लेख से (नीचे §§ १५१, १५३) नन्द द्वारा कलिग जीता जाना प्रकट है। पाटलिपुत्र मे नन्द की सभा मे पाणिनि के आने की बात प्रसिद्ध है, जिस से प्रतीत होता है कि नन्द का सम्बन्ध अफगान सीमान्त से भी था। उधर तारानाथ के अनुसार कामाशोक ने दक्खिनपूरबी तथा पच्छिमी समुद्र-तट के देशो (कलिग और अवन्ति) को जीता, और हिमालय के प्रदेशो का दिग्विजय भी किया था, कश्मीर और पडोस के प्रदेश उस के अधीन थे। इस से भी दोनो की एकता की बात पुष्ट होती है।

इस के अतिरिक्त दिव्यावदान का सहाली भी, जिस का सस्कृत रूप सहारी होना चाहिए, जायसवाल के अनुसार काल (=सहारी)-अशोक का दूसरा नाम है।

## ओ. पूर्व नन्द और नव नन्द

अब हम पूर्व नन्दो और नव नन्दों को बात को ले सकते हैं।

(१) यह प्रसिद्ध है कि चन्द्रगुप्त मौर्य से पहले नन्दो का राज्य था, नन्दो की दो पीढियो ने राज्य किया, पहली पीढ़ी मे महापद्म नन्द था, दूसरी मे उस के आठ बेटे। ये सब मिला कर नव (नौ) नन्द थे। वायु पु० मे महापद्म नन्द का राज्य-काल २८ वर्ष दिया है, किन्तु बाकी पुराणो मे महापद्म के ८८ वर्ष और दूसरी पीढी के १२ वर्ष मिला कर १०० वर्ष पूरे किये हैं। इस प्रकार नन्दो के १०० वर्ष राज्य करने की अनुश्रुति है। जायसवाल का कहना है कि अनुश्रुति का यह आधुनिक रूप नया, और किसी प्राचीन अनुश्रुति की भ्रान्त व्याख्या पर निर्भर है। महापद्म का राज्यकाल २८ वर्ष ही था। नव नन्द का अर्थ है नये नन्द, न कि नौ नन्द। सौ वर्ष नन्दो का राज्य था यह बात

सूचित करती है कि नन्दो मे कुछ और राजाओ की गिनती भी थी। १९१५ मे जायसवाल का यह विचार था कि नन्दिवर्धन और महानन्दी का असल नाम नन्द रहा होगा, नन्दी बाद का भ्रान्त रूप होगा ( पृ० ८१ ), तथा सौ वर्ष की गिनती नन्द-वर्धन के समय से ही शुरू होती होगी। किन्तु नन्दिवर्धन से अन्तिम नन्द तक का कुल राज्य-काल १२३ वर्ष है; इस लिए या तो १०० का अर्थ लगभग १००, या यह अनुश्रुति भ्रान्त है। किन्तु १९१९ मे नन्दी की प्रतिमा निकलने पर नन्दी नाम तो निश्चित हो गया, और जायसवाल की यह धारणा हुई कि नन्दी का नाम नन्द बाद मे हुआ ( पृ० ९७ )। १०० वर्ष के हिसाब की तब उन्हों ने इस प्रकार व्याख्या की कि १२३ मे से ४० वर्ष नव नन्दो के और बाकी ८३ पूर्व नन्दो के हैं। किन्तु नन्दिवर्धन के पूर्ववर्ती अनुरुद्ध और मुण्ड भी, जो शायद उस के भाई थे, और जिन के १७ वर्ष पुराणों ने उदयी के राज्य-काल मे मिला दिये हैं, नन्द ही थे; इस प्रकार ८३+१७=१०० वर्ष पूर्व नन्दो के ही हुए, नव नन्दों का काल उस मे शामिल नहीं है ( पृ० ९८ )।

यह व्याख्या कौशलपूर्ण है, किन्तु मुझे इस से पूरा सन्तोष नहीं होता। नन्दो के सौ वर्ष की बात स्वयं धुँधली और अस्पष्ट है; पूर्व नन्दो की पृथक् सत्ता सिद्ध करने के लिए उस का आधार बहुत कच्चा है।

(२) वह सत्ता मेरी दृष्टि मे जैन अनुश्रुति से सिद्ध होती है। जैन अनुश्रुति के अनुसार अवन्ति मे पालक वंश के राज्य के बाद नन्दो ने १५५ वर्ष राज्य किया। स्पष्टतः वे अज उदयी और उस के वशजो को नन्द राजा कहते हैं ( जि० १ पृ० १०२; जि० ५ पृ० ९८, १००, ५२४)। उन के नन्दो के १५५ वर्ष=पुराण वाले नन्दों के १२३ वर्ष+उदयी के ३२ वर्ष ( जो कि अब बौद्ध अनुश्रुति की सहायता से उदयी के १५+अनुरूद्ध ९+मुण्ड के ८ वर्ष सिद्ध होते हैं )। जैन अनुश्रुति मे अवन्ति का इतिहास है; उक्त गणना से प्रतीत होता है कि उदयी ने अपने राज्यकाल के दूसरे ही वर्ष मे अवन्ति

को ले लिया था। हेमचन्द्र उदयी के उत्तराधिकारी को स्पष्ट ही नन्द कहता है ( जि० ५, पृ० ५२४ )। एक जैन लेख मे चन्द्रगुप्त से हारने वाले नन्द को एक वचन मे नव नन्द कहा गया है—द्विजो वररुचिरित्यासीन् नवनन्द स शसति (वही पृ० ९८)।

(३) इस के अतिरिक्त यह समझा गया था कि खारवेल का अभिलेख भी नन्दिवर्धन=नन्द सिद्ध करता है। सन् १९१७ मे जब जायसवाल ने उस लेख का पहली बार ठीक ठीक अध्ययन शुरू किया, उन्हो ने उस के अन्त मे 'मौर्य काल १६५' पढ़ा, जो खारवेल के राज्य का १३ वाँ वर्ष था। उसी लेख मे खारवेल के ५वे वर्ष के एक कार्य के सम्बन्ध मे नन्द राजा का उल्लेख है—नन्दराजतिवससतोघाटितम् ' इत्यादि, जिस का यह अर्थ किया गया था कि नन्द राजा द्वारा ३०० वर्ष पहले खोदी गई नहर को खारवेल उस वर्ष अपनी राजधानी मे लाया। चन्द्रगुप्त मौर्य का अभिषेक जायसवाल के अनुसार ३२६ ई० पू० और स्मिथ के अनुसार ३२२ ई० पू० मे हुआ था। इस प्रकार मौर्य स० १५७ (खारवेल का ५वां वर्ष )=१६९ या १६५ ई० पू०, और नन्द राजा का समय=४६९ या ४६५ ई० पू०। यह नन्द नन्दि-वर्धन नहीं तो कौन हो सकता था ? ( राखालदास बैनर्जी—ज० बि० ओ० रि० सो० ३, पृ० ४९८-९९ )।

किन्तु बाद मे एक तो 'मौर्य काल १६५' वाला पाठ स्वय जायसवाल ने छोड़ दिया, यद्यपि खारवेल का काल उन के मत मे फिर भी लगभग वही रहता है। दूसरे नन्दराजतिवससत ' 'का अर्थ डा० स्टेन कोनौ ने किया—नन्दराज के समय स० १०३ मे खोदी गई नहर । तिवससत का अर्थ स० १०३ जायसवाल ने भी स्वीकार किया। कोनौ के मत मे वह वीर-सवत् है। तब १०३ वीर स०=४४२ ई० पू० मे ( कोनौ के हिसाब से ४२४ मे, क्योंकि उन्हो ने वीर-सवत् का आरम्भ ५४५ के बजाय ५२७ ई० पू० से माना है,) नन्द राजा था। किन्तु पुराण के अनुसार नन्दो ने १०० वर्ष राज्य किया,

अर्थात् ४२३ ई० पू० से (चन्द्रगुप्त का अभिषेक ३२३ ई० पू० मे गिन कर; यदि कोनौ ३२६ ई० पू० से गिनते तो ४२६ ई० पू० मे नन्दो के आरम्भ और ४२४ ई० पू० मे नन्दो की सत्ता मे कोई विरोध न होता)। तब या तो परम्परागत वीर-संवत् गलत है, या नन्दो के १०० वर्ष वाली बात मे कुछ गलती है, और जैन अनुश्रुति के नन्दो के १५५ वर्ष वाली बात अधिक ठीक है (ऐक्टा ओरियटेलिया[1] १, पृ० १२ प्र)।

आगे डा० कोनौ मेरुतुङ्ग और अन्य जैन लेखको की कालगणनापरक गाथाओ[2] पर विचार करते हुए सुझाते है कि 'महावीर के बाद ६० वर्ष पालक का राज्य फिर १५५ वर्ष नन्दों का राज्य……' इत्यादि का मूल रूप और अर्थ यह तो नहीं था कि वीर सं० ६० तक पालक का राज्य और वीर सं० १५५ तक नन्दो का…इत्यादि ? यहाँ डा० कोनौ स्वय भूल में पड़ गये हैं, क्योकि यदि यही अर्थ हो तो आगे 'मौर्यों के १०८ वर्ष, पुष्यमित्र के ३० वर्ष'' का अर्थ क्या मौर्यों का अन्त १०८ वीर स० मे…'इत्यादि होगा ?

खारवेल की उक्त पक्ति मे वीर स० होने की कल्पना जो डा० कौनो ने की है वह निरी कल्पना है। किन्तु यदि खारवेल के लेख का अर्थ डा० कोनौ वाला और वीर सं० का आरम्भ ५४५ ई० पू० मे माना जाय, तो नन्दों के १०० वर्ष वाली अनुश्रुति ठीक है या गलत, या उस का क्या अर्थ है, इस झगड़े में पड़े बिना, यह निश्चित होता है कि ५४५—१०३=४४२ ई० पू० में नन्दो का राज्य था। नव नन्दों का राज्य १०० भी नहीं, ४० ही वर्ष था। तब ४४२ या ४२४ ई० पू० में पूर्व नन्द ही हो सकते थे।

---

१. डेनमार्क तथा स्कन्दनाविया, की प्राच्य-खोज-पत्रिका।

२. उन गाथाओं की विवेचना पहले याकोबी ने जैन कल्पसूत्र के अनुवाद (प्राच्य-धर्म-पुस्तकमाला, २२) की भूमिका में तथा शार्पेन्तियर ने इं० आ० १९१४, पृ० ११८ प्र में की है।

परन्तु नन्दराजतिवससतओघाटित '' का अर्थ अब स्वय जायसवाल यो करते हैं कि 'नन्दराज के स० १०३ मे खोदी '। उन का कहना है कि यदि ''नन्द राज ने स ० १०३ मे खोदी " अभिप्रेत होता तो तिवससत-नन्दराजओघाटित ' पाठ होता (ज० बि० ओ० रि० सो० १३, पृ० २३९)। फलत खारवेल-लेख पूर्व नन्दो की सत्ता का कोई सीधा प्रमाण नहीं देता, किन्तु नन्द सवत् की सत्ता सिद्ध कर परोक्ष रूप से नन्दिवर्धन=नन्द सिद्ध करता है।

## औ. नन्द संवत्

राजा नन्द ने विक्रम से पहले एक संवत् चलाया था यह अनुश्रुति पुरानी है, और चालुक्य विक्रमादित्य ( ११वीं शताब्दी ईसवी ) के अभिलेख से जानी जाती है। खारवेल के उक्त लेख से भी उस की पुष्टि हुई। पर वह सवत् कब चला ? अलबेरूनी कहता है कि ४५८ ई० पू० से हर्ष-सवत् शुरू होता था, और वह उस के समय (११वीं शताब्दी ई०) तक मथुरा और कन्नौज मे जारी था। ४५८ ई० पू० मे राजा हर्ष तो कोई प्रसिद्ध नही है, किन्तु हर्ष और नन्द समानार्थक शब्द हैं, और प्राचीन भारत मे ऐसे प्रयोग करने की प्रथा थी।

१९१५ मे जयसवाल ने पौराणिक और बौद्ध अनुश्रुति के सामञ्जस्य से इस प्रकार तिथिनिर्णय किया था—

अनुरुद्ध—४६७—४५८ ई० पू०,
मुण्ड—४५८—४४९ ई० पू०,
नन्दिवर्धन—४४९—४०९ ई० पू०।

( पृ० ११५ )

यदि मुण्ड और अनुरुद्ध मे से एक का राज्य नन्दी के बाद हुआ हो तो नन्दी का राज्य ठीक ४५८ ई० पू० से शुरू होता है जो अलबेरूनी के अनुसार हर्ष (=नन्द)-सवत शुरू होने का वर्ष है।

फलतः उक्त कालगणना मे यह सशोधन करना अभीष्ट है ( जि० १३, पृ० २३९ ) ।

## अं. महानन्दी और उस के बेटों की सत्ता

दीपवंस मे कालाशोक के बाद उस के १० बेटो का राज्य लिखा है, और फिर एकदम चन्द्रगुप्त मौर्य आ जाता है। महावस मे कालाशोक का राज्य-काल २८ वर्ष है ( जो पुराणों के अनुसार महापद्म नन्द का राज्य-काल था ), उस के बाद उस के दस बेटो का राज्य है, फिर नव नन्दो का और तब मौर्यों का। बरमी बौद्ध अनुश्रुति मे भी कालाशोक ( राज्यकाल २८ वर्ष ) के बाद भद्रसेन और उस के आठ भाइयो ( कालाशोक के बेटो ) का राज्य है, और फिर उग्रसेन ( महापद्म ) नन्द और उस के आठ भाइयों का। जायसवाल का कहना है कि पूर्व नन्द और नव नन्द का भेद भूलने पर यह गोलमाल हुआ—नव नन्द का राज्यकाल ( २८ वर्ष ) और उस के बेटे दोनो पूर्व नन्द ( नन्दिवर्धन, कालाशोक ) पर मढ़ दिये गये। वास्तव मे न तो कालाशोक का राज्य-काल २८ वर्ष था, न उस के ९ या १० बेटे थे। दीपवंस ने तो पूरी सफाइ से नव नन्दो की बात पूर्व नन्दो पर लगा कर नव नन्दो का वश ही गुम कर दिया; किन्तु महावंस और बरमी अनुश्रुति ने कालाशोक के बेटो के बाद नव नन्द वश भी रहने दिया।

महावंस और बरमी अनुश्रुति का ऐसा करना यह सूचित करता है कि पूर्व और नव नन्दो मे गोलमाल होने पर भी पीढ़ियो की ठीक सख्या उन के सामने उपस्थित थी। कालाशोक के बेटो वाली पीढ़ी पुराणो के महानन्दी को सूचित करती है। तारानाथ वैशाली के नन्दी के बाद राजा नन्द को रखता है, और महापद्म को उस का बेटा बतलाता है। इस लिए तारानाथ का नन्द = पुराण का महानन्दी। दिव्यावदान मे सहाली के बाद तुलकुचि है, और फिर महामण्डल, महामण्डल = महापद्म प्रतीत होता है, और सहाली ( कालाशोक ) और महामण्डल के बीच मे तुलकुचि महानन्दी

को सूचित करता है। तुलकुचि उस के असल नाम का या किसी पद का प्राकृत रूप होगा। इस प्रकार महानन्दी की सत्ता सिद्ध होती है ( जि० १ पृ० ८५, ९१ )।

पुराण मे शैशुनाक प्रसग मे महानन्दी का राज्य-काल ४३ वर्ष लिखा है। किन्तु जहाँ कलियुग की गणना दी है, वहाँ परीक्षित् के जन्म ( भारत युद्ध ) से नन्द (=महानन्दी ) के अभिषेक तक १०१५ वर्ष, तथा महापद्म तक १०५० वर्ष लिखा है—अर्थात् महानन्दी का राज्य-काल ३५ वर्ष। यूनानी लेखक कुर्तिय (Curtius) के अनुसार सिकन्दर के समकालीन मगध के राजा का बाप नाई था, और वह पहले राजा के बेटो का अभिभावक था। फलत जायसवाल यह परिणाम निकालते हैं कि महानन्दी के ४३ वर्ष मे उस के बेटो के ८ वर्ष सम्मिलित हैं, उस का अपना राज्यकाल ३५ वर्ष का था, और कलियुग के जोड की गणना मे उस के ३५ वर्षों के ठीक बाद महापद्म का उल्लेख करने का अर्थ यह है कि उस के बेटो के समय भी वास्तविक शासक वही था। ( जि० १, पृ० १०९-११; जि० ३, पृ० २४६ )।

## अः. निर्वाण-सवत्

सिंहल बरमा और स्याम मे इस समय प्रचलित बुद्ध-निर्वाण-सवत् ५४४ ई० में शुरू होता है। किन्तु पूर्वोक्त बौद्ध अनुश्रुति-ग्रन्थों में शैशुनाक और नन्द इतिहास मे कुछ गोलमाल होने के कारण अजातशत्रु अर अशोक के बीच जो अन्तर बनता है, उस का हिसाब अथवा अन्य तरह से हिसाब करने से वह सवत् नहीं आता। इसी प्रकार प्राचीन जैन अनुश्रुतियो में कुछ गोलमाल और अस्पष्टता आ जाने के कारण वीर-सवत् का जो आरम्भ अब माना जाता है, उस की वास्तविकता में विद्वानों को सन्देह हो गया। इस प्रकार बुद्ध और महावीर के निर्वाण-संवत्

आधुनिक विद्वानो ने ४८७ ई० पू० और ४६७ ई० पू० या उन के अड़ोस-पड़ोस मे मान लिये। वे सब अन्दाज थे, और सर्वसम्मति कभी किसी मत पर नही हुई। किसी समय विद्वानो ने ४८८ ई० पू० को बुद्ध निर्वाण का लगभग अन्तिम रूप से निश्चित सवत् मान लिया था ( अ० हि०, ३य सस्क०, पृ० ४६-४७, जहाँ सक्षेप से उस के पक्ष की युक्तियाँ और उन के प्रतीक दिये है )। किन्तु जायसवाल ने बौद्ध अनुश्रुति की प्रत्येक गोलमाल को सुलझा कर फिर ५४४ ई० पू० मे बुद्ध-निर्वाण तथा ५४५ ई० पू० मे वीर-निर्वाण होने की स्थापना की है ( जि० १, पृ० ९७—१०४)। अजातशत्रु के कालनिर्णय के अलावा, बुद्ध के ठीक बाद उपालि से ले कर अशोक के समकालीन मोग्गलिपुत्त तिस्स तक बौद्ध सघ के जितने विनय-पामोक्ख हुए उन का विनय-पामोक्खता-काल जोड कर वे उसी परिणाम पर पहुँचते है। उन की एक और युक्ति यह है कि बुद्ध के समय तक्कसिला स्वतंत्र राज्य था, और वहाँ का राजा पुक्कुसाति था। गान्धार की स्वतन्त्रता लगभग ५०५ ई० पू० मे पारसियो ने समाप्त कर दी। यदि यह घटना बुद्ध के जीवन-काल की होती, तो बौद्ध ग्रन्थ इस का उल्लेख करते और तक्कसिला को स्वतन्त्र राज्य के रूप मे न प्रकट करते।

स्वर्गीय डा० विन्सेट स्मिथ ने अपनी अर्ली हिस्टरी ऑव इडिया के तीसरे सस्करण ( १९१४ ) मे ४८७-८६ ई० पू० को बुद्ध के निर्वाण की निश्चित तिथि मान लेने के बावजूद भी उसी के चौथे सस्करण मे जायसवाल के मत की ओर अपना झुकाव दिखाया। किन्तु जिस कारण से स्मिथ ने जायसवाल का मत माना था, वह कारण ही अब लुप्त हो चुका है। जायसवाल ने खारवेल के अभिलेख को जो नये सिरे से पढ़ा था, उस से यह समझा गया था कि खारवेल और नन्दिवर्धन मे ३०० बरस का अन्तर है, और फलत: नन्दिवर्धन की तिथि पीछे ले जानी पड़ती थी। उसी कारण सब शैशुनाको की तिथि पीछे जाती थी। अब खारवेल के लेख का वह

अर्थ स्वय जायसवाल नही करते। इसी लिए उस अभिलेख का इस विवाद पर सीधा प्रभाव नहीं पड़ता, और यह विवाद बना ही हुआ है।

स्मिथ के अतिरिक्त हिन्दूइज़्म् ऐंड बुधिज़्म् ( हिन्दू मत और बौद्ध मत ) के लेखक सर चार्लस ईलियट ने भी लिखा है कि "बहुत समय तक पाश्चात्य विद्वानो ने ४८३ या ४८७ ई० पू० को गौतम बुद्ध की मृत्यु की अन्दाज़न तिथि मान रक्खा था, किन्तु शैशुनाक वश के इतिहास विषयक बहुत नये आविष्कारो ने दिखलाया है कि उस तिथि को फिर ५४४ ई० पू० पर ले जाना चाहिए।" ( जि० १, भूमिका पृ० १९ )।

जैन विद्वान् मुनि कल्याणविजय ने भी इस समूचे विषय पर पुनर्विचार किया है ( वीर-निर्वाण-सवत् और जैन कालगणना, ना० प्र० प० १०, ५८५ प्र)। वे महावीर का निर्वाण ५२८ ई० पू० मे मानते है, अन्य बातो मे प्राय जायसवाल से सहमत है।

मैंने अभी आरजी तौर पर इस काल को तिथियो के सम्बन्ध मे जायसवाल जी का अनुसरण किया है।

## * २३. "सत्त अपरिहाणि धम्म"

महापरिनिब्बाण-सुत्त के सत्त अपरिहाणि धम्म वाले सन्दर्भ का अनुवाद करना कुछ कठिन है। अंग्रेजी अनुवाद तो हो चुका है, पर उस मे मुझे एक बडी गलती दीखी। उस के अलावा, बुद्धदेव का और प्राचीन भारतवासियो का गण-राज्यो के राष्ट्रीय कर्त्तव्य का आदर्श क्या था, उसे ठीक उन्ही के शब्दो मे समझना चाहिए। इसी लिए हिन्दी मुहावरे की परवा न कर के भी मैंने मूल का भरसक शब्दानुवाद करने का जतन किया है। मूल इस प्रकार है—

**किं ति ते आनन्द सुत वज्जी अभिन्ह(=अभीक्ष्ण)-सन्निपाता सन्निपातबहुला 'ति ? सुतमेतं भन्ते वज्जी अभिन्ह··· । याव किं च आनन्द वज्जी अभिन्ह-सन्निपाता सन्निपातबहुला भविस्सन्ति बुद्धियेव आनन्द वज्जीन पाटिकखा नो**

परिहाणि। कि ति ते ·····वज्जी समग्गा सनिपतन्ति समग्गा वुठ्ठहन्ति समग्गा वज्जीकरणीयानि करोन्तीति ?··· ····वज्जी अपञ्ञत्तं न पञ्ञपेन्ति, पञ्ञत्तं न समुच्छिन्दन्ति, यथा पञ्ञत्ते पोराणे वज्जिधम्मे समादाय वत्तन्तीति ? · ··· वज्जी ये ते वज्जीनं वज्जीमहल्लका ते सक्करोन्ति गरुकरोन्ति मानेन्ति पूजेन्ति तेसं च सोतव्वं मञ्ञन्तीति ? · ·· · वज्जी या ता कुलित्थियो कुलकुमारियो ता न ओक्कस्स पसह्य वासयन्ति ? ···· 'वज्जी यानि तानि वज्जीनं वज्जीचेतियानि अब्भन्तरानि च बाहिरानि च तानि सक्करोन्ति गरुकरोन्ति · ···· तेसं च दिन्नपुब्बं कतपुब्ब धम्मिकं बलिं नो परिहापेन्तीति ? · · 'वज्जीनम् अरहन्तेसु धम्मिका रक्खावरणगुत्ति सुसंविहिता ? किं ति अनागता च अरहन्तो विजितम् आगच्छेय्युं आगता च अरहन्तो विजिते फासुं विहरेय्यु 'ति ?

सन्निपत् धातु के विषय मे दे० ऊपर § ८५ उ पर टिप्पणी। उठ्ठहन्ति मे का उठ्ठान (उत्थान) धातु संस्कृत और पालि मे सदा सचेष्ट जागरूक और अप्रमत्त रहने के अर्थ मे आता है, दे० धम्मपद, २४-२५, तथा सु० नि० का उठ्ठानसुत्त (२२)। 'अपञ्ञत्तं न पञ्ञपेन्ति ··· ·' का अर्थ अंग्रेज़ी मे किया गया है कि पुरानी सस्थाओं और प्रथाओ के विरुद्ध कायदा नहीं बनाते, उन प्रथाओ को नहीं तोड़ते, वृजियो के पुराने स्थापित (पञ्ञत) धर्म के अनुकूल चलते हैं। किन्तु पञ्ञत का अर्थ 'स्थापित' मुझे ठीक नहीं जँचता। पञ्ञत शब्द का ञत्ति (ज्ञप्ति) शब्द से स्पष्ट सम्बन्ध है। प्रत्येक नया विधान बनाने के लिए बाकायदा ञत्ति द्वारा प्रस्ताव करना होता था। इसी लिए मैंने अर्थ किया है—(सभा द्वारा) बाकायदा कानून बनाये बिना कोई आज्ञा जारी नहीं करते, इत्यादि। आभ्यन्तर और बाह्य चैत्यो से क्या अभिप्राय है, कह नहीं सकते। विजित शब्द राज्य के अर्थ मे अशोक के अभिलेखो मे भी लगातार आता है।

## ❋ २४. सिंहल-विजय का काल और दक्खिन भारत में आर्यों के फैलाव का सामान्य क्रम

सिंहली दन्तकथा और बौद्ध अनुश्रुति सिहल मे विजय के पहुँचने

की घटना को बुद्ध भगवान् के निर्वाण से कुछ ही पहले हुआ बतलाती है। यदि यह बात ठीक हो तो हमारा सिंहल-विषयक परिच्छेद इस प्रकरण मे चौथे नम्बर पर आना चाहिए, यानी शाक्यो के सहार के बाद और वृजि गण के अन्त से पहले। किन्तु उसी कथा से पता मिलता है कि विजय के समय से पहले पाण्ड्य राष्ट्र मौजूद था। पाण्ड्य राष्ट्र की स्थापना का समय प्रो० भण्डारकर ने बडी योग्यता से निर्धारित किया है, बहुत ही स्पष्ट और प्रबल विरोधी प्रमाणो के बिना उन क परिणामो को टाला नही जा सकता। उन्हो ने दिखाया है कि पाणिनि के व्याकरण से पाण्ड्य शब्द नहीं सिद्ध होता, कात्यायन ने उस के लिए एक विशेष वार्तिक बनाया है। इस लिए पाण्ड्य राष्ट्र की स्थापना पाणिनि और कात्यायन के बीच के समय निश्चय से हुई।

डा० रामकृष्ण गोपाल भडारकर पाणिनि का समय ७वीं शताब्दी ई० पू० मानते थे ( बम्बई गजेटियर १८९६, जि० १, भाग २, पृ० १४१ )। दूसरी तरफ डा० सिल्व्यॉ लेवी उन का समय सिकन्दर के पीछे रखना चाहते हैं, क्योकि अष्टाध्यायी ४ १. ४९ मे यवन शब्द आता है। किन्तु आर्यावर्त्तियो का यवनो से परिचय हखामनी साम्राज्य के द्वारा हो चुका था। डा० बेलवलकर उसी यवन शब्द के कारण पाणिनि की तिथि ९ वी शताब्दी ई० पू० मानते है। उन का कहना है कि यूनानी भाषा का जो अक्षर —दिगम्मा—संस्कृत व मे रूपान्तरित हो सकता था, उस का प्रयोग ८०० ई० पू० से पहले लुप्त हो चुका था[1]। किन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि सस्कृत का यवन शब्द मूल यूनानी नाम का सीधा रूपान्तर न हो, प्रत्युत उस के किसी

---

१ ऐन ऐकौन्ट ऑव दि डिफरेंट एग्ज़िस्टिग् सिस्टम्स् ऑव सस्कृत ग्रामर ( सस्कृत व्याकरण की विद्यमान विभिन्न पद्धतियों का ब्यौरा ), पूना १९१५ पृ० १५-१६।

बिचले रूपान्तर का रूपान्तर ? मोटे तौर से हखामनी साम्राज्य के उत्कर्ष-काल मे ही आर्यावर्त्तियो का यवनों से परिचय हुआ मानना संगत जान पड़ता है।

जायसवाल का कहना है कि अष्टाध्यायी ६.१ १५४ से सिद्ध होने वाले मस्करी शब्द से गोशाल मंखरीपुत्र का अभिप्राय दीख पड़ता है, इस कारण भी पाणिनि का समय बुद्ध के बाद होना चाहिए[1]। मुझे जो बात सब से अधिक निश्चयजनक जान पड़ती है, वह पाणिनि के पाटलिपुत्र मे आने की अनुश्रुति है। पौराणिक और जैन ग्रन्थो के अतिरिक्त राजशेखर की काव्यमीमांसा मे भी उस का उल्लेख है[2]। इसी कारण पाटलिपुत्र की स्थापना के ठीक बाद पाणिनि का समय मानना उचित है।

प्रो० भण्डारकर पाण्ड्य के साथ साथ चोल शब्द को भी अर्वाचीन और पाणिनि से पीछे का कहते है। उन का कहना है कि चोर चोल का दूसरा रूप है; आरम्भ मे वह शब्द दक्खिनी विदेशियो के लिए प्रयुक्त होता था, धीरे धीरे उस मे बुरा अर्थ आ गया। उस अर्थ मे प्राचीन संस्कृत मे स्तेन, तायु, तस्कर आदि शब्द प्रयुक्त होते थे, चोर अर्वाचीन शब्द है। यह युक्ति-परम्परा भ्रान्त और निराधार है, और प्रो० भण्डारकर जैसे विद्वान् द्वारा कलकत्ता युनिवर्सिटी के कार्माइकेल व्याख्यानो मे ऐसी बात का कहा और छपाया जाना आश्चर्यजनक है। चोर शब्द का चुर् धातु पाणिनि के व्याकरण मे इतना प्रसिद्ध है कि उसी के नाम से चुरादि गण का नाम पड़ा है[3]। इस से यह परिणाम भी न निकालना होगा कि पाणिनि चोल से परिचित थे; वे चोर से परिचित थे; और चोर तथा चोल का सम्बन्ध होने का कोई प्रमाण

१. इं० आ० १९१८, पृ० १३८।

२. पृ० ५५।

३. अष्टाध्यायी ३.१.२५।

नही, वह केवल भडारकर की कल्पना है। चोल से उन के परिचित या अपरिचित होने का भी कोई प्रमाण नही है। उन के व्याकरण मे चोल शब्द न होने से अपरिचय भी सिद्ध नही होता, क्योकि वह केवल व्याकरण है, कोष नहीं।

उक्त बात मैंने सन् १९३० से पहले लिखी थी। किन्तु कम्बोज देश का ठीक पता मिलने से अफगानिस्तान के उत्तर भाग मे एक और चोल देश का भी पता मिला।[1] वह उत्तरी चोल देश पाणिनि के घर के बहुत नजदीक था, और उसे वे न जानते रहे हो यह नहीं कहा जा सकता। अष्टाध्यायी मे चोल शब्द न आने की बात के आधार पर जो युक्तियाँ खडी की गई है वे इसी कारण निरर्थक है।

पाण्ड्य शब्द वाली युक्ति पर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह बात अचिन्तनीय है कि एक आर्य बस्ती पाण्डु जाति के नाम से या किसी और नाम से पाणिनि के समय रही हो, और उस का पाण्ड्य नाम या इस से मिलते जुलते पहले नाम का पाण्ड्य रूप पाणिनि के बाद हुआ हो? पाण्ड्य शब्द या उस का अन्तिम प्रत्यय एक राजनैतिक परिवर्त्तन का नही, कवल एक शाब्दिक परिवर्त्तन का सूचक हो? किन्तु यह युक्ति एक बारीक कल्पना पर निर्भर है, और इस का प्रयोग तभी होना चाहिए जब पाण्ड्य राष्ट्र के पाणिनि के समय रहने का कोई प्रबल प्रमाण मिलता हो। फिलहाल हमे पाण्ड्य उपनिवेश के विषय मे प्रो० भण्डारकर का मत स्वीकार करना चाहिए।

विन्ध्यमेखला से सिंहल तक आर्यों का फैलाव कैसे स्वाभाविक क्रम से हुआ, उस का दिग्दर्शन § १११ मे किया गया है। जिस अनुश्रुति की छानबीन

---

१. दे० नीचे ❀ २८ उ (४)।

से वह क्रम प्रकट हुआ है, उस की सामान्य सचाई भी उस क्रम की स्वाभाविकता से सिद्ध होती है। भारत-युद्ध से पहले काल की समूची अनुश्रुति मे आर्यों की दक्खिनी सीमा विदर्भ और शूर्पारक तक तथा पूरबी और पूरबदक्खिनी सीमा वंग-कलिंग तक है। उस के केवल दो अपवाद प्रतीत होते है। एक तो रामचन्द्र के वृतान्त में लङ्का तक के देशों का उल्लेख है, और दूसरे भारत-युद्ध मे पूरबी सीमान्त के प्राग्ज्योतिष राज्य तथा दक्खिनी सीमान्त के पाण्ड्य राज्य का। राम के वृत्तान्त के सम्बन्ध मे एक तो यह सम्भावना है कि उस की लंका अमरकण्टक हो, और उस के सम्बन्ध मे रा० ब० हीरालाल की व्याख्या ही ठीक हो; दूसरे यदि उस की प्रचलित व्याख्या ही की जाय तो भी उस से केवल इतना परिणाम निकलता है कि राम के समय मे दक्खिन भारत के अंतिम छोर तक का रास्ता पहले-पहल टटोला गया। यह परिणाम और राम का समूचा वृतान्त उलटा दक्खिन भारत की उस अवस्था को दिखलाता है जब उस मे आर्य बस्तियाँ जम न पाई थी, और दूर तक दण्डक वन फैला हुआ था।

भारत युद्ध के वृत्तान्त में भी प्राग्ज्योतिष और पाण्ड्य का उल्लेख निश्चय से पीछे का है। इस बात को पहचान ले तो वह वृत्तान्त भी उलटा हमारे सामान्य परिणाम को पुष्ट करता है; अवन्ति विदर्भ और माहिष्मती उस मे आर्यो के अन्तिम दक्खिनी राज्य हैं जिन का आन्ध्रो और द्राविडों से सम्बन्ध है।

किन्तु विन्ध्यमेखला और विदर्भ मे आर्यो का प्रवेश अनुश्रुति के हिसाब से बहुत पुराना है, यद्यपि ऋग्वेद मे विन्ध्य का उल्लेख नही है। वेद की उस निषेधात्मक गवाही का कुछ मूल्य नही है। उलटा पार्जीटर ने दिखलाया है[1] कि ऋग्वेद १०, ८६ मे इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि की जो भद्दी सी कथा है, और जिस की स्पष्ट व्याख्या वैदिक वाङ्मय के अनुसार

१. ज० रा० ए० सो० १९२१, पृ०८०३—९।

नही होती, वह गोदावरी के काँठे से सम्बन्ध रखती और सम्भवत: एक द्राविड-मूलक कथा है। इस प्रकार वेद की गवाही भी आर्यो का बहुत पुराने समय मे विदर्भ मे प्रवेश सूचित करती है।

भारत-युद्ध के बाद से पहले-पहल मूळक और अश्मक राज्यो का, तथा उन की सीमा पर आन्ध्र शबर मूषिक राष्ट्रो का, उल्लेख मिलने लगता है। आरम्भिक बौद्ध वाङ्मय से भी महाजनपद-काल मे आर्यों के फैलाव की ठीक वही सीमाये दीख पड़ती है। यह कहा गया है कि अग से पूरब के देशो का महाजनपद-युग मे आर्यों को पता न था, क्योकि सोलह महा जनपदो मे सब से पूरब का अग ही है। मोटे तौर पर सोलह महाजनपदो की परिधि आर्यों के उस समय के दिगन्त की झलक देती है, किन्तु उस दलील पर अधिक बोझ डालने से वह टूट जायगी। एक तो यह समझना चाहिए कि वह महा-जनपदो की सूची है न कि भारतवर्ष के तमाम जनपदो की, उस समय के महा-जनपद आधुनिक जगत् की "बडी शक्तियो" की तरह थे। दूसरे, उस सूची मे गान्धार और कुरु-मत्स्य-शूरसेन के बीच किसी प्रदेश का नाम नही है, यद्यपि उन प्रदेशो मे आर्यो का पूरा प्रवेश था। तीसरे, कलिग का उल्लेख जातको के अतीतवत्थु मे है ही,[1] और अंग से कलिंग को रास्ता सुम्ह ( आधुनिक मेदिनीपुर ) या राढ ( पच्छिम बगाल ) हो कर ही हो सकता था न कि सीधे झाडखण्ड मे। से और चौथे, वग और राढ दोनो का उल्लेख विजय की कहानी मे है ही। वह कहानी भले ही नये ग्रन्थो मे है, पर है वह पुरानी। उस से सिंहल मे आर्य राज्य-स्थापना से पहले वग-राष्ट्र की सत्ता सिद्ध होती है।

जातको मे दामिलरट्ठ, नागदीप, कारदीप और तम्बपण्णीदीप का जो चित्र हम पाते हैं, वह भी ठीक वैसा है जैसा मूळक-अश्मक मे आर्य बस्तियाँ

---

१. दे० ऊपर § ८२।

स्थापित होने क बाद और पाण्ड्य-सिंहल में स्थापित होने के तुरत पहले होना चाहिए। दामिल और कारदीप मे तब आर्य तापसों के आश्रम स्थापित होते दीखते है, और तम्बपन्नी के तट पर केवल व्यापारी लोग ईंधन-पानी लेने ठहरते हैं जब कि उस के अन्दर के सम्बन्ध मे विचित्र कथायें सुनी जाती हैं। यह आर्यों के फैलाव की ठीक वही शैली है जो पुरानी अनुश्रुति से प्रकट होती है; इस नाटक में नये पात्र केवल व्यापारी हैं जो कि इस युग की नई उपज थे। जातकों का यह चित्र अत्यन्त स्वाभाविक है, और इसी कारण इन सुदूर दक्खिनी प्रदेशो के उल्लेख के कारण जो विद्वान् उन के समय को इस तरफ घसीटना चाहते हैं, उन के सन्देहों मे कोई सार नहीं है।

चौथा खण्ड—

# नन्द-मौर्य-साम्राज्य

( लगभग ३७४ ई० पू०—१९० ई० पू० )

चौदहवाँ प्रकरण

# नन्द-साम्राज्य और सिकन्दर की चढ़ाई

( ३७४—३२३ ई० पू० )

## ११४. नव-नन्द साम्राज्य और पुराने राज-वंशों का उन्मूलन

मगध जनपद ने छठी शताब्दी ई० पू० से धीरे धीरे बढ़ते हुए किस प्रकार लगभग समूचे भारत मे एक साम्राज्य स्थापित कर लिया, था, सो देख चुके हैं। चौथी शताब्दी ई० पू० मे उस साम्राज्य की सीमाये और भी दूर तक फैल गईं, और बहुत अंशों मे वह एकराज्य बन गया। उस का गौरव दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ तक भी ज्यों का त्यो बना रहा। किन्तु इस बीच दो बार मगध में राजक्रान्ति हो गई। शैशुनाक वंश से साम्राज्य की बागडोर नव नन्द वंश ने ली, और बाद मे उस से मौर्य वंश ने।

अन्तिम शैशुनाक राजा का उत्तराधिकारी महापद्म नन्द था। पुराणों के अनुसार वह महानन्दी का ही शूद्रा से पैदा हुआ बेटा था; जैन अनुश्रुति यह है कि वह एक नाई का बेटा था। एक यूनानी लेखक ने लिखा है कि वह एक नाई था, किन्तु रानी उस पर आसक्त हो गई थी, और धीरे धीरे वह

राजकुमारो का अभिभावक बन कर अन्त मे उन्हे मार कर स्वय राजा बन बैठा था। उस का दूसरा नाम उग्रसेन भी था।

पुराणो मे महापद्म को सर्वक्षत्रान्तक, सब क्षत्रियो का उत्पाटक या उत्सादक भी कहा है। उन के अनुसार वह भारतवर्ष का एकच्छत्र एकराट् था। भारत-युद्ध के बाद से भारतवर्ष के भिन्न भिन्न जनपदो मे जो राजवश चले आते थे (§ ७५) उन मे से कुछ तो शैशुनाको के समय समाप्त हो चुके थे, जो बचे थे वे सब अब समाप्त हो गये। उन के नाम इस प्रकार हैं—पौरव, ऐक्ष्वाकु, पंचाल, हैहय, कलिग, अश्मक, कौरव, मैथिल, शूरसेन और वीतिहोत्र। इन मे से मैथिल अथवा विदेह वश एक राज्यक्रान्ति मे मिट चुका था (§ ८१), और काशी कोशल से जीता गया था (§ ८३)। वीतिहोत्र वश के स्थान मे प्रद्योत का वश स्थापित हो कर मिट चुका था ( §§ ८३,१०२ )। हैहय वश का राज्य उसी के पड़ोस मे कही—शायद माहिष्मती मे—रहा हो, उसे भी सम्भवत प्रद्योत ने ही समाप्त कर दिया होगा। कलिग पहले अश्मक राज्य द्वारा जीता गया प्रतीत होता है (§८३), उस के बाद नन्दिवर्धन के समय वह मगध के अधीन हो गया था (§ १०७)। इसी प्रकार शूरसेन या मथुरा पहले प्रद्योत के (§ ९९) और फिर मगध-सम्राटो के अधीन हो चुका प्रतीत होता है[1]। अश्मक क राजवश को सम्भवत नव नन्दो ने हो समाप्त किया, गोदावरी के तट पर अब तक नान्दड या नो-नन्द-देहरा नाम की बस्ती है।

---

१. दे० ॐ २२ ए। अजातशत्रु की प्रतिमा मथुरा से पाई गई है। यदि उस प्रतिमा के विषय में विवाद न रहे तो कहना होगा कि अजातशत्रु का प्रद्योत की मृत्यु के बाद मथुरा पर अधिकार हो गया था। मगध-साम्राज्य के विकास की धुधली प्रक्रिया पर यह छोटी सी बात कुछ प्रकाश डालती है।

उस के दक्खिन कुन्तल प्रदेश अर्थात् उत्तरी कर्णाटक के भी नन्दो के राज्य मे रहने की अनुश्रुति मध्यकालीन अभिलेखो मे विद्यमान है। कौशाम्बी का पौरव या भारत वश भी नन्दिवर्धन के या महापद्म के समय समाप्त हुआ। पंचाल देश की स्वतन्त्रता काशी के पहले साम्राज्य मे ही लुप्त हो गई प्रतीत होती है (§ ८१); यदि तब न भी हुई हो तो कोशल और काशी की अथवा मगध और कोशल की कशमकश मे उस का बचे रहना सम्भव नहीं दीखता। कोशल और कुरु के राजवंशो का निश्चय से मगध के साम्राज्य ने ही अन्त किया होगा। यह भी सम्भव है कि अजातशत्रु से नन्दिवर्धन तक पहले मगध-साम्राज्य के समय मे कुछ राज्य साम्राज्य मे सम्मिलित हो गये हो तो भी उन के अपने राजवश अधीन रूप मे बने रहे हो, और महापद्म ने उन राजवशों की अन्तिम सफाई कर के उन के प्रदेशो को अपने सीधे अधिकार मे ले लिया हो, इसी लिए वह सर्वक्षत्रान्तक कहलाया हो। जो भी हो महापद्म-उग्रसेन अपने विशाल साम्राज्य का एकच्छत्र एकराट् था।

महापद्म और उग्रसेन दोनो ही शायद उस के नाम के विशेषण मात्र थे, पहला विशेषण उस के असीम धन की याद दिलाता है, और दूसरा उस की प्रबल सेना की। यूनानी लेखको के अनुसार उस के बेटे की सेना मे २ लाख पैदल, २० हज़ार सवार, २ हज़ार रथ और ३, ४ या ६ हज़ार युद्ध के लिए सधे हुए डरावने हाथी थे। उस के कोष मे असख्य और असीम धन माना जाता था, जिस की स्मृति सस्कृत पालि और तामिल के अनेक प्राचीन ग्रंथों में सुरक्षित है।

ऐसा कोष और इतनी बड़ी सेना एक सुव्यवस्थित और सम्पन्न साम्राज्य की ही हो सकती थी। यदि वह सेना साम्राज्य की बुनियाद थी, और कोष सेना का, तो देश की समृद्धि और सुसगठित एकराज्य उस कोष की बुनियादे थी। कम से कम पिछली तीन शताब्दियो से भारतवर्ष के जन-पद शिल्प व्यवसाय और व्यापार से सम्पत्ति का सचय कर रहे थे, और

मगध के सम्राटो ने दूर दूर तक के प्रदेशो को अपने व्यवस्थित एकराज्य की सीमा मे लाने की और समूचे देश को एक बनाने की जो चेष्टाये इस बीच लगातार जारी रक्खी, उन के कारण, प्रतीत होता है, व्यापार-व्यवसाय को चमकने का खूब अवसर मिला। उस समूची प्रक्रिया का परिणाम हम नन्दो के कोष और सेना के रूप मे देखते है। देश को एक करने की वे चेष्टाये नन्दो के समय भी जारी रही, सब पुराने राज्यो की समाप्ति उन मे से मुख्य थी। बाद के सस्कृत व्याकरण के ग्रन्थो मे एक उदाहरण है[1] जिस से प्रतीत होता है कि माप- तोल के निश्चित मान शायद पहले-पहल नन्दो ने बाकायदा चलाये थे, और इस से यह झलक मिलती है कि देश के आर्थिक जीवन मे और साधारण व्यवहार मे भी एक राष्ट्र बनाने की चेष्टाये चल रही थीं। राष्ट्र की अर्थनीति मे नन्दो ने कई नई बाते शुरू की थी। यह प्रसिद्ध है कि उन्हो ने पहले-पहल पत्थर पेड़ चमडे और गोद आदि के व्यापार पर चुगी लगाई थी।

किन्तु नन्द राजा प्रजापीडक थे, और इसी कारण उन के वश मे राज्यलक्ष्मी अधिक समय तक न टिकने पाई। महापद्म नन्द के बेटो मे से सामल्य नन्द या धन नन्द मुख्य था। उस ने केवल १२ वर्ष राज किया था जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक घोर युद्ध के बाद नन्दो से राज्य छीन लिया। नव नन्द वश का राज्य इस प्रकार केवल दो पीढी ही चल पाया।

सामल्य नन्द के ही समय मे मकदूनिया के राजा अलक्सान्दर ( सिकन्दर ) ने भारतवर्ष पर चढाई की। व्यास नदी तक का प्रदेश जीत कर जब वह उस गगा-काँठे के करीब पहुँचा जो भारतवर्ष का सब से मुख्य और

---

१. नन्दोपक्रमाणि मानानि—काशिका २. ४. २१; ६. २ १४।

उपजाऊ प्रदेश था और जिस के लिए वह देर से ललचा रहा था, तब नन्द को सैनिक शक्ति देख उस की सेना घबडा उठी, और उसे उलटे पाँव लौटना पड़ा। उस चढ़ाई का वृत्तान्त अब हम सक्षेप मे कहेगे।

## § ११८. मकदूनिया का उत्थान, पारसी साम्राज्य का अधःपात

पार्स ( फारिस ) के सम्राट् कुरु के समय से आयिया ( लघु एशिया ) के यूनानी राज्य तो हखामनी साम्राज्य के अधीन थे ही, बाद मे दारयवहु के बेटे सम्राट् खशयार्श[1] ने एक भारी सेना ले कर बोस्फ़रस खाड़ी के उस पार पच्छिमी हेलस ( यूनान ) पर भी चढ़ाई की थी। उस मे उसे सफलता न हुई। पच्छिमी हेलस मे प्राचीन पञ्जाब की तरह छोटे छोटे राष्ट्र थे। सातवीं शताब्दी ई० पू० से वे विशेष उन्नति करने लगे थे। तभी से उन का प्रामाणिक इतिहास मिलता है। वे सभ्य और स्वाधीनता-प्रेमी थे। उन छोटे छोटे राष्ट्रो मे से किन्ही मे राजा राज्य करते थे, तो किन्ही मे सरदारो की सभा का शासन था, और किन्ही मे बिलकुल प्रजातन्त्र ही था। किन्तु चौथी शताब्दी ई० पू० मे इन स्वाधीन यवन जातियो की अवनति होने लगी। उन के देश के उत्तरपूर्वी सीमान्त पर मकदूनिया का पहाड़ी राज्य था। वहाँ के लोग थे तो यूनानियो से मिलते जुलते, पर उन के मुकाबले मे असभ्य थे, और यूनानी उन्हे बर्बर कहते थे। मकदूनिया का राजा उन दिनों फिलिप था। उस ने यूनान पर चढ़ाई की। छोटे छोटे यूनानी राष्ट्र उस का मुकाबला करने को इकट्ठे न हो सके, और अपनी स्वाधीनता खो बैठे। फिलिप का बेटा अलक्सान्दर या सिकन्दर बड़ा महत्वाकांक्षी था। बचपन मे ही वह ससार भर का दिग्विजय करने और उस का एकच्छत्र सम्राट् बनने के सपने देखता था। उस के सामने ईजियन सागर और नील नदी से ले कर

---

१. यूनानी रूप Xerxes, नवीन फ़ारसी—खशर्यश।

बाख्त्री और हिन्दूकुश तक विस्तृत पारसी साम्राज्य था, जिस में अनेक सभ्य देश सम्मिलित थे। उस के परे भारतवर्ष की भूमि है यह भी उस ने सुन रक्खा था। भारतवर्ष का पूरा पता यूनानी लोगों को न था, वे उसे छोटा सा देश समझते थे। यूनान और मकदूनिया के उत्तर और पच्छिम के देशों से भी वे कुछ परिचित थे, पर उन में रहने वाली जातियाँ ईरान के उत्तर के दाहों की तरह उस समय तक असभ्य और जंगली थीं, और उन पर शासन करने का सिकन्दर को कोई प्रलोभन न था। यूनान, पारसी साम्राज्य और भारतवर्ष, यही उस समय के मकदूनी लोगों की दृष्टि में सभ्य जगत् था, और इस जगत् का एक-सम्राट् बनने का सङ्कल्प अलक्सान्दर ने किया था।

राज्य पाने के बाद अलक्सान्दर अपने सङ्कल्प को सिद्ध करने चला। मकदूनी सैनिकों की तथा अपने अधीनस्थ यूनान के भाड़े के सिपाहियों की एक बड़ी सेना ले कर उस ने पारसी साम्राज्य पर चढ़ाई की। वह साम्राज्य तब बोदा हो चुका था। दो ही बरस (३३४—३३२ ई० पू०) के अन्दर मिस्र और पच्छिमी एशिया के प्रदेश सिकन्दर ने छीन लिये, और फिर अगले दो बरस में पारसी साम्राज्य के ठीक केन्द्र को जीत लिया। सम्राट् ख्शयार्श का बेटा दूसरा दारयवहु जो इस समय गद्दी पर था, उत्तर-पूरब तरफ बाख्त्री को भाग निकला। अलक्सान्दर ने पारस की राजधानी को, जिसे पारसी लोग पार्स और यूनानी लोग पार्सिपोलिस[1] (पार्सों की पुरी) कहते थे, फूक डाला।

जीते हुए देशों में रास्तों के नाकों पर किले बनाते और छावनियाँ डालते हुए पारसी सम्राज्य को पार कर सिकन्दर अपनी सेना के साथ ३३०

---

१. आधुनिक शीराज़ से ४० मील उ० पू०।

ई० पू० के अन्त मे भारतवर्ष की सीमा पर ज़रक या शकस्थान में आ पहुँचा। वसन्त ऋतु आते ही अफगानिस्तान के दक्खिनी पहाड़ चढ़ कर वह हरउवती (आधुनिक कन्दहार) प्रदेश मे आ निकला, जहाँ अलक्सान्द्रिया नाम का किला बना कर और कुछ फौज छोड़ कर अगली सर्दियो मे फिर पहाड़ो को पार कर वह काबुल नदी की उत्तरी दून मे आ गया। यहाँ आधुनिक चरीकर पर, जो चारो तरफ के रास्तों का नाका है, एक और अलक्सान्द्रिया की स्थापना हुई, और थोड़े से साथियो को इस किले मे छोड़ कर शेष सब मकदूनी सेना पजशीर नदी की धारा के रास्ते हिन्दूकुश पार बाख्त्री पहुँची। पारसी साम्राज्य की रही सही शक्ति यहाँ सिकन्दर के मुकाबले मे कुचली गई, और बाख्त्री के परे सीर नदी तक सुग्ध[1] (आधुनिक बोखारा-समरकन्द) का प्रदेश विजेता के हाथ लगा।

## § ११९. भारत में सिकन्दर; कपिश प्रदेश और पुष्करावती का घोर मुकाबला, तक्षशिला का विश्वासघात

अब यह सेना का प्रवाह फिर भारत की ओर उमड़ चला। सिकन्दर के अपने मकदूनियो के सिवाय यूनान मिस्र पारस आदि जीते हुए देशों के भाड़े के सिपाही इस सेना मे सम्मिलित थे। और उन मे मध्य एशिया के फुर्तीले शक सवार भी थे, जो घोड़े पर चढ़े चढ़े बाण चला सकते थे। बाख्त्री के युद्ध मे जो ईरानी सेना सिकन्दर से हारी थी, उन के साथ हिन्दूकुश के उत्तर तरफ के एक छोटे पहाड़ी राज्य का सरदार एक भारतवासी भी था जिस का नाम था शशिगुप्त। हारने के बाद अब शशि-गुप्त भी अपनी सेना-सहित सिकन्दर की सेना मे जा मिला। पर तक्षशिला के राजकुमार आम्भि ने बिना लड़े ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। उस के दूत सुग्ध मे ही सिकन्दर के पास अधीनता का संदेसा ले कर आये थे। खावक या काओशाँ जोत से हिन्दूकुश को पार कर

---

१. यूनानी रूप Sogdiana.

सिकन्दर की सेना सन् ३२७ ई० पू० के वसन्त मे फिर भारतवर्ष के दरवाजे पर अपने बनाये किले अलक्सान्द्रिया पर आ पहुँची। यहाँ से उन की भारत की चढाई शुरू होती है।

तक्षशिला का सीधा रास्ता काबुल नदी के साथ साथ[1] जाता था। किन्तु उत्तर के पहाडो या कपिश प्रदेश मे जो वीर और लडाकू जातियाँ रहती थी, उन्हे दबाये बिना आगे बढ जाने का अर्थ होता अपने रास्ते को पीछे मे कटवा डालना। इसी लिए सिकन्दर ने अपने दो सेनापतियो को तो सीधे रास्ते आगे भेजा, और स्वय एक बडी सेना के साथ उत्तरी पहाड़ो मे घुसा।

इन पहाडो मे अलीशाग, कुनार, पजकोरा (गौरी) और स्वात (सुवास्तु) नदियो की दूनो मे छ: महीने तक भयकर लड़ाइयाँ हुई। इस प्रदेश मे जो जातियाँ रहती थी, उन्हे यूनानियो ने स्पष्ट रूप से भारतीय लिखा है। रहन-सहन शिक्षा-दीक्षा सभ्यता और आचार-विचार मे वे निश्चय से आर्यावर्ती थीं। अलीशाँग और कुनार की दूनो मे रहने वाली जाति का नाम यूनानियो ने अपने उच्चारण के अनुसार अस्पस (Aspasioi) तथा गौरी और सुवास्तु की दूनो मे रहने वाली का नाम अस्सकेन (Assakenoi) या अष्टकेन (Astakenoi) लिखा है। उन के मूल नाम अभी तक पहचाने नहीं गये। शायद वे अश्वक और आष्टक या अश्वाटक या ऐसे कुछ रहे हो। इन वीर जातियो ने एक एक चप्पा जमीन छोडने से पहले बहादुरी के साथ सिकन्दर का मुकाबला किया। गौरी नदी के पच्छिम शायद आजकल के

---

१ पुरुषपुर (पेशावर) की स्थापना से पहले प्राचीन रास्ता खैबर हो कर नहीं प्रत्युत काबुल नदी के साथ साथ पुष्करावती (चारसद्दा) होता हुआ जाता था।

कोह-ए-मोर के नीचे नुसा नाम की एक बस्ती थी। सिकन्दर ने उन्हे घेरा, पर थोड़े ही मुकाबले के बाद उन्हों ने अधीनता का सन्देश भेजा और कहा कि हम लोग भी पुराने यूनानी है। वे लोग शायद पारसी साम्राज्य के ज़माने मे इधर ला कर बसाये गये थे।

गौरी के पूरब 'अस्सकेनों' की राजधानी का नाम यूनानियों ने लिखा है मस्सग। मस्सग ने बड़ा सख्त मुकाबला किया। गढ़ के अन्दर वाहीक देश के ७००० सधे हुये वेतनभोगी सैनिक भी थे। इन लोगो ने जब देखा मस्सग अब अधिक देर तक ठहर नही सकता, तब अपने देश को खिसक जाने की सोची। सिकन्दर ने उन्हे गढ़ से निकल आने की इजाज़त दे दी, किन्तु इस शर्त्त पर कि वे उस की तरफ से लड़ें। किले से निकल वे सात मील की दूरी पर डेरा डाले पड़े थे। सिकन्दर को पता लग गया कि उन का इरादा विदेशी की तरफ से लड़ने का नहीं, पर देश पहुँच कर उस के विरुद्ध आग सुलगाने का है। रात के समय वे पड़े सोते थे जब सिकन्दर की सेना ने चारो तरफ से घेर कर हमला कर दिया। वीर सैनिको ने अपनी स्त्रियों को बीच मे रख चक्कर बना लिया, और लडाई शुरू कर दी। स्त्रियाँ तक भी उस लडाई मे जी तोड कर लडीं। जब तक उन मे से एक भी जीता रहा, उन्हो ने हथियार नहीं रक्खे।

'मस्सग' के पतन के बाद 'अस्सकेनों' के दो और गढ सिकन्दर ने उसी प्रकार लड़ाइयों के बाद लिए। यूनानियो ने उन के नाम बजिर[1] और ओर[2] लिखे है। हाल मे डा० स्टाइन ने खोज कर निश्चय किया है कि स्वात नदी के

---

१. Bazira

२. Ora.

बाये तट पर आधुनिक बीरकोट और ऊडेग्राम उन के ठीक स्थान को सूचित करते है। ऊडेग्राम बीरकोट से १० मील ऊपर है।

उधर जो सेनापति निचले रास्ते से जाते थे, उन्हे भी पग पग पर लडाइयाँ लडनी पडी। तक्षशिला का युवराज आम्भि[1] इन यूनानी सेनापतियो के साथ था। पुष्करावती ( पश्चिमी गान्धार ) के राजा ने जिस का नाम शायद हस्ती[2] था एक महीने तक घोर युद्ध किया। ऊडेग्राम को लेने के बाद सिकन्दर भी पुष्करावती आया, और उसे जीतने पर उस ने वह किला आम्भि के एक पिछलग्गू सञ्जय को दिया।

मस्सग बीरकोट और ऊडेग्राम के पतन के बाद 'अस्सकेन' लोग सिन्धु के किनारे एक दुर्भेद्य पहाडी गढ मे घुस कर अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते थे। उस गढ़ का नाम यूनानियो ने अओर्न (Aornos = अवर्ण ?) लिखा है, और डा० स्टाइन ने उस की ठीक स्थिति अब खोज निकाली है। वह सिन्ध नदी के पच्छिम पीर-सर नामक पहाड पर था, जिस की पच्छिमी ढॉग अब भी ऊण-सर कहलाती है, ऊण 'अओर्न' के पुराने नाम का स्पष्ट रूपान्तर है। सिकन्दर पुष्करावती से सिन्धु नदी के तट पर अम्बुलिम[3] नामक घाट पर, जिसे शायद आधुनिक अम्ब सूचित करता है, पहुँचा, किन्तु सिन्ध नदी पार करने से पहले 'अवर्ण' को लेना आवश्यक था। इस लिए वह सेनापति प्तोलमाय[4] को आगे भेज स्वय पीछे उसी तरफ बढा। घोर युद्ध के बाद वह

---

१. यूनानी रूप ओम्फि (Omphis)। इस के मूल रूप का उद्धार डा० सिल्व्याँ लेवी ने किया है।

२. यूनानी रूप अस्त (Astes)।

३. यूनानी रूप ऍम्बोलिम (Embolima)। अम्बुलिम नाम बौद्ध लेखों में मिलता है।

४. Ptolemaios.

पहाड़ी गढ़ भी लिया गया। जीतने के बाद सिकन्दर ने शशिगुप्त को वहाँ का सेनापति बनाया।

## § १२०. अभिसार और केकय; वीर राजा 'पोरु'

वितस्ता[1] (जेहलम) और असिक्नी[2] (चिनाब) नदियों के बीच हिमालय की उपत्यका के प्रदेशों को, जहाँ आजकल भिम्भर और राजौरी की रियासतें हैं, प्राचीन काल में अभिसार कहते थे। सिन्ध और जेहलम के के बीच का पहाड़ी प्रदेश जिसे आजकल हम हज़ारा कहते हैं उरशा कहलाता था। सिकन्दर के समय अभिसार[3] के राजा के राज्य में शायद उरशा भी सम्मिलित था। काबुल के उत्तरी पहाड़ों में सिकन्दर की छावनियाँ पड़ जाने के कारण 'अस्पसों' और 'अस्सकेनों' के वे योद्धा जिन्हें अधीनता पसन्द न थी अभिसार में आ आ कर इकट्ठे होने लगे।

सिन्धु नदी के इस ओर वितस्ता तक तक्षशिला (पूर्वी गान्धार देश) का राज्य था जहाँ का राजा सिकन्दर को देर से निमन्त्रण दे रहा था। उस की सहायता से सिकन्दर की सेना ने सिन्ध पार की, और तक्षशिला पहुँच कर अपनी थकान उतारी।

किन्तु वितस्ता के इस पार केकय देश (आजकल के जेहलम शाह-पुर और गुजरात जिलों) का जो राजा था, वह कुछ और किस्म का था। सिकन्दर के दूत जब उस के पास अपने सम्राट् की शरण में उपस्थित होने का

---

१. यूनानी रूप Hydaspes।

२. यूनानी रूप Akesines।

३. यूनानी रूप अबिसार (Abisares)।

निमन्त्रण ले कर आये तब उस ने बेरुखी से उत्तर दिया कि वह लडाई के मैदान मे उन के राजा का स्वागत करेगा। इस वीर राजा का नाम यूनानियो ने पोरु ( Porus ) लिखा है। इधर अभिसार का राजा भी 'पोरु' के साथ मिलन की तैयारी कर रहा था। सिकन्दर ने देखा, दोनो के मिलन से पहले ही चोट करना ठीक है। इस लिए सख्त गर्मी[1] की परवा न कर वह आगे बढ़ा। वितस्ता के दोनो तरफ दोनो सेनाये आमने सामने हुई। 'पोरु' नदी के सब घाट रोके हुए था। वह यदि वीर था, तो सिकन्दर अपने युग का सब से चतुर सेनापति था। महीने तक दोनो सेनाये वितस्ता की क्षीण धारा के दोनो ओर पडी रही।

सिकन्दर अपनी सेना मे हर समय ऐसी चहल-पहल रखता जिस से शत्रु को पता न चले कि कब वह युद्ध की असल तैयारी करता है। फिर उस ने इस प्रकार रसद जुटाना शुरू किया मानो सदियो तक वहीं ठहरना हो। 'पोरु' फिर भी असावधान न था, पर उस की सब सावधानी के बावजूद एक रात वर्षा मे सिकन्दर अपनी सेना के बडे अंश का २० मील ऊपर या नीचे[2] खसका ले गया और चोरी चोरी नदी पार हो गया। जम कर लडाई करने मे 'पोरु' के हाथियो और धनुर्धरो का मुकाबला सिकन्दर की सेना न कर सकती, पर सिकन्दर के फुर्तीले सवार ही उस की शक्ति थे। पारस के सम्राट् की तरह 'पोरु' भागा नहीं। जब तक उसकी सेना मे ज़रा भी व्यवस्था रही वह ऊँचे हाथी पर चढ़ा लडता रहा। उस के नगे कन्धे पर शत्रु का एक बर्छा लगा। जब अन्त मे उसे पीछे हटना पडा, आम्भि ने घोडा दौडाते

---

१. वि० स्मिथ के अनुसार यह बात बरसात में हुई, पर कें० इ० में गर्मी में होना सिद्ध किया गया है।

२ स्मिथ ने यह निश्चित मान लिया था कि वह ऊपर ही ले गया, पर कें० इ० के अनुसार यह अभी तक अनिश्चित है।

हुए उस के हाथी का पीछा किया और उसे सिकन्दर का सन्देश दिया। घायल हाथ से 'पोरु' ने घृणित देशद्रोही पर बर्छा चलाया पर आम्भि बच निकला। 'पोरु' को फिर सवारों ने घेर लिया, जिन में एक उस का मित्र भी था। घायल और थका-मांदा जब वह सिकन्दर के सामने लाया गया, सिकन्दर ने आगे दौड़ कर उस का स्वागत किया, और दुभाषिये द्वारा पूछा कि उस के साथ कैसा बर्ताव किया जाय। "जैसा राजा राजाओं के साथ करते हैं"—पोरु ने गौरव के साथ उत्तर दिया। शशिगुप्त की तरह पोरु को भी सिकन्दर ने अपनी सेना में ऊँचा पद दिया।

सिकन्दर जब इधर युद्ध कर रहा था, तब पिछले प्रदेश के लोग बिल-कुल चुप न बैठे थे। हरउवती और सुवास्तु में इस बीच दो बलवे हो चुके थे, जिन में एक भारतीय राजा भी सम्मिलित था। उन्हें दबाने के लिए सिकन्दर को शशिगुप्त के पास कुमुक भेजनी पड़ी।

## § १२१. ग्लुचुकायन और कठ, साङ्कल नगर का विध्वंस

आगे बढ़ने पर सिकन्दर को ग्लुचुकायन[1] नाम के एक छोटे से संघ-राज्य से वास्ता पड़ा। उन के सैंतीस नगर जीत कर 'पोरु' के अधीन कर दिये गये। असिक्नी के उस पार मद्रक देश में 'पोरु' का एक भतीजा छोटा 'पोरु' राज्य करता था। उस ने बिना लड़े अधीनता मान ली। किन्तु इरा-वती[2] के पूरब जिस प्रदेश को आजकल हम माझा कहते हैं वहाँ वीर

---

१. Glauganikai, यह शिनाख़्त पहले-पहल जायसवाल ने हिं० रा० में की है। ग्लुचुकायन नाम अष्टाध्यायी के एक गण में है।

२. यूनानी रूप Hydraotes.

और स्वाधीन कठ[1] जाति रहती थी। इन लोगों का संघ-राज्य था, और ये सिकन्दर का युद्ध में स्वागत करने की तैयारी कर रहे थे। इन के पड़ोस में विपाशा[2] नदी पर क्षुद्रकों, और इरावती की निचली धारा पर मालवों के संघ-राज्य थे, और वे भी इन से मिलने की सोच रहे थे। इस से पहले कि ये लड़ाकू स्वाधीन जातियाँ आपस में मिल पायँ, सिकन्दर उन पर टूट पड़ा। कठों ने अपनी राजधानी साङ्कल[3] के चौगिर्द रथों के तीन चक्कर डाल कर शकटव्यूह बना लिया। वे खूब डट कर लड़े। घोर युद्ध के बाद, और पीछे से बड़े 'पोरु' की कुमुक आने पर सिकन्दर उन का नगर छीन सका। एक छोटी सी जाति विश्व-विजयी सिकन्दर के विशाल दल के सामने आखिर कब तक ठहर सकती? किन्तु कठों के मुकाबले से सिकन्दर ऐसा खीझ उठा कि उस ने साङ्कल नगर को जीतने के बाद मिट्टी में मिला दिया।

---

१. Kathaioi और Xathroi दोनों को कें० इ० में क्षत्रिय का रूपान्तर माना गया है। वह निश्चय से गलत है। Kathaioi को डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी संस्कृत वाङ्मय के क्रथ, क्रन्थ या कठ से मिलाने का प्रस्ताव करते हैं, जौली और जायसवाल के मत में वे कठ हैं। अन्तिम मत स्पष्ट ही ठीक है। काठी नाम की जाति पंजाब में अब भी है, पर कोट कमालिया के चौगिर्द, जहाँ सिकन्दर के समय मालव लोग थे।

२. यूनानी रूप Hyphasis.

३. यूनानियों ने उसे सागल लिखा है, और यह सिद्ध हो चुका है कि उस का आधुनिक ज़ि० शेखूपुरा के सांगला से कोई सम्बन्ध नहीं है। सांगल Kathaioi की राजधानी थी, और उन का प्रदेश यूनानी वर्णन के अनुसार आधुनिक माझा में पड़ता है, न कि शेखूपुरा में। पूरी विवेचना के प्रतीक अ० हि० में मिलेंगे। साङ्कल पाणिनीय व्याकरण के अनुसार वाहीकों की एक बस्ती थी, उस की यूनानी सागल से शिनाख्त हि० रा० में की गई है।

कठो के संघ-राज्य मे एक विचित्र रिवाज था। उन के देश मे प्रत्येक बच्चा संघ का होता, माता पिता केवल सन्तान को पालते थे। सघ की ओर से गृहस्थो की सन्तान के निरीक्षक नियत थे, और एक महीने की आयु मे जिस बच्चे को वे कमजोर और कुरूप पाते उसे मरवा देते थे। युवक और युवती बड़े होने पर विवाह भी अपनी पसद से करते थे। माँ-बाप का उस मे कुछ दखल न होता। सौभूत नाम का एक और राज्य वाहीको मे था, और वहाँ भी ऐसी ही प्रथाये थी।

## § १२२. सेना का हिम्मत हारना, वापसी

सिकन्दर अब विपाशा के किनारे आ पहुँचा। परले पार द्वाबे मे एक और जाति का सघ-राज्य था; और इस जाति का स्वाधीनता-प्रेम यदि कठो जैसा था तो सैनिक शक्ति उन से कहीं अधिक थी। सिकन्दर यदि उन पर और वाहीको की अन्य पूरबी जातियो पर भी विजय पा सकता तो आगे उसे मगध-साम्राज्य से वास्ता पड़ता। वह आगे बढ़ना चाहता था, पर उस की सेना को भारतवर्ष मे घुसने के बाद म जो तजरबा हो रहा था, वह कुछ उत्साहजनक न था। सेना के दिल टूट चुके थे, और अब उन्हो ने आगे बढ़ने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। सिकन्दर ने बड़े बड़े बढ़ावे दिये, पर वे बहरे कानो पर पड़े। घोर निराशा में वह तीन दिन तक अपने तम्बू मे बन्द रहा। तीन दिन बाद निकल कर देवताओ को बलि दी, और यात्रा के शकुन देखे। उस की लाज बचाने के लिए पूरब जाने को शकुन अनुकूल न निकले। कई स्थानो पर अपनी छावनियाँ छोड़ कर उलटे पाँव सारी सेना वितस्ता नदी तक वापिस आई। वहाँ भारी तैयारी के बाद जल और स्थल-मार्ग से उन्हो ने दक्खिन को मुँह फेरा। जिस दिन यात्रा का आरम्भ था, सिकन्दर ने नदी के बीच खडे हो सुनहले बर्त्तन से भारतीय नदियो और अन्य देवताओ को अर्घ्य दिया, और फिर एक इशारे पर उस की भारी सेना ने प्रयाण किया।

## § १२३. शिवि मालव और क्षुद्रक; सिकन्दर घायल

पहले ( अर्थात् वितस्ता और असिक्नी के ) संगम के बायें तरफ शिवि[1] और "अगलस्स"[1] जातियों के संघ-राज्य थे । शिवि ने बिना लड़े अधीनता मान ली, "अगलस्स" वीरता से लड़े । असिक्नी की धारा में कुछ और नीचे जाने पर बायें तरफ मरुभूमि के किनारे इरावती के दोनों तटों पर वीर मालव[2] जाति का गणतन्त्र राज्य था । वे लोग लड़ाई की तैयारी कर रहे थे । उन के पड़ोस में विपाशा[3] के तट पर क्षुद्रकों का गणराज्य था, और वे लोग भी मालवों के साथ मिलने को आ रहे थे । एक अनुभवी क्षुद्रक क्षत्रिय को दोनों सेनाओं का मुख्य सेनापति चुना गया था । सिकन्दर की सेना यह जान कर बहुत घबड़ाई कि भारतवर्ष की एक सब से वीर जाति से अभी उसे मुकाबला करना बाकी है । वह फिर से विद्रोह किया चाहती थी, सिकन्दर ने उसे मुश्किल से सँभाला ।

किन्तु मालवों और क्षुद्रकों की कोई स्थिर सेना तो नहीं थी । उन के सभी जवानों के इकट्ठा होने से सेना बनती । वे लोग सिकन्दर की तेज चाल का अन्दाज न कर सके । क्षुद्रक सेना तो आई ही न थी । मालव लोगों को

---

१. यूनानी रूप Siboi और Agalassoi

२. Oxydrakai और Malloi का मूल रूप क्षुद्रक और मालव है सो स्व० सर रा० गो० भण्डारकर ने सिद्ध किया था । कमालिया के पड़ोस में अब भी काठी और माली लोग रहते हैं ।

३ ब्यास तब शायद सतलज में मिलने के बजाय रावी संगम के नीचे चिनाब में मिलती रही हो । मध्य युग में भी वैसा ही होता था । पर ऋग्वेद के युग में वह आजकल की तरह सतलज में ही मिलती थी, और यास्क के समय भी । दे० भारतभूमि पृ० २२-२३ ।

भी यह ख़याल न था कि बार[1] की मरुभूमि को सिकन्दर केवल दो दिन मे पार कर लेगा और उस की सेना उन के गाँवो और नगरो पर एकाएक टूट पड़ेगी। अनेक मालव कृषक अपने खेतो पर ही काटे गये। किन्तु उन्हो ने उस दशा मे भी सिकन्दर का सख्त मुकाबला किया। आधुनिक कोट कमालिया के पास कही उन का एक नगर था, जहाँ सिकन्दर को छाती में घाव लगा, और वह बेहोश होकर गिर पडा। उस समय तो वह बच गया, पर आगे चल कर वही घाव उस की शीघ्र मृत्यु का कारण हुआ। मकदूनी सेना अब घबड़ा उठी और नृशस कामो पर उतारू हो गई थी। उस नगर मे उन्हो ने स्त्रियो और बच्चो तक को कतल कर डाला।

अच्छे होने पर सिकन्दर ने मालव-क्षुद्रक-सघ से समझौता करना उचित समझा। वह उन की वीरता देख चुका था, और वे भी सिकन्दर की असाधारण शक्ति का तजरबा कर चुके थे। मालव-क्षुद्रको के सौ मुखिया सिकन्दर के पास आये। उस ने उन के स्वागत के लिए एक बड़ा भोज किया। सघ के मुखियो के लिए सौ सुनहली कुर्सियाँ रक्खी गईं, जिन के चारो तरफ जरी के कामदार चित्रित सुनहले पर्दे लटकते थे। भोज मे खूब शराब ढली। मालव-क्षुद्रको ने कहा कि उन्हों ने आज तक किसी की अधीनता नही मानी थी, पर सिकन्दर एक असाधारण मनुष्य है।

---

१. दक्खिनपच्छिमी पंजाब में नदियों के काँठे कच्छ कहलाते हैं। कच्छों के बीच बीच बागर भूमियाँ हैं जो सिन्धसागर दोआब में थल और अन्यत्र बार कहलाती हैं। शोरकोट-कमालिया के उत्तर तरफ़ सन्दल बार है जिस में अब लायलपुर आदि बस्तियाँ बस गई हैं। उस के दक्खिन तरफ़ गंजी बार है जिसे साहीवाल ( मंटगुमरी ) सूचित करता है। सतलज की निचली धारा नीली कहलाती है, और उस का काँठा नीली बार या जोहिया बार।

## § १२४. छोटे छोटे संघ, मुचिकर्ण और ब्राह्मणक देश

इस वीर जाति से मैत्री स्थापित कर सिकन्दर आगे बढा । दूसरा तथा तीसरा सगम लॉघने तक कोई विशेष घटना नहीं हुई । अन्तिम सगम पर अम्बष्ठ, क्षत्तृ और वसाति[1] क गण-राज्य थे, और उन के पडोस मे ही शौद्र [2] लोगो का छोटा सा राज्य । इन मे से किसी ने लडाई नहीं की। अन्तिम सगम पर एक और अलक्सान्द्रिया बसा कर सिकन्दर का दल आधुनिक सिन्ध प्रान्त की ओर बढा ।

उत्तरी सिध मे मुचिकर्ण[3] नाम का राष्ट्र था, जिस की राजधानी शायद प्राचीन रोरुक नगरी (=आधुनिक रोरा, या ठीक ठीक कहे तो उस के पाँच मील पूरब की ऊजड बस्ती अरोर जो सिध की पुरानी धारा के तट पर थी ) थी। वहाँ के लोग भी लडाई की तैयारी कर रहे थे,परतु सिकन्दर के मुकाबले में वे न ठहर सके। मौचिकर्णिक[3] लोगो मे कई विशेषताये थीं। वे इकट्ठे बैठ

---

१ Abastanoi या Sambastai = अम्बष्ठ, Ossadioi = वसाति । Xathroi को जायसवाल क्षत्रिय समझते हैं, और मैक्रिंडल क्षत्तृ; रा० इ० में क्षत्तृ माना गया है, और मुझे भी वही ठीक जान पड़ता है ।

२. पाणिनि के युग में सस्थापक या नेता के नाम से किसी राष्ट्र का —विशेष कर सघ राष्ट्रो का—नाम पड़ने का रिवाज था, सो जायसवाल ने दिखलाया है, और शूद्र या शूद्रक भी वैसा एक राष्ट्र-सस्थापक था, सो भी । उस प्रकार के शौद्र लोगों का नाम ही यूनानी Sodiai में रूपान्तरित हुआ है ।

३. मुचिकर्ण नाम का उद्धार जायसवाल ने हिं० रा० में अष्टाध्यायी के एक गण से किया है । Mousikanoi=मौचिकर्णिक उसी से सिद्ध हुआ है । पहले उस के लिए मूषिक आदि कई मूल शब्द प्रस्तावित किये गये थे, पर कोई निर्विवाद प्रमाणित न हुआ था ।

कर समूहों में भोजन करते थे। सात्विक भोजन के कारण उन की आयु प्राय: १३० बरस की होती। उन के यहाँ दास न रक्खे जाते थे; धनी-निर्धन का भेद न होता था, सब लोग एक बराबर थे, और वे न्यायालयों की शरण बहुत कम लेते थे।

मुचिकर्ण के आगे दो और छोटे राज्यों को दबाने के बाद सिकन्दर को एक छोटे से राष्ट्र का मुकाबला करना पड़ा, जिस का नाम ब्राह्मणक जनपद[1] था। इस छोटे से राज्य की प्रजा ने उसे बड़ा कष्ट दिया। जिन राजाओं ने पहले अधीनता मान ली थी, वे उन की निन्दा करते, और स्वतंत्र जातियों को भी भड़काते। उत्तरी सिंध के राज्यों से उन्हों ने बलवा करा दिया, जिसे सिकन्दर ने निर्दयता से कुचल डाला। ब्राह्मण लोगों ( अर्थात् ब्राह्मण जनपद के निवासियों ) के अनेक मुखियों की लाशें खुले रास्तों टाँग दी गईं।

## § १२५. पातानप्रस्थ

अंत में सिकन्दर पातन या पातानप्रस्थ[2] नाम के स्थान में पहुँचा, जहाँ से सिंधु नदी दो धाराओं में फटती थी। आधुनिक हैदराबाद उस नगर के स्थान को सूचित करता है। वहाँ एक ही साथ दो वंशागत राजा और एक सभा राज्य करती थी। पातन के लोग अधीनता से बचने के लिए देश छोड़ कर भाग गये थे।

---

१. सिन्ध के विद्रोही ब्राह्मण ब्राह्मण जनपद के निवासी होने के कारण ब्राह्मण कहलाते थे, और उस जनपद का नाम संस्थापक के नाम से था, सो भी हिं० रा० की स्थापना है। वे ब्राह्मण एक जात न थे, उन का एक अलग राष्ट्र था, सो यूनानी वर्णन से प्रकट है।

२ Patalene=पातन या पातानप्रस्थ, सो पहचान भी हिं० रा० की है, और वह नाम भी पाणिनीय व्याकरण में से मिला है।

पातन की बडी किलाबन्दी करने के बाद और सिन्ध मे कई छावनियाँ छोड कर सिकन्दर पच्छिम फिरा, और मकरान के किनारे किनारे बढते हुए हिंगोल नदी[1] को पार कर भारत की सीमा से निकल गया। सम्पूर्ण पारसी साम्राज्य को जीतने मे जहाँ उसे चार बरस नही लगे थे, वहाँ भारतवर्ष के इस अञ्चल मे साढे तीन बरस लग गये थे। वह अपने जलसेनापति नियार्क को समुद्र-मार्ग से आने के लिए पीछे छोड गया था। समुद्र तब पातानप्रस्थ से बहुत दूर न था। नियार्क अनुकूल हवा की प्रतीक्षा करता, पर पूरब की ओर भागे हुए पातन के लोगो ने उस का टिकना असम्भव कर दिया, और उसे मानसून चलने से पहले ही अपना बोरिया-बधना उठाना पडा। मलान अन्तरीप पार कर वह भी भारत की सीमा से निकल गया।

## § १२६. सिकन्दर की मृत्यु; उस की योग्यता

सिकन्दर के मुँह मोडते ही वाहीको मे बलवे होने लगे। इधर दो बरस बाद घर पहुँचे बिना ही बाबेरू मे सिकन्दर का देहान्त हो गया (३२३ ई० पू०)। उस के विशाल साम्राज्य को एक छत्र के अधीन रखने वाली कोई शक्ति उस के पीछे न थी। वह उस के सेनापतियो मे बँट गया, जो एक अरसे तक आपस मे लडते रहे। मकदूनिया मे एक वंश स्थापित हो गया, उस के उत्तर थ्रेस मे तथा उस के साथ एशिया के एक अंश मे दूसरा, तथा एशिया (आधुनिक पच्छिम एशिया) मे एक तीसरा राजवंश स्थापित हुआ।

---

१. जायसवाल का यह कथन (पृ० ७८) ठीक नहीं है कि पातन भारतवर्ष की अन्तिम पच्छिमी सीमा पर था। यूनानी लेखक हिंगोल (Tomeros) पार कर लेने पर सिकन्दर को और ओरेइत (Oreitai) जाति की पच्छिमी सीमा मलन (Malana = रास मलान) लाँघने पर नियार्क को भारत से निकला बतलाते हैं।

उन के अतिरिक्त दो बड़े राज्य उस साम्राज्य के टुकड़ों में स्थापित हुए, और उन से हमें विशेष वास्ता पड़ेगा। एक मिस्र मे, जहाँ की गद्दी उसी प्तोलमाय नामक सेनापति ने, जिसे अवर्ण की लड़ाई मे आगे भेजा गया था, सँभाली, और जहाँ आगे तीन शताब्दी तक उस के वंशज प्तोलमाय बड़ी शान से राज्य करते रहे; दूसरे बाबुल और सीरिया मे, जहाँ का राज्य सेनापति सॅलॅउक (Seleucus)[1] को मिला, जिस ने कि भारत के सीमान्त तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

भारतवर्ष के उत्तरपच्छिमी आँचल पर सिकन्दर एक आँधी की तरह आया, और बिगोले की तरह चला गया, उस के उस धावे का कुछ भी सीधा और स्थायी प्रभाव हुआ नहीं दीखता। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि नन्द-साम्राज्य को बाद मे उखाड़ने वाले चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य सिकन्दर के धावे के समय पञ्जाब मे ही थे, और उस के सेना-सचालन को देख कर उन्हे अनेक विचार मिले हों, और नन्दो के विरुद्ध युद्ध मे तथा बाद के मौर्य साम्राज्य के सेना-संगठन मे वे विचार काम आये हो, सो बहुत सम्भव है।

इस के अतिरिक्त अलक्सान्दर केवल एक विजयी सेनापति न था। वह संसार को जीतने के साथ साथ ससार की सभ्य जातियो को मिला कर एक कर देने के सपने भी देखता था। उस ने यूनानी पारसी और भारतीय आर्य्यों के सम्बन्ध को परस्पर विवाहो से पुष्ट किया, और जगह जगह ऐसे केन्द्र स्थापित किये जिन से इन जातियो मे ज्ञान और व्यापार का सम्बन्ध बना रहे। और इस मे कोई सन्देह नही कि उस की चढ़ाई के

---

१. यूनानी नामों के अन्त में जो अस् लगा रहता है, वह भी संस्कृत और प्राचीन पारसी की तरह प्रथमा एकवचन का प्रत्यय होता है, न कि मूल नाम का अंश।

कारण प्राचीन सभ्य जातियों की कूपमण्डूकता बहुत कुछ कम हुई, और उन का परस्पर-सम्पर्क बहुत बढ गया। आगे चल कर यह जातियों का सम्पर्क इतिहास की भारी घटनाओं और सभ्यता की उन्नति का एक बडा कारण हुआ।

## ग्रन्थनिर्देश

मैक्रिंडल—इन्वेज़न् ऑव इंडिया बाइ अलक्सैंडर दि ग्रेट ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाइ एरियन, कर्टियस, डायोडोरस, प्लूटार्क ऐन्ड जस्टिन (सिकन्दर महान् का भारत-आक्रमण एरियन, कुर्तियु, दियोदोर, प्लुतार्क और जस्तिन के वर्णनानुसार), लण्डन १८९६।

अ० हि०, अ० ३-४।

रा० इ०, पृ० १४७-६३।

कैं० इ०, अ० १५।

हि० रा० §§ ६०—८३।

सर ऑरेल स्टीन—भारत के वायव्य सीमान्त पर सिकन्दर की चढाई, इं० आ० १९२९, परिशिष्ट पृ० १ प्र।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

# मौर्य साम्राज्य का उदय—सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार

( ३२५-२७३ ई० पू० )

## § १२७. चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य

सिकन्दर जिस समय तक्षशिला मे था, उस के डेरे पर एक भारतीय युवक उपस्थित हुआ था, जिस ने अपने रंग-ढंग से सिकन्दर और उस के सेना-पतियों को चकित कर दिया था। वह दुःसाहसी युवक नन्दों के विशाल साम्राज्य को हथियाने की धुन मे था, और इस काम मे सिकन्दर को अपना हथियार बनाना चाहता था। नन्द राजा से प्रजा असन्तुष्ट थी, और इसी लिए वह सोचता था कि उसे गद्दी से उतार देना कुछ असाध्य नहीं है। सिकन्दर से और उस युवक से कुछ सीधी सीधी बाते हो गई थीं, और सिकन्दर ने उस उद्धत युवक को फ़ौरन मार डालने का हुक्म दे दिया था। तब शायद उस ने यह देखा कि मगध का सम्राट् प्रजापीडक है तो मकदूनिया का सम्राट् भी वैसा ही स्वेच्छाचारी है, और वह जान बचा कर वहाँ से भाग निकला।

उस युवक का नाम था—चन्द्रगुप्त मौर्य। उस के पूर्व पुरुषो का पता नही मिलता, किन्तु मोरिय जाति का नाम हम पीछे (§ ९५) भगवान् बुद्ध के समय सुन चुके है, और वह उसी मोरिय जाति का था[1]। नन्द राजा के साथ चन्द्रगुप्त का आरम्भिक विरोध कैसे हुआ इस का ठीक ठीक पता नहीं मिलता, किन्तु कहा जाता है कि सम्राट् धन नन्द ने चन्द्रगुप्त को मार डालने की आज्ञा दे रक्खी थी। और वह फाँसी का परवाना सिर पर लिये चन्द्रगुप्त जब नन्दो का राज्य ले लेने की उधेडबुन मे पजाब मे मारा मारा फिरता था, उस का एक अपने ही जैसा धुन का पक्का ब्राह्मण सहयोगी मिल गया था, और वे दोनो फिर उस धन्धे मे इकट्ठे ही जुटे थे। उस ब्राह्मण का नाम था विष्णुगुप्त, पर वह अपने उपनाम चाणक्य या कौटिल्य से ही अधिक प्रसिद्ध है। वह तक्षशिला का रहने वाला था। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनो ही असाधारण कर्तृत्व और बुद्धि के व्यक्ति थे। और वे दोनो अपनी धुन मे सफल हुए।

## § १२८. वाहीकों की स्वतन्त्रता; मगध-साम्राज्य का विजय

सिकन्दर की मृत्यु के बाद ही वाहीको मे जो विद्रोह हो गया, उस का नेता चन्द्रगुप्त ही था। उन प्रदेशो को विदेशी के पजे से छुड़ाने के बाद[2]

---

१. मोरिय का ही सस्कृत रूप मौर्य है। पीछे यह कल्पना की गई कि मौर्य का अर्थ है मुरा का बेटा, और कि मुरा नाम की राजा नन्द की एक दासी थी। मोरिय जाति कम से कम बुद्ध और महावीर के समय से विद्यमान थी। महावीर के १२ गणधरों अर्थात् मुख्य शिष्यों में एक मोरियपुत्त भी था, दे० समवायाङ्ग सुत्त, ११, हरगोविन्ददास सेठ-कृत पाइअसद्दमहण्णवो (प्राकृतशब्दमहार्णव = प्राकृत-कोष, कलकत्ता १९२३) में उद्धृत।

२. स्मिथ का मत है कि चन्द्रगुप्त ने पहले मगध जीता, और तब पजाब को स्वाधीन कराया—अशोक पृ० १४ टि०। किन्तु स्वाभाविक बात वही है जो ऊपर कही गई है, और भारतीय दन्तकथा उसे पुष्ट करती है। महावस

उस ने उन्हीं से एक बड़ी सेना तैयार कर मगध पर चढ़ाई की, और एक महाघोर और भयानक युद्ध के बाद नन्दो को हरा कर उन के वश का मूल नाश कर दिया। पुरानी अनुश्रुति मे यह बात दर्ज है कि चन्द्रगुप्त ने आरट्टों की सहायता से नन्दों से राज्य छीना था। पजाब-सिंध के कुछ विशेष अथवा सभी राष्ट्र आरट्ट कहलाते थे; शायद उस शब्द का अर्थ है—अराष्ट्र अर्थात् बिना राजा के राज्य। सस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक मुद्राराक्षस के अनुसार चन्द्रगुप्त के मगध पर चढ़ाई करने वाले दल बल मे उस का मुख्य साथी राजा पर्वतक था। पर्वतक कौन था और किस देश का राजा था, सो कुछ पता नहीं। उस के अन्य साथियो मे "कुलूत का राजा चित्रवर्मा, मलय का राजा सिंहनाद, कश्मीर का पुष्कराक्ष, सिन्धु का सिन्धुषेण और पारसीक राजा मेघ या मेघाक्ष"[1] थे। कुलूत माने कुल्लू, और मलय से मतलब पंजाब के उन्ही मालव लोगो से है[2] जिन्हो ने सिकन्दर को घायल किया था। कश्मीर स्पष्ट ही है, और सिन्धु का अर्थ आधुनिक सिन्ध नही, प्रत्युत डेराजात और सिन्धसागर दोआब होता है सो पीछे (§§ ३४,५४,८२,८४ उ, १०५) कह चुके हैं। पारसीक से ठीक क्या अभिप्राय है सो कहना कठिन है, किन्तु कुलूत

---

की टीका में एक बुढ़िया की कहानी है जिस के घर में चन्द्रगुप्त ने शरण ली थी, और जिस ने एक दिन गर्म रोटी के किनारे छोड़ बीच से खाना शुरू करने वाले अपने बेटे की चन्द्रगुप्त से तुलना की थी। बुढ़िया को बेटे से बात करते हुए चन्द्रगुप्त ने सुन लिया, और तब उसे यह सीख मिली कि पहले सीमान्तों को ले कर तब मगध पर चढ़ाई करनी चाहिए। दे०, बु० इं० पृ० २६१।

१. मुद्राराक्षस १,२०।

२. उषवदात शक (दे० नीचे § १६६) के अभिलेख में भी मालवों को मलय कहा गया है—ए० इं० ८, पृ० ४१ प्र। उस समय मालव लोग पंजाब से चल कर उत्तरी राजपूताना में पहुँच चुके थे।

कश्मीर सिन्धु और मालव एक दूसरे के पडोसी और शायद बिलकुल साथ साथ लगे हुए पजाबी राज्य थे, इस मे सन्देह नही।

मुद्राराक्षस की कहानी है कि नन्द सम्राट् का राक्षस नाम का एक मत्री था, और वह चाणक्य की तरह ही बुद्धिमान् था। नन्दो के हार जाने पर भी उस ने उन की तरफ से लडाई जारी रक्खी, और पर्वतक को चन्द्रगुप्त से फोड़ डालने का जतन किया। किन्तु चाणक्य को राक्षस के षड्यन्त्र का पता मिल गया, और उस ने उस अवसर पर पर्वतक का काम तमाम करा डाला, और कराया भी इस ढंग से कि जनता मे यह प्रसिद्ध हो गया कि राक्षस ने पर्वतक को मरवाया है। पर्वतक का बेटा मलयकेतु इस पर भाग निकला, और उस के साथ उस के सहयोगी वाहीको के राजा भी भाग निकले। राक्षस भी तब उन लोगो से जा मिला, और उस सारी टोली को चन्द्रगुप्त के साम्राज्य पर चढाई करने के लिए तैयार करने लगा। किन्तु युद्ध की नौबत नहीं आई, चाणक्य की बुद्धिमत्ता से वह टोली जुट कर एक होने नहीं पाई, और उन मे आपस मे अविश्वास हो गया। यहाँ तक कि अन्त मे चाणक्य ने राक्षस का भी चन्द्रगुप्त से समझौता करा दिया, और उसे उस का मत्री बनवा दिया। इस कहानी मे कितनी ऐतिहासिक सचाई है, सो कहा नहीं जा सकता।

## § १२९. सॆलॆउक निकातोर की चढ़ाई और हार

किन्तु एक और भयंकर शत्रु चन्द्रगुप्त के साम्राज्य पर चढाई करने आ रहा था। पीछे कह चुके हैं कि सिकन्दर की मृत्यु के पीछे उस के मकदूनिया और मिस्र से बाख्त्री और वाहीक तक फैले हुए विशाल साम्राज्य को एक शासन मे रख सकने वाली कोई शक्ति न थी। उस के सेनापति आपस में लडने लगे, और यूनान मिस्र आदि देशों में अलग अलग सेनापति राज्य करने लगे। 'पोरु' वाले प्रसिद्ध युद्ध से पहली रात

जेहलम चोरी चोरी पार उतरते समय जिस नाव मे सिकन्दर ने अपने भाग्य को बहने दिया था, उसी एक नाव मे सिकन्दर के साथ इन भावी राजाओ मे से कई पार उतरे थे। और उन्ही मे एक सेनापति सेँलेँउक (Seleucus) भी था। सेँलेँउक अपने प्रतिद्वन्द्वियो के विरुद्ध युद्ध मे सफल हो कर समूचे पच्छिमी और मध्य एशिया का स्वामी बन बैठा था। उस की राजधानी सीरिया ( शाम ) मे थी, इसी लिए उसे सीरिया का साम्राट् कहते हैं। वह यूनानी राजाओ मे से सब से अधिक शक्तिशाली था, और निकातोर अर्थात् विजेता कहलाता था।

पच्छिमी और मध्य एशिया पर अपना कब्ज़ा पक्का कर के सेँलेँउक ने भारतवर्ष के खोये हुए प्रान्तो को फिर से यवन राज्य मे मिलाना चाहा, और एक बड़ी सेना ले कर वह सिन्ध नदी के पार तक आ पहुँचा (अन्दाज़न ३०५ ई० पू० )। इधर चन्द्रगुप्त भी सावधान और जागरूक था, और उस ने सेँलेँउक को ऐसी करारी हार दी[1] कि उसे लेने के देने पड़ गये। खेद है कि उस युद्ध का पूरा हाल कहीं नही मिलता। किन्तु इतनी बात निश्चित है कि दोनो सम्राटों मे जो सन्धि हुई, उस के अनुसार सेँलेँउक को अपने साम्राज्य के चार बड़े प्रान्त मौर्य राजा को देने पड़े।

---

१. कैं० इ० के १७ वें अध्याय के विद्वान् लेखक और सम्पादक का यह कहना ठीक है कि प्राचीन यूनानी लेखकों ने सेँलेँउक-चंद्रगुप्त-युद्ध का वृत्तान्त नहीं लिखा। इस से वे यह परिणाम निकालते हैं कि या तो दोनों का युद्ध हुए बिना सन्धि हो गई, या युद्ध का फल अनिश्चित रहा—दोनों पक्ष बराबर रहे। क्या वे अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि सेँलेँउक ने चार बड़े प्रान्त ५०० हाथियों के बदले में बेच दिये थे।?

उन चार प्रान्तों में से पहले को यूनानी लोग कहते थे—परोपनिसदी, अर्थात् परोपनिस का देश। अफगानिस्तान की केन्द्रिक पर्वत-शृङ्खला अर्थात् बन्दे-बाबा कोहे-बाबा और हिन्दू-कुश को मिला कर प्राचीन ईरानी उपरिश-एन अर्थात् श्येन की उडान से भी ऊँचा पहाड कहते थे[1], उसी नाम का यूनानी रूप था परोपनिस या परोपमिस, और उस के चौगिर्द प्रदेश का नाम परोपनिसदी। सेॅलेॅउक के हारे हुए दूसरे और तीसरे प्रान्त का नाम था क्रमशः आरिया और अर्खोसिया, अर्खोसिया अरखुती अथवा हरह्वैती (अरगन्दाब) नदी का प्रदेश अर्थात् आजकल का कन्दहार इलाका था[2], और आरिया का मूल पारसी रूप था हरोइव या हरैव जो कि आधुनिक हेरात का पुराना नाम था। आरिया, अर्खोसिया को मिला कर यूनानी लोग अरियाना (Ariana) अर्थात् ऐर्यान भी कहते थे। चौथा प्रान्त जो सेॅलेॅउक ने हारा उसे यूनानी लोग गद्रोसिया कहते थे, और उस मे आधुनिक कलात और लासबेला के प्रदेश सम्मिलित होते थे। गद्रोसिया नाम किसी जाति के नाम से, जो कि उस समय वहाँ प्रमुख थी, पडा था; स्वर्गीय डा० विन्सेंट स्मिथ का अन्दाज़ था कि उसी जाति का नाम लासबेला के आधुनिक लुमड़ी राजपूतों की एक शाखा गादूर के नाम मे बचा है[3]। मकरान का पूरबी अंश भी गद्रोसिया मे सम्मिलित था। इस प्रकार लासबेला, कलात, कन्दहार, हेरात और काबुल के प्रदेश दे कर यवन राजा ने मौर्य राजा से सन्धि की। हम देखेंगे कि इन के अलावा कम्बोज देश अर्थात् बदख्शां और पामीर भी मौर्यों के अधीन था।

इस के बाद दोनों सम्राटों मे केवल राजनैतिक मैत्री और घनिष्ठता ही न बनी रही, प्रत्युत वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। यूनानी

---

१. दे० ऊपर § ७ उ।

२. ऊपर § १०४ अ।

३. अ० हि०, पृ० ११२ नोट ३।

लेखकों ने स्पष्ट नहीं लिखा कि वह विवाह-सम्बन्ध किस रूप में था, किन्तु पौराणिक अनुश्रुति है कि सुलूव अर्थात् सॅलॅउक ने अपने विजेता को अपनी बेटी दी थी[1], और वही बात संगत प्रतीत होती है। चन्द्रगुप्त ने भी भेंट के तौर पर ५०० हाथी अपने श्वसुर को दिये थे। सॅलॅउक ने अपना एक दूत भी चन्द्रगुप्त की राजधानी में भेजा था; वह प्रसिद्ध मॅगास्थॅने था जिस के लिखे भारत-वर्णन के अनेक उद्धरण बाद के यूनानी ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

सॅलॅउक को अपने दामाद से जो हाथी मिले वे खाली देखने-दिखाने और सीरिया-सम्राट् की शान बढ़ाने को ही न थे, यूनानी लोग भी इस के बाद भारतवासियों की तरह अपने युद्धों में हाथियों का प्रयोग करने लगे। २८० ई० पू० में मकदूनिया के पुर्हु (Pyrhhus) ने सिसिली द्वीप पर चढ़ाई की, तब उस की सेना में जंगी हाथी भी थे।

## § १३०. मौर्य 'विजित', उस के 'अन्त', अधीन राष्ट्र और 'चक्र'

चन्द्रगुप्त के स्थापित किये साम्राज्य की सीमाओं को उस के बेटे बिन्दुसार और उस के पोते अशोक ने और भी आगे तक बढ़ाया। उस साम्राज्य के अनुशासन और संगठन के विषय में मॅगास्थॅने के भारत-वर्णन के उद्धरणों से, चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य या कौटिल्य के लिखे प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र[2] से, अशोक के अभिलेखों से तथा पीछे की अनुश्रुति से जो अनेक फुटकर झलकें मिलती हैं, उन सब को जोड़ कर और उन की संगति कर के

---

१. चन्द्रगुप्तस्तस्य सुतः पौरसाधिपतेः सुताम्।
सुलूवस्य तथोद्वाह्य यावनीबौद्धतत्परः॥
—भविष्य पु० ३. १. ६. ४३।

२. दे० ॐ २४।

एक सिलसिलेवार चित्र बनाने का जतन अनेक विद्वानो ने किया है। हम भी उस विषय का विचार मौर्य साम्राज्य के वृत्तान्त को पूरा करने के बाद एक अलग प्रकरण मे करेंगे। किन्तु मौर्य साम्राज्य यद्यपि अशोक के समय अपने पूरे उत्कर्ष पर पहुँचा तो भी उस का पहला सगठन चन्द्रगुप्त ने ही किया था, और उस की शासन-प्रणाली की बुनियाद भी निश्चय से चन्द्रगुप्त ने ही रक्खी थी, जिस मे बाद मे थोडा बहुत परिवर्त्तन होता रहा। इसी लिए उस के सगठन और शासन-प्रणाली की उतनी चर्चा यहीं पर करना आवश्यक है जिस से चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के विस्तार और बाहरी स्वरूप को समझा जा सके।

अपने पूरे उत्कर्ष के समय मौर्य साम्राज्य की सीमाये कहाँ तक पहुँ-चती थीं, सो अशोक के अभिलेखों के आधार पर हम प्राय ठीक ठीक जान पाते है। हम जिसे मौर्यों का साम्राज्य कहते है, उसे मौर्य राजा अपना विजित[1] कहते थे। उस विजित के साथ कुछ अन्तों या प्रचन्तों[2] ( प्रत्यन्तों ) का उल्लेख किया जाता है, जो कि मौर्य विजित के पडोसी स्वतन्त्र राज्य थे। दक्खिन के अन्तों मे द्रविड देश के चोड पाण्ड्य आदि राष्ट्रो की गिनती थी। कलिग (उडीसा- तट) को स्वय अशोक ने जीता था, और उस के अतिरिक्त नर्मदा से द्रविड देश की सीमा तक बाकी दक्खिन भारत को बहुत सम्भवत. उस के पिता बिन्दुसार ने। उत्तरपच्छिम तरफ मौर्य विजित का अन्त सॅलॅउक के उत्तराधिकारी अन्तियक या अन्तियोक नामक योन ( यूनानी ) राजा का राज्य था, जो फारिस तक पहुँचता था।

मौर्य विजित की उक्त सीमाओ के अन्दर कुछ विशेष जनपद भी थे जिन का अलग नाम लिया जाता है, और जो मौर्य राजा के सीधे शासन मे रहे

---

१. अशोक का दूसरा प्रधान शिलाभिलेख। उस शब्द के लिए दे० ऊपर § १०१, * २३।

२. दूसरा तथा १३ वा प्रधान शिलाभिलेख, आदि।

नहीं प्रतीत होते। अशोक के पाँचवें शिलाभिलेख मे उन मे से कुछ के नामों का इस प्रकार उल्लेख है—योन, कम्बोज, गन्धार, रठिक, पितिनिक तथा जो अन्य अपरान्त है .... । अपरान्त शब्द का सम्बन्ध केवल रठिक-पितिनिक के साथ लगाना चाहिए[1]; और इस से यह प्रतीत होता है कि उन के अतिरिक्त अपरान्त (पच्छिम देश) के कुछ और राष्ट्र भी उस गणना मे थे। तेरहवें शिलाभिलेख मे उस प्रकार के जनपदों का फिर उल्लेख है। वहाँ उन का पूरा परिगणन प्रतीत होता है, और वहाँ उन का सामूहिक नाम शायद राजविषय है; किन्तु उस शब्द का पाठ सब प्रतियो मे एक सा नहीं है, और उस के बजाय जो दूसरा पाठ है उसे कई विद्वान् दो जनपदों के विशेष नाम मानते हैं। इस प्रकार दुर्भाग्य से हम यह नहीं जान पाते कि इन सब जन-

---

१. कम्बोज गान्धार आदि देश प्राचीन भारत के उत्तरापथ में थे ( दे० ऊपर § ६ ), उन्हें अपरान्त या पच्छिम में गिनना भारतीय वाङ्मय की शैली के सर्वथा प्रतिकूल है। जहाँ तक मुझे मालूम है, हमारी आजकल की परिभाषा के अनुसार उत्तरपश्चिम के किसी देश को पच्छिमी कहने का केवल एक दृष्टान्त संस्कृत वाङ्मय में दिखलाया गया है, और वह भी भ्रमवश। वह एक दृष्टान्त है पुराणों के उत्तरी देशों में एक अपरान्ताः की गिनती का। वा० पु० में, जिस का पाठ और सब से अधिक शुद्ध होता है, उस के बजाय अपरीताः पाठ है (४५, ११५); पार्जीटर का कहना था कि अपरीताः पाठ ग़लत है ( मा० पु० का अनुवाद पृ० ३१३ ); पर वास्तव में वही ठीक पाठ है, और अपरान्ताः ग़लत है। अपरीत वह प्रसिद्ध जाति है जो आज भी अपने को अपरीदी कहती है, और जिसे दूसरे लोग अफ़रीदी कहते हैं। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० उत्तरार्ध के हखामनी-राज्य-प्रवासी यूनानी लेखक हिरोदोत ने भी उन का नाम अपरुत लिखा है। यदि अपरान्त शब्द को योन-कम्बोज आदि के साथ जोड़ना ही हो, तो उस का अर्थ मैं पच्छिमी अन्त के बजाय छोटे अन्त करूँगा। यदि यह अर्थ हो सके तो इन सब जनपदों को हम अधीन राष्ट्र के बजाय अपरान्त कह सकें।

पदो का प्राचीन जातिवाची नाम क्या था। अपनी आधुनिक परिभाषा मे हम यह कह सकते है कि समूचे मौर्य विजित का बहुत सा अश सीधा मौर्य राजा के शासन मे था, किन्तु कुछ जनपद उस मे ऐसे थे जो अधीन होते हुए भी अपने आन्तरिक शासन मे स्वतन्त्र थे, या जो सरक्षित राज्य थे।

इन अधीन सरक्षित जनपदो मे से योन कम्बोज गन्धार[1] का एक वर्ग है जो उत्तरापथ मे था। योन कोई यवन बस्ती होगी, उस का ठीक निश्चय करना कठिन है,—शायद वह नुसा थी ( दे० ऊपर § १२९ )। कम्बोज देश का अर्थ आज तक उलट-पुलट किया जाता रहा है, किन्तु अब हम उस की ठीक स्थिति जानते है, और उस के मौर्यो के अधीन होने का यह अर्थ है कि साम्राज्य की सीमा हिन्दूकुश और हिमालय के दूर उत्तर तक पहुँचती थी। कश्मीर दरद-देश और बोलौर कम्बोज के रास्ते के प्रदेश हैं, इस लिए उन का भी मौर्य साम्राज्य के अन्दर सम्मिलित रहना निश्चित है। कश्मीर का अशोक के साम्राज्य मे रहना वहाँ की अनुश्रुति भी बतलाती है[2]। कश्मीर के पूरब हिमालय मे मौर्य साम्राज्य की उत्तरी सीमा कहाँ तक जाती थी, यह एक मनोरजक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जो इस प्रसग मे हमारे सामने उपस्थित होता है।

कश्मीर से जमना नदी तक हिमालय मे मौर्य साम्राज्य का कोई चिन्ह नही मिला। किन्तु उस प्रदेश के ठीक बीच कुलूत या कुल्लू की दून है, जहाँ के राजा ने अनुश्रुति के अनुसार नन्दो और चन्द्रगुप्त की मुठभेड मे भाग लिया था; फिर जमना के ठीक पच्छिम जौनसार-बावर प्रदेश के कलसी नामक

---

१ गन्धार का नाम तेरहवें शिलाभिलेख में नही है, शायद वहाँ वह कम्बोज के अन्तर्गत है, या योन-कम्बोज के साथ उस की लक्षणा से याद की गई है। उसी तरह भोज-पितिनिकों के साथ वहाँ अन्य अपरान्तों की भी लक्षणा होगी।

२. रा० त० १ १००—१०७।

स्थान मे अशोक के चौदह प्रधान शिलाभिलेखो की प्रति मिली है। इस से यह सम्भव जान पड़ता है कि कश्मीर से जौनसार तक कुल्लू-सहित सब पहाड़ी इलाका मौर्यों के अधीन था। उस के आगे गढ़वाल-कुमाऊँ से और आधुनिक नेपाल राज्य के पश्चिमार्ध अर्थात् बैसी और सप्तगण्डकी प्रदेशों से फिर मौर्यों का कोई चिन्ह नही मिला। किन्तु ठेठ नेपाल दून अशोक के अधीन थी। वहाँ उस की बसाई नगरी और स्तूप विद्यमान हैं। ये सब पहाड़ी प्रदेश प्राय: चन्द्रगुप्त के समय ही साम्राज्य मे शामिल किये गये होंगे, या उन के कुछ अंशो को बिन्दुसार और अशोक ने अपने प्रभाव मात्र से दखल किया होगा[1]।

सरक्षित राष्ट्रो का दूसरा वर्ग नाभक और नाभपंति का है। उन देशो की शिनाख्त भी आज तक नही हुई। अगले प्रकरण मे हम देखेगे कि वे सम्भवतः आधुनिक खोतन इलाके मे थे, और अशोक के समय साम्राज्य मे सम्मिलित हुए थे। तीसरे वर्ग मे भोज-पितिनिक या रठिक-पितिनिक का नाम है। पितिनिक को डा० भण्डारकर भोज या रठिक का विशेषण मानते है। दूसरे विद्वान् उस का अर्थ करते हैं—प्रतिष्ठान ( पैठन ) के निवासी। भोज या रठिक सम्भवत: आधुनिक बराड़ या विदर्भ के लोग थे। वे सम्भवत: बिन्दुसार के समय साम्राज्य के अधीन हुए होंगे। किन्तु सुराष्ट्र ( काठियावाड़ ) चन्द्रगुप्त के ही अधीन था, सो दूसरी शताब्दी ई० के शक रुद्रदामा[2] के लेख से प्रकट होता है। चौथे वर्ग मे अन्ध्र और पुलिन्दो का नाम है। अन्ध्र या आन्ध्र जनपद चन्द्रगुप्त के समय निश्चय से स्वतन्त्र था, और मेँगास्थेँने के अनुसार उस की सैनिक शक्ति केवल मगध से दूसरे दर्जे पर थी। उसे भी बिन्दुसार ने जीता होगा। पुलिन्दों या पालिन्दों का राष्ट्र उसी का पड़ोसी रहा होगा।

---

१. दे० नीचे § १३७।
२. दे० नीचे § १८३।

इन जनपदों के सिवाय समूचा साम्राज्य मौर्य राजाओं के सीधे शासन मे रहा प्रतीत होता है।

समूचे विजित की राजधानी तो पाटलिपुत्र थी ही; किन्तु कई गौण राजधानियाँ भी थीं, जैसे तक्षशिला, उज्जयिनी और सुवर्णगिरि। सुवर्णगिरि की शिनाख्त अभी तक नहीं हो पाई। उन छोटी राजधानियो के इलाकों को ठीक क्या कहते थे, सो जाना नही जा सकता। स्वर्गीय प० रामावतार शर्मा के मत मे उन्हे चक्र कहते थे[1]। तक्षशिला उत्तरापथ की राजधानी थी, उज्जैन पच्छिम खण्ड की, और सुवर्णगिरि दक्खिणापथ की। इस हिसाब से मध्यदेश तथा पूरब-खण्ड की, अथवा यदि मगध को मध्यदेश मे गिना जाय तो केवल मध्यदेश की, राजधानी पाटलिपुत्र को कहना चाहिए। इस प्रकार के बँटवारे से यह भी स्पष्ट होता है कि मौर्यों के सूबे भारतवर्ष के प्राचीन स्थल-विभाग[2]—मध्यदेश, प्राची, दक्खिणापथ, पश्चिम देश और उत्तरापथ—का अनुसरण करते थे। इसी लिए यदि उन का वाचक मूल शब्द हमे न मिले, तो हम उन्हे मण्डल, खण्ड या स्थल कह सकते हैं। आधुनिक शब्द प्रान्त का खास तौर से परहेज करना चाहिए, क्योंकि अन्त और अपरान्त के मौर्य काल मे दूसरे अर्थ थे।

अशोक के समय तक्षशिला उज्जैन और सुवर्णगिरि मे तथा कलिंग की राजधानी तोसली ( आधुनिक धौली, जि० पुरी ) मे राजा की तरफ से

---

१. अशोक के चौथे स्तम्भाभिलेख में च का नि अक्षर हैं, जिन्हें प्राय. विद्वानों ने च और कानि दो शब्द माना है। प० रामावतार शर्मा उन्हें एक ही शब्द चकानि पढ़ते थे, और उस का अर्थ करते थे भिन्न भिन्न चक्र या सूबे। —प्रियदर्शिप्रशस्तयः पृ० ३३।

१. दे० ऊपर § ६।

कुमार और महामात्य रहते थे। इस से यह परिणाम निकाला गया है कि कलिंग भी एक अलग मण्डल था। सम्भव है नया जीता होने के कारण उसे वैसा बना दिया गया हो, किन्तु अधिक सम्भव यही है कि वह पूरब-खण्ड में अर्थात् पाटलिपुत्र के मण्डल में सम्मिलित था[1]। अथवा, यदि मगध को पूरब के बजाय मध्यदेश में गिना जाय, जैसी कि पहले प्रथा थी, तो कलिंग की राजधानी पूरब-खण्ड की राजधानी रही हो सकती है। उक्त चार या पाँच मण्डल-राजधानियों के नीचे फिर कई छोटे शासन-केन्द्र भी थे; नमूने के लिए तोसली के अधीन समापा में महामात्य रहते थे, और सुवर्णगिरि के अधीन इसिला में। कौशाम्बी में भी महामात्य रहते थे; उस का प्रदेश पाटलिपुत्र के दायरे में रहा होगा। शायद वह अन्तर्वेद की राजधानी थी। शक रुद्रदामा ( दे० नीचे § १८३ ) के १५० ई० के अभिलेख से पता चलता है कि सुराष्ट्र की राजधानी गिरिनगर में चन्द्रगुप्त का राष्ट्रिय ( राष्ट्र या जनपद का शासक ) पुष्यगुप्त शासन करता था, उस का प्रदेश सम्भवतः उज्जैन के मण्डल के अधीन रहा होगा।

जो भी हो यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि मौर्य विजित को शासन के लिए जिन हिस्सों में बाँटा गया था, वे पहले तो भारतवर्ष के पाँच मुख्य

---

१. "इस प्रयोजन के लिए मैं प्रति पाँचवें वर्ष उन्हें अनुसयान के लिए निकालूँगा, उज्जैन से भी कुमार निकालेगा, और तक्षशिला से भी"—दूसरे कलिंगाभिलेख के इस वाक्य से सूचित होता है कि उज्जैन और तक्षशिला का अनुसंयान जहाँ कुमार कराते थे, वहाँ तोसली के अनुसंयान का संचालन पाटलिपुत्र से होता था। मेरे विचार में तोसली और कौशाम्बी दोनों पाटलिपुत्र के मण्डल में छोटे शासन-केन्द्र थे, किन्तु नया जीता होने के कारण तोसलि में एक कुमार को बैठा दिया गया था। केवल इतने से यह परिणाम नहीं निकलता कि वह उज्जैन और तक्षशिला की तरह मण्डल-राजधानी थी। उस की हैसियत सम्भवतः कौशाम्बी या गिरनार की सी थी।

दिशाओं वाले विभाग थे, और फिर उन के अन्दर प्राय प्राचीन परम्परागत जनपद अथवा जातीय भूमियाँ। जनपदों के अन्दर शासन की और भी छोटी इकाइयाँ आहाल ( आहार ) और कोट्टविषय थे[1]। आहार का अनुवाद हम जिला कर सकते हैं, वे ठीक ठीक बन्दोबस्त हुए प्रदेश थे। कोट्टविषय वे किलों के चौगिर्द प्रदेश थे जो पूरी तरह शान्त न हो पाये थे। शायद वे मुख्यतः अटवी[2] प्रदेशों के हिस्से थे।

## § १३१. बिन्दुसार अमित्रघात

जैन अनुश्रुति के अनुसार भारतवर्ष का वह एकच्छत्र दृढ शासक और प्रबल सेनानायक चन्द्रगुप्त जैन था, और चौबीस बरस राज्य करने के बाद जब उस के राज्य में एक बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा जिस के कारण कि जैन साधुओं के एक बड़े दल ने भद्रबाहु आचार्य की नायकता में कर्णाटक को प्रवास किया, तब वह भी अपने पुत्र बिन्दुसार को तिलक दे कर उन के साथ तप करने को कर्णाटक के पर्वतों में चला गया ( २९८ या ३०२ ई० पू० ), जहाँ बारह बरस पीछे अनशन करते हुए उस ने प्राण दिये।

बिन्दुसार मौर्य ने भी २५ या २८ वर्ष अपने पिता के समान योग्यता से शासन किया। उस के इतिहास की मुख्य घटनाओं का पता हम तिब्बत के लामा तारानाथ के बौद्ध धर्म के इतिहास (अ० १८) से मिलता है। उस के अनुसार उस के पिता का प्रतिभाशाली प्रधान अमात्य चाणक्य उस के समय में भी विद्यमान था, और उस ने चन्द्रगुप्त के समय की चातुरन्त-राज्य-नीति को जारी रक्खा। "उस ने करीब सोलह राजधानियों के राजाओं और मन्त्रियों को उखाड डाला, और एक लम्बे युद्ध के बाद पूरबी और पच्छिमी समुद्रों के बीच समूची भूमि को राजा बिन्दुसार की अधीनता में ला दिया।" स्पष्ट

---

१. दे० रूपनाथ और सारनाथ के अभिलेख।

२. दे० १३ वाँ प्रधान शिलाभिलेख।

है कि पूरबी और पच्छिमी समुद्र के बीच की वे सोलह राजधानियाँ सभी दक्खिन भारत मे थीं। अशोक के समय आन्ध्र[1] और कर्णाटक तक का प्रदेश मौर्यों के राज्य मे सम्मिलित था। स्वयं अशोक ने केवल कलिंग जीता था। चन्द्रगुप्त को दक्खिन की तरफ ध्यान देने की फुरसत मिली हो यह लगभग असम्भव दीखता है। पञ्जाब और सिन्ध से यूनानियो को निकालना, मगध में से नन्दों के साम्राज्य को उखाड़ फेकना, फिर समूचे उत्तर भारत मे अपनी शक्ति स्थापित करना और नन्दो के पक्षपातियो के अनेक षड्यन्त्रो और उपद्रवो का शमन, सॅलॅउक जैसे प्रबल शत्रु को हराना और उस से छीने हुए सुदूर प्रदेशों में अपना शासन स्थापित करना, तथा नेपाल कश्मीर कम्बोज जैसे सुदूर पहाड़ी प्रदेशो को—जो कि अशोक के समय मौर्य राज्य मे थे और जिन्हे अशोक ने प्रायः न जीता था—अधीन करना, ये सब काम

---

१. डा० बार्नेट की दृष्टि में "इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि आन्ध्र जाति किसी प्रकार भी अशोक के अधीन थी" (कैं० इ० पृ० ५९९)। किन्तु १३ वें शिलाभिलेख में अन्ध्र-पुलिन्द, भोज-पितिनिक, और योन-कम्बोज सब एक ही दर्जे में है, और वे चोड पाण्ड्य तथा अन्तियोक आदि के अन्त राज्यों से भिन्न हैं; और पाँचवें शिलाभिलेख के अनुसार उन सब राष्ट्रों में अशोक के धर्ममहामात्य काम करते थे। यदि आन्ध्र अशोक के अधीन न था, तो ये सब राष्ट्र भी न थे। सन् १९१६ में जायसवाल जी ने भी यह विचार प्रकट किया था कि ये सभी अधीन न थे ( ज० बि० ओ० रि० सो० १९१६ पृ० ८२ )। किन्तु यदि वैसी बात होती तो अन्ध्र-पुलिन्द भोज-पितिनिक योन-कम्बोज-गान्धार को चोड पाण्ड्य ताम्रपर्णी और आन्तियोक के राज्य आदि से अशोक ने अलग क्यों गिनाया है ? दूसरे, जब अफ़ग़ानिस्तान तक मौर्य शासन में था तब गान्धार देश तो निश्चय से ही था, और गान्धार जिस श्रेणी में है उसी में आन्ध्र भी। किन्तु अब इन युक्तियों की कोई ज़रूरत नहीं रही, क्योंकि इधर आन्ध्र के कुर्नूल जिले से अशोक के १४ प्रधान शिलाभिलेखों की पूरी प्रति मिल गई है।

चन्द्रगुप्त की शक्ति और समय को लगाये रखने को बहुत थे। दूसरे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दक्खिन भारत के पहाडो और जगलो से घिरा होने के कारण तथा वहाँ आर्य उपनिवेश पीछे जमने के कारण वहाँ अनेक छोटे छोटे राज्य थे न कि दो एक बडी बड़ी रियासते, और उन अनेक छोटे पहाडी राज्यो को जीतने के लिए काफी समय की अपेक्षा थी, जो कि चन्द्रगुप्त के पास नहीं था। इस प्रकार यह निश्चित मानना चाहिए कि दक्खिन का विजय बिन्दुसार ने ही किया।

कलिंग देश को लिये बिना चाणक्य और बिन्दुसार ने आन्ध्र को अधीन कर लिया था, इस का यह अर्थ है कि उन की सेनाये १३ वीं-१४ वीं शताब्दी ई० की खिलजी और तुगलक सेनाओ की तरह अवन्ति और माहिष्मती से महाराष्ट्र हो कर आन्ध्र की तरफ पूरब फिरी थी। तामिल अनुश्रुति ठीक यही बात कहती है। पहली-दूसरी शताब्दी ई० के तामिल ऐतिहासिक काव्यो के अनुसार वम्ब-मोरिय अर्थात् नवोत्थित मौर्यों की सेनाये कोकण से कर्णाटक तट के साथ साथ उस के दक्खिनी अंश—तुलु प्रदेश—होते हुए दक्खिनपूरब कोगु-देश (कोइम्बटूर) की तरफ बढ़ीं, और वहाँ से उन का एक अश और दक्खिनपूरब चोल देश की तरफ झुका, तथा दूसरे ने पाळनी पहाडियाँ लाँघ कर मदुरा के दक्खिनपच्छिम पाण्ड्य देश के पोदियोल पर्वत को ले लिया। वे अनेक पहाडों मे से रास्ते काटते और पहाड़ो के ढालो पर अपने रथ दौडाते हुए आये थे[1]।

अशोक के अभिलेखो (शिलाभि० २, १३) से सूचित होता है कि चोड पाण्ड्य केरलपुत्र और सतियपुत्र उस के अधीन न थे। चोल या चोड,

---

1 कृष्णस्वामी ऐयगर—दि बिगिनिंग्स् ऑव सौथ इडियन हिस्टरी (दक्खिन भारतीय इतिहास का आरम्भ), मद्रास १६१८, अ० २।

पाण्ड्य और केरल परिचित नाम हैं; सतियपुत्र का प्रदेश शायद केरलपुत्र से ठीक उत्तर का तुलु प्रदेश रहा होगा। इस से यह परिणाम निकलता है कि बिन्दुसार के समय द्रविड देश पर मौर्यों ने चढ़ाई कर उस का बहुत सा हिस्सा ले लिया, किन्तु वे स्थायी रूप से उस पर अधिकार न रख सके। द्रविड देश की सीमा के पहाड़ी किलो मे उन की सेना बनी रही। ऐसा जान पडता है कि मौर्य हमला होने पर तामिल देश के छोटे छोटे राष्ट्रो ने उस का मुकाबला करने के लिए अपना एक संघात बना लिया था। बिन्दुसार के करीब सवा सौ बरस पीछे के खारवेल के अभिलेख मे त्रमिरदेषसघात (तामिल-देश-संघात) का उल्लेख है, और उसे ११३ बरस पुराना बतलाया है[१]। वह संघात ठीक मौर्यों के समय उन के मुकाबले को खडा हुआ जान पड़ता है।

चाणक्य का सामर्थ्य और प्रभाव चन्द्रगुप्त के समय मे ही बहुत था, बिन्दुसार के समय तो वह और भी बढ़ गया। उस की उस अद्वितीय योग्यता का जो कम्बोज से कर्णाटक तक समूचे भारत को पहली बार एक छत्र के नीचे लाने मे सफल हुई थी, उस के समय के भारतवासियो के मन पर अनुपम प्रभाव हुआ था, और उन के आज तक के वंशज उसे अचरज और आदर की दृष्टि से देखते है। तारानाथ के अनुसार बिन्दुसार के ही राज्य-काल मे चाणक्य का देहान्त हुआ।

चाणक्य का उत्तराधिकारी शायद राधगुप्त था। बिन्दुसार के पिछले समय में निश्चय से वही अग्र-अमात्य था[२]। पच्छिम के यवन राजाओ के साथ मौर्य राजा का पहले का सा मैत्री-सम्बन्ध बना हुआ था। बिन्दुसार के दरबार मे मॅगास्थॅने का उत्तराधिकारी अब देइमख (Deimachos) था।

---

१. नीचे § १५३।

२. दि० पृ० ३७०।

उस के अतिरिक्त मिस्र के राजा प्तोलमाय का दूत दिओनुसिय (Dionysios) भी उस के या उस के पुत्र के दरबार मे था। यूनानी लोग बिन्दुसार का जो नाम लिखते है वह उस के उपनाम अमित्रघात का रूपान्तर है। उस के निजी जीवन की एक मनोरञ्जक बात उन्हो ने लिखी है। सीरिया के राजा अन्तिओक सोतर (विजेता) से एक दार्शनिक, कुछ अंजीरे और कुछ अगूरी मधु (मद्य) उस ने मगा भेजा था। अंजीरे और मधु तो अन्तिओक ने भेज दीं, पर तीसरी जिन्स के बारे मे लिखा कि यूनान का क़ानून दार्शनिक बेचने की इजाज़त नहीं देता।

बिन्दुसार के पिछले समय मे उत्तरापथ की तक्षशिला नगरी उस के विरुद्ध उठ खडी हुई। सम्राट् ने अपने बेटे अशोक को विद्रोह के शमन के लिए पाटलिपुत्र से सेना के साथ भेजा। कुमार अशोक जब तक्षशिला के करीब पहुँचा, "तक्षशिला के पौर नगरी से साढ़े तीन योजन आगे तक सारे रास्ते को सजा कर मगलघट लिये हुए उस की सेवा मे उपस्थित हुए, और कहने लगे—'न हम कुमार के विरुद्ध है, न राजा बिन्दुसार के, किन्तु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते है'।"[१] इस प्रकार बिना रक्तपात के अशोक ने उस विद्रोह को शान्त किया। किन्तु एक बार फिर जब तक्षशिला मे विद्रोह हुआ, तब कुमार सुसीम को वहाँ भेजा गया। वह विद्रोह का शमन न कर सका, तब राजा ने फिर अशोक को भेजने को कहा[१]। पर उसी बीच राजा की मृत्यु हो गई।

---

१. वहीं, पृ० ३७१-७२।

## ग्रन्थनिर्देश

पुराण-पाठ—मौर्यों विषयक अश।

अ० हि०—अ० ४, विशेषत परिशिष्ट एफ़।

वि० स्मिथ—अशोक (रूलर्स ऑव इण्डिया सीरीज़=भारत-शासक-चरितमाला में आक्सफ़र्ड १९२०), अ० १,२।

रा० इ०, पृ० १६३—२०१ । पृ० १६४ पर गान्धार कबीले के प्रदेश (Tribal territory) की चर्चा है । किन्तु गान्धार लोग अशोक के समय तक एक कबीला थे, इस के लिए विद्वान् लेखक ने कोई प्रमाण देने की कृपा नहीं की ।

कै० इ०, अ० १८ ।

हि० रा०, अ० ७, १७ ।

जायसवाल—बिन्दुसार का साम्राज्य, ज० बि० ओ० रि० सो० १६१६,७६ प्र ।

मेगास्थेने का भारतवर्णन बहुत पहले गुम हो गया था । पिछले यूनानी लेखकों ने उस से जो उद्धरण दिये हैं, उन सब का संग्रह जर्मन विद्वान् श्वानबेक ने जर्मन अनुवाद के साथ १८४६ में प्रकाशित किया था । उसी का अंग्रेज़ी अनुवाद मैक्रिंडल ने १८७६-७७ में इ० आ० में किया, और फिर उसे अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किया ।

---

### सोलहवाँ प्रकरण

# मौर्य साम्राज्य का उत्कर्ष और ह्रास—प्रियदर्शी अशोक और उस के उत्तराधिकारी

( २७८—१८८ ई० पू० )

## § १३२. कलिंग और उत्तरापथ

बिन्दुसार का उत्तराधिकारी उस का बेटा अशोक था। बिन्दुसार की जिस रानी से अशोक हुआ वह एक अनुश्रुति के अनुसार चम्पा की एक परम सुन्दरी ब्राह्मण कन्या थी[1]। अशोक भारतवर्ष के और ससार के इतिहास मे अपने नमूने का एक ही राजा हुआ है। बचपन मे वह प्रचण्ड और उद्धत स्वभाव का था, और पिता के अधीन उज्जयिनी और तक्षशिला का शासन कर चुका था। युवराज की दशा मे तक्षशिला के एक विद्रोह का दमन भी उस ने किया था।

---

1. दि० पु० ३७०।

राज पाने से चौथे बरस अशोक का अभिषेक हुआ[1]—शायद अपने बड़े भाई सुसीम को युद्ध मे परास्त कर उस ने राज पाया था। अभिषेक के बाद आठवे बरस उस ने कलिंग पर चढ़ाई की। कलिंग उस समय एक प्रबल और शक्तिशाली राज्य था; उस की प्रबलता शायद उस के जंगी हाथियो और जहाजों से थी। उस की शक्ति का यही सबूत है कि एक बार नन्दों के अधीन हो कर भी वह स्वतन्त्र हो चुका था, और जहाँ दूर दूर के जनपद मगध साम्राज्य मे सम्मिलित हो चुके थे वहाँ मगध के बगल मे रहते हुए भी कलिंग स्वतन्त्र बना हुआ था। बिन्दुसार ने अपनी दक्खिन की चढ़ाई मे उसे छेड़ना उचित न समझा था, यद्यपि मगध से दक्खिन का सीधा रास्ता कलिंग हो कर ही है। किन्तु बिन्दुसार ने जो नीति अख्तियार की उस से कलिंग तीन तरफ से मौर्य विजित से घिर गया था, और चौथी अर्थात् समुद्र की तरफ से भी उसे मौर्य नौ-सेना घेर सकती थी। इस प्रकार घिर जाने पर कलिंग का आगे या पीछे मौर्य विजित मे चला जाना प्रायः निश्चित ही था। किन्तु उस दशा मे भी कलिंग वालों ने आसानी से अधीनता स्वीकार नहीं कर ली। मौर्य सेनाओं का उन्हो ने घोर मुकाबला किया। उस युद्ध में करीब डेढ़ लाख कलिंग वाले कैद किये गये, एक लाख खेत रहे, और उस से भी अधिक बाद मे मरे[2]।

---

१ सिंहली अनुश्रुति के अनुसार; किन्तु प्रो० भण्डारकर इस बात को नहीं मानते ( अशोक, पृ ९ ); क्योंकि वे किसी भी ऐसी बात को नहीं मानना चाहते जिस का आधार केवल अनुश्रुति में हो। सुसीम की मृत्यु के विषय में दे० दि० पृ० ३७३; इतनी बात सम्भव है कि अशोक ने अपने एक भाई को परास्त किया हो। किन्तु सिंहली अनुश्रुति की यह बात कि उस ने अपने ९९ भाइयों का वध कर राज्य पाया, केवल बौद्ध होने से पहले अशोक का बुरा चरित्र दिखाने के लिए बनाई हुई गप्प है, क्योंकि ५वें प्रधान शिलाभिलेख में अशोक के जीवित भाइयों का उल्लेख है। दे० नीचे § १३४ ख।

२. १३वाँ प्रधान शिलाभिलेख।

कलिंग-विजय के अतिरिक्त अशोक के राज्यकाल की एक और राजनैतिक घटना अनुश्रुति मे प्रसिद्ध है। कहते हैं, उत्तरापथ मे तक्षशिला नगर फिर मौर्य सम्राट् के विरुद्ध उठ खडा हुआ था। अशोक यह सुन कर स्वयं तक्षशिला जाने को उद्यत हुआ, पर पीछे अमात्यों के कहने से उस ने कुमार कुनाल को भेजना तय किया। पाटलिपुत्र से बड़े सत्कार के साथ स्वय अशोक ने उसे विदा किया। उस के तक्षशिला पहुँचने पर फिर वही बात हुई। तक्षशिला के पौर फिर मार्गशोभा कर के पूर्ण घट लिये हुए साढ़े तीन योजन आगे आये, और हाथ जोड कुनाल से कहने लगे—न हम कुमार के विरुद्ध हैं न राजा अशोक के, किन्तु दुष्टात्मा अमात्य आ कर हमारा अपमान करते हैं। और वे कुनाल को बड़े सन्मान के साथ तक्षशिला ले गये[1], जहाँ शासन करता हुआ वह पौर-जानपदों का बहुत अनुरक्त हो गया।

कुनाल के तक्षशिला-शासन के साथ एक हृदयस्पर्शी कहानी भी जुड़ी है। वह अशोक का बहुत ही प्रिय पुत्र था। वह जन्म से ही अत्यन्त सुरूप और सुकुमार था। उस की आँखे हिमालय के कुनाल पक्षी के समान सुन्दर थी, इसी कारण उस का नाम कुनाल पडा था। बड़े होने पर काञ्चनमाला नाम की एक युवती से उस का विवाह हुआ। अशोक ने अपनी पहली रानी के मरने पर बुढ़ापे मे तिष्यरक्षिता नाम की स्त्री से विवाह किया था। एक बार वह युवती अकेले मे कुनाल से मिल कर उस के कान्त देह और उस की चमकीली आँखों पर मुग्ध हो गई। कुनाल ने अपनी विमाता के उस अभिगमन को अस्वीकृत किया, और उसे वह अधर्म-राग छोड़ देने को कहा। तिष्यरक्षिता इस से उस की जानी दुश्मन हो गई। यह घटना कुनाल के तक्षशिला जाने से पहले हुई थी। पीछे एक बार राजा अशोक को बडी व्याधि हुई। उस की चिकित्सा और उपचार तिष्यरक्षिता के हाथ मे

---

१ दि० पृ० ४०७-८।

रहा। तब उसे अपने वैरनिर्यातन का अवसर मिला। उस ने एक कपट-लेख तैयार कर तक्षशिला के पौर-जानपदों के पास भेज दिया जिस में अशोक का हुक्म था कि कुनाल की आँखें निकाल दी जाँय। तक्षशिला के पौर-जानपद कुनाल से इतने सन्तुष्ट थे कि वे वैसा करने को उद्यत न हुए। किन्तु उन्हें अशोक का डर भी था। उन्हों ने अशोक की आज्ञा कुनाल को दिखाई। कुनाल ने पिता और राजा की आज्ञा को पालना अपना कर्त्तव्य समझा, और उफ़ किये बिना अपनी आँखें निकलवा दीं। काञ्चनमाला के साथ तब वह पाटलिपुत्र लौटा। अशोक ने तिष्यरक्षिता को जीता जलवा दिया और तक्षशिला के उन पौरों और अपने उन अधिकारियों को जो इस षड्यन्त्र में शामिल थे, मरवा या निर्वासित कर दिया। तक्षशिला में जहाँ कुनाल ने खुशी खुशी अपनी आँखें निकलवायीं, उस ने एक स्तूप खड़ा करवाया, जो कि अशोक के नौ शताब्दी पीछे चीनी यात्री य्वान च्वाङ के समय तक वहाँ मौजूद था[1]।

इस षड्यन्त्र के प्रधान षड्यन्त्रियों के निर्वासन की बात फिर मध्य एशिया के खोतन उपनिवेश की स्थापना की कहानी में भी गुँथी है। खोतनी कहानियों के अनुसार अशोक ने अपने एक बेटे कुस्तन को पैदा होने पर फेंकवा दिया, और अपने एक मन्त्री यश को निर्वासित कर दिया था; और उन्हीं लोगों ने पहले-पहल मध्य एशिया में खोतन के आर्यावर्त्ती उपनिवेश की नींव डाली थी[2]।

इस अनुश्रुति की तह में बहुत कुछ सचाई है, सो मानना पड़ता है। आधुनिक चीनी तुर्किस्तान या सिम् कियाङ से आर्यावर्त्ती सभ्यता के इतने

---

१. वहीं, पृ० ४०७—१८; य्वान १, पृ० २४६; सी यू की १, पृ० १३९—४३।

२. रौकहिल—बुद्ध, पृ० २३३—३६। य्वान-जीवनी में कहानी है कि कुनाल ही निर्वासित हो खोतन जा बसा था—पृ० २०३; यात्रा में कुस्तन वाली बात कुछ और रूप में,—२, पृ० २९५। कुस्तन के विषय में दे० राइट की हिस्टरी ऑव नेपाल (नेपाल के आनुश्रुतिक इतिहास का अनुवाद, कैम्ब्रिज १८७७), पृ० १११।

अवशेष निकले हैं कि प्राचीन काल के लिए विद्वानो ने उस देश का नाम ही उपरला हिन्द ( Serindia ) रख दिया है । हम आगे देखेंगे[1] कि ईसवी सन् के आरम्भ से कुछ पहले ही वहाँ आर्यावर्त्ती प्रभाव रहने के प्रमाण मिले हैं। ईसवी सन् से पहले मौर्यों का राज्य-काल ही वह युग था जब कि भारतवर्ष का प्रभाव खोतन के बहुत नजदीक तक पहुँच गया था, और जब कि भारतवर्ष से विजय की लहर बाहर की तरफ़ बह रही थी । मौर्य युग के बाद तो उलटा मध्य एशिया से जातियों का प्रवाह भारत के अन्दर आता रहा। इस लिए ईसवी सन् से पहले यदि कभी खोतन मे आर्यावर्त्ती सभ्यता का बीज बोया जा सकता था तो वह अशोक क समय ही।

दूसरे खोतन के उपनिवेश का उल्लेख सम्भवत: अशोक के १३ वे शिलाभिलेख मे भी है । वहाँ अशोक क अधीन जनपदो की परिगणना में नाभक और नाभपति के नाम है । स्व० डा० बुइलर का कहना था कि नाभक का अर्थ नाभिकपुर है जो कि ब्रह्मपुराण के अनुसार उत्तर कुरु मे था[2] । उत्तर कुरु देश थियानशान पर्वत क ढाल पर माना जाता था[3] ।

---

१. नीचे § १७४।

२. ज़ाइटश्रिफ़्ट ४०, पृ० १३८, हुल्श—भा० अ० स० १,भूमिका पृ० ३६ पर उद्धृत ।

३. लंडन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में सेंट हिरोनिम ( ३७६—४२० ई० ) का बनाया एक लैटिन नक्शा है, जिस में उस के शिष्य ओरोसिय के संशोधन भी हैं। उसी ओरोसिय के लिखे भूगोल का अंग्रेज़ी अनुवाद इग्लैंड के राजा आल्फ्रेड ने करवाया था। हिरोनिम का नक्शा पुरानी सामग्री पर निर्भर है, उस के समय में हूण लोग युरोप में थे, पर वह Hunniscite को चीन की सीमा पर—हूणों के मूल घर में—रखता है। ओरोसिय के संशोधन भी रोमन सम्राट् ऑगस्त के समय के

किन्तु पहले जहाँ यह केवल एक दूर की सम्भावना थी, वहाँ अब कम्बोज देश की ठीक पहचान होने के बाद[1] यह बहुत ही सम्भव दिखाई देता है कि नाभक और नाभपंति खोतन प्रदेश के कोई उपनिवेश ही थे। स्व० मोशिये सेनार का कहना था कि १३वे शिलाभिलेख में अधीन राष्ट्रों के नाम एक क्रम से गिनाये गये हैं। नाभक-नाभपंति का नाम वहाँ योन-कम्बोज के ठीक बाद है। कम्बोज और उपरला हिन्द एक दूसरे के साथ लगे हुए हैं। सीता नदी की उपरली दून कम्बोज देश की पूरबी सीमा है, और उसी के निचले काँठे के ज़रा पूरब खोतन प्रदेश है।

इस प्रकार खोतन प्रदेश मे, जो भारतवर्ष के कम्बोज और चीन के कानसू प्रान्त के बीच था, अशोक के समय एक आर्यावर्त्ती उपनिवेश का बीज डाला गया जान पड़ता है। उस प्रदेश मे उस समय फिरन्दर शक चरवाहे घूमा करते थे; तब तक वहाँ कोई जाति स्थिर हो कर बसी हुई न थी। वह मौर्य साम्राज्य की ठीक सीमा से लगा था, और ऐसा जान पड़ता है कि अशोक ने उसे अपने राज्य के उन अपराधियों के, जिन्हे वह मृत्युदण्ड न देना चाहता था, निर्वासन के लिए चुना था, और वहाँ की जंगली जातियों मे धर्म का सन्देश ले जाने वाले अपने दूत भी भेजे थे। उस अपराधियों की बस्ती से बाद मे एक आर्यावर्त्ती उपनिवेश का विकास हो गया।

---

७ ई० पू० के रोमन नक्शे पर निर्भर हैं। ओरोसिय अपने भूगोल में Huniscythe को Ottarakorra के निकट रखता है (इ० आ० १९१९ पृ० ६५ प्र)। इस का यह अर्थ है कि ईसाब्द-आरम्भ-समय के लैटिन लेखक चीन और हूणों की सीमा पर उत्तर कुरु प्रदेश को जानते थे।

१. कम्बोज की पहचान से पहले भी रूपरेखा की पहली प्रति में नाभक = खोतन की तथा अशोक के समय ही मध्य एशिया में पहला आर्यावर्त्ती उपनिवेश स्थापित होने की सम्भावना दिखाई गई थी।

इस बात को देखते हुए हमे यह कहना होगा कि अशोक ने शस्त्र-युद्ध से तो केवल एक देश—कलिंग—को ही साम्राज्य मे मिलाया, पर उस ने अपने प्रभाव द्वारा साम्राज्य की पहाडी सीमाओ के आगे भी शान्तिपूर्वक अपना दखल बढाया।

## § १३३. अशोक का अनुशोचन और क्षमा-नीति

कलिंग-विजय के बाद अशोक को अपने दिल मे भारी अनुशोचन हुआ। उस ने अनुभव किया कि 'जहाँ लोगो का इस प्रकार वध मरण और देशनिकाला हो, ऐसा जीतना न जीतने के बराबर है।' उस के जीवन मे इस से बड़ा परिवर्तन हुआ। उस ने निश्चय किया कि अब वह इस प्रकार के नये विजय न करेगा, उस ने 'अपने पुत्रों पौत्रों' के लिए भी यह शिक्षा दर्ज की कि 'वे नये विजय न करे, और जो विजय बाण खीचने द्वारा ही हो सके उस मे भी क्षान्ति और लघुदण्डता से काम ले, और धर्म के द्वारा जो विजय हो उसी को असल विजय माने।'[1]

उस के राज्य के पड़ोस मे अब उत्तरपच्छिम का योन (यूनानी) राज्य और सुदूर दक्खिन के तामिल राज्य थे। उन अन्तों के विषय मे उस ने अपने महामात्यों को अब नई आज्ञा दी। "शायद आप लोग जानना चाहे कि जो अन्त अभी तक जीते नहीं गये है, उन के विषय मे राजा क्या चाहता है। मेरी अन्तो के विषय मे यही इच्छा है कि वे मुझ से डरे नहीं, और मुझ पर भरोसा रक्खे, वे मुझ से सुख ही पावेगे, दु.ख नही। वे यह विश्वास माने कि जहाँ तक क्षमा का बर्ताव हो सकेगा राजा हम से क्षमा का बर्ताव करेगा।"[2]

---

१. १३ वाँ प्रधान शिलाभिलेख।

२. दूसरा कलिंग-शिलाभिलेख।

"जितने मनुष्य कलिंग-विजय में मारे गये, मरे, या कैदी किये गये, उन का सौवाँ हज़ारवाँ भाग भी अब यदि मारा जाय……तो देवताओं के प्रिय को भारी दुःख होगा। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है वह भी क्षमा के योग्य है यदि वह क्षमा किया जा सके। जो अटवियाँ देवताओं के प्रिय के विजित में हैं, उन से भी वह अनुनय करता है, उन्हें मनाता है। और चाहे देवताओं के प्रिय को अनुताप है, तो भी उस का बड़ा प्रभाव (शक्ति) है, इस लिए वह (आटविकों से) कहता है कि वे (बुरे कामों से) लज्जित हों, व्यर्थ में न मारे जाँय। देवताओं का प्रिय सब जीवों की अक्षति, संयम तथा समचर्या और प्रसन्नता चाहता है"[1]—एक राजा की महत्वाकाङ्क्षा की तृप्ति के लिए गरीब गृहस्थों का वध और देशनिकाला हो, यह उसे पसंद नहीं है।

उपर्युक्त से प्रतीत होता है कि मौर्य राजा को अपने दण्ड का प्रयोग विशेष कर अन्तों और अटवियों के लिए करना पड़ता था, किन्तु उन के प्रति अब अशोक ने जहाँ तक बन सके क्षमा करने की नीति शुरू की। वह नीति कहाँ तक उचित या अनुचित थी, इस का विचार हम एक अगले परिच्छेद में करेंगे।

## § १३४. उस के जीवन और अनुशासन में सुधार

किन्तु उस नई दृष्टि को ले कर अशोक ने अपने जीवन और शासन में जो सुधार किये, अथवा अपनी प्रजा के जीवन में जो सुधार करने का जतन किया, पहले हम उन का दिग्दर्शन करेंगे।

---

१. प्र० शिला० १३।

## अ. विहिंसा का त्याग

हम देख चुके हैं कि बौद्ध धर्म के उदय से पहले हमारे पुरखों के साधारण जीवन मे हिंसा क्रूरता और कर्कशता बहुत थी । व्यर्थ अकारण हत्या बहुत होती थी। अशोक ने पहले अपने परिवार और महलो मे वह भोंडी क्रूरता बन्द करवा दी।

"यह धर्म-लिपि देवताओं के प्रिय प्रिय-दर्शी राजा ने खुदवाई है। यहाँ किसी प्राणी की हत्या या होम न करना चाहिए, और न समाज करना चाहिए, क्योंकि देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज मे बहुत दोष देखता है। किन्तु एक प्रकार के समाज है जिन्हे देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा अच्छा मानता है। पहले देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोई-घर मे सूप ( शोरबे ) के लिए प्रतिदिन सैकड़ों हजारो प्राणी मारे जाते थे, पर अब जब यह धम्मलिपि लिखी गई केवल तीन प्राणी—दो मोर और एक मृग—मारे जाते हैं, वह मृग भी सदा नहीं। आगे वे तीन प्राणी भी न मारे जायेंगे ।"[1]

यहाँ का अर्थ साधारणतया अशोक के विजित मे किया जाता और उस से यह परिणाम निकाला जाता रहा है कि अपने समूचे राज्य मे अशोक ने प्राणि-वध रोक दिया था। किन्तु प्राणि-वध पूरी तरह से उस ने अपने घर मे भी न रोका था यह इसी लेख से स्पष्ट है । यह और इस के साथ के लेख अधिकांश विद्वानो के मत मे अशोक के अभिषेक के १४ वे बरस के, किन्तु डा० भण्डारकर के मत मे २८वें बरस के, हैं; इस लिए कलिंग-विजय के बरसो बाद तक अशोक ने सिद्धान्त रूप से हिंसा को एकदम

---

१. प्र० शि० १ ।

न त्याग दिया था; उस का अभिप्राय केवल भोंडी क्रूरता को—जिसे वह विहिंसा कहता है—बन्द करना था। डा० भण्डारकर यहाँ का अर्थ करते हैं राजा के महल में, क्योंकि आगे भी राजकीय रसोई की ही बात है।

समाज शब्द पिछली शताब्दी से भारतीय भाषाओं में बहुत अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, पर पुराने अभिलेखों और वाङ्मय में उस के दूसरे अर्थ होते थे। पहले-पहल जहाँ पशुओं या रथों की दौड़ (सम्-अज् =इकट्ठे हाँकना) और लड़ाई होती और उस पर बाजी लगाई जाती, उसे समाज कहते थे; फिर कोई भी रंग-भूमि या प्रेक्षागार जिस में दृश्य या नाटक दिखलाये जाते, समाज कहलाने लगे। उस के अतिरिक्त राजाओं आदि की तरफ से जो बड़ी दावतें दी जाती थीं, जिन में मांस खूब परोसा जाता था, वे भी समाज कहलाती थीं। अशोक ने समाजों द्वारा धार्मिक दृश्य दिखला कर प्रजा में धर्मवृद्धि करने का जतन किया[1]; उन के सिवाय अन्य प्रकार के समाजों को वह बुरा कहता है।

इस लेख से जहाँ यह स्पष्ट नहीं होता कि हिंसा की यह बन्दिश उस ने अपने समूचे राज्य में कर दी थी या केवल अपने घर में, और कि क्या इस सूचना का उद्देश्य केवल अपने घर का वह दृष्टान्त प्रजा के सामने रखना था, वहाँ एक दूसरे लेख[2] में यह स्पष्ट सूचना है कि अभिषेक के २६ वें बरस अशोक ने अपने राज्य में बहुत से पंछियों और चौपायों का—"जो कि न परिभोग में आते हैं न खाये जाते हैं"—मारना वर्जित करा दिया था। उन चौपायों में साँड का भी नाम है, जिस से यह पता चलता है कि तब तक भारतवर्ष में गोहत्या को पाप न माना जाता था। उस के अतिरिक्त

---

१. प्र० शि० ४।

२. स्तम्भाभिलेख ५।

अशोक ने उसी आज्ञा से कुछ जानवरो का वध खास तिथियो पर बन्द करा दिया, खास उत्सव की तिथियो पर जानवरो की बधिया करने और दागने की मनाही कर दी, और केवल अनर्थ या विहिंसा के लिए जगलो का जलाने का निषेध कर दिया। उसी लेख मे यह सूचना भी है कि तब तक अशोक २५ बार कैदियो की रिहाई करवा चुका था—अर्थात् प्रति बरस एक बार वह कुछ कैदियो की रिहाई करवाता था।

अशोक की अहिंसा-नीति क्या थी, सो इन बातो से प्रकट होता है। सिद्धान्त रूप से जन्तुओ का वध सर्वथा बन्द कर देना उस का अभिप्राय हर्गिज न था, व्यर्थ अकारण हत्या और भोडी क्रूरता को रोकना ही उस का प्रयोजन था। यदि पहले प्रधान शिलाभिलेख का यह अभिप्राय हो कि समूचे राज्य मे पशुओ के होम की सर्वथा बन्दिश कर दी गई थी, तो उस मे भी कुछ अनुचित था—यदि वैसा करने से पुराने विचारो के लोगो की विश्वास-स्वतत्रता मे बाधा पड़ती थी तो वह बाधा भी उचित ही थी।

## इ. विहार-यात्रा के बजाय धर्म्म-यात्रा

"बीते ज़माने मे राजा लोग विहार-यात्रा के लिए निकला करते थे। उस (यात्रा) मे मृगया और वैसी ही अन्य मन बहलाने की बाते होती थीं। देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा अपने अभिषेक के दसवे बरस सबोधि (बोधिवृक्ष) को गया। तब से धर्म-यात्रा चली। इस मे यह होता है—श्रमणो और ब्राह्मणो का दर्शन, दान, वृद्धो का दर्शन और ( उन के लिए ) सुवर्ण-दान, जानपद लोगो का दर्शन, धर्म का अनुशासन, और धर्म की परिपृच्छा (जिज्ञासा)। तब से ले कर देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा को इस ( धर्म-यात्रा) मे बहुत ही आनन्द मिलता है।"[1]

---

1. प्र० शि० ८।

## उ. बड़े राज्याधिकारियों का 'अनुसंयान'

अशोक छोटे-बड़े सब की समचर्या चाहता था। वह छोटे गरीब आदमियों का अधिक आदर करता था। इसी लिए उसे इस बात का बड़ा ख़्याल था कि उस के राजपुरुष गरीब प्रजा पर ज़ुल्म न करने पावें। जनपदों और मण्डलों का शासन करने वाले कुमारों और महामात्यों पर भी इस सम्बन्ध में उस की कड़ी निगरानी थी। उस निगरानी का अन्दाज़ उस की इस आज्ञा से होता है—

"देवताओं के प्रिय की तरफ़ से तोसली के महामात्य नगल-वियोहालकों (नगर के व्यावहारिकों = न्यायाधीशों) से यों कहना ·····आप लोग हज़ारों प्राणियों के ऊपर इस लिए रक्खे गये हैं कि जिस में हम अच्छे मनुष्यों के स्नेहपात्र बनें।' ····आप लोग इस अर्थ को पूरी तरह नहीं समझते। · एक पुरुष भी यदि अकस्मात् (बिना कारण, बिना अपराध) बांधा जाता है या परिक्लेश पाता है तो उस से बहुत लोगों को दुःख होता है। ऐसी दशा में आप को मध्य मार्ग से (अत्यन्त कठोरता और दया दोनों त्याग कर) चलना चाहिए। किन्तु ईर्ष्या निठुल्लेपन निठुरता त्वरा (जल्दबाज़ी) अनभ्यास आलस्य और तन्द्रा के रहते ऐसा नहीं हो सकता। इस लिए ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि ये न आवें। इस का भी मूल उपाय यह है कि सदा आलस्य से बचना और त्वरा न करना। इस लिए काम करते रहो, उठो, चलो, आगे बढ़ो। ······नगलक-वियोहालक लगातार अपने समय (प्रतिज्ञा) पर जुटे रहें। नगर-जन का अकारण बन्धन और अकारण परिक्लेश न हो। इस अर्थ के लिए मैं धर्मानुसार प्रति पाँचवें बरस अनुसयान के लिये निकालूँगा····। उज्जयिनी से भी कुमार हर तीसरे बरस ऐसे ही वर्ग को निकालेगा। और तक्षशिला से भी।····"[1]

---

१. कलिंग शि० १।

इसी सम्बन्ध मे दूसरी जगह वह कहता है—"अभिषेक के बारहवे बरस मैंने यह आज्ञा दी कि मेरे सारे विजित मे युत राजुक और प्रादेशिक पाँचवे पाँचवे बरस अनुसयान के लिए निकले ।"[१]

अनुसयान का अर्थ विवादग्रस्त है। अधिकांश विद्वान् उस का अर्थ 'दौरा' करते हैं, जायसवाल के मत मे उस का अर्थ है 'बदली'। भण्डारकर ने 'दौरे' के पक्ष मे बहुत पुष्ट प्रमाण दिये हैं। युत, राजुक और प्रादेशिक सब से बडे राजपुरुष होते थे। यदि उन के दौरे का नियम किया गया था तो उस मे अशोक का प्रयोजन यही था कि वे छोटे अधिकारियों का निरीक्षण करें कि वे प्रजा को सताते तो नहीं, यदि बदली का नियम था तो उस का भी यही प्रयोजन था कि वे स्वय उच्छृङ्खल न होने पाँय। उस दशा मे तक्षशिला के पौरो ने अमात्यो की 'दुष्टता' के कारण जो विद्रोह किया था, उस ने शायद अशोक को ऐसा नियम बनाने की प्रेरणा दी हो। जो भी हो, वह एक महत्त्व का नियम था, और प्रजा का सुशासन ही उस का अभिप्राय था।

## ऋ. प्रतिवेदकों की नियुक्ति

उसी सुशासन के उद्देश से अशोक ने एक और सुधार भी किया। पहले राजा विशेष समयो मे प्रजा की प्रतिवेदना सुना करते थे। अशोक ने "यह ( प्रबन्ध) किया कि सब समय चाहे मै खाता होऊँ चाहे जनाने मे होऊँ चाहे गर्भागार (शयनागार) मे, ·· प्रतिवेदक प्रजा का कार्य मुझे बतलावे। मैं सब जगह प्रजा का कार्य करूँगा। जो कुछ आज्ञा मैं मुँहजबानी दूँ ··· या

---

१. प्र० शि० ३। इस लेख का पिछला अश अशोक के अभिलेखों में से सब से अधिक कठिन और अस्पष्ट है, उस की कोई सन्तोषजनक निर्विवाद व्याख्या अभी तक नहीं हुई।

महामात्यो को जो आत्ययिक (आवश्यक) कार्य सौंपा जाय उस के सम्बन्ध में विवाद या निझति (निषेध) होने पर परिषद् को बिना विलम्ब मुझे सूचना देनी चाहिए।... ' कितना ही उद्योग करूँ, कार्य मे लगा रहूँ, मुझे सन्तोष नहीं होता। सब लोगों का हित करना ही मैंने अपना कर्त्तव्य माना है, और उस का मूल है उद्योग और कार्यतत्परता। सब लोगो का हित करने के अतिरिक्त मुझे कुछ काम नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ सो क्यों ? इसी लिए कि जीवो के ऋण से मुक्त होऊँ।..बिना उत्कट पराक्रम (प्रयत्न, चेष्टा) के यह दुष्कर है।" [१]

## लृ. सब पन्थों के लिए सम दृष्टि और धर्म-महामात्यों की नियुक्ति

स्वयं बौद्ध होते हुए भी अशोक सब पन्थो को सम दृष्टि से देखता और सब का आदर करता था। "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब पाषंड ( पन्थ वाले ) सब जगह आबाद हो। वे सभी संयम और भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्यो के ऊँचनीच ( विभिन्न ) इच्छाये ऊँचनीच अनुराग होते ही हैं। वे ( अपने अपने पथ का ) पूरी तरह पालन करेंगे अथवा कोई अंश पालन करेंगे। भले ही किसी का बहुत बड़ा दान हो, पर यदि उस मे संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, और दृढ भक्ति नही है तो वह निश्चय से नीच दर्जे का ही है।"[२]

अशोक की यह चेष्टा थी कि विभिन्न पन्थों के लोग परस्पर सहिष्णुता और आदर से रहें। "देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब

---

१. प्र० शि० ६।

२. प्र० शि० ७।

पाषण्ड ( पन्थ ) वालो का चाहे वे प्रव्रजित हो चाहे गृहस्थ दान और विविध पूजा से सत्कार करता है । दान या पूजा को देवताओ का प्रिय उतना नहीं मानता जितना इसे कि सब सम्प्रदाय वालो की सारवृद्धि हो । · उस का मूल है—वचोगुप्ति ( वाणी का सयम ) कि जिस मे अपने पाषण्ड ( पन्थ ) का अति आदर और दूसरे पाषण्ड ( पन्थ ) की गर्हा न की जाय और उन की हलकाई न की जाय। उस उस प्रकरण से दूसरे पन्थ का आदर करना ही चाहिए। वैसा करने वाला अपने पन्थ को भी बढ़ाता है, दूसरे पन्थो का भी उपकार करता है। इस से उलटा करने वाला अपने पन्थ को भी क्षीण करता है, दूसरे पन्थ का भी अपकार करता है। ·समवाय ही अच्छा है—कि एक दूसरे के धर्म को सुने और शुश्रूषा करे।······इसी प्रयोजन से बहुत से धर्ममहामात्य · ( आदि ) नियुक्त किये गये हैं। ''[1]

इन्हीं धर्ममहामात्यों की नियुक्ति के विषय मे दूसरी जगह देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यो कहता है—"बीते जमानो मे धर्ममहामात्य कभी नहीं हुए। इस लिए मैंने अभिषेक के तेरहवे बरस धर्म-महामात्य ( नियत ) किये। वे सब पाषण्डो ( पन्थो ) के बीच नियुक्त हैं। वे धर्म के अधिष्ठान ा लिए, धर्म की वृद्धि के लिए तथा धर्मयुक्तो के हित सुख के लिए हैं—योन कम्बोज और गान्धारो के रिस्टिक-पेतेणिको के तथा अन्य सब अपरान्तों के। वे भृत्यो ब्राह्मणो धनी गृहपतियो अनाथो बुड्ढो के बीच हित-सुख के लिए, धर्मयुक्त ( प्रजा ) की अपरिबाधा ( बाधा से बचाने ) के लिए व्यापृत हैं—बन्धन और वध को रोकने के लिए, बाधा से बचाने के लिए, कैद से छुडाने के लिए · जो बहुत सन्तान वाले हैं बूढ़े हैं · (उन के बीच) वे व्यापृत हैं। वे यहाँ ( पाटलिपुत्र मे ), बाहर के नगरों मे, सब अवरोधनों ( अन्त·-

---

1. प्र० शि० १२ ।

पुरो ) मे—( मेरे ) भाइयो के बहनों के और अन्य ज्ञातियों के बीच सब जगह व्यापृत हैं। ··· ··मेरे सारे विजित मे, धर्मयुक्त मे, वे धर्ममहामात्य व्यापृत है।"[1]

इस प्रकार इन धर्ममहामात्यो की नियुक्ति इस लिए हुई थी कि वे विभिन्न पन्थों में सहिष्णुता और उदारता बनाये रक्खे, कैद फाँसी आदि दण्डों की सख़्ती को जहाँ तक बने कम करावे, बूढ़े सन्तान वाले नौकरी-पेशा गरीब लोगों को जब दण्ड मिले उन का विशेष ध्यान रक्खे। और ये धर्ममहामात्य बहुत से अधीन राष्ट्रों मे भी लगाये गये थे।

अशोक जिस धर्म की वृद्धि चाहता था, वह कोई खास मज़हब या पन्थ न था। वह केवल सरल सीधा जीवन था। "देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा यो कहता है कि धर्म अच्छा है। पर धर्म क्या है? पाप न करना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सचाई, शौच (पवित्रता)।"[2] "प्राणियों को न मारना, जन्तुओ की अविहिंसा, ज्ञातियों ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति आदरपूर्ण बर्त्ताव, माता पिता की शुश्रूषा"[3], "दासो, और भृतको से उचित बर्त्ताव, गुरु जनो की पूजा, प्राणियों के (प्रति बर्त्तने मे) संयम, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान"[4] यही अशोक का धर्म था; और यह धर्म "छोटे बड़े सब वर्गों के लिए उत्कट पराक्रम किये बिना दुष्कर है, बड़ों के लिए तो और

---

१. प्र० शि० ५।

२. स्तम्भ० २।

३. प्र० शि० ४।

४. प्र० शि० ११।

भी दुष्कर है"[1], और यह "धर्माचरण शीलरहित ( मनुष्य ) से नहीं हो सकता।"[2]

## ए. चिकित्सालय और रास्ते आदि

अशोक को जहाँ यह चिन्ता थी कि उस की प्रजा धर्माचरण द्वारा परलोक मे सुखी हो, वहाँ उस के इस लोक के सुख का भी उसे कम ख्याल न था।

"देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा यों कहता है—मैने मार्गों पर बरगद रोपवा दिये है कि पशुओ और मनुष्या को छाँह देंगे, आमो की वाटिकाये रोपवाई हैं; आठ आठ कोस पर मैने कुएँ खुदवाये है, और सराये बनवाई हैं। जहाँ तहाँ पशुओ और मनुष्यो के प्रतिभोग के लिए बहुत से प्याऊ बैठा दिये हैं। किन्तु ये सब प्रतिभोग बहुत थोड़े है। पहले राजाओ ने और मैने भी विविध सुखो से लोगों को सुखी किया है। पर मैने यह सब इस लिए किया है कि वे धर्म का आचरण करे।"[3]

इस के अतिरिक्त, "देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित मे सब जगह, और वैसे ही जो अन्त हैं— जैसे चोड, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अन्तियोक नामक योन राजा और जो दूसरे उस अन्तियोक के समीप राजा है—सब जगह देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो चिकित्साये चला दी हैं—मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा। मनुष्यो और पशुओ की उपयोगी ओषधियाँ जहाँ जहाँ नहीं है वहाँ वहाँ लाई गई, और

१. प्र० शि० १०।

२ प्र० शि० ४।

३. स्तम्भ० ७।

रोपी गईं । जहाँ जहाँ फल और मूल नहीं है वहाँ वहाँ लाये और लगाये गये । मार्गों पर मनुष्यों और पशुओं के प्रतिभोग के लिए वृक्ष रोपे गये और कुएँ खुदवाये गये ।"[1]

इस प्रकार जहाँ अशोक के धर्म-महामात्य उस के विजित के अधीन राष्ट्रों में भी कार्य करते थे, वहाँ उस के चिकित्सालयों और उस की पथिकों के आराम की सेवाओं का क्षेत्र एक तरफ सिंहल तथा दूसरी तरफ़ सुदूर यूनानी राज्यों तक था। उस की इस विचित्र विदेशी नीति की आलोचना हम अभी करेंगे।

## ऐ. व्यवहार-समता और दण्ड-समता

अभिषेक के छब्बीसवें बरस के एक लेख[2] में अशोक कहता है—"यह अभीष्ट है कि व्यवहार-समता और दण्ड-समता हो।" व्यवहार का अर्थ पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। मौर्य साम्राज्य ने समूचे भारत को राजनैतिक दृष्टि से एक कर दिया था; व्यवहार और दण्ड की इस समता ने उस के अन्दर एक आन्तरिक एकता भी पैदा करने का काम निश्चय से किया होगा। उस लेख के शुरू में "प्रियदर्शी राजा यों कहता है ·· मेरे लजूक (राजुक) सैकड़ों हजारों प्राणियों के ऊपर नियत हैं। उन्हें जो मैंने अभिहार और दण्ड में आत्म-निर्भरता (अतपतिये=आत्मपत्य) दी है, सो इस लिए कि वे भरोसे के साथ और निडर होकर काम करें, जानपद जन के हित-सुख का उपधान करें और अनुग्रह करें। जैसे जानी हुई धाय के हाथ में बच्चे को

---

१. च० शि० २।

२. स्तम्भ० ४।

सौंप कर आदमी भरोसे से रहता है ·· 'वैसे ही मैंने जानपद के हित-सुख के लिए राजुक ( नियुक्त ) किये हैं। (और) जिस से वे निडर स्वस्थ और निश्चिन्त हो कर काम कर सकें, इस लिए मैंने राजुकों को अभिहार और दण्ड की स्वायत्तता दे दी है। किन्तु यह अभीष्ट है कि ।"

इस लेख की सन्तोषजनक सर्वसम्मत व्याख्या आज तक नहीं की गई। तो भी इस से इतना स्पष्ट होता है कि रज्जुक या राजुक बड़े राज्याधिकारी थे, जो जनपदों का शासन करते थे, और यद्यपि उन्हें यथेष्ट स्वायत्तता दी गई थी, तो भी समूचे विजित में व्यवहार और दण्ड की समता करने का जतन किया गया था।

## § १३५. 'धम्मविजय' की नई नीति

अपने राज्य में धर्म की वृद्धि[1] करने के लिए अशोक जितना सचेष्ट था, विदेशों का धर्मविजय करने को वह उस से भी अधिक सजग था। उस के अभिषेक के १८ वें बरस पाटलिपुत्र के पास के अशोकाराम में बौद्ध भिक्षु-संघ की तीसरी संगीति मोग्गलिपुत्त तिस्स नामक विद्वान् थेर की प्रमुखता में नौ महीने तक जुटी। उत्तरी बौद्ध ग्रन्थों में अशोक के धर्मगुरु का नाम उपगुप्त है। वही शायद तिस्स था। संगीति पूरी होने पर तिस्स ने अनेक प्रत्यन्त देशों में बौद्ध शासन पहुँचाने को प्रचारक भिक्षुओं के वर्ग भेजे। अशोक का अपना बेटा या भाई महिन्द ( महेन्द्र ) भी उन में से एक वर्ग का नेता था।

कलिंग-विजय के बाद चौथे बरस अशोक ने अपनी पहली धम्म-लिपि (अभिलेख) प्रकाशित की। कैसे अटल आत्मविश्वास तथा दृढ संकल्प के साथ वह तथा उस के सहयोगी अपने काम में जुटे थे, सो उस लिपि के

---

१. स्तम्भ० ६, ७; प्र० शि० ४।

शब्दों से टपकता है। "अढ़ाई बरस से अधिक बीते कि मैं श्रावक (उपासक) हुआ हूँ। पर मैंने अच्छा प्रक्रम (उद्यम) नहीं किया; बरस से ऊपर हुआ जब मैं संघ के पास पहुँचा और खूब प्रक्रम करने लगा। इस बीच जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) के मनुष्यों को देवताओं में मिला दिया है। यह प्रक्रम का फल है। बड़े ही लोग यह फल पा सकते हों सो नहीं; छोटा आदमी भी प्रक्रम करे तो विपुल स्वर्ग पा सकता है। इसी लिए यह (आदेश) सुनाया गया कि छोटे बड़े सभी प्रक्रम करें। अन्त भी जान जायँ कि (हमारा) यह प्रक्रम है, और यह चिरस्थायी हो। यह कार्य बढ़ेगा, निश्चय से बढ़ेगा, खूब बढ़ेगा, दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा।"[1]

अन्तों को अपना कार्य जता देने की अशोक को कैसी चिन्ता थी! उस के अपने विजित और संरक्षित जनपदों में जैसे उस के सभी छोटे बड़े राजपुरुष और धर्म-महामात्य धर्म की वृद्धि के लिए जुटे हुए थे, वैसे ही विदेशों या अन्तों में जो उस के अन्त-महामात्य या राजदूत रहते थे वे भी अपने अपने अन्त का धर्मानुशासन करते थे[2]। दक्खिन तरफ़ द्रविड देश और ताम्रपर्णी के राष्ट्रों में तथा उत्तरपच्छिम तरफ़ यूनानी राज्यों में उस ने जो रास्तों पर पेड़ लगवाये तथा चिकित्सालय स्थापित कराये थे, उन से उस का प्रभाव उस समय के सभ्य जगत् की अन्तिम सीमाओं तक पहुँच गया होगा। उन चिकित्सालयों में जो भारतीय वैद्य मनुष्यों और पशुओं की मुफ़्त चिकित्सा के लिए रहते थे, वे निश्चय से उन उन राष्ट्रों की जनता में भारतीय सभ्यता के दूतों का काम करते होंगे।

इस प्रक्रम का जो फल हुआ, उसे भी हम अशोक के ही मुँह से सुन सकते हैं—"जो धर्म का विजय है उसे ही देवताओं का प्रिय मुख्य विजय

---

१. गौण शि० १।

२. स्तम्भ० १।

मानता है। और वह देवताओं के प्रिय को यहाँ ( अपने विजित में ) और सभी अन्ता में—सैकड़ों योजन परे अषो (पश्चिमी एशिया)[1] में भी जहाँ अन्तियोक नामक योन राजा है, और उस अन्तियोक के परे चार राजा हैं, तुरमय नामक, अन्तिकिन नामक, मक नामक और अलिकसुदर नामक, ( तथा ) नीचे (दक्खिन तरफ) चोड पाण्ड्य ( और ) ताम्रपर्णी वालों तक, ऐसे ही इधर राजविषयों में (या राजविषवज्रियों में), योन-कम्बोजों में, नाभक में, नाभ-पक्तियों में, भोज-पितिनिकों में, अन्ध्र-पुलिन्दों में, ( सभी जगह )—प्राप्त हुआ है। सभी जगह देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं भी जाते वे भी देवताओं के प्रिय के धर्मवृत्त को विधान को और धर्मानुशासन को सुन कर धर्म का अनुविधान (आचरण) करते हैं और करेंगे। और इस प्रकार सब जगह जो विजय प्राप्त हुआ है, वह प्रीति-रसपूर्ण है।''[2]

सीरिया के अन्तियोक दूसरे (Antiochus II Theos, २६१—२४६ ई० पू० )का साम्राज्य मौर्य साम्राज्य के ठीक उत्तरपच्छिमी छोर से सुदूर पच्छिम एशिया तक था। उस का पड़ोसी तुरमय (=प्तोलमाय, Ptolemy II Philadelphos, २८५-२४७ ई० पू० ) मिस्र में, मक ( Magas, लग० ३००—लग० २५० ई० पू०) मिस्र के पच्छिम उत्तरी अफरीका में, और अन्तिकिन

---

१ अषषु पि योजन शतेषु का अर्थ किया जाता था—छः सौ योजन पर; किन्तु जायसवाल ने उस का दूसरा अर्थ सुझाया है जो स्पष्टतः ठीक और असल अर्थ है (इं० आ० १९१८, पृ० २९७)। सर्वेषु च अन्तेषु के दो विभाग हैं—एक अषषु, दूसरा निच (नीचै ), अषषु निच के मुकाबले में है, इस लिए स्पष्टतः वह दिशावाची या देशवाची शब्द होना चाहिए।

२. प्र० शि० १३।

(Antigonos Gonatas, २७६—२३९ ई०पू०) मकदूनिया मे राज करता था। अलिकसुदर से अभिप्राय या तो यूनान के उत्तरपच्छिम और मकदूनिया के पच्छिम लगे हुए प्रदेश एपिरस के अलक्सान्दर (२७२—लग० २५५ ई० पू०) से या उत्तरी और दक्खिनी यूनान के बीच कौरिन्थ की स्थलग्रीवा के राजा अलक्सान्दर ( २५२—लग० २४४ ई० पू०) से है।

भिक्खु-संघ ने अशोक के समय धर्म्मविजय की जो चेष्टा की वह भी निश्चय से अशोक की प्रोत्साहना से ही की गई होगी। उस का वृत्तान्त बौद्ध अनुश्रुति मे इस प्रकार है—

थेर मोग्गलिपुत्त ने संगीति को पूरा कर के, अनागत ( भविष्य ) को देखते हुए प्रत्यन्तो मे शासन ( बौद्ध शासन, बौद्ध धर्म ) को प्रतिष्ठापित करने का विचार किया; और कार्त्तिक मास मे उन उन थेरों को उस उस देश मे भेजा। कश्मीर और गान्धार की तरफ मज्झन्तिक थेर को भेजा, महिषमण्डल के लिए महादेव को रवाना किया, एव रक्खित थेर को वनवास प्रदेश मे, योन (यूनानी) थेर धम्मरक्खित को अपरान्त मे, महाधम्मरक्खित को महाराष्ट्र मे, महारक्खित को योन लोक ( यूनानी जगत् ) मे, मज्झिम थेर को हिमालय के प्रदेशो मे, सोण और उत्तर थेरों को सुवर्णभूमि मे, महामहिन्द (महेन्द्र) तथा····को लंका में शासन की स्थापना करने के लिए भेजा।[1]

भारतवर्ष के राजा कातिक के महीने मे दिग्विजय के लिए निकला करते थे, इन थेरों ने भी उसी कातिक मे अपनी यात्राये आरम्भ कीं। वे भी एक प्रकार के विजय का विचार ले कर चले थे। अशोक के अभिलेखों का और अनुश्रुति का धर्मविजय-विषयक उक्त वृत्तान्त किस प्रकार एक दूसरे

---

१. महावंस १२. १—८ का सार।

की पुष्टि और व्याख्या करते है, तथा अनुश्रुति के उस वृत्तान्त की सत्यता दूसरे प्रमाणो से कैसे प्रकट हुई है, सो हम अभी देखेगे।

## § १३६. विभिन्न देशों में धर्म्मविजय की योजना और सफलता

अभिलेखो मे जिन भिन्न भिन्न अन्तो का धर्मविजय करने का और अनुश्रुति मे जिन प्रत्यन्तो मे थेर भेजने का उल्लेख है, उन पर ध्यान देने से उन विजिगीषुओ की विजय करने की एक स्पष्ट और युक्तिसगत योजना प्रकट होती है।

बुद्ध ने अपने जीवन मे जिन जनपदो मे धर्मोपदेश किया था, वे प्राचीन भारत के मध्यदेश और पूरब ( प्राची ) मे सम्मिलित थे । बुद्ध से अशोक के समय तक उन मे बौद्ध धर्म की यथेष्ट वृद्धि हो चुकी थी । उन मे प्रचारक भेजने या उन का धर्मविजय करने की अब जरूरत न थी—उलटा वही तो वे केन्द्रवर्ती देश थे जहाँ से चारो तरफ प्रचारक भेजे गये । इसी कारण अभिलेखों या अनुश्रुति मे हम उन का उल्लेख नहीं पाते।

### अ. दक्खिन भारत और सिंहल

धर्म विजय का सब से पहला क्षेत्र विन्ध्याचल के दक्खिन का भारतवर्ष था। अशोक के अभिलेख मे रठिक-पेतेणिकों का, अन्ध्र-पुलिन्दों का, तामिल राष्ट्रो का और ताम्रपर्णी अर्थात् सिंहल का उल्लेख है । रठिक-पेतेणिकों का जनपद आधुनिक महाराष्ट्र माना जाता है, और कर्णाटक भी उस के तथा तामिल राष्ट्रो के बीच बँट जाता होगा; इस प्रकार समूचा दखिन भारत अशोक के धर्मविजय मे आ गया था। अनुश्रुति के उक्त वृत्तान्त मे महाराष्ट्र, अपरान्त, वनवास और महिषमण्डल आधुनिक महाराष्ट्र और कर्णाटक को सूचित करते हैं। अपरान्त से प्रायः कोकण समझा जाता है, वनवास या वनवासी दक्खिनी मराठा देश या उत्तरी कर्णाटक का पुराना

नाम है। महिषमण्डल के विषय में बड़ा विवाद रहा है; पर अब प्रो० कृष्ण-स्वामी ऐयगर ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि वह एक तामिल शब्द एरुमैयूरान् का, जो कि ईसाब्द की पहली दो तीन शताब्दियों में दक्खिन कर्णाटक और कोडगु का नाम था, संस्कृत अक्षरानुवाद है[1]। अनुश्रुति के उक्त वृत्तान्त में आन्ध्र देश और तामिल राष्ट्रों के नाम नहीं हैं, यद्यपि अशोक ने उन का स्पष्ट उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दी ई० में चीनी यात्री य्वान च्वाङ् के समय द्रविड देश में महेन्द्र के नाम का एक विहार था[2], जिस से महेन्द्र का तामिल राष्ट्रों में जाना सूचित होता है। अनुश्रुति की इस विषय की चुप्पी का सीधा कारण यह है कि सिंहल और तामिल राष्ट्रों में परस्पर सदा लड़ाई रही है, और इसी लिए सिंहली अनुश्रुति ने उन का उल्लेख करना भी उचित नहीं समझा।

किन्तु सिंहल में बौद्ध धर्म के आने के वृत्तान्त पर उस ने खूब रंग चढ़ाया है। सिंहल में उस समय विजय के ही वंश में देवताओं का प्रिय तिस्स राज करता था। कहानी है कि जिस दिन उस का अभिषेक हुआ उसी दिन लङ्का में अनेक रत्नों की निधियाँ प्रकट हुईं, अनर्घ रत्नों से लदी अनेक भग्न नौकायें सिंहल के तट पर आ लगीं। राजा तिस्स ने उन्हें अपने दूतों के हाथ अपने मित्र राजा अशोक के पास भेंट के तौर पर भेज दिया। उन सिंहली दूतों का मुखिया तिस्स का अपना भानजा महाऽरिट्ठ था। जहाज से सात दिन में वे लोग तीर्थ (=बन्दरगाह; ताम्रलिप्ति तीर्थ—मिदनापुर जिले में आधुनिक तामलूक—से अभिप्राय है) पहुँचे, वहाँ से सात दिन में पाटलिपुत्र। अशोक ने उन का बड़ा सत्कार किया और उन्हें

---

१. बिगिनिंग्स्, पृ० ८७।

२. य्वान च्वाङ् २, पृ० २२८।

छत्र, भृङ्गार, व्यजन, उष्णीष, खड्ग, गङ्गाजल, अनवतप्त सर का जल आदि अभिषेक की सब सामग्री दे कर भेजा कि मेरे सहाय तिस्स का इस सामान से फिर अभिषेक करो। साथ ही तिस्स के लिए यह सन्देश भेजा कि मैं बुद्ध धम्म और सघ की शरण गया हूँ, तुम भी उन की शरण जाओ। वे लोग उसी रास्ते वापिस गये, और उन्हो ने सिंहल पहुँच कर फिर तिस्स का अभिषेक कराया[1]।

उधर भिक्खु-सघ की तरफ से महेन्द्र भी अपने चार साथियों के साथ सिंहल जाने को उद्यत था। उत्तरी बौद्ध अनुश्रुति महेन्द्र को अशोक का भाई कहती है, पर सिंहली वृत्तान्तो के अनुसार वह उस का पुत्र था। कुमार अशोक जब उज्जयिनी-मण्डल का शासक बनने को पाटलिपुत्र से जाता था, तब राह मे विदिशा के एक सेट्ठी की बेटी असन्धिमित्रा से उस ने विवाह किया था। उसी विवाह से महेन्द्र और सघमित्रा पैदा हुए थे। असन्धिमित्रा अब विदिशा मे ही थी। महेन्द्र पाटलिपुत्र से पहले उसी के पास गया। वहाँ उसी के बनवाये विहार मे, जो कि शायद साँची के विद्यमान बडे स्तूप का विहार था, कुछ समय रहने के बाद वह वायु मे उड कर सिंहल जा पहुँचा। अनुराधपुर के आठ मील पूरब जहाँ जा कर वह उतरा, उस पर्वत का नाम महिन्द-तल पड गया, और वह अब भी महिन्तले कहलाता है। राजा तिस्स तब शिकार पर था, उस ने वहाँ महेन्द्र का स्वागत किया, और उस का उपदेश सुन कर चालीस हजार अनुयायियो सहित बौद्ध शासन स्वीकार किया। राजकुमारी अनुला भी ५०० सहेलियों सहित भिक्खुनी होना चाहती थी, पर भिक्खुनियो की दीक्षा किसी भिक्खुनी द्वारा ही हो सकती थी। इस लिए तिस्स ने फिर अपने दूतों को मगध भेज कर महिन्द की बहन सघमित्ता को और बोधि वृक्ष की एक शाखा को लका भेजने की प्रार्थना की। कहते हैं प्रियदर्शी अशोक ने स्वयं अपने हाथ से पवित्र वृक्ष

की एक शाखा काटी, और जब उसे काटा गया, तथा गंगा द्वारा ताम्रलिप्ति पहुँचा कर जब जहाज़ पर चढ़ाया गया, तब अनेक चमत्कार हुए ।

जम्बुकोल ( सिंहल के जाफ़ना जिले मे आधुनिक सम्बिलतुरई ) बन्दरगाह पर तिस्स ने उन का स्वागत किया। संघमित्ता ने सिंहल में अपने भाई की तरह काम किया। बोधि वृक्ष की शाखा अनुराधपुर के महाविहार मे रोप दी गई, जहाँ उस से बना हुआ विशाल वृक्ष अब तक मौजूद है। संसार भर के जाने हुए पेड़ों मे से वही सब से बूढ़ा है ।

महिन्द ने एक ही साथ चालीस हज़ार पुरुषों को भले ही बौद्ध न बनाया हो, और उस की कहानी मे और भी कई कल्पित बातें भले ही मिल गई हो, तो भी इस मे सन्देह नहीं कि उस ने और उस की बहन ने सिंहल मे आर्य अष्टांगिक मार्ग की वह शाखा रोप दी जो आगे चल कर बोधि वृक्ष की शाखा की तरह एक विशाल पेड़ बन गई। महिन्तले के निकट अम्बुस्थाल स्तूप मे अब भी महिन्द की समाधि विद्यमान है।

विदिशा के पास साँची के प्रसिद्ध बड़े स्तूप के चौगिर्द की वेदिका (पत्थर की बाड़) तथा उस के तोरणों के थंभों और सूचियों (पाटियों) पर अनेक घटनाओं के चित्र पत्थर मे खुदे हुए विद्यमान हैं—वे अशोक के प्रायः डेढ़ दो शताब्दी पीछे के हैं[1]। उन मे से पूरबी तोरण पर एक दृश्य है जिस के बीच मे बोधि-वृक्ष के पीछे से अशोक का बनवाया चैत्य उठता दीखता है, दोनो तरफ जुलूस है; दाहिनी ओर हाथी पर से एक राजा उतरता है, दृश्य के दोनो किनारों पर मोर—मोरिय वंश के निशान—तथा सिंह—सिंहल के संकेत—बने हैं। उस के ऊपर के दूसरे दृश्य में गमले में एक छोटा वृक्ष, उसी प्रकार

का जुलूस, और बायीं ओर एक नगरी अकित है। भारतीय कला के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ग्रुइनवेडल ने पहले पहल यह सुझाया था कि वह अशोक के बोधिवृक्ष को शाखा काट कर भेजने का चित्र हो सकता है[1]। किन्तु अब यह माना जाता है कि उपरले चित्र मे बुद्ध का कपिलवस्तु से प्रयाण तथा निचले मे अशोक की बोधि-पूजा अकित है।

## ६. उत्तरापथ और हिमालय

अशोक के अभिलेखे मे योन-कम्बोज-गन्धार और नाभक-नाभपति के धर्मविजय का उल्लेख है, अनुश्रुति भी गन्धार और कश्मीर मे स्थविरो का एक वर्ग भेजे जाने की बात कहती है। कम्बोज का रास्ता गान्धार-कश्मीर द्वारा ही था। उस के अतिरिक्त अनुश्रुति मे हिमालय का भी नाम है, जो कि अभिलेखो मे नही है, इस अश मे दोनो मे विसवाद दीख पडता है। हिमालय से कश्मीर के दक्खिन-पूरब के हिमालय का ही अभिप्राय होना चाहिए, क्योकि कश्मीर का तो अलग उल्लेख है। इस अश मे भी स्वतन्त्र प्रमाणो से अनुश्रुति की आश्चर्यजनक पुष्टि हुई है। महावंस मे केवल हिमालय वाले वर्ग के प्रमुख मज्झिम थेर का नाम दिया है, उस की टीका मे उस के चारो साथियो—कस्सपगोत्त, दुन्दुभिसर, सहदेव और मूलकदेव—के भी नाम दर्ज है। साँची के दूसरे स्तूप के भीतर से पाये गये पत्थर के सन्दूक मे एक धातु-मजूषा मोग्गलिपुत्त की निकली, और दूसरी के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अन्दर हारितीपुत, मझिम तथा सवहेमवताचरिय (समूचे हिमालय के आचार्य) कासपगोत के नाम खुदे हैं। उस सन्दूकची मे उन पराक्रमी प्रचारको के धातु (फूल) रक्खे गये थे, और वह स्तूप उन्हीं धातुओं पर बनाया गया था। साँची से ५ मील पर सोनारी के दूसरे स्तूप मे से पाई गई

१. बुधिस्ट आर्ट इन् इंडिया (भारत में बौद्ध कला, अंग्रेज़ी अनुवाद, लडन १९०१) पृ० ७०-७२।

एक मंजूषा पर फिर उसी कासपगोत का नाम खुदा है, और एक दूसरी मजूषा पर हिमालय के दुदुभिसर के दायाद ( उत्तराधिकारी ) गोतीपुत का[1]। इन स्तूपो में से पाये गये अवशेषों से जहाँ अनुश्रुति की पूरी सत्यता सिद्ध हुई है, वहाँ यह भी प्रकट होता है कि इन प्रचारकों के कार्य को उन के समकालीन देश-भाइयों ने बड़े आदर और गौरव की दृष्टि से देखा था। महावंस मे लिखा है कि मज्झिम और उस के चार साथियो ने हिमालय के पाँचों राष्ट्रो मे[2] प्रचार किया। प्रतीत होता है कि चम्बा से जौनसार तक तथा गढ़वाल-कुमाऊँ से पूरबी नेपाल तक प्रत्येक देश मे उन्हो ने बुद्ध का और आर्य सभ्यता का सन्देश पहुँचाने का जतन किया। सोनारी के उक्त लेख से यह भी सिद्ध है कि उन थेरो का काम उन के साथ ही समाप्त न हो गया, प्रत्युत उन के उत्तराधिकारी उन के पीछे भी बाकायदा काम करते रहे। आर्यावर्त्त के सीमान्तों के धर्मविजय की वह एक सुसंगठित योजना थी।

और, हिमालय के धर्मविजय का उल्लेख अशोक के अभिलेखो मे भले ही न हो, उस की दूसरी रचनाओ से वह सिद्ध है। नेपाल की पुरानी राजधानी पातन या ललितपत्तन जो काठमाँडू से २½ मील दक्खिनपूरब है, अशोक की ही बसाई हुई है। उस के मध्य मे और चारो तरफ उस के बनवाये हुए पाँच थुबे[3] ( स्तूप ) अब तक विद्यमान हैं। अशोक की बेटी चारुमती स्वय नेपाल जा बसी थी। अपने पति देवपाल के नाम से उस ने वहाँ देवपत्तन बसाया था, और एक विहार भी जो पशुपतिनाथ-मन्दिर के उत्तर तरफ़ अब भी उपस्थित है।

---

१. कनिंगहाम—भिलसा टोप्स ( भिलसा के स्तूप ), लंडन १८५४, पृ० ११९-२०, तथा प्लेट २०, २४; ज० रा० ए० सो० १९०५, पृ, ६८१ प्र० जहाँ फ्लीट ने गोतीपुत और दायाद को दुदुभिसर का विशेषण माना है।

२. महावंस १२. ४२।

३. नेपाल में स्तूप को थुबा कहते हैं, जो उसी शब्द का प्राकृत रूप है।

दीपवस[1] मे लिखा है कि थेर मज्झिम और उस के साथियो ने हिमालय मे यक्षो के गणो मे धर्म का प्रचार किया। हम पीछे देख चुके हैं कि पूरवी सागर के द्वीपो और सिंहल मे भी यक्षो की सत्ता बताई गई है, और मैंने अपना यह मत प्रकट किया था कि वे कोई कल्पित अमानुष योनि नहीं प्रत्युत उन द्वीपो के आदिम निवासी उस मनुष्य-वंश के लोग थे जिसे अब हम आग्नेय कहते हैं[2]। यहाँ यक्ष हिमालय के निवासी बताये गये हैं। पौराणिक साहित्य मे भी हिमालय को सदा उन का घर बताया जाता है। इन दोनो बातो मे परस्पर-विरोध नहीं, उलटा अत्यन्त संगति है। हम देख चुके हैं कि भाषाविज्ञान की आधुनिक खोज से भी हिमालय की बोलियों मे आग्नेय तलछट पाया गया है[3]। और उन बोलियो के जिस सर्वनामाख्यातिक वर्ग मे वह तलछट सर्वथा स्पष्ट रूप से उपस्थित है, उस के एक किरांत या पूरवी उपवर्ग का उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है[4]। ठीक उसी उपवर्ग मे याखा नाम की एक बोली आज भी विद्यमान है, जो यक्ष नाम की याद दिलाती है[5]। किन्तु ऐसा जान पडता है कि यक्ष शब्द प्राचीन काल मे केवल आजकल के याखा लोगो के पूर्वजों के लिए नहीं, प्रत्युत एक व्यापक जातिवाचक शब्द के रूप मे आग्नेय वंश की अनेक जातियो के लिए बर्त्ता जाता था। हिमालय की जो नेवारादि बोलियाँ आज असर्वनामाख्यातिक हैं—आग्नेय प्रभाव जिन मे स्पष्ट नहीं दीख पड़ता, वे भी कुछ समय पहले सर्वनामाख्यातिक थीं—तब उन मे वह प्रभाव स्पष्ट था[5]। इस लिए

---

१. ८. १०।

२. ऊपर §§ ८२, ८४ उ—पृ० ३१८, ३२९-३०।

३. ऊपर § १९—पृ० ७४।

४. ऊपर § २२—पृ० ७९।

५. भारतभूमि पृ० ३०६-७।

सम्भवतः तब नेवारो के पूर्वज भी यक्ष कहलाते थे। इस प्रकार नेपाल के प्राचीन मुख्य निवासी नेवारो मे आर्यावर्त्ती संस्कृति का प्रवेश अशोक के समय ही शुरू हुआ।

अशोक ने अपने धर्मविजय की चर्चा के प्रसग मे हिमालय का उल्लेख क्यों नहीं किया, इस की व्याख्या अभी की जायगी।

## उ. यूनानी जगत्

योनों के देश मे प्रचारक भेजने का उल्लेख अनुश्रुति साधारण रूप से करती है, पर अभिलेख विस्तार के साथ उन सब राज्यो के नाम बतलाते हैं, और उन मे चिकित्सालय खोले जाने और सड़को पर पेड़ रोपे जाने की बात भी उन से निश्चित होती है। उन राज्यों की स्थिति पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि अशोक ने अपने समय के समूचे सभ्य जगत् का अन्तिम सीमाओ तक धर्मविजय करने की चेष्टा की थी। उस समय के संसार में तीन ही बड़ी सभ्य स्वाधीन जातियाँ थीं—यूनानी, भारतीय और चीनी। चीन के धर्मविजय का जतन अशोक ने क्यो न किया, उस का कारण हम अभी देखेगे। फारिस और अन्य सब पच्छिमी जातियो पर तब यूनानी राज्य कर रहे थे; और उन के राज्य मौर्य साम्राज्य की सीमा से मिस्र यूनान और मकदूनिया तक फैले हुए थे। यूनान के पच्छिम और उत्तर जो देश थे, वे उस समय के सभ्य जगत् की सीमा के बाहर थे; उन मे से केवल रोमनों ने अशोक के समय के लगभग यूनानियो से सभ्यता सीखना शुरू किया था; किन्तु तब भी वे सभ्य जगत् के दायरे मे न आये और दूसरे सभ्य देशों से परिचित न हुए थे।

पच्छिमी जगत् में अशोक के धर्मविजय के प्रक्रम का क्या कुछ प्रभाव भी हुआ? इस बात की पूरी सम्भावना है कि हुआ। अशोक के समकालीन

मिस्र के यूनानी राजा तुरमय (Ptolemy Philadelphos) ने सिकन्दरिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय की स्थापना या वृद्धि की थी, और यह विदित है कि वह भारतीय ग्रन्थो के अनुवाद कराने को उत्सुक था[1]। अशोक के कुछ समय बाद यहूदियो के देश ( जूडिया, फिलिस्तीन ) मे धार्मिक जागृति की एक नई लहर चल पडी, और लगभग अढाई सौ बरस बाद वहाँ भगवान् ईसा का आविर्भाव हुआ। न केवल ईसू मसीह की शिक्षा मे बुद्ध की शिक्षा की पूरी छाप है, प्रत्युत दोनो धर्मो की गाथाये भी बहुत मिलती हैं, और उन के क्रियाकलाप और पूजा-पाठ आदि की पद्धति मे भी इतनी समानता थी कि तिब्बत के बौद्ध विहारो को देख कर आधुनिक युरोपी यात्री पहले-पहल उन्हे रोमन कैथोलिक गिर्जे समझ बैठे थे। भगवान् ईसा के समय जूडिया मे ईसीन तथा मिस्र मे थेराप्यूत नाम के विरक्त लोग रहते थे, जिन की शिक्षा का ईसा पर बडा प्रभाव हुआ था। ये ईसीन और थेराप्यूत लोग कौन थे, इस की पूरी जाँच नही हुई, पर इतना मालूम है कि वे पूरब के रहने वाले थे और धर्मोपदेश के साथ साथ चिकित्सा भी करते थे। उन्हीं के नाम से पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र का एक अङ्ग अब तक थेराप्यूतिक्स कहलाता है। इन थेराप्यूतों का जीवन भारतवर्ष के थेरों (स्थविरो, भिक्षुओ) से बहुत अधिक मिलता था। क्या वे अशोक के समय पच्छिम गये हुए भिक्षुओ और चिकित्सकों के उत्तराधिकारी न थे? यूनानी विचार और विज्ञान पर तथा ईसाई धर्म पर भारतीय प्रभाव कहाँ तक हुआ है, इस की बारीकी से खोज करने की जरूरत है। किन्तु जो भी हो, ईसाई धर्म पर बौद्ध छाप है सो साधारण रूप से सभी को मानना पड़ता है; और उस धर्म की जन्मभूमि मे भगवान् ईसा के समय से कुछ ही पहले अशोक के प्रक्रम से बौद्ध प्रभाव पहुँचा था, यह देखते हुए उस प्रक्रम को सफलता स्वीकार करनी पडती है।

---

१. भण्डारकर—अशोक, पृ० १९८।

## ऋ. चीन और सुवर्णभूमि

भारतवर्ष के पच्छिम तरफ जैसे यूनानी जगत् था वैसे ही पूरब तरफ़ चीनी जगत् जिस की सभ्यता मिस्र और बावेरु (बाबुल) की तरह पुरानी थी। यह ध्यान देने की बात है कि अशोक अपने अभिलेखों मे जहाँ यूनान और अफ़रीका तक के यूनानी राज्यों मे धर्मविजय पाने का उल्लेख करता है, वहाँ चीन का नाम भी नहीं लेता। उस का कारण यह है कि भारतवर्ष और पच्छिमी देश तब तक चीन को जानते ही न थे, और जानते भी तो किसी और नाम से जानते क्योंकि चीन नाम तब तक चला न था। चीनी सभ्यता को असल जन्मभूमि याङ्च्चे क्याङ और पीली नदी (ह्वाँग हो) के काँठो मे करीब आठवी शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य तक जो कई छोटे छोटे राज्य थे, उन राज्यो मे से एक का नाम था चीन, और वह आधुनिक चीन देश के उत्तरपच्छिमी भाग मे था। उस चीन के एक राजा ने पहले-पहल २४६ ई० पू० मे दूसरे सब छोटे राज्यो को अपने अधीन किया, और अपना नाम शी-हुआंग-ती अर्थात् पहला सम्राट् रक्खा। उस के बाद से उस के समूचे साम्राज्य को भारतवासी उसी तरह चीन कहने लगे जैसे भारतवर्ष को विदेशी लोग हिन्द। और भारतवासियों से चीन का पता पच्छिम के लोगों को मिला।

चीन और भारतवर्ष के लोगों को इतने समय तक एक दूसरे का स्पष्ट पता न था[1] उस का कारण यह था कि उन दोनो के बीच तिब्बत का पठार और परले हिन्द का प्रायद्वीप पडता है, और उस पठार तथा उस प्रायद्वीप मे उस समय तक निरे जगली लोग रहते थे। अशोक के तीन चार शताब्दी बाद परले हिन्द के किनारे किनारे घूम कर, तथा नौ शताब्दी बाद तिब्बत के

---

१. किन्तु दे० ❀ २१।

अन्दर से, भारतवर्ष और चीन का परस्पर सम्बन्ध हो पाया। हमारा आसाम प्रान्त तथा चीन का दक्खिनपच्छिमी युइनान प्रान्त एक दूसरे के बहुत नजदीक दीखते हैं। आसाम का नाम दूसरी शताब्दी ई० पू० से प्राग्ज्योतिष था[1], किन्तु मौर्य काल तक प्राग्ज्योतिष राज्य की स्थापना शायद न हुई थी, और आसाम तक आर्य राज्यों का प्रभाव मुश्किल से पहुँचता था। अर्थ-शास्त्र मे पारलौहित्यक अर्थात् ब्रह्मपुत्र पार से आने वाली किसी वस्तु का उल्लेख है[2], किन्तु उन देशों से आर्य्यों का तब तक शायद केवल व्यापार-सम्बन्ध ही था, और वही उन की पहुँच की अन्तिम सीमा थी। दूसरी तरफ़ अशोक के समय तक चीनी राज्यो की दक्खिनी सीमा भी नानलिंग्—अर्थात् दक्खिनी पर्वत—तक ही थी। उस के दक्खिन आधुनिक काङ प्रान्तों में भी तब जंगली लोग रहते थे जिन्हे चीन वाले युई कहते थे, और युइनान तो चीन मे तब तक था ही नहीं। इस प्रकार प्राचीन आर्यावर्त्त के उत्तर-पूरबी और प्राचीन चीन के दक्खिनपच्छिमी सीमान्तो मे बड़ा अन्तर था। उस दशा मे आजकल भारत और चीन के बीच जो सब से कठिन रास्ता दीखता है, प्राचीन काल मे वही सब से सुगम था। चीन का उत्तरपच्छिमी प्रान्त कानसू और भारत का कम्बोज देश एक दूसरे के करीब थे। दूसरे, चीन की राजधानी भी तब समुद्रतट पर नहीं, प्रत्युत उत्तरपच्छिम मे, कानसू के नजदीक ही थी, उस का नाम सिङान-फ़ू था, वह अब शेन-सी प्रान्त की मुख्य नगरी है। कानसू और कम्बोज के बीच शकों-तुखारों का देश था और वहीं पहले-पहल अशोक के समय से कुछ पीछे भारतीय और चीनी लोग परस्पर मिलने लगे[3]।

---

१. दे० नीचे ❀ २८।

२. अर्थ० पृ० ७८, प० २०।

३. दे० नीचे §§ १६०,१६१,१७२ और ❀ २८।

चीन के अतिरिक्त सुवर्णभूमि का नाम भी अशोक के अभिलेखो में नहीं है। अनुश्रुति कहती है कि सुवर्णभूमि मे शोण और उत्तर थेर भेजे गये, वहाँ उन्हे राक्षसो से वास्ता पड़ा, और उस देश मे चारों तरफ आरक्ख (रक्षा-प्रबन्ध) की स्थापना भी उन्हीं ने की[1]। सुवर्णभूमि से बाद मे समूचा परला हिन्द या उस का मुख्य अश समझ जाने लगा था, किन्तु अशोक के समय तक उस के केवल पच्छिमी छोर से ही भारतवासियो का सम्पर्क रहा होगा, और उक्त थेर सम्भवत: आधुनिक बरमा के पगू-मोलमोन जिलो मे ही गये होगे। पूरबी हिमालय और सुवर्णभूमि दोनो मे उस समय किरात और आग्नेय जातियाँ अपनी आरम्भिक जगली दशा मे रहती थीं। सम्भवत: उन मे धर्म का सन्देश ले जाने की कोई राजकीय चेष्टा न हुई हो, वह शायद संघ का अपना प्रक्रम रहा हो। दूसरे, राज्य की तरफ से कोई चेष्टा हुई भी हो तो वह उन जातियो को आरम्भिक सभ्यता सिखाने की ही होगी, और योन और तामिल सभ्य राष्ट्रो के धर्मविजय के साथ उस का उल्लेख करना उचित और सगत न होता। अशोक के समय मे कोई यह अन्दाज़ न कर सकता था कि सभ्यता का जो बीज तब सुवर्णभूमि मे बोया जा रहा था, वह किसी दिन एक विशाल वृक्ष बन खड़ा होगा। किन्तु चौथी और छठी शताब्दी ई० के लेखको ने जब परम्परागत अनुश्रुति का संकलन किया, तब तक वह वृक्ष समूचे परले हिन्द पर अपनी छाँह फैला चुका था; और इसी लिए तब उस के मूल बीज का महत्त्व पहचान कर उस का उल्लेख करना स्वाभाविक था। इस प्रकार धर्मविजय-सम्बन्धी अभिलेखो और अनुश्रुति मे परस्पर कोई विसंवाद नहीं है; उलटा वे एक दूसरे की व्याख्या और पुष्टि करते हैं।

महाजनपद-युग मे पहले-पहल सुवर्णभूमि मे भारतीय परिब्राहक (भौगोलिक खोजी) और व्यापारी जाने लगे थे[2], अशोक के समय अब

---

१. महावंस १२. ४१। आरक्खक शब्द के लिए दे० ऊपर § ८४ इ।

२. ऊपर § ८२।

वहाँ भारतीय धर्म-प्रचारक पहुँचने लगे जिन्हों ने उस देश मे आरक्ख की स्थापना की। उस के बाद वे देश किस प्रकार भारतवर्ष क उपनिवेश बन गये, सो हम आगे देखेंगे।

## § १३७. अशोक की नीति और कृति की आलोचना

अपने पडोसियों से बर्त्तने की एक बिलकुल नई और अनोखी नीति अशोक ने जारी की थी। हम ने उसी के शब्दों में उस का तत्त्व समझने का जतन किया है। वह नीति अच्छी थी या बुरी? अब तक अनेक दृष्टियों से उस की अनेक प्रकार की आलोचना की जा चुकी है। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि भारतवर्ष के राष्ट्रीय जीवन और इतिहास पर उस नीति का क्या प्रभाव हुआ।

बिन्दुसार का साम्राज्य शीर्षक एक लेख के अन्त मे श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल प्रसगवश इस प्रश्न पर यो लिखते हैं—"यदि अशोक राजनीति मे धर्मभीरु न बन जाता तो (बिन्दुसार के समय तक मौर्य साम्राज्य मे शामिल होने से) बचे हुए (भारतीय) जनपदों का क्या होता सो अनुमान करना कठिन नहीं है। यदि वह अपने पूर्वज की नीति को जारी रखता तो वह फ़ारिस के सीमान्त से कन्या कुमारी तक समूचे जम्बुद्वीप को वस्तुतः एकच्छत्र राज्य के अधीन कर सकता था;—वह आदर्श तब से आज तक चरितार्थ नहीं हो पाया, इतिहास का एक विशेष सुयोग होने पर एक ऐसे मनुष्य के, जो स्वभाव से एक महन्त की गद्दी के लिए उपयुक्त था, अकस्मात् राजसिहासन पर उपस्थित होने से (उस आदर्श की पूर्ति की) घटना शताब्दियों के लिए नहीं सहस्राब्दियों के लिये पिछड़ गई।"[1]

---

१. ज० बि० ओ० रि० सो० १९१६, पृ० ८३।

डा० देवदत्त रा० भण्डारकर भी श्रीयुत जायसवाल के समान भारतीय इतिहास और पुरातत्व के इने-गिने आचार्यों मे से हैं। वे अशोक के बड़े प्रशसक हैं। ससार के इतिहास के अनेक बड़े बड़े प्रसिद्ध राजाओ और सम्राटों—सिकन्दर, सीजर, कान्स्टैन्टाइन, नैपोलियन आदि—को वे उस के मुकाबले मे तुच्छ मानते हैं, तो भी भारतवर्ष के राजनैतिक और राष्ट्रीय जीवन पर अशोक को नीति का प्रभाव उन्हो ने जिन शब्दो मे चित्रित किया है, उन मे जायसवाल जी के उक्त विचारो की ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है। वे कहते हैं—

"हम सब जानते हैं कि बिम्बिसार के समय का बिहार का छोटा सा मगध राज्य किस प्रकार चन्द्रगुप्त के समय हिन्दूकुश से तामिल देश की सीमा तक विस्तृत मगध साम्राज्य बन गया था। स्वय अशोक ने भी एक समय कलिग प्रान्त को जीत कर उस केन्द्राभिगामी (centripetal) प्रवृत्ति को, जो बिम्बिसार ने शुरू की थी, बढ़ाया था। यदि धम्म का भूत उस के मन पर सवार न हो गया होता, और उस (भूत) ने उस (अशोक) का बिलकुल रूपान्तर न कर दिया होता, तो मगध की अदम्य सामरिक वृत्ति और अद्भुत राजनीति ने भारत के दक्खिनी छोर के तामिल राज्यो और ताम्रपर्णी पर हमला कर के और उन्हे अधीन कर के ही दम लिया होता; और शायद वे तब तक शान्त न होतीं जब तक भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर रोम की तरह एक साम्राज्य स्थापित न कर लेतीं। भारतवर्ष मे आर्य्य सत्ता की स्थापना अशोक से बहुत पहले पूरी हो चुकी थी। भारतवर्ष की विभिन्न जातियो का आर्य रंग मे रँगा जाना वैसा ही था जैसा यूनानियो से भिन्न जातियो का यूनानी रंग मे रँगा जाना। आर्य भाषा और जीवन-पद्धति लगभग समूचे भारत मे व्याप्त हो चुकी थी, और आर्यों की राष्ट्रभाषा—पालि—भी अपनाई जा चुकी थी। विभिन्न भारतीय नस्लो को एक राष्ट्र—प्रत्युत एक साम्राज्य-पद्धति—मे ढाल देने की सामग्री वहाँ उपस्थित थी। उस चरम सीमा तक पहुँचने को यदि किसी बात की जरूरत थी तो राजनैतिक स्थिरता की,

राजनैतिक एकता की। अशोक ने यदि केवल अपने पूर्वजो की नीति जारी रक्खी होती, और बिम्बिसार के समय शुरू हुई केन्द्राभिगामी शक्तियों को सहारा दिया होता, तो वह अपनी शक्ति और शासन-योग्यता से मगध साम्राज्य का सगठन दृढ कर देता, और उस राजनैतिक स्थिरता को निश्चित कर देता। किन्तु उस ने कलिग-युद्ध के शीघ्र बाद, अर्थात् ठीक उस घटना के बाद जो कि उस स्थिति के दूसरे राजाओ को उस अवसर पर विश्व-राज्य स्थापित करने को उत्तेजित करती, एक दूसरी विदेशी नीति जारी कर दी। युद्ध के विचार से भी अशोक उस के बाद घृणा करने लगा। ... इस नीतिपरिवर्त्तन का, दिग्विजय का स्थान धर्मविजय को दे देने का, परिणाम आध्यात्मिक दृष्टि से भले ही उज्ज्वल रहा हो, राजनैतिक दृष्टि से विनाशकारी हुआ। भारतवासियो के स्वभाव मे ही शान्ति-प्रेम और आध्यात्मिक उन्नति के पीछे मरने की आदत पैदा हो गई और जम गई। ...अशोक की नई दृष्टि ने भारतवासियो की केन्द्र-ग्रथित राष्ट्रीय राज्य और विश्व-साम्राज्य की भावनाओं का मार दिया[1]।

फिर "... ऐसा प्रतीत हाता है कि अशोक की धर्म-चेष्टाओ से भारतवर्ष की राष्ट्रीयता और राजनैतिक गौरव नष्ट हो गये।"[2]

यह आलोचना केवल जायसवाल और भण्डारकर के नहीं प्रत्युत आजकल के साधारण प्रचलित विचार को सूचित करती है। किन्तु इस की जड़ मे एक भ्रान्त दृष्टि तथा तुलनात्मक इतिहास का एक गलत अन्दाज है।

किसी एक महापुरुष की सनक या करतूत से एक समूची जाति का स्वभाव और उस के इतिहास का मार्ग ही हमेशा के लिए नहीं बदल सकता।

---

१. अशोक, पृ० २४२—४४।

२. वहीं, पृ० २४७।

यदि तीसरी शताब्दी ई० पू० के भारतवासियों मे अपने समूचे देश को एक साम्राज्य मे लाने की और उस समय के अपने पड़ोसी विदेशों को भी उस मे सम्मिलित करने की आकाङ्क्षा योग्यता और क्षमता—'सामरिक वृत्ति' और राजनैतिक प्रतिभा—थी, तो अशोक के दबाये वह दब न सकती थी। वह क्षमता और प्रतिभा अशोक को गद्दी से उतार फेंक सकती थी, जैसे उस ने नन्द को उतार फेंका था, या अशोक के आँख मूँदते ही फिर प्रकट हो सकती थी। एक आदमी के दबाये जो राष्ट्रीय स्वभाव दब या बदल जा सकता है, उस में साम्राज्य खड़े करने की प्रतिभा और क्षमता रही हो, सो मानना असम्भव है।

दूसरे प्रो० भण्डारकर का यह विचार प्रतीत होता है कि भारतवासी रोमन साम्राज्य की तरह एक साम्राज्य—जिस मे उन का अपना समूचा देश और बाहर के कुछ पड़ोसी देश भी सम्मिलित होते—खड़ा न कर सके, वे भारतवर्ष मे वह राजनैतिक एकता और स्थिरता न पैदा कर सके जिस से यह देश एक राष्ट्र—बल्कि विश्व-साम्राज्य का केन्द्र—बन जाता, और काश कि ठीक उस समय जब कि वे ऐसा करने वाले थे अशोक के सिर पर धर्म का भूत सवार न हो गया होता! नहीं तो वे ज़रूर किसी अंश मे रोमनों से कम न रहते।

किन्तु क्या यह सच है? रोम या इटली को भारतवर्ष से तुलना करना ग़लत है। रोम पाटलिपुत्र की तरह केवल एक नगरी थी, और इटली मगध की तरह एक जनपद; मगध का भारतीय साम्राज्य रोम के साम्राज्य की तरह—प्रत्युत उस से अधिक विस्तृत, अधिक आबाद, और कहीं अधिक सुसंगठित सम्पन्न तथा समृद्ध—था। दूसरी शताब्दी ई० के आरम्भ मे अपने चरम उत्कर्ष के समय भी रोम-साम्राज्य विस्तार और क्षेत्रफल में चार शताब्दी पहले के मौर्य साम्राज्य का मुश्किल से मुकाबला कर सकता था। जनसंख्या मे वह उस से कहीं छोटा रहा; और आर्थिक और व्यावसायिक समृद्धि में वह तब भी भारतवर्ष के सामने निरा कंगाल

रहा, तब भी उस के राजनीतिज्ञ इस बात को रोते रह गये कि भारतवर्ष अपनी कारीगरी की चीजे भेज कर हर साल रोम से रुपया खींचता जाता है।[1] इटली की राष्ट्रीय एकता की तुलना यदि करनी हो तो मगध या वृजिसघ या कलिंग या आन्ध्र की राष्ट्रीय एकता से करनी होगी। उन के विषय मे हम बहुत नहीं जानते, पर कलिंग ने मगध का जैसा मुकाबला किया था, और एक बार नन्दो की और फिर मौर्यो की अधीनता से जिस प्रकार गर्दन छुडा ली थी, उस से जान पडता है कि राष्ट्रीय जीवन की भारतवर्ष के जनपदो मे भी कुछ कमी न थी। और समूचे भारतवर्ष मे मौर्य साम्राज्य ने और उस के उत्तराधिकारी साम्राज्यो ने जो राजनैतिक एकता और स्थिरता बनाये रक्खी, तथा जो राष्ट्रीय जीवन की एकता किसी अश तक पैदा कर दी, वह उस से निश्चय से कही अधिक थी जो कि समूचे रोम-साम्राज्य या उस के उत्तराधिकारियो ने अपने क्षेत्र मे बनाये रक्खी या पैदा की। बेशक आज भारतवासियो मे राष्ट्रीय जीवन की एकता और राजनैतिक चेतना नहीं है, आज वे गुलाम हैं, किन्तु उस गुलामी का क्या यही कारण है कि भारतवर्ष के छोटे छोटे प्रदेश परस्पर मिलना नहीं जानते? और इस कारण नहीं जानते कि उन्हे अपने पिछले इतिहास मे मिल कर एक राष्ट्र बनने की आदत नही पडी? क्या उन छोटे छोटे प्रदेशो मे भी कोई सामूहिक चेतना है? इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके है[2], और इसे फिर से उठाने की जरूरत नही। किन्तु इतनी बात निश्चित प्रतीत होती है कि भारतवर्ष के इतिहास मे मौर्यों के समय से जो बड़े बड़े एकराज्य स्थापित होते रहे, उन मे से प्रत्येक के क्षेत्रफल, जनसख्या और जीवन-काल की तुलना युरोप के इतिहास के आधुनिक युग से पहले तक के राज्यो से की जाय, तो राज-

---

१. नीचे § १६३ अ।

२. § २५।

नैतिक स्थिरता और राजनैतिक एकता के उक्त हिसाब मे भारतवर्ष ही बाजी ले जायगा।

रोम या इटली की सीमा के बाहर रोम-साम्राज्य का फैलना और भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर भारतीय साम्राज्य का फैलना एक पाये को बातें नहीं है। तो भी हम यह देखेंगे कि अशोक के चार पाँच शताब्दी पीछे तक भारतवासियो ने समूची सुवर्णभूमि और सुवर्ण-द्वीपो को परला हिन्द, तथा सीता और तरीम के काँठो को उपरला हिन्द बना ही डाला[1]। और विचार करने पर यह पाया जायगा कि अशोक की धम्म-विजय की नीति उन उपनिवेशों की बुनियाद रखने मे बड़ी सहायक रही। भारनवर्ष और बृहत्तर भारत के वे सब राज्य और उपनिवेश मिल कर शायद कभी एक अकेले साम्राज्य मे सम्मिलित नहीं रहे; किन्तु प्राचीन युग के साधनो और हथियारों से क्या उतना बड़ा साम्राज्य खड़ा करना कभी सम्भव भी था?

तो भी, क्या यह अच्छा न होता कि अशोक ने कम से कम तामिल राष्ट्रों और ताम्रपर्णी (सिंहल) को मौर्य साम्राज्य मे मिला लिया होता? बेशक यदि वह चाहता तो उन्हें जीत लेना असम्भव न होता, किन्तु शायद उन के लिए वही कीमत देनी पड़ती जो कलिंग के लिए देनी पड़ी थी। डा० भण्डारकर ने स्वयं सिद्ध किया है[2] कि पाण्ड्य राज्य एक आर्य उपनिवेश था, जो अशोक के समय से करीब दो शताब्दी पहले स्थापित हुआ था। ताम्रपर्णी भी निश्चय से उसी तरह का उपनिवेश था, और चोल, चेर (केरल) और सतियपुत्र भी सम्भवतः। नये और दूर के उपनिवेश पुराने राष्ट्रो की अपेक्षा सदा अधिक जानदार और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अधिक तत्पर

---

१. नीचे §§ १७५, १७६, १८८ आदि।

१. ऊपर § १०५ और * २४।

होते हैं। वे कम से कम कलिंग की तरह मौर्यों का मुकाबला करते, इस मे सन्देह नहीं। और उन के मौर्य विजित मे शामिल हो जाने का फल क्या निकलता ? फल यही होता कि समूचा भारतवर्ष एकराज्य बन जाता, जिस से उस में एक समान कानून, समान व्यवहार और एक-राष्ट्रीयता का विकास होना अधिक सुगम हो जाता। किन्तु क्या ये सब लाभ अशोक ने अपने धम्मविजय से ही न पा लिये थे ? क्या उस का धम्मविजय एक 'शान्तिमय दखल (peaceful penetration)' न था ? यदि वह अपने प्रभाव और रोबदाब से ही पड़ोसी राज्यों मे अपने राज्य की तरह सब काम करवा सकता था, तो उसे व्यर्थ में हत्या करने की और स्वाधीनताप्रेमी छोटे छोटे राष्ट्रो को साम्राज्य का जानी दुश्मन बना लेने की जरूरत क्या थी ?

व्यक्ति और छोटे समूहो की स्वाधीनता और बड़े राष्ट्र की राष्ट्रीयता दोनो अच्छे आदर्श हैं, किन्तु दोनो मे सदा से कशमकश रही है। दोनों की अति बुरी है। व्यक्ति और छोटे समूह बडे राष्ट्रो के अधीन होना न सीखे तो वे कूपमण्डूक बन जाते हैं। दूसरी तरफ़, बड़े राष्ट्रों की एकराष्ट्रीयता की साधना में व्यक्तियो और समूहों की स्वतन्त्रता बिलकुल कुचल दी जाय तो मनुष्य की मनुष्यता नष्ट हो जाती है। राष्ट्रीयता और एकराज्य का भाव इतिहास मे केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति पैदा करता है, और स्वाधीनता का भाव केन्द्रापमुखी। जिन्दा जातियो के इतिहास मे उन दोनो प्रवृत्तियों का प्रतितुलन बराबर होता रहता है।

चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार को युद्धों से ही फ़ुरसत मुश्किल से मिली होगी। अर्थशास्त्र से हमे इस बात को कुछ झलक मिलती है कि छोटे छोटे जनपदों के संघों को तोड़ने के लिए उन्हे कैसे विकट साधनो का प्रयोग करना पड़ा था[1]। यह निश्चय मानना चाहिए कि उन परास्त जनपदों का

---

१. नीचे §§ १४२, १४३।

असन्तोष बहुत जल्द साम्राज्य के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया और विद्रोह पैदा कर देता यदि अशोक ठीक मौके पर क्षमा और शान्ति की घोषणा न कर देता। उस की उस गौरव के समय सयम की नई नीति ने देश की 'राजनैतिक स्थिरता और राजनैतिक एकता' को ढीला करना दूर, उसे उलटा पुष्ट किया। साम्राज्यो का संगठन सदा शस्त्रो और दण्ड से ही नहीं होता, समय समय पर उन्हें साम की अधिक अपेक्षा होती है। दण्ड के ज़ोर पर बहुत से जनपदों के एक राज्य के अधीन जुते रहने से ही उन मे एकराष्ट्रीयता पैदा नहीं हो जाती; शान्ति की नीति से अनेक साधनो से उन मे जो आन्तरिक एकता उत्पन्न की जाती है, वही एकराष्ट्रीयता की पक्की बुनियाद होती है। उस प्रकार की आन्तरिक एकता पैदा करना अशोक की विशेष नीति रही प्रतीत होती है। उसे व्यवहार-समता और दण्ड-समता अभीष्ट थी। अपने सीधे शासित प्रदेशों के अन्दर उस ने जो सुधार किये सो किये, किन्तु अपने अधीन जनपदों—योन कम्बोज रठिक आन्ध्र आदि—मे भी उस ने धम्ममहामात नियुक्त कर दिये, जिन का काम सब जगह कानून और व्यवहार (न्याय) की प्रक्रिया को एक समान मृदु बनाना था। यदि दण्ड के ज़ोर पर अशोक अपने इन अधीन जनपदों के कानून और प्रथा मे इस प्रकार दखल देता, तो शायद वे उलटा विद्रोह करने को प्रवृत्त होते।

इस के अतिरिक्त एक और प्रकार से अशोक के प्रक्रम के कारण भारतवर्ष की आन्तरिक एकता और एक-राष्ट्रीयता जैसे बढ़ी, उसे स्वय डा० भण्डारकर ने सब से पहले पहचाना है। वे कहते हैं—"उस (अशोक) के समय तक समूचा भारत आर्य हो चुका था। किन्तु विभिन्न प्रान्तो की अपनी अपनी विभिन्न बोलियाँ थीं। किन्तु उस ने अपने धर्म के प्रचार के लिए जो भारी प्रयत्न किये, उन से एक प्रदेश और दूसरे प्रदेश के अन्दर यातायात बढ़ गया और चुस्ती से होने लगा, और एक समान भाषा की—एक ऐसी भाषा की जो सब प्रान्तो मे पढ़ी और समझी जाय, और न केवल साँसारिक प्रत्युत धार्मिक विषयो मे भी विचार-विनिमय का माध्यम बन

जाय—सब जगह जरूरत अनुभव की जाने लगी। इस प्रकार पालि अथवा अभिलेखो वाली प्राकृत भारतवर्ष को राष्ट्रभाषा स्वीकार की गई।"[1]

और जहाँ अपने साम्राज्य के अन्दर अशोक ने यह कुछ किया, वहाँ बाहर क्या किया? उस का धम्मविजय क्या चीज थी? उस ने अपने पडोस और दूर के विदेशो के अन्दर अपने चिकित्सालय खुलवा दिये, सडको पर पेड़ रोपवा दिये तथा उदपान (कुएँ और बावड़ियाँ) खुदवा दिये। नहीं जानते यह सब ठीक ठीक कैसे हुआ, किन्तु वे चिकित्सालय आदि क्या विदेशो मे उस का प्रभाव फैलाने वाले केन्द्र न थे? जैसा कि अभी कहा गया है, क्या उस की धम्मविजय की नीति वही चीज नहीं है जिसे हम आजकल की राजनैतिक परिभाषा मे शान्तिपूर्वक दखल कहते हैं? अपने प्रभाव और दबदबे से जहाँ हाथ डाला जा सके, वहाँ व्यथ मे युद्ध क्यों किया जाय?

अशोक के वचना और कार्यो पर जरा भी ध्यान दे तो वह एक सधा हुआ साम्राज्यवादी दिखाई देता है। उस का नीतिपरिवर्त्तन 'मगध की अद्भुत राजनीति' की केवल एक नई और अत्यन्त समयोचित अभिव्यक्ति थी। किन्तु वह परिवर्त्तन सहज सयानेपन से प्रेरित एक सच्चा आन्तरिक परिवर्त्तन था। उस की और आजकल के शान्ति-पूर्वक दखल करने वाले साम्राज्यकामी राजनीतिज्ञो की बातो और बर्त्ताव मे केवल यही फरक है कि आजकल के उन राजनीतिज्ञो की कृति और उक्ति मे जहाँ स्पष्ट मक्कारी झलक जाती है, वहाँ अशोक का बुरे से बुरा दुश्मन भी नहीं कह सकता कि उस की बातो पर सरल सचाई की छाप नहीं है।

फिर जब मौर्य साम्राज्य की रोम-साम्राज्य से तुलना की गई है तब इस बात को याद दिलाना भी मनोरंजक होगा कि अशोक ने तेरहवे शिलाभिलेख

---

१. अशोक, पृ० २३५।

में अपने उत्तराधिकारियों को नये विजय न करने का जैसा आदेश दिया है, कुछ उस से मिलता जुलता आदेश रोम के पहले सम्राट् ऑगस्त (Augustus) के प्रसिद्ध अंकुरा (आधुनिक अगोरा)-अभिलेख में भी है। ९ ई० में त्यूतोबर्जर्वाल्ड में जर्मनों से हारने पर ऑगस्त ने यह समझ लिया कि रोम-साम्राज्य की सीमायें एल्ब नदी तक नहीं पहुँचाई जा सकतीं, और इसी लिये अपने उक्त अभिलेख में—जिस की एकमात्र प्रति अब अंकुरा में बची है—उस ने अपने वंशजों को यह वसीयत की कि साम्राज्य को और अधिक बढ़ाने के जतन न किये जाँय। क्या यह आदेश अशोक के आदेश के समान नहीं है ? दोनों में भेद केवल यह है कि अशोक का आदेश जहाँ एक आन्तरिक अनुशोचन और धर्मवेदना के कारण है, वहाँ ऑगस्त का अपनी हार के अनुभव के कारण। उस धर्मवेदना के कारण अशोक ने जो अनेक सुधार किये उन में से एक था समाजों अर्थात् पशुओं की लड़ाइयों को रोकना। प्राचीन रोम भी अपने उस प्रकार के समाजों के लिए बदनाम है; और जिन आधुनिक भारतीय आलोचकों के मन में यह विश्वास सरकता प्रतीत होता है कि अशोक की उस विहिंसा-निषेध की नीति से भारतवासियों की क्षात्र शक्ति क्षीण होने लगी, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि रोम-साम्राज्य के पतन के मुख्य कारणों में रोमन जनता का समाजों का व्यसन भी गिना जाता है। विहिंसा या भोंडी क्रूरता और वीरता कभी एक वस्तु नहीं हैं, और गौरव के समय जो मनुष्य या राष्ट्र संयम करना नहीं सीखते उन का पतन उलटा जल्दी होता है। रोमन लोग अपने गौरव-काल में भी जहाँ अपने उजड्डपन को न रोक सके, वहाँ भारतवासियों ने अपने गौरव के समय अपनी सहज मानव उच्चता के कारण अपनी पुरानी उजड्ड आदतों का दमन कर लिया। और भारतवर्ष की उस मानव उच्चता का मूर्त रूप अशोक था।

इस के बावजूद भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि यदि अशोक के समय नहीं तो उस के उत्तराधिकारियों के समय शायद उस की क्षमा की

नीति उचित से अधिक सीमा तक बर्त्ती गई, और उस का परिणाम मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ। किन्तु भारतवर्ष के आत्मा ने उस शान्ति-नीति को स्वीकार नहीं किया, ज्योतिषी गर्ग ने उस के संचालक को मोहात्मा (मूर्ख) और धर्मवादी अधार्मिक कहा, उस के धार्मिक विजय का मजाक उड़ाया, तथा जो नया साम्राज्य मौर्य साम्राज्य के खँडहरों पर खड़ा हुआ, उस के नीति-सचालकों ने कौटल्य के शब्द दोहराते हुए घोषणा की कि—नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्—राजा अपने दण्ड को सदा उद्यत रक्खे।[1]

## § १३८. अशोक की रचनायें और अभिलेख

अशोक की चर्चा उस के अभिलेखों की चर्चा के बिना पूरी नहीं हो सकती। वे भारतवर्ष की राष्ट्रीय विरासत के अनमोल रत्न हैं। पिछली शताब्दी मे उन के पाये और पढे जाने का वृत्तान्त बड़ा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है, और भारतवर्ष की प्राचीन लिपियों के पढ़े जाने का वृत्तान्त उस वृत्तान्त के साथ गुँथा हुआ है। अशोक से पहले के केवल दो-चार फुटकर अभिलेख ही अब तक मिले हैं।

अशोक अपने लेखों को धम्मलिपि कहता है। उन की जो दो प्रतियाँ पेशावर और हज़ारा जिलों में हैं, वे खरोष्ठी अक्षरों में हैं, बाकी सब ब्राह्मी मे। सातवें स्तम्भाभिलेख मे वह कहता है कि उस की धम्मलिपियाँ सिला-थमों और सिला-फलकों पर खोदी जाँय; फिर रूपनाथ और सहस्राम के गौण शिलाभिलेख मे सिला-थमों और पर्वतों पर लिपियाँ खुदवाने का जिक्र है। इस प्रकार अशोक के लेख कम से कम तीन तरह के थे—पर्वतों पर खुदे हुए, पत्थर के थमों पर खुदे हुए, और पत्थर की पाटी पर खुदे हुए। पत्थर की

---

१. नीचे § १५४।

पाटी पर केवल एक लेख जयपुर रियासत के बीजक पहाड[1] से मिला है; उसे पहले भाबरू का लेख कहते थे, पर अब उस का नाम डा० हुल्श ने कलकत्ता- बैराट-लेख रक्खा है, क्योंकि वह बैराट के पास से मिला और अब कलकत्ते मे पड़ा है। उस लेख तथा अन्य पर्वतलेखो को अब हम शिलाभिलेख कहते हैं, स्तम्भलेखों को स्तम्भाभिलेख तथा जो लेख लेणों अर्थात् गुहामन्दिरो मे मिले है उन्हे लेणाभिलेख।

प्रधान शिलाभिलेख १४ है, और वे एक के नीचे दूसरा सब इकट्ठे खुदे होते हैं। सात विभिन्न स्थानों से उन की पूरी या अधूरी प्रतियाँ मिली थीं, हाल मे एक आठवीं प्रति मिली है। किसी किसी शब्द के भेद या उच्चा-रण-भेदो के सिवाय सब प्रतियो की इबारत एक ही है। जिन स्थानों से पुरानी सात प्रतियाँ मिली थीं वे निम्नलिखित है—( १ ) शाहबाजगढ़ी, तहसील यूसुफ़ज़ई, जिला पेशावर; (२) मनसेहरा, जि० हज़ारा; (३) कालसी, जि० देहरादून—जमना के पच्छिम, टोंस-सगम के ठीक ऊपर, (४) गिरनार, जूनागढ़ से एक मोल पूरब, काठियावाड़, (५) सोपारा, तालुका बसई, जि० ठाना, जहाँ से केवल आठवे अभिलेख का एक तिहाई टुकड़ा मिला है, ( ६ ) धौली, तालुका खुर्दा, जि० पुरी,—भुवनेश्वर से सात मील पर, ( ७ ) जौगडा, ता० ब्रह्मपुर ('बरहमपुर') जि० गंजाम,—ऋषिकुल्या नदी के उत्तर तट पर। आठवीं प्रति अब आन्ध्र के कुर्नूल जिले से मिली है।

धौली और जौगडा की चट्टानों पर १२वे-१३वे अभिलेखो के बजाय दो और अभिलेख हैं, जिन्हें कलिंगाभिलेख कहा जाता है।

---

१. उस पहाड़ का नाम बीजक पहाड भी उस अभिलेख के कारण ही हुआ है, क्योंकि हमारे अनपढ़ या अशिक्षित भाई अब तक शिलाभिलेखों को गडे धन का बीजक मानते हैं !

प्रधान स्तम्भाभिलेख सात हैं, और उन की प्रतियाँ नीचे लिखे स्थानो पर मिली हैं—(१) दिल्ली, दिल्ली दरवाजे के बाहर फीरोजशाह के कोटले पर, यह पहले अम्बाला जिले मे साढौरा के १८ मील दक्खिन तोपरा गाँव मे था, जहाँ से फीरोज तुगलक (१२५१—१३८८ ई०) बडी विकट योजना से इसे उठवा लाया था, इसी लिए इसे दिल्ली-तोपरा-स्तम्भ कहते हैं। (२) दिल्ली के उत्तर-पच्छिम ढाँग पर, यह भी पहले मेरठ मे था जहाँ से फीरोज ने इसे उठवाया था। (३-४) चम्पारन जिले मे अरराज के शिवालय तथा नन्दनगढ़ के किले के पास दो गाँवों मे जो दोनो लौड़िया कहलाते हैं। उन गाँवो का उक्त नाम इन्ही स्तम्भों के कारण पड़ा है, क्योंकि ग्रामीण लोग इन्हे लिंग समझते थे। लौड़िया-अरराज से कुछ दूर पर रधिया और लौड़िया नन्दनगढ़ से कुछ दूर पर मथिया गाँव भी है, उन के नामों से भी ये स्तम्भ पुकारे जाते रहे हैं। (५) चम्पारन जिले मे रामपुरवा, बेतिया से ३२½ मील उत्तर। (६) प्रयाग के किले मे; इस पर कौशाम्बी का नाम है, इस लिए यह पहले प्रयाग के तीस मील ऊपर जमना के बाये तट पर कोसम गाँव में रहा होगा; अब इसे प्रयाग-कोसम-स्तम्भ कहते हैं। सात प्रधान स्तम्भाभिलेखो मे से सातवाँ जो सब से लम्बा है, केवल दिल्ली-तोपरा स्तम्भ पर है। प्रयाग-कोसम-स्तम्भ पर दो गौण लेख भी हैं—एक रानी कारुवाकी का दानविषयक, दूसरा कौशाम्बी के महामात्यो के नाम संघ मे भेद डालने विषयक। कौशाम्बी वाले उस लेख की एक प्रति भिलसा के नजदीक सांची ( रियासत भोपाल ) मे तथा एक सारनाथ (बनारस) मे भी है। इन दो के अतिरिक्त दो और गौण स्तम्भ-लेख नेपाल-तराई मे तौलिहवा तहसील, बुटौल जिले, मे हैं; एक रुम्मिन्देई मे, जिस का केवल ठूठ बचा है, और जिस मे यह लिखा है कि अभिषेक के बीसवे बरस राजा प्रियदर्शी शाक्यमुनि बुद्ध की इस जन्म-भूमि मे आया, एक उस के १३ मील उत्तरपच्छिम निगलीवा गाँव के निकट निगाली सागर तालाब के तट पर, जिसे ग्रामीण लोग भीमसेन की निगाली

(हुक्के की नली) कहते हैं, और जिस मे यह लिखा है कि कोनाकमन बुद्ध के इस स्तूप को प्रियदर्शी ने दूना करवाया।

गौण शिलाभिलेख इन स्थानो पर है—(१) रूपनाथ, जि० जबलपुर,—कैमोर पर्वत के ठीक तले; (२) सहसराम, जि० शाहाबाद; (३-४) बैराट, रियासत जयपुर, एक 'भीम की डूंगरी' के नीचे, दूसरा 'बीजक पहाड़' पर, (५) मस्की, लिंगसुगुर तालुका, जि० रायचूर; (६-७-८) मैसूर के चीतलद्रुग जिले मे एक सिद्धापुर मे, और दो उस के निकट, एक ब्रह्मगिरि मे, और एक जटिंग-रामेश्वर पहाड़ पर। इन मे से बैराट के बीजक पहाड़ वाली चट्टान पर तो एक अलग ही लेख ('भाब्रू-लेख' या 'कलकत्ता-बैराट लेख') है; बाकी पहले तीन और पाँचवे पर एक ही लेख है जिस मे प्रक्रम का फल बतलाया है; अन्तिम तीन पर वह लेख भी है और एक छोटा सा और भी। इस प्रकार गौण शिलाभिलेख कुल तीन हैं। मस्की वाला अभिलेख सन् १९१५ मे मिला था; और अशाक के तमाम लेखो मे से केवल उसी मे अशोक का नाम है।

इन सब के अतिरिक्त गया जिले की बराबर नामक पहाड़ियो की तीन लेणों अर्थात् गुहाओं में तीन ज़रा ज़रा से दानसूचक अभिलेख अशोक के हैं। इस प्रकार उस के कुल ३३ छोटे बड़े अभिलेख हैं।

अशोक से पहले फारिस के हखामनी राजा दारयवहु (पहले) ने भी चट्टानो पर अपनी आज्ञाये खुदवायीं थीं। बहुत सम्भव है अशोक को शिलाओं पर इस प्रकार लेख खुदवाने का विचार वहीं से मिला हो। किन्तु थंभो पर लेख खुदवाने का विचार अशोक का अपना था। और उस के थभे कारीगरो के अनोखे नमूने हैं। प्रत्येक थभा ४० से ५० फ़ुट तक ऊँचा है, और उन की औसत मोटाई २' ७'' है। उन की छाँट-तराश बहुत बढ़िया हुई है, और उन पर की उस जिलअ (पालिश) को, जिस के कारण वे आज

भी दर्पण की तरह चिकने लगते हैं, देख कर आज कल के कारीगर भी चकित होते हैं। वे सब के सब चुनार के पत्थर के हैं, और वहीं से सब जगह भेजे गये थे, उन्हें इतनी दूर ढो कर किस तरह भेजा गया सो एक और अचम्भे की बात है। फीरोज तुगलक के समय उन में से केवल तीन को सिर्फ डेढ़ एक सौ मील तक ढुवाने के लिए भारी भारी योजनायें करनी पड़ी थीं, ८४०० आदमी एक थम्भे के केवल रस्सों को खींचने में लगे थे। अशोक के समय उन का चुनार से अम्बाला तक ढोया जाना मौर्य इंजीनियरों की अद्भुत चतुराई का सूचक है। उन थम्भों के ऊपर सिंह आदि की जो मूर्त्तियाँ हैं, उन की सजीवता और परिष्कृति की भी आधुनिक कलावेत्ताओं ने जी खोल प्रशंसा की है।

अनुश्रुति में यह प्रसिद्ध है कि अशोक ने ८४ हजार धर्मराजिक अथवा स्तूप बनवाये थे, और बुद्ध के शरीर-धातु जिन पहले आठ स्तूपों में रक्खे गये थे उन में से निकलवा कर उन ८४००० नये स्तूपों में बँटवा कर रखवा दिये थे। और इन सब नये स्तूपों में धातु रखवाने का काम एक साथ एक ही दिन किया गया था।[1]

अशोक की न जाने कितनी रचनायें आज नष्ट हो चुकी हैं। उस के नौ सौ बरस बाद य्वान च्वाङ के समय तक उस के बनवाये अनेक स्तूप और अन्य रचनायें विद्यमान थीं, जो आज नहीं हैं। कपिश देश की राजधानी कापिशी में अशोक का बनवाया सौ फुट ऊँचा एक स्तूप तब तक था; उसी तरह नगरहार (आधुनिक निंगहार) में एक तीन सौ फुट ऊँचा। समतट अर्थात् गंगा-ब्रह्मपुत्र के मुहाने के प्रदेश में भी एक स्तूप था। इसी प्रकार अन्य अनेक। कुछ रचनायें तो बिलकुल आधुनिक समय में ही नष्ट हुई हैं।

---

१. दि० पृ० ३७१, ४०२, ४२१ आदि; य्वान २, पृ० ९१।

पटना शहर के एक जनाना अहाते मे अशोक का एक स्तम्भ दबा बताया जाता है । बनारस मे उस के एक स्तम्भ को १८०५ ई० के दंगे मे मुसलमानो ने नष्ट कर दिया था; उसी के ठूंठ का अब लाट भैरो कहते है ।

कश्मीर की राजधानी पुरानी श्रीनगरी, तथा नेपाल की पुरानी राजधानी मंजुपत्तन भी अशोक ने बसाई थीं ।

## § १३९. अशोक का अन्तिम समय और उस के उत्तराधिकारी

अनुश्रुति के अनुसार अशोक को अपने अन्तिम समय में राज्याधिकार से वञ्चित होना पड़ा था । उस ने बौद्ध भिक्षु-सघ को बहुत अधिक दान दिया, और वह अभी और दान करना चाहता था जब अमात्यो ने प्रतिषेध कर दिया । "तब राजा अशोक ने सविग्न हो कर अमात्यों और पौरों का सन्निपतन कर कहा—कौन अब पृथिवी का ईश्वर ( भारतवर्ष का राजा ) है ? ·· ·····अमात्यों ने कहा—देव ( श्रीमान् ) पृथिवी के ईश्वर है । आँखो मे आँसू भरे हुए अशोक ने फिर कहा—आप लोग दाक्षिण्य से क्यों झूठ कहते हैं ? हम तो आधिराज्य से भ्रष्ट ( वञ्चित ) हैं ।" ··· उस ने भिक्षु-संघ को भी सूचना भेजी कि 'राजा अब अपने कर्मों से वञ्चित है' और सघ ने राजा के हृताधिकार होने पर खेद प्रकट किया[1] ।

वायु पुराण और तारानाथ आदि के अनुसार अशोक का उत्तराधिकारी उस का बेटा कुनाल था; विष्णु पुराण में उस के बजाय सुयश नाम है जो कुनाल का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है । उस का राज्य-काल आठ बरस का लिखा है ।

१. दि० पृ० ४३०—३२ ।

वि० पु० के अनुसार अशोक का पोता दशरथ था, मत्स्य पुराण मे भी उस का नाम है। दशरथ की बनवाई तीन लेणें बराबर के पास नागार्जुनी पहाडी मे है, जिन मे उस के दानसूचक अभिलेख भी हैं। दिव्यावदान और जैन अनुश्रुति उस का नाम भूलती हैं, उन दोनो के अनुसार अशोक का पोता सम्प्रति था। मत्स्य और विष्णु पुराण मे दशरथ के बाद सम्प्रति या सगत का नाम है। वायु पुराण मे लिखा है कि कुनाल का बेटा बन्धुपालित और उस का दायाद ( उत्तराधिकारी ) इन्द्रपालित था। जायसवाल यह परिणाम निकालते है कि बन्धुपालित और इन्द्रपालित क्रमशः दशरथ और सम्प्रति के उपनाम थे, और सम्प्रति दशरथ का छोटा भाई और उत्तराधिकारी था।

सम्प्रति को उज्जैन मे जैन आचार्य सुहस्ती ने अपने धर्म की दीक्षा दी। उस के बाद सम्प्रति ने जैन धर्म के लिए वही काम किया जो अशोक ने बौद्ध के लिए किया था। बहुत सम्भव है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के इस वशज के जैन होने की बात का ही यह भ्रान्त रूप बन गया हो कि चन्द्रगुप्त जैन था। जो भी हो, चाहे चन्द्रगुप्त के और चाहे सम्प्रनि के समय मे जैन धर्म की बुनियाद तामिल भारत के नये राज्यो में भी जा जमी, इस मे सन्देह नहीं। उत्तरपच्छिम के अनार्य देशो मे भी सम्प्रति के समय जैन प्रचारक भेजे और वहाँ जैन साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किये गये। अशोक और सम्प्रति दोनो के कार्य से आर्य सस्कृति एक विश्व-शक्ति बन गई, और आर्यावर्त्त का प्रभाव भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर तक पहुँच गया। अशोक की तरह उस के पोते ने भी अनेक इमारतें बनवाई। राजपूताना की कई जैन रचनाये उस के समय की कही जाती हैं।

जैन लेखकों के अनुसार सम्प्रति समूचे भारत का स्वामी था। तारानाथ के अनुसार कुनाल का बेटा विगताशोक था। शायद वह केवल सम्प्रति का उपनाम रहा हो।

सम्प्रति के बाद के मौर्यों के केवल नाम भर पुराणों मे दर्ज हैं; उन से जायसवाल ने समूचे मौर्य वंश का ढांचा इस प्रकार ठीक किया है—
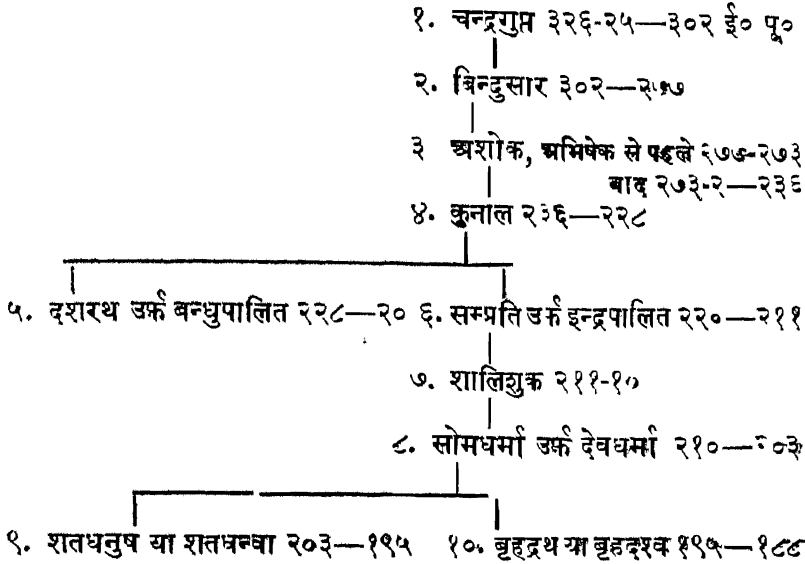
दिव्यावदान के अनुसार सम्प्रति का बेटा बृहस्पति, उस का वृषसेन और उस का पुण्यधर्मा था। शायद बृहस्पति सोमधर्मा का, वृषसेन शतधन्वा का, और पुण्यधर्मा बृहदश्व का उपनाम रहा हो; या बृहस्पति शालिशुक का, वृषसेन सोमधर्मा का, और पुण्यधर्मा बृहदश्व का।

शालिशुक का नाम केवल वि० पु० मे और वा० पु० की एक प्रति मे है। किन्तु उस की सत्ता ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थ गार्गी संहिता से सिद्ध हुई है, जिस के युग-पुराण अंश में उसे राष्ट्रमर्दी (देश का पीडक) तथा धर्मवादी ह्यधार्मिक. ( धर्म की डींगें हाँकने वाला किन्तु अधर्माचारी ) कहा है।

राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर के राज्य में अशोक का उत्तराधिकारी उस का बेटा जलौक था,—उस प्राचीन इतिहास के लिए राजतरंगिणी की

प्रामाणिकता नहीं हैं। तारानाथ के अनुसार विगताशोक का बेटा वीरसेन था, जिस का गान्धार में राज्य होना भी उस से सूचित होता है। एक यूनानी लेखक ने सीरिया के राजा अन्तियोक के समकालीन २०६ ई० पू० में काबुल के राजा सुभागसेन का उल्लेख किया है। नामों की समानता से यह अन्दाज किया गया है कि सुभागसेन शायद वीरसेन का बेटा रहा हो।

यह कल्पना की गई है कि अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य के दो टुकड़े हो गये, पूरबी भाग का राजा दशरथ रहा और पच्छिमी का सम्प्रति। डा० विन्सेंट स्मिथ इसे कोरी अटकल कहते हैं। जैन ग्रन्थों के अनुसार सम्प्रति के राज्य में पाटलिपुत्र और उज्जैन दोनों थे। सम्प्रति के समय तक साम्राज्य टूटा नहीं दीखता, किन्तु उस के ठीक बाद राष्ट्रमर्दी शालिशुक के समय में टूटना बहुत सम्भव है, प्रत्युत सुभागसेन के काबुल का स्वतन्त्र राजा होने से वह सम्भव ही क्या लगभग निश्चित है। और ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरापथ उस समय साम्राज्य से निकल गया। जलौक यदि कोई वास्तविक राजा रहा हो तो वह, तथा वीरसेन और सुभागसेन इसी समय के राजा रहे होंगे। हम देखेंगे कि कलिंग और आन्ध्र-महाराष्ट्र भी करीब करीब इस समय तक स्वतन्त्र हो चुके थे।

इस प्रकार मगध का पहला साम्राज्य जो छठी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्ध में बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय पहले पहल उठा था, तीसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त में समाप्त हो गया। मोटे तौर से ५६० ई० पू०—२११ ई० पू० की अवधि को मगध के पहले साम्राज्य का युग कहा जा सकता है। पच्छिम के देशों में प्रायः यही (५५०—२०१ ई० पू०) पारस-यूनान युग था। इस युग के पहले अंश में जब मगध-साम्राज्य की दण्ड-शक्ति शैशुनाकों के हाथ रही, पच्छिमी जगत् में पारस की प्रधानता रही, और उस के बाद हमारे यहाँ के नन्द-मौर्य-युग में उधर यूनान की प्रधानता रही।

## ग्रन्थनिर्देश

हुल्श—अशोक के अभिलेख, कौर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इन्डिकेरम् (भारतीय अभिलेख-समुच्चय) की जिल्द १, भारत-सरकार द्वारा प्र०, १९२५।

विन्सेंट स्मिथ—अशोक, आक्सफ़र्ड से प्रकाशित रूलर्स ऑव इन्डिया सीरीज़ (भारत-शासक-चरित-माला) में, ३ संस्क०।

दे० रा० भण्डारकर—अशोक, कलकत्ता युनिवर्सिटी के सन् १९२३ के कार्माइकेल-व्याख्यान।

अ० हि०—अ० ६, ७।

रा० इ०—पृ० १८७—२१३।

हि० रा० §§ १३०—१४०।

अशोक के अभिलेखों के बहुत से संस्करण हो चुके हैं, उन में से अन्तिम और प्रामाणिक अब डा० हुल्श का उक्त ग्रन्थ है। स्व० पं० रामावतार शर्मा ने प्रियदर्शिप्रशस्तयः नाम से संस्कृत में एक संस्करण निकाला था। हिन्दी में अशोक के धर्मलेख नाम से एक ग्रन्थ ज्ञानमण्डल काशी से निकला है। चौदह प्रधान शिलाभिलेखों का सम्पादन तथा अनुवाद ना० प्र० प० १, २, ३ में भी हुआ है। उस पर विद्वत्ता और प्रामाणिकता की वह छाप है जो स्व० प० चन्द्रधर गुलेरी के प्रत्येक लेख पर होती थी; और वह न केवल हिन्दी पाठकों के लिए उपयोगी है, प्रत्युत भारतीय इतिहास के सभी विद्यार्थियों को उस में अनेक कीमती निर्देश और विवेचनायें मिलेंगी।

सत्रहवाँ प्रकरण

# मौर्य भारत की राज्यसंस्था सभ्यता और संस्कृति

## § १४०. मौर्य राज्यसंस्था का मुख्य विचारणीय प्रश्न—अनुशासन की विभिन्न इकाइयों में प्रजापक्ष और राजपक्ष

हम ने देखा कि मौर्य विजित के अन्तर्गत भिन्न भिन्न जनपदो या जनपद-चक्रो के अनुशासन के लिए राजा की तरफ से महामात्य नियुक्त थे, विशेष महत्व के जनपदो पर महामात्यों के साथ राजकुमार भी रख दिये जाते थे। जनपदों के अन्तर्गत छोटे प्रदेशों के शासक भी महामात्य कहलाते थे। पाँच बड़े मण्डलो की राजधानियो मे, जिन मे से प्रत्येक के नीचे कई जनपद रहते होगे, कुमार महामात्यो या अमात्यो की सहायता से अनुशासन करते थे। कौटल्य के अनुसार प्रत्येक जनपद का एक समाहर्ता अनुशासन करता था, और नगर का नागरक। जनपद या नगर के चौथाई की चिन्ता एक स्थानिक करता था, और फिर उन के नीचे प्रत्येक पाँच या दस ग्रामों के या दस बीस चालीस कुलो के समुदाय का चिन्तन एक गोप करता था। गोपों और स्थानिकों के स्थानों मे बलि (मालगुजारी) उगाहने और फौजदारी मुकद्दमे (कार्य) सुनने वाले राजपुरुष दूसरे थे जो प्रदेष्टा कहलाते थे[1]।

---

१. अर्थ० २ ३५-३६।

अशोक के अभिलेखो मे महामात्यो के अतिरिक्त युत, राजुक, प्रादेशिक आदि अधिकारियो के नाम है। युत को अर्थशास्त्र का युक्त तथा प्रादेशिक को प्रदेष्टा समझा गया है[1]। साधारण रूप से राजकीय अधिकारियो को शायद पुरुष[2] कहा गया है, और पुरुष या राजपुरुष बडे ( उकस ) मध्यम ( मझिम ) और छोटे ( गेवय ) तीन दर्जों के होते थे। साम्राज्य की राजधानी मे स्वय राजा, कौटल्य के अनुसार, मन्त्रियों और मन्त्रि-परिषद्[3] की सहायता से शासन करता था। अशोक के अभिलेखों मे भी उस को परिषा या परिषद् का बार बार उल्लेख है, और ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के आदेशो के चरितार्थ होने से पहले परिषद् की स्वीकृति आवश्यक होती थी।

वह परिषद् क्या चीज थी ? वह किस की प्रतिनिधि थी ? क्या वह राजा के नियुक्त किये सलाहकारो का समूह था, या प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधियो का, या प्रजा मे से कुछ विशेष वर्गों के मुखियो या प्रतिनिधियो का ? इस प्रश्न के साथ यह प्रश्न गुँथा हुआ है कि मौर्य अनुशासन की प्रत्येक इकाई मे कहाँ तक राजा का हाथ था और कहाँ तक जनता का, और उस मे भिन्न भिन्न पक्षो का सामञ्जस्य कैसे होता था। यह प्रश्न वास्तव मे मौर्यकालीन भारतीय राज्यसंस्था की विवेचना मे धुरी की तरह है; किन्तु इस प्रश्न को सामने रखते हुए उस राज्यसस्था की यथेष्ट मीमांसा अभी तक नहीं की गई। सच कहें तो मौर्य शासनपद्धति को विवेचना करने वाले बहुत से विद्वान् तो इस प्रश्न को समझ ही नहीं पाये, और इसी कारण उन का खींचा हुआ चित्र बिलकुल अन्धा ढाँचा दीख पड़ता है। दूसरी तरफ़ जिन दो एक

---

१. भा० अ० स० १, पृ० ५, टि० १, ३।

२. स्तम्भ० १, ४, ७।

३. अर्थ० १. १५।

विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है, वे या तो जनता की स्वाधीनता के पक्ष में और या राजा की केन्द्रिक शक्ति के पक्ष में बहुत अधिक झुक गये हैं, जब कि असल सचाई दोनों पक्षों के बीच दीख पड़ती है।

## § १४१. व्यवस्थित अनुशासन तथा व्यवस्थाओं के आधार

उक्त प्रश्न यदि मौर्य अनुशासन और मौर्यकालीन राज्यसंस्था की विवेचना की धुरी है, तो एक दूसरा प्रश्न है जो कि उस प्रश्न की भी धुरी है, और वह यह कि क्या मौर्यों का अनुशासन व्यवस्थित और नियमबद्ध था या उच्छृङ्खल और स्वेच्छाचारी? और यदि व्यवस्थित था तो मौर्य राज्यसंस्था में व्यवस्था करने अर्थात् नियम बनाने वाली शक्ति कौन थी?

सौभाग्य से इस के पहले पहलू के विषय में कोई विवाद नहीं है, और दूसरे पहलू पर प्रकाश डालने को काफी सामग्री उपस्थित है। इस बात पर कोई विवाद या कोई युक्तिसंगत सन्देह नहीं है कि नीचे से ऊपर तक मौर्यों का समूचा अनुशासन सुव्यवस्थित और नियमबद्ध था—कानून के मुताबिक चलता था, किसी एक व्यक्ति या कुछ एक व्यक्तियों की उमंगों या स्वेच्छाचार का उस पर कुछ प्रभाव न हो सकता था। अर्थशास्त्र में कण्टकशोधन (फौजदारी कानून) अधिकरण के अन्त में यह विधि है कि अदण्ड्य को दण्ड देने से राजा को उस से तीस गुना दण्ड मिले, और राजा से वह जुरमाना ले कर वरुण देवता को दिया जाय [1]। धर्मस्थीय (दीवानी कानून) अधिकरण के आरम्भ में वहीं कहा है—

> अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया।
> न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत्॥ [2]

---

१ अर्थ० ४ १३—पृ० २३१।

२ वहीं ३ १—पृ० १५०।

—धर्म व्यवहार संस्था के अनुसार और चौथे न्याय के अनुसार अनुशासन करने वाला चारों अन्तों तक पृथ्वी को जीत लेता है। धर्म और व्यवहार की व्याख्या पीछे की जा चुकी है; संस्था का अर्थ है समूहों की स्थिति या समय। जहाँ कहीं इन तीन में परस्पर विरोध हो, वहाँ न्याय अर्थात् तर्क से फैसला किया जाता था। इस से ठीक पहले श्लोक में कहा है कि राजा को अपने पुत्र और शत्रु पर एक समान दण्ड धारण करना चाहिए। आर्य राज्यसंस्था में यह विचार सदा से बना हुआ था कि कर या बलि राजा की भृति है, और जो राजा उस भृति के बदले में न्याय से प्रजा का योग और क्षेम (उन्नति और रक्षा) नहीं करता वह हराम की खाता है[1]। इस बात में रत्ती भर भी सन्देह नहीं कि मौर्यों का अनुशासन एक सुव्यवस्थित अनुशासन था जिस में प्रत्येक कार्य व्यवस्था या कानून के मुताबिक होता था।

यदि ऐसी बात थी, यदि उस अनुशासन में कानून की मर्यादा पूरी बनी रहती थी, तब यह स्पष्ट है कि जो शक्ति देश का कानून बनाती थी, वही देश की असल राजशक्ति थी। वह कौन शक्ति थी जिस के बनाये कानूनों के अनुसार मौर्य अनुशासन का यन्त्र घूमता था? और वे कानून क्या और कैसे थे? सौभाग्य से इन प्रश्नों का भी काफ़ी स्पष्ट उत्तर हमें अर्थशास्त्र से मिलता है। धर्मस्थीय के उसी अध्याय में कानून के चार अंगों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥

—विवाद (मुकदमों) के विषय के चार पाद (आधार) होते हैं—धर्म, व्यवहार, चरित्र, राजशासन; इन में से पिछला पहले का बाधक होता है। इस

---

1. वहीं १ १३।

प्रकार धर्म अर्थात् सदाचार-सम्बन्धी प्रायश्चित्तीय व्यवस्थायें कानून का सब से पहला अंश थीं; वे धर्म भी आरम्भ में तो सामयाचारिक या समय-मूलक थे; किन्तु अब वे बहुत कुछ शास्त्रों में निबद्ध हो गये थे, और शिष्टों की बहुसम्मति से उन का निश्चय होता था, सो पीछे ( § ११५ ) देख चुके हैं। धर्म से अधिक महत्त्व व्यवहार का—अर्थात् उन दीवानी और फौजदारी कानूनों का—था जो पुराने समय से स्थापित हो चुके थे। कानून का तीसरा आधार था चरित्र; अगले श्लोक में कहा है कि चरित्र पुरुषों के संग्रह में होता है; इस से और अन्य प्रसंगों से जाना जाता है कि चरित्र का अर्थ है समूहों का चरित्र या कार्य—उन के किये हुए विधान। उन विधानों का गौरव धर्म और व्यवहार दोनों से अधिक था। कानून का चौथा और सबसे मुख्य स्तम्भ था राजशासन या राजा का आदेश, जो पहले तीनों का बाधक हो सकता था।

धर्म और व्यवहार बहुत कुछ पुरानी स्थितियों का समुच्चय—पूर्वजों का दाय—थे, चरित्र और राजशासन समकालीन पुरुषों की कृति को सूचित करते, और उन पुरानी स्थितियों में गति या परिवर्त्तन करने वाले साधन थे। इस लिए जो नया कानून बनता वह या चरित्र के रूप में या राजशासन के रूप में। चरित्र बनाने वाले प्रजा के छोटे-बड़े निकाय या समूह—ग्राम, श्रेणि, नगर, जनपद्—थे, और राजशासनों को जारी करने वाली स्पष्टतः राजा की परिषद् थी। यही शक्तियाँ थीं जो देश में नये कानूनों की सृष्टि करती थीं।

अर्थशास्त्र में दूसरी जगह यह विधान है कि राजा अपने मुख्य दफ्तर में

> देश ग्राम जाति कुलसंघातानां धर्मव्यवहार चरित्र संस्थान
> निबन्ध-पुस्तकस्थं कारयेत्[1]

—देश ग्राम जाति और कुलों के संघातों ( समूहों ) के धर्म व्यवहार और चरित्र-संस्थान को एक निबन्ध-पुस्तक में दर्ज करावे। इस प्रकार प्रत्येक

1 वहीं २ ७।

संघात या निकाय का, विशेष कर प्रत्येक देश या जनपद का, न केवल अपना अपना चरित्र-सस्थान, प्रत्युत अपना अपना धर्म और व्यवहार भी था। विशेष अवस्थाओं मे राजा की परिषद् ग्रामों जनपदो आदि के इन चरित्रो को अपने शासन से रद्द कर सकती थी, किन्तु साधारण अवस्थाओ मे साम्राज्य की शासन-शक्ति में जनता के ये छोटे-बड़े निकाय समूह या सघात भी हिस्सेदार थे, और उन के सहयोग से साम्राज्य का अनुशासन चलता था।

## § १४२. मूल निकाय अथवा जनता के सामूहिक जीवन की सस्थायें, और अनुशासन की इकाइयाँ

### अ. ग्राम

हम देख चुके हैं कि जनता के सामूहिक जीवन की सब से छोटी इकाइयाँ ग्राम श्रेणियाँ और निगम—अर्थात् कृषको शिल्पियों और वणिजो के समूह—थे। वे मूल निकाय अपने अन्दर का सब प्रबन्ध—अपने कानून बनाना, अपने मुखिया नियुक्त करना, अपने मामलो के फैसले करना—स्वयं स्वतत्रता से करते थे। अर्थशास्त्र के तीसरे अधिकरण—धर्मस्थीय—के दसवे अध्याय के, जिस में ग्राम देश जाति और कुल के सघों के समय के अनपाकर्म ( न तोड़ने ) विषयक कानून हैं, आधार पर डा० रमेश मजूमदार कहते है कि ग्राम-सभाओ के वे सब अधिकार और दायित्व मौर्य काल मे भी बने हुए थे[1]। प्रो० विनयकुमार सरकार का कहना है[2] कि अर्थ० का ग्राम स्वायत्त ग्राम नही, प्रत्युत राजकीय शासन की इकाई ग्राम प्रतीत होता है; पाँच-दस ग्रामो के ऊपर गोप नाम का जो सब से छोटा राज-पुरुष नियुक्त होता था, वह ग्राम-सभाओ के हाथ मे कुछ भी प्रबन्ध-शक्ति न रहने देता होगा। यह आलोचना एक दृष्टि से ठीक है; किन्तु ग्रामों का सामूहिक व्यक्तित्व फिर भी बना हुआ था, इस से इन्कार नहीं किया जा सकता। गोप का मुख्य उद्देश

---

१. सा० जी० पृ० १३९—४१।

२. पोलिटिकल थियरीज़ आदि, पृ० ५७ प्र।

राजकीय भाग की ठीक ठीक वसूली के लिए ज़मीन की माप-जाँच और बन्दोबस्त करना तथा उपज और आबादी का ठीक ठीक हिसाब रखना था। ग्राम-सभा के आन्तरिक प्रबन्ध-सम्बन्धी कामों में उस का दखल कहाँ तक था, सो ठीक नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, राजकीय भाग की वसूली और राजकीय अनुशासन के सिलसिले में भी ग्राम पर कई प्रकार का सामूहिक दायित्त्व डाला जाता था, नमूने के लिए अनेक ग्राम कर के बदले सेना आदि भी देते थे[1], और कर भी ग्राम पर समूह-रूप से लगाया जाता था, जिस से उस का सामूहिक जीवन बना रहना जरूरी था।

दूसरे, इतनी बात तो उक्त अध्याय से अवश्य ही निश्चित होती है कि ग्रामों के अपने कुछ समय थे, जिन के तोड़ने ( अपाकर्म ) से दीवानी मुकद्दमा चल सकता था। इस के अतिरिक्त ग्रामों के भी अपने धर्म व्यवहार और चरित्र हो सकते थे, और यदि प्रत्येक ग्राम का अपना अलग धर्म और व्यवहार नहीं तो अपना चरित्र तो प्राय. होता होगा, आधुनिक परिभाषा मे, ग्राम को अपने नियम स्वय बनाने का अधिकार था, यद्यपि असाधारण अवस्था मे राजा का शासन उन नियमो को रद्द कर सकता था। यो कहना चाहिए कि ग्राम की सभा के पास यदि मौर्य काल में प्रबन्ध-सम्बन्धी और न्याय-सम्बन्धी अधिकार कुछ भी न रहे हों—वे सब अधिकार राजकीय गोपों धर्मस्थों और प्रदेष्टाओं ने हथिया भी लिये हों—यह बात विचारने की है कि किस हद्द तक वैसा हो गया था—तो भी कम से कम अपनी व्यवस्थाये स्वय बनाने का परिमित अधिकार तो स्पष्ट रूप से ग्राम के हाथ मे था, और उन व्यवस्थाओं का पालन राजकीय न्यायालयों द्वारा कराया जाता था।

अन्त मे, इस बात का भी स्पष्ट प्रमाण है कि मौर्यकालीन ग्रामो के लोगों में अपने अपने ग्राम की भक्ति काफी उग्र और सचेष्ट रूप मे थी। किसी के ग्राम का आक्रोश या निन्दा करना एक अपराध था जिस के लिए

---

1. अर्थ० २.३५—पृ० १४१-४२।

वाक्पारुष्य ( मानहानि ) का दावा किया जा सकता और दण्ड मिल सकता था[१]।

## इ. श्रेणि

श्रेणियों के विषय में भी प्रो० सरकार का विचार है कि मौर्य काल मे उन के अपने न्यायालय नहीं प्रतीत होते[२]। मुझे जहाँ तक मालूम है उन के अपने चरित्रों और समयों का भी स्पष्ट उल्लेख नही है, यद्यपि यह शायद कहा जा सके कि संघ और संघात शब्दो मे साधारण रूप से उन का परिगणन माना जा सकता है। शायद उन का सामूहिक जीवन नगरों के सामूहिक जीवन के अन्तर्गत हो गया था।

चाहे जो हो, मौर्य साम्राज्य मे उन की बड़ी शक्ति रही होगी। वे राजकीय आय का एक बड़ा स्रोत थीं। यह भी समझ रखना चाहिए कि उस समय राष्ट्र का समूचा व्यावसायिक जीवन श्रेणियो के सगठन पर निर्भर था, और मौर्यों की नीति राष्ट्रीय व्यवसाय की सब प्रकार से रक्षा और उन्नति करने की थी। श्रेणियो अर्थात् शिल्पियो के समूहो की आर्थिक और व्यावसायिक शक्ति तभी कम हो सकती थी यदि उन के मुकाबले में धनाढ्य पूजीपति या राज्य भृतक श्रमियों से काम ले कर स्वय व्यवसाय सगठित कर सकते।

इस दृष्टि से यह बात बड़े महत्व की है कि राज्य की तरफ से उस प्रकार का कर्मान्तों का प्रवर्त्तन अर्थात् व्यवसायो का सङ्गठन मौर्यों के समय किया गया था। आकर या खाने तो राजा के विशेष अधिकार मे थीं, और उन की खुदाई और काम का प्रबन्ध राज्य स्वय करवाता था। राज्य की तरफ से व्यापारी जहाज भी चलते, जो यात्रियो और माल को भाड़े पर लाते ले जाते थे,[३] यद्यपि जहाज-रसानी का काम खानगी व्यापारियो की श्रेणियाँ भी

---

१. अर्थ०—३. १८ पृ० १६४।

२. पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० ४७।

३. अर्थ० २ २८—पृ० १२६। इंडियन शिपिंग, पृ० १०३, १०६।

करती थी, जिन के जहाजो मे यात्रियो की रक्षा करने का दायित्व राज्य अपने ऊपर लेता था[१]। आधुनिक शब्दो मे हम इन कार्यों को मौर्य राज्य का व्यावसायिक महकमा कह सकते हैं। किन्तु यह महकमा श्रेणियों का मुकाबला करने के लिए नहीं, प्रत्युत केवल राज्य की अपनी आय और शक्ति बढ़ाने के लिए था। अपने विस्तृत साम्राज्य को सँभालने वाली सेना के बनाये रखने तथा शासन के अनेक महकमो को चलता रखने के लिए मौर्य राजाओ को रुपये की सख्त जरूरत हमेशा बनी रहती थी, रुपया पैदा करने के उन के अनेक विचित्र उपाय इसी कारण हम अर्थशास्त्र मे पाते हैं, और बाद की अनुश्रुति मे सुनते है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा अपने धनी प्रजा-जनों से प्रणय या प्रेम-भेट के रूप मे रुपया लेता था[२]। पतञ्जलि मुनि (दूसरी शताब्दी ई० पू०) के महाभाष्य से सूचित होता है कि मौर्य राजा अर्चाय अर्थात् देव-प्रतिमाये स्थापित कर उन के चढावे से रुपया उठाते थे[३]। अनेक युद्धो के कारण इस प्रकार की आर्थिक कठिनाई उन्हे उपस्थित हुई होगी। किन्तु उन की अर्थनीति अपने देश के व्यवसाय-व्यापार को पुष्ट करने की ही थी, और इसी कारण श्रेणियो और व्यापारी निगमो की आर्थिक शक्ति उन की छत्र-छाया मे उलटा बढ़ी ही दीखती है। साम्राज्य की कोश-शक्ति की बुनियाद देश का शिल्प-वाणिज्य था, और व्यावसायिक और आर्थिक जीवन अपने विकास की जिस दशा मे उस काल मे था, उस दशा मे यह असम्भव था कि भारी से भारी शक्तिशाली साम्राज्य भी श्रेणियो के उस सगठन के मुकाबले मे खड़ा होता जिस संगठन पर कि उस युग के व्यावसायिक जीवन का ढाँचा निर्भर था। मौर्य साम्राज्य का आकर-कर्मान्त-प्रवर्त्तन देश के व्यावसायिक संगठन का एक परिशिष्ट मात्र था, उस से देश की कारु-श्रेणियो की आर्थिक शक्ति खण्डित होने के बजाय उलटा पुष्टि पाती थी।

---

१ इ० आ० १६०५, पृ० ११३।

२ अर्थ० ५ २।

३ महाभाष्य ५ ३ ६६, इं० आ० १६१८, पृ० ५१।

किन्तु श्रेणियों के हाथ में आर्थिक के सिवाय राजनैतिक शक्ति भी थी इस का प्रमाण है। राजकीय सेना के अनेक अंशो मे से एक श्रेणीबल भी होता था,[1] इस का यह अर्थ है कि कई ऐसी श्रेणियाँ भी थीं जो सेना रखती थीं, या जिन के सदस्य सैनिक का काम भी करते थे। श्रेणिबल का अर्थ शायद यह किया जा सकता कि वे काम्बोज सुराष्ट्र आदि सीमा-प्रदेशो की उन वणिज-श्रेणियों[2] की सेनायें थीं जिन का कारोबार एक शहर के अन्दर सीमित न होता था, और जिन्हें अपने सीमान्त-वाणिज्य की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करने पड़ते थे। किन्तु वैसी बात नहीं है। श्रेणिबल को कौटिल्य मित्रबल (मित्र की सेना) से अच्छा बतलाता है, और उस के अच्छे होने के कारणो मे से एक यह है कि वह जानपद—अर्थात् अपने देश का—होता था;[3] इस से स्पष्ट है कि श्रेणिबल केवल सीमान्त देशो का नहीं था। वह शायद प्रत्येक जनपद मे होता था।

## उ. नगरों के निगम या पूग

हम देख चुके हैं कि पिछले युग मे नगरो या पुरो के शासन मे श्रेणियो और वणिज-निगमो का विशेष प्रभाव होता था। चन्द्रगुप्त के समय मेगास्थेने के अनुसार पाटलिपुत्र का प्रबन्ध चलाने के लिए तीस मैजिस्ट्रेटों की एक सभा होती थी। सर्व-साधारण कार्यों का विचार और निपटारा वे तीस के तीस मिल कर करते, और उन मे से ५,५ के ६ वर्ग बना कर एक एक वर्ग के पास एक एक विशेष महकमे का प्रबन्ध रहता। शिल्प-व्यवसाय की देख-रेख और विदेशियों की देख-रेख जैसे कार्य भी उन वर्गों के हाथ मे रहते थे। अर्थशास्त्र मे इस तीस की सभा या पूग का और उस के छः वर्गो का कहीं भी नाम

१. अर्थ० २. ३३; ६. २ ; नीचे § १४४ उ।
२. वहीं ११. १—पृ० ३७८ ; दे० नीचे § १४३ इ।
३. वहीं ६. २—पृ० ३४२ ; नीचे § १४४ उ।

नहीं है, वहाँ केवल एक नागरक का उल्लेख है[१]। जायसवाल ने स्पष्ट किया है[२] कि मैजिस्ट्रेट जिस ग्रीक शब्द का अनुवाद है उस का प्रयोग एक यूनानी लेखक प्रजा के प्रतिनिधियों के अर्थ में ही कर सकता था, न कि राजकीय अधिकारियों के अर्थ में, और इस प्रकार यह विसंवाद दूर होता है। क्योंकि कौटिल्य ने नगर-शासन के केवल राजपक्ष का वर्णन किया है, और मेगास्थेनेस ने प्रजापक्ष का। पाटलिपुत्र उस समय संसार का सब से बड़ा शहर था, और उस का पूरा प्रबन्ध मौर्य युग में भी प्रजा के प्रतिनिधियों के हाथ में था, यह एक महत्त्व की बात है। साम्राज्य के दूसरे नगरों का प्रबन्ध भी उसी नमूने पर चलता होगा।

इस युग में नगर-संस्थाओं की सत्ता दो पुराने अवशेषों के छोटे छोटे अभिलेखों से भी सिद्ध हुई है[३]। इलाहाबाद जिले के सहजाति के भीटे तथा उस में पाई गई निगम की मुद्रा और निगम की शाला का उल्लेख पीछे ( § ११४ अ ) हो चुका है। उस मुद्रा के विषय में थोड़ी सी सम्भावना मौर्य युग से पहले की होने की है, इसी कारण उस का पूर्व-नन्द-युग में उल्लेख कर दिया गया है। वास्तव में उसे मौर्य युग की मानना ही अधिक संगत है। दूसरे, कृष्णा जिले के सुप्रसिद्ध भट्टिप्रोलू-स्तूप की खुदाई में जो शरीर-धातु-मंजूषायें पाई गई थीं, उन में से दूसरी मंजूषा जिस सन्दूक में थी उसके तथा तीसरी मंजूषा के ढक्कन पर के लेखों से सूचित हुआ है कि वे निगमों के दान थे। दूसरी मंजूषा के सन्दूक के किनारे पर लिखा है—"पगथि निगम के पुत्रों की जिन में कि राजा प्रमुख है,—ष · · ि · का पुत्र राजा खुबिरक ( कुबेरक ) ( जो कि) षीह-गोठी (सिंह-गोष्ठी) का प्रमुख है—उन की ( दी हुई ) अन्य मंजूषा, स्फटिक की सन्दूकची और पत्थर की सन्दूकची।" तीसरी सन्दूकची के

---

१. अर्थ० २. ३६।

२ हिं० रा० २, पृ० ७४।

३ सा० जी० पृ० १४४-४५।

ढक्कन पर एक पक्ति में खुदा है— नेगमा, और फिर प्रायः १४ नाम है; अर्थात् वह उन सब नेगमों का दान है।[१] इन लेखो की लिपि अन्दाजन तीसरी शताब्दी ई० पू० की—पिछले मौर्य युग की—मानी जाती है। उस युग मे निगम यदि सामूहिक दान कर सकते थे तो समूह-रूप से अन्य कार्य भी करते होगे। निगम-निकायों की जीवित सत्ता उन से सिद्ध है।

### ऋ. जनपद

कुछ एक नगरों और अनेक ग्रामो को मिला कर एक एक जनपद बनता था। उस जनपद के शासन मे राजपक्ष और प्रजापक्ष का परस्पर अनुपात क्या था ? और दोनो का सामञ्जस्य कैसे होता था ? इस के उत्तर मे भी यह कह दे कि सब कुछ प्रजा के हाथ में था यह कहना जितना गलत है, मौर्य काल में राजा ने प्रजा की स्वतंत्रता को बिलकुल दबा दिया था ऐसा कहना भी उतना ही गलत है। जातियो के सामूहिक जीवन की शताब्दियो से विकास पाई हुई जीवित संस्थाये एकाएक नहीं बदल जाया करती, वे धीरे धीरे अपने को एक नई राजनैतिक अवस्था के अनुकूल बना रहीं थीं।

इस सम्बन्ध मे पहली बात यह ध्यान मे रखने की है कि सब जनपद एक से न थे। आर्यप्रधान और पुराने बसे हुए राष्ट्रो की जनता ग्रामो श्रेणियो निगमों और पूगों में विभक्त थी; किन्तु अनेक अटवी-प्रदेशो मे आरम्भिक जातियाँ भी रहतीं थीं जिन का समाज-सस्थान सजात कबीलो पर अथवा और भी आरम्भिक संगठन के रूपों पर निर्भर था। पुराने आर्य जनपदों मे से भी कई साम्राज्य के केन्द्र के निकट थे, कई दूर, कई उस मे अरसे से सम्मिलित थे, कई नये नये मिलाये गये थे; कइयो में पहले सघ-राज्य था, कइयों में एक-राज्य; वृजिगण जैसे कई पुराने सघराज्य परस्पर अभिसहत अर्थात् अनेक मिल कर एक बने हुए थे, कई विरल और असहत थे। कौटिल्य के शब्दों में विजित के कई हिस्से नव थे, कई भूतपूर्व, कई पित्र्य[२]। इन सब

---

१. ए० इं० २, पृ० ३२३ प्र।

२. अर्थ० १३. ५—पृ० ४०८।

अवस्थाओ के भेद के अनुसार विभिन्न जनपदो मे साम्राज्य की नीति का भिन्न भिन्न रूप धारण करना आवश्यक होता था। किन्तु मौर्य साम्राज्य के अधीन प्राय: प्रत्येक जनपद का अपना अपना स्पष्ट व्यक्तित्व था, इस मे कुछ भी सन्देह नहीं। अपने अपने जनपद के लिए भक्ति और अभिमान का भाव लोगो मे बहुत उत्कट था। जनपदो (दा) पवाद या किसी के जनपद की निन्दा करना एक कानूनी अपराध था, जिस के लिए वाक्पारुष्य (मानहानि) का दावा हो सकता था[1]। जनपदो या देशो के अपने समय, अपने धर्म, व्यवहार और चरित्र थे, सो पीछे कह चुके हैं; और इस अश मे ग्रामो की अपेक्षा देशो या जनपदो के समय धर्म व्यवहार और चरित्र अधिक अभिव्यक्त होंगे, इस मे सन्देह नहीं। उन समयों और कानूनो को चरितार्थ करना साम्राज्य की धर्मस्थीय (दीवानी) और कण्टक शोधन ( फौजदारी ) अदालतो का कर्तव्य था।

अर्थशास्त्र के लब्धप्रशमन ( १३.५ ) अध्याय मे, जहाँ इस का वर्णन है क नये जीते देशो को कैसे शान्त किया जाय, कई बड़ी मनोरञ्जक बाते हैं जो इस विषय पर विशेष प्रकाश डालती हैं। राजा को उपदेश है कि वह "नये ( देश ) को पा कर ( वहाँ ) प्रकृतियों के प्रियो और हितो का अनुवर्त्तन करे।...... प्रकृतियो के विरुद्ध आचरण करने वाले का विश्वास नहीं जमता। इस लिए ( उन के ) समान शील वेष भाषा आचार बना ले। देश के देवताओ समाजो उत्सवो और विहारों मे...( जनता की ) भक्ति का अनुवर्तन करे। देश ग्राम और जाति के संघों के मुखियो को उस के सत्री (गुप्तचर) दिखलावे कि ( उन के ) शत्रुओ को कैसा अपचार ( नुक़सान ) पहुँचाया गया है, तथा उन का कैसा महाभाग्य तथा स्वामी (राजा) की उन में कैसी भक्ति और सत्कार विद्यमान है। और उन्हे उचित भोग (दान) परिहार (मालगुजारी की छूट) रक्षा (अमन-चैन) दे कर वश में करे। सब जगह (चारों) आश्रमों का आदर करे, और विद्या में भाषण में तथा धर्म में शूर पुरुषों को

---

1, अर्थ० ३ १८—पृ० १९३-९४।

भूमि और ्व्य का दान तथा परिहार ( छूट ) दे । सब कैदियो को छोड़ना··· । और जिस चरित्र को वह कोश या दण्ड ( सेना ) का अपघात करने वाला या अधर्मिष्ठ समझे, उसे हटा कर धर्म-व्यवहार की स्थापना करे । और चोर-प्रकृति म्लेच्छ जातियो का स्थानविपर्यास करे, और उन्हे इकट्ठा एक जगह न रहने दे । दुर्ग राष्ट्र और दण्ड ( सेना ) के मुखियों और मन्त्रि-पुरोहित आदि मे से जो शत्रु के ऍहसानमन्द हो, उन्हे शत्रु के प्रत्यन्तों मे अनेक जगह कर के रहने को बाधित करे । यदि वे अपकार करने मे समर्थ हो या अपने (पहले) भर्त्ता (राजा) के विनाश के पीछे क्षीण हो रहे हों, तो उन्हे चुपचाप दण्ड से शान्त कर दे । स्वदेशीयों को या जिन्हे शत्रु ने रोक ( कैद कर ) रक्खा था उन्हे दूर के स्थानों में स्थापित कर दे । और जो उस (शत्रु) के कुल का ( व्यक्ति) लिये हुए ( देश ) को फिर वापस लेने में शक्त हो या प्रत्यन्त अटवी मे टिक कर बाधा देने में समर्थ हो, उसे विगुण भूमि या गुण-वती भूमि का चौथा हिस्सा कोश और सेना ( की निश्चित सख्या ) देने की शर्त्त ठहरा कर दे दे, जिसे उपस्थित करता हुआ वह पौर-जानपदों को कुपित कर बैठे, और उन कुपितो से उसे मरवा डाले । या यदि प्रकृतियाँ उस के विरुद्ध पुकार ( उपक्रोश ) उठाँय तो उसे हटा दे, या खतरे वाले देश मे रहने को बाधित करे ।······

जो धर्म्य चरित्र हो, वह चाहे दूसरो ( उस से पहले शासको ) ने किया हो चाहे न किया हो, उसे जारी करे । जो अधर्म्य हो उसे न जारी करे, और दूसरों ने जारी कर रक्खा हो तो रोक दे ।"

इस सन्दर्भ से प्रकट है कि जनपदो का न केवल अपना अपना शील वेष भाषा और आचार था, प्रत्युत प्रत्येक जनपद के अपने देवता, अपने समाज ( खेलें या खेलो के मुकाबले, टूर्नामेण्ट ), अपने उत्सव, और अपने विहर (विनोद की यात्रायें) होते थे; और उन सब में देशवासियो को इतनी ममता होती थी कि विजेता को इन बातों मे प्रजा का अनुसरण करना पड़ता था ।

सिकन्दर ने पजाब से वापिस जाते समय जेहलम नदी मे बेडा छोडने से पहले जो क्रिया-कलाप किया था, उस मे भारतीय नदियों की पूजा भी सम्मिलित थी। अर्थशास्त्र के इसी प्रकरण के बीच के सन्दर्भ मे, जो यहाँ उद्धृत नहीं किया गया, यह भी जाना जाता है कि भिन्न भिन्न देशो का अपना अपना नक्षत्र होता था—अर्थात् विशेष महीना या ऋतु वहाँ उत्सव-काल माना जाता था। देश-संघ ग्राम-सघ और जाति-सघ के मुखियों को खुश करना विजेता के लिए आवश्यक होता था। विजेता राजा को उन के मुखियों की भक्ति करनी या दिखलानी पड़ती थी। जीते जनपदो के पुराने राजवंशो के विरुद्ध वहीं के पौर-जानपदों का उपक्रोश या कोप खड़ा कर के उन्हें हटाना या मरवाना उचित समझा जाता था। इस प्रकार मौर्यों के विजय से पहले विभिन्न देशो मे अपने अपने देश-सघ होते थे, और मौर्यों की नीति भी उन्हे रिझाने-मनाने की थी, सो स्पष्ट है। प्रत्येक देश का अपना अपना चरित्र था, और वह चरित्र किसी का किया हुआ होता था, इस से यह प्रकट है कि चरित्र का अर्थ साधारण आचार नहीं है। प्रतिकूल चरित्रों के बजाय धर्म-व्यवहार की स्थापना की जाती थी। सम्भवत. कई देशों मे मौर्यों के विजय से पहले चरित्र के रूप मे ही कानून था, और सुस्थापित धर्म और व्यवहार वहाँ मौर्यों के द्वारा ही पहुँचाया गया। स्वदेशीय आदमियो को जीते देशो मे बसा कर उन्हे काबू करने की नीति ऐसी थी जिसे आजकल के राजनीतिज्ञ भी खूब जानते हैं।

इस सन्दर्भ के अन्तिम अश मे जो पौर-जानपदों का उल्लेख आया है, जायसवाल का कहना है कि उस मे निश्चित संस्थाओं के सदस्यो की तरफ निर्देश है। महाजनपद-युग और पूर्व-नन्द-युग के आर्य जनपदो मे वैदिक समिति की उत्तराधिकारिणी प्रजा की कोई केन्द्रिक सस्था रही प्रतीत होती है, सो पीछे[1] कह चुके है। मौर्य युग मे वह एकाएक न मिट सकती थी। जायसवाल ने उस की सत्ता के कई प्रमाण पेश किये है। दिव्यावदान का तक्षशिला नगर के दो

---

1. §§ ८५ इ, ११४ इ; *११।

विद्रोहो का वृत्तान्त हम सुन चुके है। वे विद्रोह तक्षशिला के पौरों के राजकीय अमात्यों के विरुद्ध थे। हम यह भी देख चुके है कि जब अशोक ने बहुत अधिक दान करना चाहा और उस के अमात्यो ने उस का प्रतिषेध किया, तब "सविग्न होकर राजा अशोक ने अमात्यों और पौरो का सन्निपतन" कराया। उस प्रसंग मे अमात्यो के साथ पौरो का जुटाव विशेष विचारणीय है। यदि पौर का अर्थ केवल पुर के निवासी हो, तो साधारण असगठित रूप में नगर के लोगों का राजा के कार्यों मे दखल देना कैसे हो सकता था ? अशोक के चौथे और सातवे स्तम्भाभिलेखों मे प्रजा के अर्थ मे जन और लोक शब्दों का प्रयोग है। पर चौथे स्तम्भलेख में उस के अतिरिक्त जानपद जन का उल्लेख भी है, और कलिगाभिलेख मे नगरजन का। इन सब निर्देशो मे जायसवाल पौर या नगर-सस्था और जानपद संस्था का उल्लेख देखते है। हमारे प्रस्तुत सन्दर्भ मे देश-सघ का स्पष्ट उल्लेख है ही, और उस के मुखियों को विजेता राजा कैसे रिझाता था इस बात का भी। उस के अतिरिक्त, इस सन्दर्भ के पिछले अश से पौर-जानपद और प्रकृति शब्दो की समानार्थकता भी प्रतीत होती है। पीछे देख चुके हैं[1] कि प्रकृति का अर्थ अमरकोष मे स्पष्ट रूप से पौरों की श्रेणियाँ किया है, जिस से पौरो का एक सगठन सूचित होता है। हम ने यह भी देखा है कि पाटलिपुत्र के ३० पौरो की सभा अपने नगर का सब प्रबन्ध स्वय करती थी। इन सब कारणों से जायसवाल की बात को प्रायः सच मानना पड़ता है।

किन्तु एक अंश में मेरा उनसे मतभेद है। जायसवाल का कहना है कि प्रत्येक मण्डल-राजधानी मे अपनी अपनी पौर संस्था थी, और कि जानपद संस्था समूचे साम्राज्य की एक ही रही होगी[2]। उस युग मे इतने बड़े साम्राज्य मे एक जानपद संस्था रही हो सो निश्चय से असम्भव है। अर्थशास्त्र के ऊपर उद्धृत सन्दर्भ से तो उलटा यह स्पष्ट सिद्ध

१. * १६।

२. हिं० रा० २, पृ० ८६।

होता है कि जानपद संस्थाये प्रत्येक जनपद की अपनी अपनी अलग अलग थीं। जो संस्थाये पहले से मौजूद थीं उन का मौर्य शासन मे भी बने रहना बहुत अधिक सम्भव है, किन्तु मौर्य राजा ज्यो ज्यो अपने विजित मे नये जनपद मिलाते जाय त्यो त्यो उन सब जनपदो को मिला कर वे एक संस्था खड़ी करते जायँ यह उन की नीति के स्पष्टतः प्रतिकूल था। उस समय के सामूहिक जीवन का एक जनपद-व्यापी हो सकना पूरी तरह सम्भव है, किन्तु वह समूचे साम्राज्य को व्याप लेता—समूचे साम्राज्य की जनता अपनी राजनैतिक एकता अनुभव करने लगती—यह अचिन्तनीय है। साम्राज्य की एकता मौर्य राजाओ की शक्ति पर—उन के कोश दण्ड पर—आश्रित थी; भिन्न भिन्न जनपद एक विजित मे इस लिए जुडे हुए थे कि उस प्रबल शक्ति ने उन्हे परस्पर जोड रक्खा था। उस युग मे समूचे साम्राज्य की जनता मे एक सामूहिक जीवन का इतना विकास हो गया हो कि उन की एक ही प्रतिनिधि-संस्था हो, सो नहीं हो सकता। इसी लिए जनपदो के ऊपर भी प्रजा की कोई बाकायदा संस्था थी सो नहीं माना जा सकता।

हम देखेगे कि मौर्य युग के बाद भी भारतवर्ष के विभिन्न जनपदो का व्यक्तित्व बहुत समय तक बना रहा। किन्तु यदि मौर्य युग के और बाद के युगो के भारतीय जीवन और राज्यसंस्था मे विभिन्न जनपदो का ऐसा स्पष्ट व्यक्तितत्व था, तो उन जनपदो के नाम और स्वरूप का पता लगाना आवश्यक प्रतीत होता है। आश्चर्य की बात है कि उस ओर विद्वानो का ध्यान बहुत ही कम गया है। भारतवर्ष के इतिहास के अध्ययन के लिए उस की जातीय भूमियो को पहचानने की आवश्यकता है यह बात शायद पहले पहल रूपरेखा मे कही जा रही है, और उन भूमियो की पूरी पूरी विवेचना भी शायद पहले-पहल भारतभूमि मे हो की गई है। मेरा यह कहना नहीं है कि वे जातीय भूमियाँ मौर्य काल के या किसी और काल के जनपदों को ठीक ठीक सूचित करती हैं; किन्तु उन के सहारे समूचे प्राचीन युग के जनपदो का स्वरूप समझना बहुत सुकर है इस मे सन्देह नहीं।

## § १४३. मौर्य चातुरन्त राज्य की नीति और संगठन

### अ. उस में प्रजापक्ष और राजपक्ष की साधारण तुलना

हम ने देखा कि मौर्य राज्यसंस्था में प्रजा का सामूहिक जीवन जहाँ एक एक जनपद तक पहुँचता था, वहाँ राजा की शक्ति अनेक-जनपद-व्यापिनी थी; वह एक जनपद के विद्रोह का दूसरे जनपद से उठाये कोश-दण्ड के सहारे भी दबा सकती थी; उस के अधीन जनपदों में से कई बहुत दुर्बल रहे हों और उन की सुलभ शक्ति दूसरों को दबाने के काम आती रही हो, सो भी बहुत सम्भव है। राजकीय नीति का उद्देश जहाँ समूचे विजित में एक रहता, और वह जहाँ अपने विजित की विस्तृत सीमाओं के अन्दर अपने साधन खोज सकती थी, वहाँ जनता के सामूहिक चिन्तन और जीवन की परिधि छोटे छोटे जनपदों तक या दो चार जनपदों के संघात[1] तक सीमित थी। इसी कारण जनपदों के आन्तरिक जीवन में भी प्रजा की शक्ति का घटते और राजा की शक्ति का दृढतर होते जाना स्वाभाविक था। एकराज्य में रहने के कारण विभिन्न जनपदों में लगातार अधिक अधिक एकरूपता पैदा होते जाना भी स्वाभाविक था। तो भी उस समय की भारतीय प्रजा में सामूहिक जीवन और स्वाधीनता का भाव बहुत सचेष्ट था; और सब कुछ देखते हुए कहना पड़ता है कि प्रजा और राजा की शक्ति परस्पर इस प्रकार तुली हुई थी कि राजा उच्छृङ्खल न हो सकता था।

यह परिणाम अर्थशास्त्र के और अशोक-अभिलेखों के साधारण विवेचन से ही निकल आता है। विजित जनपदों के काबू रखने और उन की स्वाधीनता को दबाने के लिए कौटिल्य ने जो साधन बतलाये हैं, उन से जान

---

1. तामिल-देश-संघात की बात हम आगे सुनेंगे, दे० नीचे § १९३।

पड़ता है कि राजशक्ति कदम फूंक फूंक कर चलती थी, और बहुत बार दण्ड के बजाय साम और दान से काम लेती, या छिपा दण्ड देती थी।

## इ. चातुरन्त राज्य और संघ राष्ट्र

ध्यान रखना चाहिए कि मौर्य विजित के कई जनपद ऐसे थे जो विजित में आने से पहले संघ राज्य थे, उन में तो निश्चय से जनपद-व्यापी सामूहिक संस्थायें रही होंगी, इस में कोई सन्देह नहीं। संघों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में संघवृत्तम् शीर्षक का एक अलग ( ११ वाँ ) अधिकरण है, जिस में एक ही अध्याय है। उस का आरम्भ इस वाक्य से होता है कि—

संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः।

—संघ की प्राप्ति सेना या मित्र की प्राप्ति से अच्छी है। आगे दो वाक्यों में चातुरन्त राज्य की संघों के प्रति नीति संक्षेप में यों कही है—

> संघाभिसंहतत्वादधृष्यान् परेषांताननुगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम्। द्विगुणान् भेददण्डाभ्याम्।

दूसरे वाक्य के शुरू में द्विगुणान् का कुछ अर्थ नहीं बनता, वह अपपाठ प्रतीत होता है। जायसवाल का कहना है कि ठीक पाठ विगुणान् रहा होगा। वैसा पढने से इन वाक्यों का यह अर्थ प्रतीत होता है कि "संघ रूप में अभिसंहत होने के कारण जो शत्रुओं से न दबाये जा सकते हों, उन्हें अनुगुण ( अनुकूल ) कर के साम-दान से वश में करे। जो प्रतिकूल हों उन्हें भेद और दण्ड से।" संघाभिसंहत शायद वे संघ थे जो कई मिल कर एक बने हुए थे, जैसे वृजि-संघ था। उस प्रकार के अधृष्य और अनुकूल संघों से मैत्री रखना और जो असंहत या प्रतिकूल हों उन्हें फोड़ना—यही मौर्यों की नीति रही प्रतीत होती है।

आगे उस युग के कुछ प्रसिद्ध संघ-राज्यों का उल्लेख यों किया है—"काम्भोज,[1] सुराष्ट्र, क्षत्रियश्रेणि आदि ( काम्भोज सुराष्ट्र आदि क्षत्रियों की श्रेणियाँ ) वार्त्ता ( वाणिज्य ) और शस्त्रोपजीवी हैं। लिच्छविक वृजिक मल्लक मद्रक कुकुर कुरु पाञ्चाल आदि ( अपने लिए ) राजा शब्द का प्रयोग करते हैं।" शस्त्रोपजीवी शब्द से हमें पाणिनि के समय के आयुध-जीवि-संघों की याद आती है। बाकी नाम भी प्रायः हमारे परिचित हैं। मद्रक वृजिक आदि शब्द भी पाणिनि के हैं; और उन के अन्त का क यह सूचित करता है कि वे आरम्भिक जन की अवस्था लाँघ चुके थे।[2] कुकुर-संघ सुराष्ट्र में या उस के पास कहीं था, सो हम आगे[3] देखेंगे। कुरु-पाञ्चाल का अर्थ कौशाम्बी वाले सम्मिलित कुरु-पाञ्चालों से हो, या मूल कुरु-देश जिस की राजधानी इन्द्रपत्तनगर थी और जिस के कुरुधम्म की ख्याति महाजनपद-युग में समूचे भारत में थी[4]—तथा मूल पाञ्चाल अर्थात् उत्तर पाञ्चाल देश से, क्योंकि दक्षिण पाञ्चाल तो कौशाम्बी में सम्मिलित हो चुका था। सम्भवतः मूल कुरु देश और उत्तर पाञ्चाल देश से ही अभिप्राय है, और इस से यह प्रतीत होता है कि मौर्यों के चातुरन्त राज्य में आने से पहले उन में संघ-राज्य स्थापित हो चुके थे। इन सब संघ-राष्ट्रों में से कुकुर सुराष्ट्र मद्रक और काम्भोज साम्राज्य के केन्द्र से बहुत दूर पच्छिम और उत्तर मण्डलों के थे; लिच्छविक वृजिक और मल्लक तथा कुरु

---

१. म० भा० सभापर्व के दिग्विजय-पर्व में कम्बोज के बजाय सब जगह काम्भोज शब्द आया है; वह पर्व दूसरी शताब्दी ई० पू० का है,—दे० नीचे § २८ इ। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा से पहले चौथी से दूसरी शताब्दी तक उस शब्द का वही रूप प्रचलित था।

२. दे० ऊपर §§ ८०, १०८।

३. §§ १७०, १८३।

४. ऊपर § ८२।

और पाञ्चाल मध्यदेश के थे—उन मे से पहले तीन तो मगध के ठीक पडोसी थे। हम जानते हैं कि यह चित्र मौर्य साम्राज्य से ठीक पहले का है—वह महाजनपद-युग के चित्र से कुछ मिलता जुलता है, क्योंकि पच्छिम और उत्तर के संघ-राज्य जहाँ मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद भी अनेक युगों तक बने रहे, वहाँ मध्यदेश मे उस साम्राज्य ने संघो की पूरी सफाई कर दी थी।

आरम्भिक विवरण के बाद आगे कौटिल्य ने वे उपाय कहे हैं जिन से साम्राज्य के सत्री (गुप्तचर) संघों के परस्पर न्यङ्ग ( ईर्ष्या ) द्वेष वैर और कलह के स्थानों को खोज खोज कर उन मे भेद डालते और बढ़ाते थे। इस मे सब प्रकार के कूट उपायों का वर्णन है, जिस के अन्त मे कहा है कि स्कन्धावारों ( छावनियों ) और अटवियों का भेद भी इसी प्रकार—अर्थात संघों की छावनियों और अटवियों को भी इसी प्रकार फोड़ा जाय। आगे और भी नीच उपायों का वर्णन है, जिन मे छिनाल स्त्रियों और तीक्ष्णों ( उचक्कों ) की करतूतों के अनेक उपयोग बतलाये हैं। अन्त मे उपसंहार यों किया है कि—"संघों के तईं इस प्रकार एकराज बर्तें। संघ भी इस प्रकार एकराज से[1] उन अतिसन्धानों से ( अपनी ) रक्षा करें। और संघमुख्य संघों मे न्यायवृत्ति के साथ हित और प्रिय ( आचरण करता हुआ ) दान्त ( संयमी ) बन कर सब के चित्त के अनुकूल अच्छे लोगों के साथ रहे।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने प्रतिकूल और सन्धान देने वाले संघों को फोड़ने और दबाने मे जहाँ मौर्य एकराज कोई कसर न उठा रखते थे, वहाँ परस्पर अभिसंहत मजबूत और अनुकूल संघों के प्रति उन की नीति प्राय: रिझाने-मनाने की थी। यदि वे संघ साम्राज्य की प्रबल शक्ति के सामने थोड़ा बहुत झुक जाते थे, तो उन्हें भी साम्राज्य से अनेक लाभ थे; उन के

---

१. यहाँ आधे अक्षर का पाठदोष प्रतीत होता है; एकराजाः के बजाय एकराजात् होना चाहिए।

योग्य व्यक्तियो को साम्राज्य के ऊँचे पदो पर पहुँचने के अनेक अवसर मिलते होगे। वाहीको के अनेक संरक्षित संघ-जनपद यह भी अनुभव करते होगे कि विदेशी म्लेच्छो की गुलामी से उन्हे मौर्य साम्राज्य ने ही बचाया है।

## उ. समूहों के प्रति चातुरन्त राज्य की नीति

साम्राज्य के अन्दर के दूसरे छोटे समूहो के प्रति साम्राज्य की नीति क्या थी, सो भी एक विचारणीय और मनोरञ्जक प्रश्न है। अर्थशास्त्र से इस पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है।

जनता का सामूहिक जीवन कहीं साम्राज्य से विद्रोह करने की दिशा में न चला जाय, और विरोधी शक्तियो के गुप्तचर कहीं अन्दर न छिपे रहे, इन बातो की बड़ी सतर्कता मौर्य साम्राज्य के संचालको को रही प्रतीत होती है। "नट नर्त्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलव (जनपद के) कार्यो मे विघ्न न करने पावे[1]—क्योंकि ये सब लोग निठल्ले परभोजी थे, जो तुच्छ सी बात पर असन्तोष फैला सकते थे। दूसरे, उन के भेस मे गुप्तचरों का रहना भी सुगम था, और इस लिए उन की कड़ी देखरेख करना जरूरी था। "वानप्रस्थो के अतिरिक्त कोई प्रव्रजित समूह, सजातों के अतिरिक्त कोई संघ, सामुत्थायिकों के अतिरिक्त कोई समयानुबन्ध उस के (राजा के) जनपद में न बसने पाय।"[1]

उस युग की भारतीय राज्यसंस्था की विकास-सीमा और साम्राज्य की नीति इन शब्दो मे स्पष्ट झलकती है। प्रव्रजितों या साधुओं का सम्प्रदाय उत्तर वैदिक काल मे खड़ा हुआ था, और महाजनपद-युग मे ही वह राष्ट्र के लिए एक समस्या बन चुका था[2], क्योंकि निकम्मे निठल्ले

१. अर्थ० २.१;—पृ० ४८।
२. दे० ऊपर §§ ८५ उ, ८६ अ।

लोग भी उस मे भरती हो कर राष्ट्र पर खाली बोझ हो सकते थे। सजात सघ अर्थात् जन या कबीले तो कुछ आरम्भिक समाजो मे रहे होगे, उन के अतिरिक्त कृत्रिम सघ भारतीय समाज मे तब बहुत थे—उन की सत्ता सामूहिक जीवन की उत्कट सचेष्टता को सूचित करती है—,और मौर्य साम्राज्य की नीति उन को तोडने और दबाने की थी। इस से यह भी सूचित होता है कि साधारण रूप से भारतीय समाज सजात जन की अवस्था लाँघ चुका था। साम्राज्य के लिए राजनैतिक सघ तो खतरनाक थे ही, प्रत्युत नगर गाँव आदि के छोटे छोटे समयानुबन्ध—समय अर्थात् परस्पर ठहराव पर खडे हुए सगठन—भी उसे काँटे मालूम होते थे, क्योंकि वे भी अवसर पा कर राजनैतिक शक्ति हथिया सकते थे। केवल एक प्रकार के समयानुबन्धो को साम्राज्य के सचालक रहने देना चाहते थे—जो कि सामुत्थायिक हो, अर्थात सयुक्त पूजी ( सम्भूय-समुत्थान ) वाले व्यापारियो या शिल्पियो के समूह हो, वैसे समूहो को बढाना तो उलटा साम्राज्य-सचालको को अभीष्ट था, क्योंकि उन से राष्ट्र की और साम्राज्य की आर्थिक शक्ति बढती थी। स्पष्ट है कि यह नीति साम्राज्य-सचालको के केवल आदर्श और उद्देश को सूचित करती है, वस्तु-स्थिति मे उन्हे बहुत कुछ समझौता करना पड़ता था।

## § १४४. चातुरन्त राज्य का ढाँचा

### अ. केन्द्रिक संगठन—मन्त्रिगण और मन्त्रिपरिषद्

इस विवेचना के बाद अब हम साम्राज्य के केन्द्रिक शासन को भी ठीक समझ सकेंगे। साम्राज्य के केन्द्र मे राजा मन्त्रिणः और मन्त्रि-परिषद् की सहायता से शासन करता था। मन्त्रिण: अर्थात् मन्त्रियो का समूह या मन्त्रिगण राजा के असल साथियो और शासन के वास्तविक संचालको का समुदाय था, जिस मे तीन-चार व्यक्ति होते थे। मन्त्रिपरिषद् मन्त्रिगण से

बड़ी और मन्त्र ( सलाह ) देने वाली सस्था थी, जिस मे बारह सोलह बीस या यथासामर्थ्य पारिषद् होते थे। उन मे से जो अनासन्न ( अनुपस्थित ) हो, उन का मत पत्र द्वारा मँगाया जाता था। आत्ययिक कार्य मे मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् की इकट्ठी बैठक होती, और उन मे जो बहुतो का मत हो या जिसे राजा कार्यसिद्धिकर माने सो किया जाता था।[1]

अर्थशास्त्र की मन्त्रिपरिषद् और अशोक-अभिलेखो की परिषा स्पष्टत: एक ही वस्तु थीं। उस के अधिकारो और कार्य्य के विषय मे सब विद्वानो की प्रायः एक मति है। एक तरफ जायसवाल भी यह नही कहते कि वह पूरी पूरी प्रजाकीय सस्था थी; उन के मत मे उस मे पौर-जानपदों के केवल कुछ खास प्रतिनिधि होते थे। दूसरी तरफ, जिन का यह मत है कि इस युग मे राजा की परिषद् केवल उस के सलाहकारो की सस्था रह गई थी, जिन्हे राजा स्वयं चुनता था, वे भी यह स्वीकार करते हैं[2] कि वह उस के ऊपर बन्धन लगाने का काम देती और वह अपने को प्रजा की प्रतिनिधि तथा उस के अधिकारो की रक्षा के लिए जिम्मेदार मानती थी। इस का कारण यह था कि एक तो वह वैदिक काल की समिति की उत्तराधिकारिणी थी, जो कि वस्तुतः प्रजा की प्रतिनिधि होती थी और जिस का मुख्य काम राजा पर नियन्त्रण रखना होता था। दूसरे, भारतीय राज्य-संस्था मे यह विचार सदा रहा कि राजा प्रजा से षड्भाग लेने के कारण उन का भृत्य या उन का ऋणी है—अशोक भी अपने उस ऋण का उल्लेख करता है[3]; और उस भृति के बदले मे वह ठीक से काम करता है कि नहीं, अथवा उस ऋण को ठीक से चुकाता है कि नही, इस का ध्यान रखने का दायित्व मन्त्रिपरिषद् पर समझा जाता था।

---

१. अर्थ० १. १५।

२. वि० कु० सरकार—पोलिटिकल थियरीज़ आदि, ४ § ४, ८ § ५।

३. प्र० शिला० ६

मेंगास्थे ने अपने समय के भारतीय समाज को सात वर्गों मे बाँटा है। पहला वर्ग राजाओं और राजकुमारो आदि का था। दूसरे वर्ग मे मन्त्री पारिषद और सलाहकार लोग गिने जाते थे। उस वर्ग के पास सब से अधिक शक्ति थी, मण्डलो के शासक, उन के निचले सहायक, कोष और सेना के अध्यक्ष आदि को चुनना और नियुक्त करना उसी वर्ग के हाथ मे था। स्पष्टतः वह वर्ग मन्त्रिपरिषद् के पारिषदो का ही था। राज्य के सभी विभागो के अधिकारियो को राजा उन्ही की सलाह से नियुक्त करता था।

## इ. प्रबन्ध वसूली और न्याय के महकमे

जैसा कि ऊपर कह चुके है जनपद का मुख्य अधिकारी अर्थशास्त्र के अनुसार एक समाहर्ता होता था, उस के नीचे चौथाई जनपद पर स्थानिक, और फिर ५ या १० गाँवो पर एक गोप। गाँवो, खेतो आदि की सीमाओ को ठीक रखना, उन की मलकीयत का लेखा रखना, उन के कर आदि का हिसाब रखना सब गोप का काम था। ये अधिकारी अपने इलाको की जन-संख्या भी करते, और उस की घटी-बढती का, नये जन्मो और मृत्युओ आदि का, लेखा रखते थे। इतने प्राचीन युग मे ससार के और किसी भी सभ्य देश मे इस प्रकार मनुष्य-गणना करने की प्रथा न थी।

गोपो और स्थानिको के स्थानों मे बलि-प्रग्रह (कर की वसूली) करने वाले दूसरे अधिकारी होते थे, जो प्रदेष्टा कहलाते थे। उन्ही स्थानो पर कार्य करने (मुकद्मे सुनने) वाले अधिकारी भी होते, वे भी प्रदेष्टा ही कहलाते थे।[1] फौजदारी कचहरियो को अर्थशास्त्र मे कण्टकशोधन कहा है, और कण्टकशोधन का काम तीन प्रदेष्टा या तीन अमात्य इकट्ठे करते

---

१. अर्थ० २. ३५—पृ० १४३।

थे[1]—अर्थात् प्रत्येक वैसी कचहरी तीन प्रदेष्टाओं की बनी होती थी। उस में उब्बहिका या सभा ( जूरी ) का कोई उल्लेख नहीं है। उन कचहरियों को बड़े अधिकार थे। चोरी, उत्कोच ( घूस ), व्यभिचार, राजद्रोह, सड़क सेतु ( बाँध ) आदि के बिगाड़ने और प्रबन्ध-सम्बन्धी नियमों विषयक सब मुकद्दमे वे सुनतीं, और जुरमाने बन्धन ( कैद ) निर्यातन और मृत्यु तक का दण्ड दे सकती थीं।

दीवानी मामले सुनने वाली कचहरियां अलग थी, वे साम्राज्य के प्रत्येक केन्द्र में स्थापित थीं। उन में से प्रत्येक में तीन धर्मस्थ या तीन अमात्य बैठते थे।[2] कुल दीवानी मामले अर्थशास्त्रकारों द्वारा १७ या १८ विभागों में बाँटे गये थे। विवाह, दाय-विभाग, ज़मीन और गृहवास्तुक ( मकान ), समय को तोड़ने, ऋण, उपनिधि ( धरोहर ), दास और कर्मकर, सम्भूय-समुत्थान, क्रय-विक्रय, दान और स्वामित्व, साहस ( ज़ोर-जबरदस्ती), वाक्पारुष्य ( मानहानि ), दण्डपारुष्य ( मारपीट ), द्यूत और समाह्वय ( बाजी लगाना ) आदि विषयक सब झगड़े धर्मस्थीय अदालतों में सुने जाते थे।

न्याय की कड़ी मर्यादा थी। स्वयं धर्मस्थ और प्रदेष्टा और यहाँ तक कि राजा भी दण्ड से ऊपर न थे। यदि कोई धर्मस्थ वादी या प्रतिवादी के साथ अनुचित बर्ताव करे या जान बूझ कर पक्षपात करे, तो कण्टकशोधकों के सामने उस पर मामला चल सकता था। उसी तरह यदि प्रदेष्टा अनुचित दण्ड दे तो उसे दुगुना या कई गुना दण्ड भोगना पड़ता था—जुरमाने ( हैरण्य दण्ड ) के बदले में जुरमाना, और शारीर दण्ड के बदले में शारीर दण्ड।[3] कौटिल्य जैसा एकराज्य का पक्षपाती भी यह स्वीकार करता है कि

---

१. वहीं ४. १०—पृ० २०० ।

२. वही, ३. १—पृ० १४७ ।

३. वहीं ४०.६—पृ० २२४-२५, धर्मस्थश्चेद् इत्यादि ।

प्रदेष्टा राजा को भी दण्ड दे सकता था,[१] और कि निरपराध ( अदण्ड्य ) को दण्ड देने से राजा को दण्ड भोगना पडता था ।[२]

## उ. सेना

मॅगास्थॅने के वर्णन से पता मिलता है कि मौर्यो का सेना-विभाग बहुत ही सुव्यवस्थित और बाकायदा था। उस मे छ. अलग अलग महकमे थे जिन मे से प्रत्येक ५-५ पुरुषो के एक एक वर्ग के अधीन चलता था। पैदल घुडसवार रथ और हाथियो की सेना के चार महकमे थे, पाँचवाँ नौ-सेना का, और छठा रसद और सामान जुटाने और पहुँचाने का। चन्द्रगुप्त के समय सेना मे ६ लाख पैदल, ३० हजार सवार, ९ हजार हाथी और ८ हजार रथ थे—प्रत्येक हाथी पर तीन धनुर्धर और प्रत्येक रथ मे दो योद्धा, इस प्रकार कुल ६ लाख ९० हजार सैनिको की खडी सेना तैयार रहती थी, नौ-सेना उस से अलग थी। उस सेना की कवायद और शिक्षा का प्रबन्ध बहुत बारीकी से किया गया था। छावनियाँ डालने के और उन के प्रबन्ध के नियम अर्थशास्त्र मे बारीकी के साथ निश्चित किये गये हैं। उसी प्रकार चढ़ाई के समय रसद आदि जुटाने और ढोने के भी। सेना के पीछे पीछे चिकित्सक और परिचारिकाये भी रहती थीं[३]। किले तोडने आदि के लिए कई प्रकार के यन्त्र भी काम आते थे[४]।

अर्थशास्त्र मे मौल और भृत बल के अतिरिक्त श्रेणी-बल अटवी बल और मित्र-बल का भी उल्लेख है[५]। मौल बल वह जो राजा की अपनी बिरादरी के

---

१ वहीं ४ १०—अन्तिम श्लोक।

२. वहीं ४. १३—अन्तिम दो श्लोक।

३. वहीं १०. ३—पृ० ३६६।

४. वहीं २. १८—पृ० १०१।

५. वहीं २. ३३—पृ० १४६।

लोगो का—मूल रूप—होता था; भृत बल वैतनिक सेना थी; कुछ अधीन मित्र राष्ट्र, आटविक जातियाँ और श्रेणियाँ भी शायद कर-रूप मे अपनी सेना देती थीं। अथवा, मित्र-बल अधीन मित्रो का नहीं, किन्तु युद्ध के समय सहयोग देने वाले जिस किसी मित्र का होता था, और मौल, भृत, श्रेणि-बल तथा अटवी-बल ये चार प्रकार की सेनाये ही मुख्य रूप से रहती थी। श्रेणि-बल मित्र-बल से अधिक अच्छा माना जाता था, क्योकि वह जानपद अर्थात् अपने देश का होता था।

हाथियो और पैदलो मे मौर्य सेना की विशेष शक्ति थी।

## ऋ. सेना-विभाग के सहायक तथा कृषि व्यवसाय आदि के महकमे

राज्य के कुछ महकमे ऐसे थे जिन्हे सेना-विभाग और प्रबन्ध-विभाग का परिशिष्ट कहना चाहिए। नमूने को, हाथियो पर राजा का एकाधिकार था, क्योकि युद्ध के लिए हाथियो का बड़ा महत्त्व था। राज्य की तरफ से हाथियो घोड़ों गायो और अन्य जानवरो की अच्छी नस्ल तैयार करने को शालाये या व्रजभूमियाँ थी, जिन के बाकायदा अधिकारी—हस्त्यध्यक्ष अश्वाध्यक्ष गोध्यक्ष आदि—होते थे, अशोक के १२ वे शिलाभिलेख का व्रचभूमिक शायद अर्थशास्त्र का गोध्यक्ष ही है[1]। जल- और स्थल-मार्गो पत्तनो आदि की रक्षा और देखरेख के लिए विशेष राजकीय अधिकारी थे; राहदारी के अनेक पेचीदा नियम थे। रास्तो पर दूरी के सूचक निशान बराबर लगाये जाते और यात्रियों के उतारे का प्रबन्ध होता। मौर्यों का जगल का महकमा भी था। राज्य की तरफ से वनस्पतियों और ओषधियो के बगीचे भी थे। सिचाई पर पूरा ध्यान दिया गया था। राज्य के व्यावसायिक और आर्थिक महकमो—अर्थात्

---

१. भा० अ० स० १, प्रस्तावना, पृ० ४२।

राज्य को खेती खानो और कारखानो—का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। अनेक प्रकार के वाणिज्य पर शुल्क उगाहने का महकमा भी था। किन्तु शुल्क के सम्बन्ध मे यह नीति थी कि "राष्ट्र को पीडा देने वाले और फल-हीन माल को न आने दिया जाय, और जो माल राष्ट्र का उपकार करने वाले हो उन्हे तथा दुर्लभ बीजो को बगैर चुगी के कर दे।"[1]

## ऌ. गुप्तचर विभाग

मौर्यो का चार या गुप्तचर विभाग बहुत ही पेचीदा और पूर्ण था। उस के बिना उन की साम्राज्य नीति चरितार्थ न हो सकती थी। अन्दर और बाहर के शत्रुओं को खोज निकालना, सघो आदि की शक्ति को तोडना, अन्तों अर्थात् पडोसी राज्यो की कार्रवाइयो पर और उन के बल-अबल पर दृष्टि रखना सब उसी महकमे का काम था।

## ए. सामाजिक महकमे

जनता के सामाजिक जीवन और विनोद आदि की भी मौर्य राज्य देखरेख रखता था। नट नर्त्तक आदि के नियन्त्रण की बात पीछे कही गई है। उसी प्रकार पानागारों (शराबखानो) और गणिकाओ के निरीक्षण के लिए विशेष अध्यक्ष होते थे। इन महकमो से राज्य को आय भी होती थी।

## § १४५. मौर्य साम्राज्य का 'व्यवहार'

मौर्यकालीन भारत की राज्यसस्था मे कानून के आधार कौन कौन से थे, इस का उल्लेख पीछे ( § १४१ ) कर चुके है। उन मे से धर्म और व्यवहार पुराना स्थापित कानून था। अर्थशास्त्र का तीसरा अधिकरण धर्मस्थीय

---

१. अर्थ० २.२१—पृ० ११२।

और चौथा कण्टकशोधन है। ये अधिकरण मौर्यकालीन व्यवहार की स्मृति है। इन मे उस तमाम कानून का प्रतिपादन किया गया है जिस के अनुसार मौर्यों के धर्मस्थ और प्रदेष्टा व्यावहारिक अर्थों का चिन्तन करते या कार्यों (मामलों) को देखते थे। इस व्यवहार या आईन के मुख्य अंगों और उन की बहुत सी उल्लेखयोग्य बातो की चर्चा भी ऊपर प्रसगवश हो चुकी है। यहाँ उस का एक सामान्य दिग्दर्शन कर के विशेष महत्त्व की बातों की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

## अ. पारिवारिक कानून

व्यवहार मे सब से पहला मामला विवाह का है। "बारह बरस की स्त्री प्राप्तव्यवहार (कानूनी अधिकार पाने वाली, बालिग) होती है। और सोलह बरस का पुरुष"[1] तथा "विवाह से पहले व्यवहार (कानूनी अधिकार)"[2] होते थे—अर्थात् बालिग होने पर ही विवाह हो सकता था। जायसवाल का कहना है कि कौटिल्य की विवाह-व्यवस्थाओ मे जनसंख्या बढ़ाने की नीति स्पष्ट दीख पड़ती है, और उस ने उसी नीति से स्त्री-पुरुष के विवाह की आयु घटाई है, पहले वह अधिक थी[3]।

विवाह के आठ प्रकारो का भी अर्थशास्त्र मे ब्योरा है, उस वर्गीकरण का स्पष्ट उद्देश था तमाम विवाहो को कानून की सीमाओ मे लाना। पीछे (§ ११६) देख चुके हैं कि शुरु मे विवाह का वर्गीकरण केवल दो किस्मो में किया गया था—एक ब्राह्म दूसरा शौल्क; ब्राह्म ब्रह्म अर्थात् वेदमन्त्रो से सिद्ध होता था, शौल्क शुल्क से; पहला संस्कारात्मक था, दूसरा ठहरावात्मक।

---

१. अर्थ० ३.३—पृ० १५४।

२. वही ३.२—पृ० १५१।

३. मनु और याज्ञ० पृ० २२५।

शौल्क का नाम ही अर्थशास्त्र मे आर्ष है, पर उस का शुल्क केवल साकेतिक है—एक जोडी बैल, धर्म की दृष्टि से देखने वाले जैसे मन्त्रो से विवाह की पूर्णता मानते थे, अर्थ की दृष्टि वाले वैसे ही उस साकेतिक शुल्क से। प्राजापत्य की कल्पना उन दोनो के पीछे की गई, उस मे ब्राह्म और शौल्क दोनो मिले है, साथ मिल कर धर्म आचरण ही उस के प्रवर्तको की दृष्टि से विवाह का लक्षण था। वह आर्यों के विवाह-विषयक सर्वोच्च आदर्श को सूचित करता है। दैव विवाह अपने पुरोहित को कन्या देने से होता था। ये चार धर्म्य थे। बाकी चार थे—गान्धर्व, आसुर, राक्षस, पैशाच। गान्धर्व का अर्थ था युवक-युवती का प्रेम के कारण विना सस्कार के सम्बन्ध कर लेना। आसुर का अर्थ है स्त्री खरीदना। राक्षस का दूसरा नाम क्षात्र भी है। वह युद्ध मे हरने से होता था। पैशाच सब से घृणित था—सोती मूर्च्छित या उन्मत्त स्त्री को पकड लाना। पिछले चार अधर्म्य थे, इस का यह अभिप्राय नहीं कि राजकीय धर्मस्थ उन्हे नही मानते थे। उन्हे वैध बनाने के लिए ही उन की गिनती की गई है। और उन्हे वैध बनाने का तरीका यह था कि लडकी के माता-पिता को स्वीकृति मिल जाय तथा लड़की के लिए वृत्ति या स्त्रीधन स्थापित कर दिया जाय। गान्धर्व और आसुर विवाहो मे यदि उस स्त्रीधन को पति कभी बर्ते तो उसे सूद-सहित वापिस देना होता था। राक्षस और पैशाच मे यदि वह स्त्रीधन को छुए तो स्त्री उस पर चोरी का मुकदमा कर सकती थी[1]। इस प्रकार,सब प्रकार के सम्बन्धो को कानून जहाँ विशेष शर्तों पर मान लेता था, वहाँ बुरे सम्बन्धो मे स्त्री की रक्षा का उस ने पूरा प्रबन्ध किया था।

इस प्रसग मे सब से अधिक मनोरञ्जक बात यह है कि विवाह को इस मौर्य स्मृति मे दूसरे ठहरावो की तरह एक ठहराव—एक साधारण

---

१. अर्थ० ३.२—पृ० १५१-५२।

व्यवहार—माना गया है, और काफ़ी आसानी से और बहुत छोटे कारणों से उस ठहराव से मोक्ष (तलाक) मिल सकता था। परस्परं द्वेषान् मोक्षः[1]—परस्पर द्वेष होने से तलाक हो जाय, यह एक माना हुआ सिद्धान्त था। यदि द्वेष एक तरफ से हो तो दूसरे पक्ष की इजाज़त से मोक्ष हो सकता था। स्त्री को यदि पुरुष से या पुरुष को यदि स्त्री से विप्रकार की आशंका हो, तब भी मोक्ष की दरख़्वास्त दी जा सकती थी[2]। ह्रस्व और दीर्घ प्रवास भी मोक्ष का कारण बन सकते थे।

"ह्रस्व-प्रवासी शूद्र वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मणों की भार्यायें एक बरस काल तक प्रतीक्षा करें यदि उन की सन्तान न हुई हो; सन्तान हुई हो तो बरस से अधिक। यदि उन के गुज़ारे का प्रबन्ध किया गया हो तो दूना काल, ...। ब्राह्मण पढ़ने गया हो तो उस की बिना सन्तान की स्त्री दस बरस, सन्तान वाली हो तो बारह बरस। राजपुरुष की आयु भर प्रतीक्षा करे। किन्तु यदि अपने सवर्ण (किसी अन्य पुरुष) से सन्तान पैदा कर ले तो निन्दा को प्राप्त न हो। यदि उस की जीविका का प्रबन्ध न हो और सुखावस्थ (अच्छी हालत वाले) कुटुम्बी उसे छोड़ दें तो यथेष्ट (नये पति) को प्राप्त करे।

धर्म-विवाह (ब्राह्म प्राजापत्य आर्ष या दैव) से व्याही गई कुमारी प्रोषित पति का, यदि उस का समाचार मिलता हो और यदि स्त्री अपने इरादे की घोषणा न करे तो सात तीर्थों (मासिक धर्म के अनन्तर सहवास-कालों) तक प्रतीक्षा करे; यदि उस की खबर मिलती हो और स्त्री घोषणा कर दे तो बरस तक। प्रोषित (पति) की खबर न सुनी जाती हो तो पाँच तीर्थों तक, सुनी जाती हो तो दस तीर्थों तक; जिस ने शुल्क

---

१. वहीं ३.३—पृ० १५५।

२. वही।

का एक अश ही दिया हो उस की खबर भी न सुनी जाय तो तीन तीर्थों तक, खबर सुनी जाती हो तो सात तीर्थों तक, जिस ने पूरा शुल्क दिया हो उस की खबर न सुनी जाय तो पाँच तीर्थों तक, सुनी जाय तो दस। उस के बाद धर्मस्थो की इजाजत लेकर यथेष्ट ( पुरुष को ) प्राप्त करे। क्योंकि तीर्थ को रोकना धर्म का वध करना है, कौटल्य का ऐसा कहना है।"[1]—इसी से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जन-सख्या बढ़ाने की कौटल्य को बडी चिन्ता थी।

स्त्री को दाय पाने का पूरा अधिकार था, यह कौटल्य के व्यवहार की एक और उल्लेखयोग्य बात है।

पुत्र-विभाग के अध्याय मे पहले-पहल यह विवाद उठाया गया है कि यदि एक पुरुष के क्षेत्र मे दूसरा बीज डाले तो फल किस का होगा। "दूसरे के ग्रहण करने पर छोडा हुआ बीज खेत वाले का होता है, ऐसा आचार्यों का कहना है। माता तो धौकनी है, जिस का वीर्य उस की सन्तान, यह दूसरो का मत है। कौटिल्य का कहना है कि दोनो ठीक है"[2]—नियोगज सन्तान दोनो की उत्तराधिकारिणी होती थी। ये सब बाते वास्तविक व्यवहार की थीं, और ये हमे याद दिलाती हैं कि अभी हम वैदिक काल से बहुत दूर आगे नही बढ आये हैं। विभिन्न वर्णों के विवाह को कौटल्य पूरी तरह जायज मानता है। पुत्र-विभाग अध्याय के अन्त मे कहा है—देश का, जाति का, संघ का, या ग्राम का (जिस का) जो धर्म हो, उस का उसी के अनुसार दाय-धर्म सिद्ध करे।

---

१. वहीं ३ ४—पृ० १२८–२९।

२. वहीं ३,७—पृ० १६५।

## इ. समय का अनपाकर्म और आर्थिक कानून

मकानो और खेतो के विवादो मे ग्रामवृद्ध जूरी के रूप मे बैठते थे। उन के बहुमत के अनुसार फैसला होता था[1]।

ग्राम, देश, जाति, कुल और सघो के समय का अनपाकर्म एक और व्यवहार-पद है, जिस का पीछे उल्लेख कर चुके है।

ऋण के नियमो का आरम्भ यो किया है[2] कि १$\frac{1}{4}$% मासिक वृद्धि धर्म के अनुसार होती है, व्यवहार के अनुसार ५%; पर कान्तारकों ( जगल पार करने वाले व्यापारियो) की १०%, और सामुद्रिक व्यापारियो की २०%। स्थल और समुद्र के व्यापारी इतना अधिक सूद देते थे, तब वे नफा भी काफी बनाते होगे।

ऋण और क्रय-विक्रय आदि के गवाहों को श्रोता (सुनने वाले) कहा है, यद्यपि साक्षी (देखने वाले गवाह) का भी कई जगह उल्लेख है। इस का यह अर्थ है कि अभी बहुत से व्यवहार जबानी होते थे—लेख का वैसा प्रचार न हुआ था जैसा कि हम आगे ( § १९२ उ ) याज्ञवल्क्य-स्मृति के समय मे देखेंगे।

दासों-विषयक कानून का हम आगे अलग विचार करेंगे। उस से अगला कर्मकरो विषयक कानून[3] भी आर्थिक इतिहास की दृष्टि से बहुत कीमती है।

उस से अगला विषय सम्भूय-समुत्थान[4] भी मनोरञ्जक है। उस में संघभृताः अर्थात् सघ-रूप मे भृति तय कर के काम करने वालो का भी उल्लेख

---

१. वहीं ३ ९—पृ० १६१ , तेषां द्वैधीभावे यतो बहवश्शुचयो इत्यादि।

२. वहीं ३. ११—पृ० १७४।

३. वहीं ३ १३, १४—पृ० १८३—८५।

४. वहीं ३. १४—पृ० १८५—८७।

है। सम्भूय समुत्थाता ( मिल कर उठने वाले ) कर्षक ( किसान ) और वैदेहको ( व्यापारियो ) का भी ज़िक्र है। सम्भूय समुत्थान करने वाले याजको और ऋत्विजो के दक्षिणा बाँटने के नियम दिये है। इस प्रकार सम्भूय समुत्थाताओ मे सम्मिलित पूजी वाले व्यापारियो के अतिरिक्त सहकार या सहोद्योग (cooperative) पद्धति से काम करने वाले मेहनतियो तथा सामुदायिक (collective) खेती करने वाले किसानो को भी गिनती थी। सच कहे तो सम्मिलित पूजी की बात अभी यहाँ इतनी नहीं दीखती जितनी सामुदायिक श्रम की।

## उ. दासत्व कानून

धर्मस्थीय का तेरहवाँ अध्याय दासकल्प शायद सब से अधिक महत्व का है। उस का आरम्भ यो होता है—"उदरदास के सिवाय आर्यप्राण अप्राप्तव्यवहार (नाबालिग) शूद्र को बेचने या धरोहर रखने को ले जाने वाले स्वजन के लिये १२ पण दण्ड। वैश्यको दूना। क्षत्रिय को तिगुना। ब्राह्मण को चौगुना। पराये आदमी (ले जाने वाले) के लिए पूर्व मध्यम उत्तम और वध दण्ड (अर्थात् शूद्र को बेचने की चेष्टा से पूर्व दण्ड, वैश्य को बेचने की चेष्टा से मध्यम आदि ), क्रेता और श्रोताओ के लिए भी।

म्लेछो को प्रजा (अपनी सन्तान) बेचने या धरोहर रखने से दोष नहीं होता।

किन्तु आर्य को दास नही किया जा सकता।"[1]

मौर्य साम्राज्य के ठीक पडोस मे यूनानी राज्य थे, और म्लेच्छो से अभिप्राय यहाँ निश्चय से उन्ही से है। उन मे दासत्व का बहुत बुरा प्रचार

---

१ म्लेच्छानामदोषः प्रजा विक्रेतुमाधातु वा। न त्वेवार्यस्य दास भावः॥—पृ १८१।

था; उन के बड़े प्रजातन्त्रवादी दार्शनिक अरस्तू ने उस प्रथा का समर्थन किया है। जिस आथेन्स नगरी को यूनानी लोग प्रजातन्त्र-पद्धति का अग्रणी मानते थे, उस के इलाके मे कुल ३५ हजार स्वतन्त्र प्रजा और ३ लाख दास थे, अर्थात् प्रति १३ आदमियो में से केवल १ स्वतन्त्र। प्राचीन यूनानियों और उन के आधुनिक प्रशंसको के लिए वह भले ही एक आदर्श प्रजातन्त्र रहा हो, अपनी जनता मे से ९२½ फी सदी के लिए वह कैदखाने से बदतर थी। एक एक परिवार के पास ५-५ सौ तक दास होते थे। खेती-बाड़ी मेहनत-मजदूरी सब वही करते थे। भारतवर्ष मे वह दशा कभी नहीं रही, खेतो वाले दास तो यहाँ कभी थे ही नहीं; जो दास थे वे घरेलू सेवा करने के लिए थे। उन की सख्या भी यूनान के मुकाबले मे इतनी कम थी, और उन के साथ बर्त्ताव वहाँ के मुकाबले मे इतना अच्छा था कि मेगास्थेने ने समझा कि भारतवर्ष मे दासत्व है ही नही। और कौटल्य की व्यवस्थाओ से प्रतीत होता है कि जो थोड़े-बहुत दास थे भी, उन्हे भी मुक्ति दिलाना और भारतवर्ष की समूची प्रजा को स्वतन्त्र बनाना कौटल्य का ध्येय था।

उदरदास (पैदा हुए दास) के अतिरिक्त क्रीत (खरीदे), आहितक (धरोहर रक्खे) और ध्वजाहृत (झण्डे के नीचे अर्थात् युद्ध मे पकड़े गये) दासों का उल्लेख है। पूर्वोक्त नियम से स्पष्ट है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और आर्य-प्राण शूद्र—अर्थात् जिस शूद्र की नसो मे आर्य रक्त मिश्रित हो उस—का विक्रय या आधान न हो सकता था। बाकी केवल शुद्ध अनार्य शूद्र बचे, जो दास बनाये जा सकते थे। उन सब को भी आर्य (स्वतन्त्र भारतीय) बना डालना और जब तक वे आर्यत्व के अधिकार न पा सके उन से बुरा बर्त्ताव न होने देना कौटल्य को अभीष्ट था, सो इन व्यवस्थाओ से प्रकट होगा—

"आहित दास से मुर्दा पाखाना पेशाब या जूठन उठवाना, उसे नंगा रखना या मारना, और स्त्रियों (दासियो) का अतिक्रमण (सतीत्व-खण्डन) (उन के) मूल्य को नष्ट कर देता है (अर्थात् वैसा करने से वे स्वतन्त्र हो जाते हैं)।

आहितक अकामा धाय का अधिगमन करने वाले स्वामी को पहला साहस दण्ड, दूसरे को मध्यम दण्ड। आहितक कन्या को स्वय या दूसर से दूषित कराने से मूल्यनाश, शुल्क (उस कन्या के विवाह के लिए शुल्क) और उस से दूना दण्ड।

अपने को बेचने वाले की सन्तान को आर्य जाने।

स्वामी का काम न बिगाडते हुए (वह) जो अपनी कमाई करे, (उसे) पाय। और पैतृक दाय को भी।

और मूल्य (चुका देने) से आर्यत्व (स्वतन्त्रता) प्राप्त करे।

वैसे ही उदरदास और आहितक। ' आर्यप्राण ध्वजाहृत (युद्ध मे पकडा गया) हो तो ' ' आधे मूल्य से छूट जाय।

(स्वामी के) घर मे (दास रूप मे) पैदा हुए, दाय मे आये, लब्ध (पाये गये) या क्रीत (खरीदे गये) मे से किसी किस्म के दास को, जो आठ बरस से छोटा और बन्धुहीन हो, उस की इच्छा के विरुद्ध नीच कार्य मे लगाने या विदेश मे विक्रय या आधान के लिए ले जाने, अथवा सगर्भा दासी को उस के गर्भ-काल मे भरण-पोषण का प्रबन्ध किये बिना विक्रय या आधान के लिए ले जाने वाले को पहला साहस दण्ड। क्रेता श्रोताओं को भी।

उचित निष्क्रय (स्वतन्त्र होने का मूल्य ) पाने पर दास को आर्य (स्वतन्त्र) न करने वाले को १२ पण दण्ड। '

दास के द्रव्य के दायाद ( उस के ) सम्बन्धी (होगे)। उन के अभाव मे स्वामी।

स्वामी से दासी मे पैदा हुए को (अपनी) माता सहित अदास जाने। यदि कुटुम्ब की अर्थ-चिन्ता के लिए उसे गृह्य (घरेलू) दासी बना रहना हो तो उस की माँ भाई और बहन अदास हो जायँ।"

इन व्यवस्थाओं का प्रयोजन इतना स्पष्ट है कि कहने की जरूरत नहीं।

## ऋ. विविध

वाक्पारुष्य के अपराध मे किसी के गाँव या देश की निन्दा करना भी गिना गया है सो पीछे कह चुके हैं। दण्डपारुष्य छोटे जानवरो और वनस्पतियो के खिलाफ भी हो सकता था, काम के वृक्षो को काटने उखाडने का दण्ड उसी शीर्षक के नीचे आया है। द्यूतसमाह्वय पर राजकीय नियत्रण था सो भी कह चुके हैं। फुटकर अपराधो मे शाक्य आजीवक आदि वृषल ( शूद्र ) प्रव्रजितो ( सन्यासियो) को देवताओं और पितरो के कार्यों में खिलाना भी है।

## लृ. फ़ौजदारी कानून

कटकशोधन के आईन मे सब से पहले कारुक-रक्षण अर्थात् शिल्पियो की रक्षा का विधान है। श्रेणियो-सम्बन्धी नियम उसी मे आते है। दूसरा अध्याय वैदेहक (व्यापारी)-रक्षण का है। उस मे एक नियम यह भी है कि 'वैदेहक लोग इकट्ठे हो कर माल रोक ले और कीमत बढ़ा कर बेचे या खरीदे तो उन्हे हज़ार (पण) दण्ड'[१]। व्यापारियो के इस प्रकार के कार्यो मे आधुनिकता की गन्ध आती है।

मेगास्थेन ने का कहना है कि मौर्य भारत मे किसी शिल्पी का हाथ काटने वाले को मृत्यु-दण्ड मिलता था[२]।

कण्टक शोधन के और कार्यों मे आशु-मृतक-परीक्षा (शव-परीक्षा) भी है[३]। धर्मस्थो प्रदेष्टाओं और राजा तक के दण्ड का विधान है सो पीछे कह चुके हैं। साक्षी मे अग्नि आदि की दैव साक्षी का कही नाम नही है,

---

१ वहीं ४ २—पृ० २०५।

२. पृ० ७१।

३ अर्थ० ४ ७।

यद्यपि धर्मशास्त्रों मे उस का विधान है। जान पडता है कि धर्मशास्त्रकारों को वह स्वीकृत थी, पर राजकीय अदालतों मे न चलती थी।

मौर्यों का दण्ड-विधान हमे कठोर जान पडता है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि अनेक अपराधों के शारीरिक दण्डों के बदले निश्चित जुरमाना दे कर छुटकारा हो सकता था। जायसवाल का कहना है कि मौर्यों ने दण्ड-विधान बहुत सरल कर दिया, निर्यातन, अङ्गच्छेद आदि दण्ड पहले से चले आते थे, मौर्यों ने उन मे से बहुतों के बदले वैकल्पिक रूप से जुरमाने का दण्ड कर दिया। कारु शिल्पियों आदि को चोरी के अपराध मे हाथ काटने के बजाय जुरमाने के दण्ड का विधान अर्थशास्त्र मे है[1]। यह "मौर्यों का दिया हुआ वर" दण्डी कवि के समय तक भी बना हुआ था[2]। तो भी राजकीय अपराधों मे कौटिल्य के दण्ड कठोर है, उदाहरण के लिए सिंचाई के तालाब आदि का सेतु (बांध) तोडने से वहीं पानी मे डुबोने का दण्ड[3] था। किन्तु यह कठोरता सार्वजनिक लाभ के लिए ही थी।

मौर्य राजा भारतवर्ष के पहले चातुरन्त शासक थे, सब से पहले चातुरन्त राज्य को स्थापित करने और बनाये रखने के लिए जिस प्रकार की अनुशासन-नीति और योजना उस समय अपेक्षित थी, ठीक उसी प्रकार की अनुशासन-नीति और योजना हम उन के समय मे पाते हैं। उस योजना की सब से अधिक उल्लेखयोग्य बाते थी—एक बडी सुशृखल सेना का सगठन तथा अत्यन्त चतुराई-पूर्ण अर्थनीति। ये दोनो बाते नन्दों के राज्य मे भी थी,

---

१ वहीं ४ १०—पृ० २२७।

२ दशकुमारचरित (बम्बई-सरकार की सस्कृत-प्राकृत-ग्रन्थ-माला में बुइलर सम्पा०, २ संस्क०) पृ० ५६, मनु और याज्ञ० पृ० ७३।

३. अर्थ० ४ ११—पृ० २२६।

किन्तु चन्द्रगुप्त ने इन मे, विशेष कर सेना के सगठन मे, बहुत अधिक उन्नति कर दिखाई ।

## § १४६. मौर्य युग की समृद्धि सभ्यता और सस्कृति

### अ. आर्थिक समृद्धि

महाजनपद-काल और पूर्व-नन्द-काल में भारतीय समाज का जो आर्थिक और व्यावसायिक ढाँचा हम ने देखा था, मौर्य काल मे उसी को और अधिक परिपक्व रूप मे पाते हैं । शिल्प और व्यापार इस समय तक समाज के जीवन मे यदि कृषि से अधिक नहीं तो कम से कम उस के बराबर महत्त्व पा चुके थे, कारुओ अर्थात् शिल्पियो की श्रेणियाँ उस समाज के ढाँचे की बुनियाद थी । सच कहे तो आर्थिक और व्यावसायिक जीवन की उस परिपक्वता पर ही साम्राज्य का दारोमदार था ।

नन्द और मौर्य दोनो साम्राज्यो की दो विशेषताये प्रसिद्ध है—एक उन की बड़ी भृत सेना और दूसरे कौशलपूर्ण अर्थनीति । वह साम्राजिक अर्थनीति इस युग की नई बात थी, उस का भी निर्भर देश मे शिल्प और वाणिज्य की परिपक्वता और उन्नति पर था । इसी लिए हम यो कह सकते हैं कि शिल्प और वाणिज्य, जो कृषि- और पशुपालन-प्रधान वैदिक युग मे न के बराबर थे, उत्तर वैदिक युग मे जिन का नन्हा सा अकुर पहले-पहल दीख पड़ा था, महाजनपद-युग मे जो खूब पुष्ट हुए और पूर्व-नन्द-युग मे फूले-फले थे, अब इतने परिपक्व हो गये थे कि उन के आधार पर एक साम्राज्य खड़ा हो सकता था । हम देख चुके है कि मौर्य युग मे ही पहले-पहल राज्य की तरफ से खाने खुदवाने, कारखाने चलाने (आकर-कर्मान्त प्रवर्त्तन) आदि की प्रथा चली, वह भी आर्थिक और व्यावसायिक जीवन की परिपक्वता को सूचित करती है । मेगास्थेने इस बात का साक्षी है कि मौर्य राज्य को कारुओं की रक्षा का इतना ध्यान था कि कारीगर का हाथ काटने वाले को वह मृत्यु-दण्ड देता था ।

उस के अतिरिक्त मौर्य साम्राज्य की विकट सामरिक शक्ति का भी एक व्यावसायिक पहलू था। भारतवर्ष के तमाम जनपदो को अधीन करने के लिए बीसियो किले सर करने पडे होंगे, और उन्हे सर करने मे जो पत्थर फेकने के लकडी के एंजिन[1] सुरगे आदि बर्त्ती जाने लगी थी, वे भी इस युग की कारीगरी की पैदा की हुई नई चीज़े थीं।

कारुओ की तरह वणिजो के भी सामुत्थायिक समयानुबन्धो या समूहो का अभ्युदय करना मौर्य साम्राज्य की नीति मे शामिल था। वे सामुत्थायिक (सम्मिलित पूजी वाली) व्यापारियो की मण्डलियाँ देश-विदेश से व्यापार करती, और उन की समृद्धि तथा आपस मे मिल कर काम करने की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि कभी कभी एक चीज के सब व्यापारी मिल कर उस चीज को बाजार मे आने से रोक देते, और उस के मनमाने दाम वसूल कर सौ फ़ी सदी तक लाभ उठाते थे[2]। उस दशा मे राज्य को हस्ताक्षेप करना पड़ता था। अर्थशास्त्र मे ठहराव-विषयक कानून काफी परिपक्व दीखता है, जो व्यापार की उन्नति का सूचक है। सामुद्रिक व्यापारी बहुत अधिक सूद देते थे सो भी पीछे देख चुके है। अर्थशास्त्र से जिन प्रदेशो के साथ मगध का व्यापार रहा प्रतीत होता है, उन मे ताम्रपर्णी (सिंहल), पाण्ड्यकवाट (पाण्ड्य देश का द्वार, तामिल—कपाटपुरम्) पारलौहित्य अर्थात् ब्रह्मपुत्र के परे का इलाका—शायद आसाम—स्वर्णभूमि और सुवर्णकुड्य—जो कि स्वर्णभूमि की तरफ की कोई बस्ती होगी—तथा अलकन्द अर्थात् अलाक्सान्द्रिया सब से दूर के है[3]।

---

१ वैसे यन्त्र को फ़ारसी में मजनीक और अंग्रेज़ी में कैटापुल्ट (catapult) कहते हैं। मध्यकालीन सस्कृत ऐतिहासिक ग्रन्थ मण्डलीक काव्य की हस्तलिखित प्रति में मुझे उस का सस्कृत नाम—मकरी-यन्त्र—मिला था, दे० ना० प्र० प० ३, मेरे लेख का पृ० २।

२ अर्थ० ८ ४—पृ० २३३, ४ २—पृ० २०५।

३ वहीं २ ११—पृ० ७५, ८१।

कपास के बढ़िया कपड़े उस समय दक्खिनी मथुरा (पाण्ड्य देश की राजधानी ), अपरान्त, कलिङ्ग, काशी, वङ्ग, वत्स और माहिष्मती मे बनते थे[1]। यह सूचना महत्त्व की है। मथुरा अनेक युगो तक कपड़े की कारीगरी का केन्द्र रहा, उसी प्रकार कौटिल्य-कालीन वग का कपड़ा पिछले युगो की ढाके की मलमल का पूर्वज था। कलिंग अपने कपड़ो के लिए इतना प्रसिद्ध था कि प्राचीन तामिल साहित्य मे कलिंगम् का अर्थ था कपड़ा।

शिल्प और वाणिज्य की उस उन्नति का परिणाम देश की समृद्धि थी। पाटलिपुत्र उस समय ससार का सब से बड़ा नगर था, न केवल उस समय प्रत्युत समूचे प्राचीन इतिहास मे दूसरा कोई नगर उस का मुकाबला नहीं कर सका। यूनान का प्रमुख नगर आथेन्स ४३० ई० पू० मे तथा रोम २७ ई० पू० से १७ ई० तक—अपनी सब से अधिक समृद्धि के समय—जितने बड़े थे, मौर्य युग का पाटलिपुत्र उस से चौगुना था। २७०–२७५ ई० मे रोम को बढ़ाया गया, तब भी उस की परिधि करीब १०½ मील रही, जब कि पाटलिपुत्र की मौर्य युग मे करीब २१½ मील थी। उस की लम्बाई ९ और चौड़ाई १½ मील थी; उस युग की इमारते प्रायः लकड़ी की होती थी, इस से पाटलिपुत्र के चारो तरफ भी लकड़ी का मोटा परकोटा था जिस मे ६४ दरवाजे और पहरे के लिए ५७० गोपुर (बुर्ज) थे, बाहर चारो तरफ एक खाई थी जिस मे सोन का पानी भरा रहता, प्रत्येक मकान के आगे हर समय भरे घड़े रखना आवश्यक था जो आग लगने पर तुरत काम आ सके। मौर्यों के महलों के अवशेष पटना मे गुल्ज़ारबाग के नज़दीक कुमराढ़ गॉव और उस के खेतों तथा पड़ोस की रेल-पटरी के नीचे पाये गये हैं।

मौर्य काल की राज्यसस्था में केन्द्राभिगामी और केन्द्रापगामी प्रवृत्तियो की किस प्रकार कशमकश थी उस का उल्लेख कर चुके हैं। उस

---

१. वहीं पृ० ८१।

युग मे छोटे छोटे स्वाधीनता-प्रेमी जनपदो को अधीन कर के समूचे भारत मे अनेक शताब्दियो तक एक राज्य बनाये रखना असम्भव था, और इसी लिए अशोक या सम्प्रति के पीछे मौर्य साम्राज्य के टूटने के कोई असाधारण कारण खोजना निरर्थक है।

## इ. ज्ञान और वाङ्मय

वाङ्मय और ज्ञान-सम्बन्धी तथा सामाजिक और धार्मिक जीवन को देखते हुए इस युग को भी उत्तर वैदिक तथा आरम्भिक बौद्ध कहना उचित है। पूर्व-नन्द-युग मे सूत्र वाङ्मय के शुरू होने का उल्लेख कर चुके हैं, वह सूत्रो का युग मौर्य काल को भी ढक लेता है। बौद्ध तिपिटक भी अशोक के समय की तीसरी सगीति के बाद पूरा हुआ। उस के कई अशो मे अशोक के बाद तक की बाते हैं, अभिधम्मपिटक का कथावत्थु अश तीसरी सगीति के प्रमुख मोग्गलिपुत्त तिस्स का लिखा हुआ है। कह चुके हैं कि तिपिटक के प्रसिद्ध प्रसिद्ध सुत्त विचार और शैली मे उपनिषदो के से प्रतीत होते हैं। इसी लिए इस युग के विचार और प्रवृत्तियो को उत्तर वैदिक और आरम्भिक बौद्ध विशेषण ठीक ठीक प्रकट करते हैं।

जैनो के प्रमाण-भूत धार्मिक वाङ्मय मे ११ अग, १२ उपाग, ५ या ६ छेद ग्रन्थ और ४ मूळ ग्रन्थ सम्मिलित हैं। यह गणना स्थानकवासी सम्प्रदाय के अनुसार है, दूसरे श्वेताम्बर १० पयन्ना या प्रकीर्ण ग्रन्थो की भी गिनती करते हैं। कई बार उन के अतिरिक्त २० और पयन्ना, १२ निर्युक्ति तथा ९ विविध ग्रन्थ सम्मिलित कर कुल ८४ प्रमाण-ग्रन्थ माने जाते हैं। दिगम्बर इन ग्रन्थों को नहीं मानते, उन के चार वेदो की तरह चार अनुयोग हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार, महावीर के शिष्य आचार्य सुधर्म ने जिस प्रकार महावीर के मुँह से सुना था उसी प्रकार अंगो और उपांगो का पहले-पहल सम्पादन किया था। वह बात पूर्व-नन्द-युग की हुई, और इस मे सन्देह नही

कि कुछ न कुछ जैन वाङ्मय किसी न किसी रूप मे पूर्व-नन्द-युग मे उपस्थित था। सुधर्म के बाद जैनों का प्रमुख आचार्य जम्बुस्वामी हुआ, फिर प्रभव, फिर स्वयम्भव; स्वयम्भव ने दशवैकालिक नामक मूल ग्रन्थ रचा। स्वयम्भव का समय अन्दाज़न नव-नन्द-युग के आरम्भ मे है। उस का उत्तराधिकारी यशोभद्र था, जिस के पीछे केवल दो बरस के लिए सम्भूतिविजय ने जैनों को प्रमुखता की। उस के बाद प्रसिद्ध भद्रबाहु आचार्य हुआ जो चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन कहा जाता है। भद्रबाहु ने एक निर्युक्ति अर्थात आरम्भिक धर्म-ग्रन्थो पर भाष्य लिखा।

भद्रबाहु के ही समय मगध मे वह प्रसिद्ध दुर्भिक्ष पड़ा जिस के कारण जैन साधु बड़ी संख्या मे प्रवास कर कर्णाटक चले गये। जो पीछे रहे उन को स्थूलभद्र आचार्य ने पाटलिपुत्र मे संगत जुटाई, और उसी संगत में पहले पहल जैन धर्म-ग्रन्थो का सङ्कलन किया गया। उस समय ११ अंगों का तो सुविधा से संग्रह हो गया, पर १२ वाँ, जिस मे १४ पूर्व थे, मगध मे लुप्त हो चुका था। उन पूर्वों का ज्ञान केवल स्थूलभद्र को था, और उसे भी कम से कम १० पूर्वों का ज्ञान नेपाल मे इस शर्त्त पर मिला था कि वह उन्हे गुप्त रक्खे। स्थूलभद्र और उस के साथियों ने मगध में रहते हुए कपडे पहनना भी शुरू कर दिया था। भद्रबाहु ने लौटने पर अपनी अनुपस्थिति में किये गये संकलन की प्रामाणिकता न मानी, और न कपड़े पहनना स्वीकार किया। किन्तु उस समय इन कारणो से जैन पन्थ के दो भाग न हुए। भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र ही आचार्य हुआ।

आजकल जो जैनो के आचाराग सूत्र, समवायाग सूत्र, भगवती, उपासकदशाग, प्रश्न-व्याकरण आदि ११ अंग-ग्रन्थ उपलब्ध है, यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब स्थूलभद्र के समय के हैं। उन के विषय और भाषा में पीछे परिवर्त्तन होता रहा है। भद्रबाहु की कही जाने वाली निर्युक्ति में तो पहली शताब्दी ई० पू० तक की बाते हैं। किन्तु उन ग्रन्थो के विशेष विशेष अंश उतने प्राचीन भी है, इस मे सन्देह नहीं।

उपनिषदों तथा बौद्ध और जैन सुत्तों मे भारतवर्ष के तमाम पिछले दार्शनिक चिन्तन का आरम्भिक रूप है। मौर्य काल तक अनेकमार्गी दर्शन-शास्त्र का स्पष्ट विकास अभी न हुआ था। वह काल आरम्भिक दार्शनिक चिन्तन और बाद के दर्शन-शास्त्र के ठीक बीच का था। दर्शन और तर्क-शास्त्र को कौटल्य आन्वीक्षकी नाम देता है, और आन्वीक्षकी मे वह केवल तीन सम्प्रदायों—साख्य योग लोकायत—को गिनता है। न्याय वैशेषिक वेदान्त आदि दर्शन-पद्धतियों का कौटल्य के समय तक विकास हुआ नहीं दीखता। किन्तु न्याय अर्थात् तर्कशास्त्र और मीमासा किसी आरम्भिक रूप मे तब भी उपस्थित रहे प्रतीत होते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे न्यायविदों का उल्लेख है[1], और स्वय कौटल्य अनुशासन के चार आधारों मे से न्याय को एक गिनता तथा धर्मशास्त्रों मे परस्पर-विरोध होने पर न्याय को प्रमाण मानने को कहता है[2]। आपस्तम्ब के उक्त न्यायविद् वैदिक विधि-निषेधों की मीमाँसा करने वाले विद्वान् प्रतीत होते हैं। बौधायन भी सन्दिग्ध धर्म का निर्णय करने वाली दशावरा परिषद् मे एक विकल्पी अर्थात् मीमांसक का पारिषद्य होना आवश्यक बतलाता है[3]।

कौटल्य के उक्त प्रयोग मे न्याय का अर्थ साधारण तर्क ही है, तथा गौतम धर्म सूत्र मे भी राजा के लिए प्रमाण-भूत कानून के जो आधार कहे हैं उन मे परस्पर विवाद होने पर तर्क की शरण लेने को कहा है[4]। इस सब का यही

---

१. आप० २. ४. ८. १३, २. ६. १४ १३।

२. शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति ॥
अर्थ० ३. १—पृ० १५०।

३. बौ० १. १. ८।

४. न्याय्याधिगमे तर्कोऽभ्युपायः—११. २३।

अर्थ है कि आपस्तम्ब, कौटल्य और गौतम धर्मसूत्र से पहले किसी किस्म के तर्कशास्त्र का आरम्भ हो चुका था, किन्तु वह आरम्भिक तर्कशास्त्र कौटल्य के समय तक इतना परिपक्व न हुआ था कि उस की गिनती उस युग की आन्वीक्षिकी में की जाती। आगे[1] हम देखेंगे कि पहली शताब्दी ई० के उत्तरार्ध से पहले न्याय-वैशेषिक-पद्धति स्थापित हो चुकी थी। फलतः यह सम्भव है कि न्याय-दर्शन-कार अक्षपाद गौतम और वैशेषिक-कार कणाद काश्यप पिछले मौर्य या आरम्भिक सातवाहन युग में हुए। याकोबी का कहना है कि उन दर्शनों में माध्यमिक बौद्ध सम्प्रदाय[2] के शून्यवाद का खण्डन होने से वे २री शताब्दी ई० से पीछे के हैं[2]। तब या तो ७८ ई० से पहले न्याय-वैशेषिक किसी और रूप में थे, या शून्यवाद। विद्यमान मीमांसा और वेदान्त दर्शनों के रचयिता जैमिनि और व्यास बादरायण की तिथि भी शून्यवाद के उदय की तिथि पर निर्भर हैं। सांख्य और योग पद्धतियों का कौटल्य के समय तक कहाँ तक विकास हो चुका था, सो कहना कठिन है।

पाणिनि और पतञ्जलि के बीच व्याकरण के दो बड़े आचार्य व्याडि और कात्यायन हुए। क्योंकि पाणिनि पूर्व-नन्द-युग में हुए थे और पतञ्जलि शुंग-युग के आरम्भ में,[3] इस लिए व्याडि और कात्यायन मौर्य युग के हैं। कात्यायन का पिछले मौर्य युग में रहना हो बहुत सम्भव है। उसी युग में भारत (महाभारत) का पुनः संस्करण भी शुरू हो गया प्रतीत होता है[4]।

किन्तु मौर्य युग के समूचे वाङ्मय में हमारी दृष्टि से सब से अधिक महत्त्व की कृति कौटलीय अर्थशास्त्र है, सो कहने की आवश्यकता नहीं।

अशोक के अभिलेखों से इस युग की भाषाओं और बोलियों की स्थिति का भी ठीक पता मिलता है। डा० देवदत्त रा० भण्डारकर ने उन की

---

१. नीचे § १६०।
२. ज० अ० ओ० सो० ३१, पृ० १ प्र।
३. नीचे §§ १५०, १६०।
४. दे० नीचे ❀ २८।

विवेचना का सार यों निकाला है[1]। स्तम्भाभिलेख जो सब आजकल के हिन्दी-क्षेत्र मे है, उस समय की भी एक ही बोली मे है, जिसे मध्यदेश की बोली कहना चाहिए। प्रधान शिलाभिलेखों मे से कलसी और कलिंग वाले भी उसी मे है, किन्तु गिरनार शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा के अभिलेख दूसरी बोलियों को सूचित करते है। गिरनार वाले मे दक्खिणापथ की बोली है, और शाहबाजगढी-मनसेहरा वालो मे उत्तरापथ की। इस प्रकार तब समूचे भारत मे तीन मुख्य भाषाये प्रतीत होती है—मध्यदेश और पूरब की एक, उत्तरापथ की दूसरी और दक्खिन की तीसरी। डा० भण्डारकर का कहना है कि वे भाषाये पाणिनि की शास्त्रीय संस्कृत की बोलियाँ मात्र हैं।

## उ. धर्म

ज्ञान और वाङ्मय की तरह इस युग का धार्मिक जीवन भी बहुत कुछ उत्तर वैदिक था जिस मे आरम्भिक बौद्ध और निर्ग्रन्थ (जैन) सुधार हो रहे थे। आजीवक आदि अन्य कई सम्प्रदाय भी थे। भक्तिप्रधान पौराणिक धर्म का अकुर भी विकास पा चुका था, इस के हमारे पास दो स्पष्ट प्रमाण है। एक तो मेंगास्थेंने ने लिखा है कि शूरसेनो मे हेराक्ले (Herakles) की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी[2], दूसरे राजपूताना मे चित्तौड से १० मील उत्तरपूरब तथा प्राचीन मध्यमिका नगरी के खँडहरो के निकट घोसुंडी नामक गाँव मे मौर्य लिपि का एक अभिलेख मिला है जिस मे संकर्षण और वासुदेव के लिए पूजा-शिला और उस के चौगिर्द नारायणवाटिका[3] अर्थात् नारायण को अर्पित बाड़ा (घेरा) बनाने की बात है। वासुदेव का ऐतिहासिक महापुरुष से देवता बनना तो भगवद्गीता से पहले ही हो चुका था; बाद के ग्रन्थो मे लिखा है कि उस की पूजा सात्वतो मे विशेष प्रचलित थी, कि वह पञ्चरात्र-पद्धति कहलाती थी, और कि उस पद्धति मे वासुदेव के चार व्यूह (रूप) पूजे जाते थे (दे० नीचे

---

१. अशोक पृ० १९०—२०४।

२ पृ० २०१।

३. ज० ए० सो० ब० १८७७, भाग १, पृ० ७७-७८।

§ १९६ ) । सात्वत लोग वासुदेव कृष्ण की ही जाति के थे और वही शूरसेन देश मे रहने से शूरसेन कहलाते थे । भगवद्गीता मे वासुदेव को विष्णु या नारायण नही बनाया गया, पर घोसूडी के मन्दिर के समय तक वासुदेव की नारायण से अभिन्नता हो चुकी थी । भगवद्गीता मे उस के व्यूहों का कहा नाम नहीं है; बाद मे चार व्यूह थे, पर इस समय भी दो व्यूह या रूप—एक स्वय वासुदेव, दूसरे संकर्षण—पूजे जाने लगे थे, सो घोसूडी-अभिलेख तथा महानिद्देस के पूर्वोद्धृत सन्दर्भ (ऊपर § ११३) से प्रकट है। इन व्यूहो की पूजापद्धति पञ्चरात्र विधि कहलाती थी, और उस विधि की व्यवस्था के लिए पञ्चरात्र-सहितायें नामक ग्रन्थ लिखे गये। ब्रह्मसूत्रों के रामानुज-भाष्य (अ. २, पाद २, सू. ३९—४२) मे उस प्रकार की तीन संहिताओ के नाम और उद्धरण दिये हैं—पौष्कर संहिता, सात्वत सहिता और परम संहिता । सर रामकृष्ण गो० भण्डारकर ने इन सहिताओ के तीसरी शताब्दी ई० पू० मे बनने का अन्दाज किया है[1] । यह पंचरात्र पूजा-विधि भागवत धर्म भी कहलाती थी। इस प्रकार उपनिषदो और गीता का एकान्तिक धर्म तीसरी शताब्दी ई० पू० तक पञ्चरात्र पद्धति या भागवत धर्म के नाम से एक निश्चित पन्थ बन गया ।

इन पूजाओ के अतिरिक्त यक्षों नागों गन्धर्वों आदि की पूजायें और वे तुच्छ अन्ध विश्वास जो अनेक किस्म के रीति-रिवाज क्रिया-कलाप के जन्मदाता हैं, साधारण जनता मे प्रचलित थे ही। प्रतिमाओ की पूजा कुछ तो पाणिनि के समय अर्थात् पूर्व-नन्द-काल मे भी थी; अब मौर्य राजाओ ने उसे अपनी आमदनी का एक ज़रिया ही बना लिया था ।

भिन्न भिन्न सम्प्रदायो के लिए पाषण्ड शब्द प्रचलित था, आजकल की तरह उस शब्द मे कुछ बुरा भाव न था। सब पाषण्डो को सम दृष्टि से

---

१. वै० शै० पृ० ३१ ।

देखना भारतीय राजाओ की प्राय: सदा की नीति रही है, और अशोक के सम्बन्ध मे उस का उल्लेख किया जा चुका है। आजीवक भिक्षुओ के लिए अशोक और दशरथ ने बराबर और नागार्जुनी पहाडो मे जो गुफाये बनवाई थी, उन की चर्चा भी हो चुकी है। अशोक अपने अभिलेखो मे ब्राह्मणो और श्रमणो का एक सा आदर करने की शिक्षा देता है।

## ऋ. सामाजिक जीवन

समाज को चार वर्णो मे बाँटने की कल्पना शास्त्रकारो की थी। उन मे से चौथा वर्ण शूद्र भी वास्तव मे अब एक स्पष्ट पृथक् जाति न रहा था, आर्यो और दासो मे इतने विवाह-सम्बन्ध होते थे कि शूद्रो का बडा अश अब आर्यप्राय हो चुका था। वह एक नया वर्ग था जिसे दास बना कर रखना मौर्यो के व्यवहार मे एक अपराध था। यह ध्यान देने की बात है कि अशोक ब्राह्मण निकाय का उल्लेख करता है न कि ब्राह्मण जाति का[1], इस का यह अर्थ है कि वह श्रेणी की तरह एक कृत्रिम समूह या वर्ग था न कि एक जात। ब्राह्मणो और श्रमणो के निकायो (वर्गो) की तरह समाज मे एक और निकाय था गृहपतियो का जिन्हे अशोक इभ्य कहता है। सब के नीचे भृतको और दासो के निकाय थे, वे भी निकाय ही थे न कि जात। दासो के विषय मे पीछे बहुत कुछ कहा जा चुका है। ब्राह्मण और इभ्य भी भृतक का काम कर लेते थे[2]। क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य शूद्र—यह शास्त्रकारो का वर्गीकरण था, साधारण काम-काज मे जब समाज के वर्गो का उल्लेख करना होता था—जैसा कि अशोक ने अपने अभिलेखो मे किया है—तब ये नाम सुनाई न देते थे[3]।

---

१. प्र० शि० १२।

२. प्र० शि० ५।

३. मिलाइए भडारकर—अशोक, पृ० १८३-८४।

विवाह-प्रथाओं विवाह-विषयक आदर्शों और विचारों की विवेचना पीछे मौर्यों के व्यवहार-प्रसग मे हो चुकी है। स्त्री को दाय का अधिकार था, और उस की हैसियत समाज मे ऊँची थी। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो मे भी काफी स्वतन्त्रता थी। यह एक उल्लेखयोग्य मनोरञ्जक बात है कि कौटिल्य की स्मृति के अनुसार पति के विशेष गाली देने या मारने पर स्त्री धर्मस्थों की अदालत मे उस पर वाक्पारुष्य और दण्डपारुष्य का मुकद्दमा कर सकती थी; उसी प्रकार यदि स्त्री पति को गाली दे या मारे तो वह भी कर सकता था।[1]

## लृ. कला

मौर्य काल की संस्कृति का वर्णन उस युग की ललित कला की चर्चा के बिना पूरा नही हो सकता। अशोक के अभिलेखों के प्रसग मे उस के थभो की कारीगरी की चर्चा की जा चुकी है। मौर्य काल तक भी इमारते प्राय: लकड़ी की ही बनती थी। हम देख चुके है कि पाटलिपुत्र की सब इमारते, यहाँ तक कि परकोटा भी लकड़ी का था। तो भी पत्थर के काम का बिलकुल अभाव न था। अशोक ने पत्थर की रचनाओं को बहुत प्रोत्साहित किया, और उस के बाद उन का रिवाज खूब चल गया।

प्राचीन भारत के लेण अर्थात् गुहामन्दिर अब ससार की अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त आश्चर्यमयी रचनाओ मे गिने जाते है। लेणों के उस शिल्प का आरम्भ बराबर और नागार्जुनी के गुहामन्दिरो से ही हुआ प्रतीत होता है। ये लेण वास्तव मे छोटे छोटे विहार थे। बुद्ध गया का चैत्य या मन्दिर भी अशोक ने बनवाया था, उस मन्दिर का तथा अशोक और उस की रानी के हाथो बोधि-वृक्ष की पूजा किये जाने का मूर्त्त चित्र साँची के

---

१. अर्थ० ३. ३।

बड़े स्तूप के पूरबी तोरण की एक पाटी पर अंकित है, सो कह चुके है[१]। बुद्ध गया के विद्यमान मन्दिर मे, जो उस प्राचीन मन्दिर के स्थान पर है, अब अशोक की बनवाई हुई केवल वेदी बची है।

स्तूप चैत्य और विहार अशोक के पहले से थे। स्तूप वे इमारते थी जिन के अन्दर कोई शरीर-धातु पूजा के लिए स्थपित किये होते थे। वे चैत्यो अर्थात् चिता मन्दिरो के अश थे। चैत्य सामूहिक पूजा के स्थान थे, और विहार उन के चौगिर्द रहने के मठ। अशोक से पहले चैत्य और विहार भी लकडी के ही होते थे, उस के बाद भी लकडी के चैत्य और विहार बनना बन्द नही हो गया। ऐसी रचनाये भी रही होगी जिन मे बुनियाद और फर्श पत्थर का रहा हो, और ऊपर की बनावट काठ की, साची और सोनारी से ऐसे अवशेष मिले है। अशोक के स्तूपो का उल्लेख हो चुका है। सारनाथ के स्तूप मे अशोक-कालिक कृति का कुछ अश तथा एक ही पत्थर मे से काट कर बनाई हुई बाड़ का कुछ अश अब तक बचा है। इसी प्रकार साची के बडे स्तूप की खुदाई से अन्दर जो ईंटो की बनी मूल रचना निकली है, वह अशोक के समय की है, किन्तु शुग-युग मे उस स्तूप को बढ़ाया गया, और वह मूल रचना उस के अन्दर छिप गई[२]। उस स्तूप के पास ही अशोक का सिंहध्वज है।

कला की दृष्टि से अशोक के थभो की कारीगरी की आजकल के शिल्पज्ञो ने जी खोल प्रशसा की है। सारनाथ के थभे के ऊपर जो सिंहो की मूर्तियां है वे स्मिथ की सम्मति मे "ससार को सब से सुन्दर पशु-प्रतिमाओ मे से" है। कई आधुनिक विद्वानो ने अशोक के समय की मूर्तितक्षण-कला मे पारसी प्रभाव होने की अटकल लगाई थी। सर जौन मार्शल को उस मे मिश्रित पारसी-यूनानी परछांही दीख पड़ती है, उन का कहना है अशोक-कालीन रचनाये भारतीयो के हाथ से पैदा हुई नहीं हो सकती, वे सम्भवतः

१ ऊपर § १३६ अ।

२ दे नीचे § १६१।

बाख्त्री के कारीगरों की कृतियाँ हैं[1]। श्रीयुत अरुण सेन ने इन मतो का पूरा और साफ साफ प्रत्याख्यान किया है[2]। स्व० राजेन्द्रलाल मित्र का मत था कि भारत के प्राचीन स्थापत्य-शिल्प मे यदि कोई बाहरी प्रभाव हुआ था तो अस्सुर लोगो का। डा० भण्डारकर का भी वही मत है, और भारतवर्ष की परम्परागत अनुश्रुति जहाँ उसे पुष्ट करती है वहाँ उस की सम्भावना भी सब से अधिक है।

अगले युग के शिल्प और कला की विवेचना[3] से प्रकट होगा कि महाराष्ट्र की कई प्रसिद्ध लेणियाँ (गुहामन्दिर) सम्भवतः पिछले मौर्यों के समय की है।

किसी न किसी प्रकार की नाट्य-कला पूर्व-नन्द-युग तक भी शुरू हो चुकी थी, और पाणिनि के समय तक नट-सूत्र भी बन चुके थे, सो कह चुके है। मौर्य काल मे भी समाजों अर्थात् नाटकों और प्रेक्षागारों का काफी रिवाज रहा जान पड़ता है। सरगुजा रियासत के रामगढ़ पहाड़ पर सीताबेंगा और जोगीमारा लेणें पहाड़ मे काट कर बनी हुई है। उन के अभिलेखो की लिपि डा० ब्लाख के मत से तीसरी शताब्दी ई० पू० की है, यद्यपि कुछ विद्वान् उसे जरा पीछे की मानना चाहते है। उन अभिलेखो से पता चला है कि वे लेणें उस युग के प्रेक्षागार अर्थात् नाट्यशालाये थीं[4]। उन की दीवारों पर चित्र भी अंकित हैं, जो भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम नमूने है। किन्तु उन चित्रो की सुन्दर रेखाये उन के ऊपर फिर से खीचे गये भद्दे चित्रों में छिप गई है[5]।

---

1. कैं० इ० पृ० ६२२, ए गाइड टु साँची (साँची-पथ-प्रदर्शक, कलकत्ता १९१८), पृ० ६-१०।
2. ई० आ० १९१८, पृ० २६१ प्र।
3. नीचे § १६३।
4. आ० स० इ० १९०३-४, पृ० १२४ प्र।
5. मार्शल—प्राचीन भारत की शिल्प-रचनायें, कैं० इ० पृ० ६४५।

# टिप्पणियाँ

## * २५. 'अर्थशास्त्र' का कर्त्ता कौन और कब ?

कौटिल्य या कौटल्य के अर्थशास्त्र का परिचय आधुनिक जगत् को पहले पहल सन् १९०५ ई० मे मिला, जब मैसूर के प्रसिद्ध विद्वान् प० शामशास्त्री ने उस की एक प्रति प्राप्त कर उस के अशो का अनुवाद इडियन आटिकेरी मे प्रकाशित करना शुरू किया। सन् १९०९ मे उन्हो ने उस समूचे ग्रन्थ को पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया। उस के प्रकाशन से प्राचीन भारत की राज्यसस्था विषयक ज्ञान की एक नई खान आधुनिक विद्वानो के हाथ लग गई। वह ग्रन्थ वास्तव मे चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य कौटल्य का कृति है या नही, और जिस रूप मे कौटल्य ने उसे रचा था प्राय उसी रूप मे वह अब भी हमे मिला है कि नहीं, इन बातो की मीमाँसा उस के प्रकाशित होते ही विस्तार और बारीकी के साथ होने लगी। शुरू शुरू मे हिलब्रॉट, हर्टल और याकोबी नामक जर्मन विद्वानो ने उस मीमाँसा मे विशेष भाग लिया, और उस मीमाँसा का यह सर्व-सम्मत परिणाम निकला माना गया कि वह ग्रन्थ वास्तव मे कौटिल्य की कृति है जो हमे प्राय अपने प्रामाणिक 'मूल' रूप मे मिली है। सन् १९१४ मे विन्सेट स्मिथ ने अपनी अर्ली हिस्टरी के तीसरे सस्करण मे इस परिणाम से अपनी सहमति प्रकट की[1]।

---

१. परिशिष्ट जी।

अर्थशास्त्र के प्रकाशन से प्राचीन भारतीय राज्यसंस्था-विषयक खोज का एक नया सिलसिला चल पड़ा। शामशास्त्री, जायसवाल, नरेन्द्रनाथ लाहा, राधाकुमुद मुखर्जी, देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर, रमेश मजूमदार, उपेन्द्र घोषाल, विनयकुमार सरकार आदि भारतीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय राज्य-तन्त्र के मानों एक नये शास्त्र का ही प्रवर्त्तन कर दिया। इस खोज के परिणाम बहुत से पाश्चात्य विद्वानों को दुष्पच प्रतीत होने लगे,—उन की अनेक मानी हुई बातों की जड़ इस खोज से ढीली पड गईं। किन्तु उन परिणामों से कोई छुटकारा नहीं हो सकता यदि अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य की रचना माना जाय। इस से वे पाश्चात्य विद्वान् सहज ही अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता पर सन्देह करने लगे, क्योंकि प्राचीन भारतीय राज्यसंस्था-विषयक उक्त नई खोज की धुरी की तरह वही ग्रन्थ है। सन् १९२३ में प्रसिद्ध जर्मन भारतवेत्ता डा० जौली ने पञ्जाब-संस्कृत-सीरीज़ में अर्थशास्त्र का सम्पादन करते समय उसे तीसरी शताब्दी ई० की रचना बतलाया। उस के एक बरस पहले औटो स्टाइन ने मेगास्थेनेस अंड कौटिल्य नामक पुस्तक में मेगॅास्थेने और कौटिल्य की अनेक बातों में विरोध दिखलाया था। डा० विण्टरनिज़ ने अपने संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में भी जौली वाला मत स्वीकार किया। जायसवाल ने हिन्दू राज्यतन्त्र के एक परिशिष्ट में जौली के मत का पूरा पूरा प्रत्याख्यान कर दिया, और जायसवाल जी के ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है, इस से उस विवाद को यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक है।

किन्तु हाल में डा० कीथ ने फिर से अर्थशास्त्र की अप्रामाणिकता की आवाज़ उठाई है, और वे भी उसे ३०० ई० से पहले का नहीं मान सकते। कीथ का लेख सर आशुतोष स्मारक ग्रन्थ (पटना १९२८) के भाग १ पृ० ८ प्र पर प्रकाशित हुआ है। इस टिप्पणी में उस की संक्षेप से आलोचना की जाती है।

डा० कीथ का कहना है कि कौटिल्य की मैकियावली से कोई तुलना नही है। सो बात ठीक है । मैकियावली मे उस को तुलना कुछ ऐसे लेखको ने की है जो युरोपियन वस्तु से मुकाबिला किये बिना भारतीय वस्तु का गौरव समझ या समझा ही नही सकते, किन्तु एक विशाल साम्राज्य के सस्थापक और सगठनकर्त्ता की अठारह शताब्दी बाद के एक कोरे लेखक के साथ तुलना मुझे तो सदा अखरती रही है। याकोबी ने कौटिल्य की तुलना बिस्मार्क से की थी, और वह उचित थी । परन्तु डा० कीथ को वह दूसरे कारण से अखरती है। उन का कहना है कि अर्थशास्त्र मे राज-नीति की शास्त्र ( political philosophy ) के रूप मे कल्पना न के बराबर है, उस का उद्देश राजा को शासन-सम्बन्धी व्यावहारिक उपदेश देना मात्र है, राज्य के उद्देश्य और आदर्श का कोई सिद्धान्त उस मे प्रकट नहीं होता। बेशक कौटिल्य जहाँ छोटी छोटी बातो मे जाता है, बडी बारीकी से जाता है, उस के उस पल्लवित मे उलझ कर यदि डा० कीथ असल पेड को न पहचान सके तो यह उस का दोष नही है, उस का उद्देश चातुरन्त राज्य की स्थापना है सो उस पल्लवित की प्रत्येक बात सूचित करती है। मैकियावली के विषय मे डा० कीथ फर्माते है कि उस के अधार्मिक कूट साधन तुच्छ झगडालू छोटे छोटे राज्यो के बजाय एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना करने के लिए है, वह युरोपी पुनर्जागृति ( Renaissance ) के आदर्श का उपासक है, जो आदर्श कि आज तक चला आता है, अर्थात् एक ऐसे राज्य-सगठन की तलाश जो सार्वभौम शान्ति ( ! ) की स्थापना करे, अर्थशास्त्र उस विचार से बिलकुल अपरिचित है।

क्या कहना है इस आदर्शवादिता का ! सार्वभौम शान्ति आधुनिक साम्राज्यवाद की एक सुपरिचित मक्कारीपूर्ण परिभाषा है। उस की दुहाई देना युरोप के राजनीतिनेताओ को फबता और सुहाता है, तथा दैनिक खबर-कागजो के पाठक कुछ समय के लिए उस दुहाई से बहक या बहल सकते हैं। प्राचीन इतिहास के विवाद मे उसी परिभाषा का प्रयोग करना

डा० कीथ की नई सूझ है। किन्तु किस की आँखो मे धूल झोक कर वे उसे यह मना सकेगे कि सार्वभौम शान्ति आधुनिक युरोपी राज्यो का सचमुच उद्देश है ?

आगे वे कहते हैं कि मैकियावली और अर्थशास्त्र-कार की शैली भी जुदा जुदा है ; अर्थ० जहाँ राज्यो के सम्बन्धो का वर्णन करता है वहाँ कोरा रिवाजी कल्पना का चित्र पेश करता है, जिस पर तत्कालीन घटनाओ से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता, जब कि मैकियावली के विचारो का उस समय के ऐतिहासिक ज्ञान और तजरबे से सजीव सम्बन्ध है।—लेकिन, अर्थशास्त्र का जो अपना युग है यदि हम उसे उस से भिन्न युग का मान ले, या उस के काल के विषय मे सशयात्मा बने रहे, तो उस के घटनाओ के निर्देश समकालीन इतिहास पर भले ही न फबते दीखेगे। चौथी शताब्दी ई० पू० के सघ राज्यो के निर्देश उस मे मौजूद है—और हम देख चुके है कि वे निर्देश ठीक उसी युग के हो सकते है ( ऊपर § १४३ इ ), चातुरन्त राज्य का छोटे सघों और समूहों के प्रति जैसा बर्त्ताव अत्यन्त स्वाभाविक रूप से ठीक उसी काल मे भारतीय राज्यसस्था मे पैदा हो सकता था, उस का सजीव चित्र उस मे पाया जाता है, अशोक के अभिलेखो से अनेक अंशो मे उस का सामजस्य प्रकट हुआ है;[1]

---

१ हुल्श ने भा० अ० स० १ में स्थान स्थान पर वह सामञ्जस्य दिखलाया है। इं० आ० १९१८ मे "अर्थशास्त्र व्याख्या करता है" शीर्षक से जायसवाल जी ने अशोक के और अन्य प्राचीन अभिलेखों के अनेक शब्दों की ठीक व्याख्या की है। जिस मे मॅगास्थे॔ने का ग्रन्थ पूरा नही मिलता और जो अपनी सचाई के लिए बहुत प्रसिद्ध नही है तथा जिस का पर्यवेक्षण और ज्ञान भी उथला था, उस की छोटी छोटी बातों से अर्थशास्त्र के विसवाद को जब डा० स्टाइन जौली और कीथ इतना महत्व देते हैं, तब आश्चर्य है कि अभिलेखों और अर्थशास्त्र का जो सामञ्जस्य दिखाया गया है उस का उत्तर देने का वे कष्ट क्यों नहीं करने ?

किन्तु उस की रोशनी मे प्राचीन भारत का जो चित्र प्रकट हुआ है उसे जो न मानना चाहे, उस इतिहास की नब्ज को न पहचाने, उस की प्रेरणाओ और प्रश्नो को न समझे, उन के लिए अर्थशास्त्र का उस के समकालीन इतिहास से सजीव सम्बन्ध स्थापित करना अवश्य असम्भव है।

आगे डा० कीथ असल बात पर आते है कि चन्द्रगुप्त का अमात्य चाणक्य अर्थ० का लेखक न था। उन की पहली युक्ति वही पुरानी है कि इति कौटिल्य कह कर जो बाते कही गई हैं उन्हे स्वय कौटिल्य इस तरह से न कहता। इस शका का समाधान अर्थ० के विद्वान् सम्पादक शाम शास्त्री ने पहले मुद्रण के ही उपोद्घात मे कर दिया था, और सस्कृत ग्रन्थो की शैली से परिचित लोगो को इस से कोई भ्रम नही हो सकता। जहाँ ( ५ ६ ) कौटिल्य का उत्तर भारद्वाज देता है और फिर उस का कौटिल्य, वहाँ भी उसी शैली का प्रयोग है, और कुछ नही। अन्तिम अधिकरण मे तत्रयुक्तियाँ गिनाई है। उन मे एक अपदेश है, जिस का अंग्रेजी अनुवाद 'quotation ( उद्धरण )' किया गया है। उस के उदाहरणो मे एक कौटिल्य का वाक्य भी है, जिस से कीथ कहते है कि उद्धरणकर्त्ता दूसरा है। किन्तु अपदेश का लक्षण किया गया है—एवमसावाहेति—ऐसा अमुक कहता है। और जो लेखक अपने लिए कौटिल्य ऐसा कहता है की शैली बर्त सकता है, वह अमुक ने ऐसा कहा के उदाहरणो मे कौटिल्य ने ऐसा कहा को स्वय भी गिना सकता है। और उन तन्त्रयुक्तियो के उदाहरणो मे सभी अर्थ० के अपने है। यदि अपदेश का उदाहरण कहीं बाहर का होता तब यह कहा जा सकता कि इस अर्थशास्त्र का लेखक कोई और है, और असल कौटिल्य और,—जिस के वाक्य को कि वह यहाँ उद्धृत कर रहा है। कीथ का यह तर्क अत्यन्त बेसमझी का और ठीक उलटा है। तन्त्रयुक्तियो मे अर्थ० के समूचे ग्रन्थ के उदाहरण दिये गये है इस से तो याकोबो ने उलटा यह परिणाम निकाला था कि समूचा ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की कृति है।

अर्थशास्त्र का विकास निश्चय से धर्मशास्त्र के बाद हुआ है, डा० कीथ

के खाली कहने से ऐसा कोई न मान लेगा, जब कि हम आपस्तम्ब और जातकों मे अर्थशास्त्र का उल्लेख पाते हैं ( ऊपर §§ ८६ उ, ११२ उ )। और यदि धर्मशास्त्र अर्थशास्त्रों से पुराने है तो भी कौटिलीय अर्थशास्त्र के ३२५ ई० पू० के करीब के होने मे कोई कठिनाई नहीं होती।

आगे डा० कीथ की बाहरी युक्तियाँ शुरू होती हैं। चन्द्रगुप्त के अमात्य ने यदि अर्थ० लिखा होता तो छोटे राज्यों के सम्बन्धों के उल्लेखों के बजाय बड़े साम्राज्य की प्राप्ति और शासन की समस्यायें उस मे होतीं। पर कौन कहता है कि वे नहीं हैं ? हिमालय और समुद्र के बीच चातुरन्त राज्य और चक्रवर्त्तिक्षेत्र की स्थापना क्या अर्थशास्त्र का स्पष्ट उद्देश नही है ?

इस के बाद डा० कीथ अर्थ० और मेगास्थने की तुलना करते हैं। वे स्वय कहते है कि तुलना करते समय ऐसे भेदो पर बल न देना चाहिए जिन की सरलता से व्याख्या हो सके; इस लिए जो उदाहरण उन्हो ने दिये हैं वे उन के मत में ऐसे है कि दोनो को समकालीन मानते हुए उन की व्याख्या हो ही नही सकती।

मेगास्थने और अर्थ० का पहला विसवाद यह कि मे० मौर्यों के नौ-सेनापति के जो कार्य बतलाता है तथा अर्थ० (२ २८) मे नावध्यक्ष के कर्त्तव्यो का जो वर्णन है वे बिलकुल भिन्न हैं। डा० नरेन्द्रनाथ लाहा ने उस विसवाद को दूर करने का जतन किया है, पर कीथ के मत मे व्यर्थ। सम्पूर्ण लेख मे यही एक विचारपूर्ण बात दीख पडती है, पर यह भी जौली की पुरानी बात है। इस प्रश्न की मीमांसा किये बिना भी क्या यह उत्तर नही दिया जा सकता कि नावध्यक्ष के कर्त्तव्य पहले कम रहे हो, बाद में बढ़ा दिये गये हो ?

मे० और अर्थ० ने मौर्य सेना-संगठन के जो वर्णन किये है, डा० लाहा ने उन मे पूरा सम्वाद दिखाया है, डा० कीथ उसे खीचातानी कहते है। वह केवल उन का ख्याल है। मे० ने लिखा है कि सेना के प्रत्येक अग का प्रबन्ध एक एक वर्ग के हाथ मे था। डा० कीथ कहते है कि डा० जौली का यह

कहना (पृ० ४१) कि मे॰ ने शायद गलती की है क्योकि अर्थ० मे वर्गों का उल्लेख नही है स्वय एक गलतफहमी है, क्योकि अर्थ० स्वय कहता है कि प्रत्येक अधिकरण के बहुत से मुखिया हो और उन का अधिकार अस्थायी हो (२ ९ —पृ०६९)। डा० जौली और डा० कीथ अपनी युक्तियो मे कहाँ बह गये ? जब वे दोनो अर्थ० को मे॰ के समय का नही मानते, तब जौली को अर्थ० के आधार पर मे॰ की बात को गलत क्यो कहना चाहिए ? और कीथ को जब मे॰ की सत्यवादिता दिखाने की चिन्ता होती है तब अर्थ० की शरण ले कर और स्वय उन दोनो का सवाद दिखा कर दूसरी ही सास मे वे कैसे कह डालते है कि विसवाद इस कारण है कि मे॰ साम्राज्य का वर्णन करता है, अर्थ० एक छोटे राज्य का ? बेशक एक छोटे राज्य का, जिस मे जल और स्थल की खाने हिमालय पारलौहित्य और दक्षिण के रास्ते सब समा सकते थे।

सेना-प्रबन्ध की तरह नगर-प्रबन्ध के वर्णन मे भी विसंवाद है। मे॰ ५, ५ व्यक्तियो के छ. वर्गों का उल्लेख करता है, अर्थ० केवल नागरक का। यह विसवाद नही, उलटा सवाद है जैसा कि जायसवाल दिखला चुके है ( ऊपर § १४२ उ)। इसी तरह के कुछ एक गौण विसवाद डा० कीथ ने और दिखलाये है, और उन सब मे केवल जौली की बाते दोहराई है। एक भी उन की अपनी नही है। उन सब छोटी बातो की आसानी से व्याख्या हो सकती है। जैसे मे॰ बतलाता है कि पाटलिपुत्र का परकोटा लकडी का था, पर अर्थ० मे ईट का बनाने का आदेश है। किन्तु अर्थ० की यह बात कि नदी के सगम पर राजधानी बनाई जाय (पृ० ५१), पाटलिपुत्र पर ठीक चरितार्थ होती है, दुर्ग के चारो तरफ परिखाये बनाने का उस मे जो विधान है ( वही ), वह भी मे॰ के वर्णन से ठीक मिलता है, और मिट्टी के वप्र के ऊपर केवल प्राकार मे ईटे लगाने का उस मे विधान है (पृ० ५२)। अर्थ० मे कौटिल्य अपने आदर्शों का वर्णन करता है, ईटो के प्राकार बनवाना उसे भले ही अभीष्ट होगा, किन्तु सब अभीष्ट कार्य एक दिन मे तो सिद्ध नहीं हो जाते, पुराने लकडी के परकोटे एकाएक तो जला न दिये जा सकते थे।

डा० कीथ की चौथी युक्ति यह है कि अर्थ० का भौगोलिक ज्ञान बहुत विस्तृत है—उस मे चीन वनायु सुवर्णभूमि और सुवर्णकुड्य का उल्लेख है, वनायु सम्भवतः अरब का नाम है। किन्तु सुवर्णभूमि का परिचय भारतवासियों को महाजनपद-काल से होने लग गया था, और वैसा होना बहुत स्वाभाविक भी था; अशोक के समय सुवर्णभूमि में थेर भेजे गये थे। यदि ख्शयार्श की सेना मे भारतीय सैनिक यूनान तक पहुँच चुके थे (ऊपर § १०५) तो उन्हे अरब का पता होना कुछ विचित्र बात न थी। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कौटिल्य ठीक उसी गान्धार देश का था जिस के सैनिक ख्शयार्श की सेना मे यूनान गये थे। चीन के विषय में जायसवाल यह व्याख्या कर चुके हैं कि वह शिना-भाषी दरद लोगो के देश का नाम है; उस सम्बन्ध मे दे० नीचे §२६ भी।

डा० कीथ की अगली युक्ति-परम्परा विशेष रूप से अनर्गल है। अर्थ० के समय तक कृषि, खनिज, धातुओं, स्थापत्य, पशु-आयुर्वेद आदि विषयक तथा विशेषतः रसायन-सम्बन्धी वाङ्मय काफी तैयार हो चुका था, आन्वीक्षकी में सांख्य, योग, लोकायत सम्प्रदाय पृथक् पृथक् हो चुके थे, तन्त्रयुक्तियो अर्थात् तर्कशास्त्र का अच्छा विकास हो चुका था, शासनाधिकार अध्याय ( २ १० ) मे व्याकरण की परिभाषाओं का प्रयोग अष्टाध्यायी के ज्ञान को सूचित करता है, अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र वार्त्ता दण्डनीति आदि का पृथक् पृथक् विकास हो चुका था; फलित ज्योतिष और शुक्र-बृहस्पति ग्रहों का (२ २०), पुराणों का (३ ७), तथा महाभारत रामायण की कहानी का अर्थशास्त्रकार को ज्ञान था। ये बाते भी प्रायः सब जौली की है, और इन का उत्तर जायसवाल दे चुके हैं। उन का प्रत्युत्तर देने की चेष्टा किये बिना कीथ का उन्हे दोहराना आश्चर्यजनक है।

इन सब बातो का एक ही उत्तर है कि ये सब वस्तुएँ ३२५ ई० पू० से पहले की हैं। अर्थ० मे इन का उल्लेख होने से अर्थ० का समय नीचे

नहीं आता, इन का ऊपर चला जाता है। यह केवल जौली की अटकल है कि भारतवर्ष मे रसायन का ज्ञान यूनान और सीरिया से आया, जो बात स्वय साध्य है वह हेतु नही बनाई जा सकती। प्राचीन भारतीय विज्ञान के विकास का इतिहास अभी तक बहुत कम टटोला गया है, उस के विषय मे अपनी एक अटकल को हेतु-रूप से पेश करने का कुछ महत्त्व नहीं है। साधरण दृष्टि से कृषि शिल्प और आयुर्वेद का महाजनपद-युग मे जैसा परिपाक दीखता है, उस हिसाब से अर्थ० का इन विषयो का ज्ञान आरम्भिक मौर्य युग के अनुकूल ही प्रतीत होता है। किन्तु जब तक कोई विशेषज्ञ इस विषय की पूरी छानबीन न करे, जौली और कीथ का केवल अपने मतो को हेतु बनाना निरर्थक है। किन्तु दर्शन पुराण आदि वाङ्मय के इतिहास की जहाँ तक विवेचना हो चुकी है, वह कीथ की स्थापना से ठीक उलटी पडती है। दर्शन-शास्त्र के विषय म क्या डा० कीथ यह चाहते थे कि चौथी शताब्दी ई० पू० तक उपनिषदो के विचारो से कुछ भी आगे उन्नति न होती ? क्या केवल तीन दर्शनो का होना उलटा प्राचीनता सिद्ध नही करता ? और ध्यान रहे कि उन तीन मे से भी दो—साख्य और योग—एक ही पद्धति को सूचित करते है, और ठीक उस पद्धति को जो भारतीय अनुश्रुति के अनुसार सब से प्राचीन है—साख्य के प्रवर्त्तक कपिल हमारे सब वाङ्मय मे आदि-विद्वान् कहलाते है। न्याय वैशेषिक-पद्धति का परिचय न होना उस प्राचीनता को और पुष्ट करता है, अर्थशास्त्र की तन्त्रयुक्तियाँ उन की शैली से बहुत अपरिपक्व हैं। याकाबी ने उलटा षड्-दर्शन की काल-विवेचना करते हुए इस बात को विशेष गौरव दिया है कि अर्थ० मे केवल तीन दर्शनो का उल्लेख है। कीथ कहते है—अर्थशास्त्र आन्वीक्षकी का केवल लक्षण करता है, यह तो नही कहता कि तीन ही दर्शन थे। कीथ के देश के लोग शायद ऐसे धुधले लक्षण पसन्द करते हो जिन से वस्तु का कुछ अश बाहर भी छुट जाय, पर भारतवासियो की दृष्टि मे तो जो केवलव्यतिरेकी न हो—जिस मे वस्तु का पूरा वर्णन न आ जाय—वह लक्षण नहीं कहला सकता।

अर्थशास्त्रकार को पाणिनि का ज्ञान न था, यह युक्ति शामशास्त्री ने अपने उपोद्घात ( पृ० १४ ) मे दी थी। किन्तु यदि उसे अष्टाध्यायी का ज्ञान था तो भी उस से कुछ जाता-आता नही है । क्योकि अष्टाध्यायी के कर्त्ता पाणिनि चाणक्य से करीब एक शताब्दी पहले हो चुके थे; उतने समय में उन की परिभाषाओं का ज्ञान मगध तक साधारण दशा मे भी पहुँच सकता था, किन्तु वहाँ तो विशेष अवस्था भी थी। एक तो चाणक्य तक्षशिला का रहने वाला था और पाणिनि भी उस के पड़ोस के; दूसरे पाणिनि पाटलिपुत्र के राजकीय दरबार में आये थे जहाँ उन के शास्त्र की प्रामाणिकता स्वीकार की गई थी। इस के अतिरिक्त व्याकरण की वे परिभाषाये बहुत सम्भवतः पाणिनि से भी पहले की थी।

राजनीति की परिभाषाये—साम दान दण्ड आदि—खारवेल के अभिलेख मे, जो दूसरी शताब्दी ई० पू० के शुरू का है[1], विद्यमान हैं, वे परिभाषाये उस से पहले प्रचलित हो कर सर्वस्वीकृत हो चुकी थीं, जिस से अर्थशास्त्र दण्डनीति आदि के वाङ्मय का चौथी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध तक परिपक्व हो चुकना मानना ठीक ही है।

अर्थ० के देशकालमान अध्याय ( २. १० ) से यह सूचित होता है कि उस के लेखक को राशियों के अश-भेदो का ज्ञान न था, यह युक्ति भी शाम-शास्त्री ने अपने उपोद्घात ( पृ० १६ ) मे अर्थ० की प्राचीनता सिद्ध करने को दी थी। उसी के उत्तर मे जौली ने लिखा कि उसे दो ग्रहो का और फलित ज्योतिष का ज्ञान है और जायसवाल के प्रत्याख्यान के बावजूद कीथ ने उसी बात को दोहराया है। किन्तु फलित ज्योतिष का बीज तैत्तिरीय संहिता ( ५. ४ १. ७. ५ ) और आपस्तम्ब ( २. ९. २४. १३ ) मे भी है, सो प्रो०

---

१. नीचे §§ १२१, १२३; ※ २७।

कृष्णस्वामी ऐयगर दिखला चुके है, और भारतवासियो ने उसे यूनानियो से नही अस्सुरो से सीखा था, ऐसा मानने के अनेक प्रमाण है[1]।

पुराण-वाङ्मय की सत्ता पार्जीटर भारत-युद्ध के समय से सिद्ध कर चुके है (ऊपर ❀ ४ ए), और हम ने देखा है कि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० तक कई पुराण-ग्रन्थ बन चुके, तथा पुराण शब्द अपना मूल अर्थ खो कर उन ग्रन्थो के लिए योगरूढि हो चुका था (§ ११२ ऋ)। महाभारत और रामायण की घटनाओ का अर्थ० उल्लेख करता है इस का यह अर्थ है कि वे घटनाये वास्तविक थीं, और वे यदि केवल कहानी थीं तो भी बहुत पुरानी।

जौली की उक्त युक्तियो को दोहराने के अलावा कीथ ने इस सिलसिले मे एक नई बात भी कही है। वह यह कि अर्थ० (२ १० आदि) से लेखन-कला की बडी परिपकता सूचित होती है, जो कि चौथी शताब्दी ई० पू० मे न हो सकती थी। किन्तु चौथी शताब्दी ई० पू० के भारत मे लेखन-कला केवल अढ़ाई तीन शताब्दी पुरानी थी, यह स्थापना आज से बीस बरस पहले चाहे कितने जोरो पर रही हो, आज वह मर चुकी, दफनाई जा चुकी और धूल मे मिल चुकी। ऊपर ❀ १४ मे, जहाँ मैने विभिन्न भारतीय विद्वानो के इस विषय के मत उद्धृत किये हैं, वहाँ एक अत्यन्त मान्य विद्वान्—डा० श्रीपद कृष्ण बेलवलकर—की सम्मति दर्ज करना भूल गया हूँ। उन का कहना है कि लेखनकला की सत्ता न केवल इस समय उपलब्ध प्रत्युत सब से प्राचीन प्रातिशाख्यों—अर्थात् पाणिनि और यास्क से पहले के आरम्भिक वैदिक व्याकरणो—से भी पहले आवश्यक रूप से थी[2]। इस मत को हमे सिद्धान्त मानना होगा।

---

१. बिगिनिंग्स्, अ० ७—विशेषत. पृ० ३२०-२१, नीचे § ११०।

२. सिस्टम्स् आव संस्कृत ग्रामर, पृ० ५।

अर्थ० १०. ३ मे यान्यज्ञसंघै और नवं शरावं ये दो श्लोक प्राचीन श्लोकों के रूप मे उद्धृत किये गये हैं। वे भास के नाटकों मे भी है। जौली का अनुसरण करते हुए कीथ कहते है कि जरूर भास से ही अर्थ० ने लिये होगे, इस लिए वह ३०० ई० के बाद का है। न तो इस का कोई प्रमाण है कि भास से ही अर्थ० ने लिए, और न यह बात सर्वसम्मत है कि भास का समय तीसरी शताब्दी ई० है, एक पक्ष उसे पहली शताब्दी ई० पू० का मानता है ( नीचे § १९० )।

"महाभारत के राजधर्म मे कहीं अर्थ० का नाम नहीं है, और न पतञ्जलि के महाभाष्य मे, इस लिए वह जरूर उन के पीछे का है।" निषेधात्मक युक्ति की इतनी कीमत नही हो सकती, और व्याकरण-महाभाष्य मे अर्थ० का नाम भला क्यो होता ?

अर्थ० की भाषा को लोग प्राचीन कहते है, कीथ वह बात नहीं मानते; वे कहते है उस के छन्द उलटा नवीन हैं, त्रिष्टुभ् के चारो पाद समान हैं, २.१० से अलकारो का ज्ञान सूचित होता है, २ १२ मे औपच्छन्दसक छन्द है, जो नया है। ये सब भी उलटी दलीले हैं।

श्रीयुत हाराणचन्द्र चकलादार ने कामसूत्र के भौगोलिक निर्देशो की बारीकी से छानबीन कर यह निश्चित किया है कि वह ठीक तीसरी शताब्दी ई० का है, न उस के पहले और न पीछे का। का० सू० से अर्थ० जरूर पहले का है, सो सब मानते हैं। किन्तु कीथ बिना कोई युक्ति दिये उसे चौथी शताब्दी ई० का कहते हैं, जब कि उस का राजनैतिक चित्र तीसरी शताब्दी ई० पर पूरी तरह घटता तथा चौथी से सर्वथा असगत पड़ता है।

शामशास्त्री ने अपने उपोद्घात मे यह भली भाँति दिखलाया था कि अर्थ० याज्ञ० से बहुत पहले का है। दोनों ग्रन्थो मे बहुत बातें समान है, और एक ने दूसरे का सहारा लिया है इस मे सन्देह नहीं। शामशास्त्री ने

दोनों के कई पारिभाषिक शब्दों की तुलना कर दिखलाया था कि अर्थ० उन शब्दों का मूल यौगिक अर्थों में प्रयोग करता है और याज्ञ० योग-रूढि में, उन की व्यवस्थाओं की तुलना भी उसी परिणाम पर पहुँचाती है। गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम् संस्कृत-सीरीज़ में अर्थ० का सम्पादन करते हुए (१९२३) भूमिका में शामशास्त्री की उस स्थापना का अपने ढंग से उत्तर दिया (पृ० ८-९), क्योंकि वे याज्ञ० को उपनिषद्-कालीन याज्ञवल्क्य मुनि की कृति समझते हैं। आधुनिक आलोचक उन के मत की विशेष परवा न करते, पर कीथ गणपति शास्त्री की इतनी बात मान कर कहते हैं कि अर्थ० याज्ञ० से नया है। अर्थ० और याज्ञ० से प्राचीन भारतीय जीवन के विषय में जो जानकारी मिलती है, उस की विवेचना क्रमशः ऊपर §§ १४०—४६ में तथा नीचे §§ १८९—१९६ में की गई है। जायसवाल ने अपने मनु और याज्ञ० में बड़ी बारीकी से अर्थ० मनु और याज्ञ० की तुलनात्मक विवेचना की है। इन विवेचनाओं की प्रत्येक बात से यह परिणाम निकलता है कि अर्थ० में आरम्भिक मौर्य युग का सजीव चित्र है और याज्ञ० में पिछले सातवाहन युग का। अर्थ० के व्यवहार में तलाक और नियोग साधारण बातें हैं, गवाह प्रायः श्रोता कहलाते हैं, सामुद्रिक व्यापार विषयक बातें बहुत सीधी-सादी हैं, सिक्के को सब जगह पण अर्थात् कार्षापण कहा है, मांस और शराब का खूब चलन है, दूसरी तरफ याज्ञ० विधवा विवाह रोकना तथा स्त्री को पुरुष की सर्वथा आज्ञाकारिणी बनाना चाहता है, गवाहों को साक्षी कहता है, सामुद्रिक व्यापार के पेचीदा नियम देता है, नाणक सिक्के का उल्लेख करता है, अहिंसा का बहुत कुछ उपदेश देता है,—और नहीं तो इन्हीं सब मोटी बातों के बावजूद भी जो उन के पौर्वापर्य को नहीं पहचान पाता, उस की अन्तर्दृष्टि पर आश्चर्य करना पड़ता है।

याज्ञ० की तरह म० भा० शान्तिपर्व के राजधर्म को तथा गुप्त-युग की नारद-स्मृति को भी जिस में सिक्के के लिए दीनार शब्द है, कीथ अर्थ० से कम

परिपक्व बतलाते हैं। लेकिन उन की परिपक्वता-अपरिपक्वता की पहचान का कितना मूल्य है सो ऊपर की विवेचना से प्रकट हो चुका है।

मेग॰ और अर्थ॰ के छोटे छोटे विसवादों को जिन की सुगमता से व्याख्या हो सकती है, स्टाइन और कीथ ने इतना गौरव दिया है, किन्तु यदि अर्थ॰ ३०० ई॰ के बाद का—गुप्त-युग का—है, तो गुप्त-युग की अवस्थाओ के साथ उस का कैसे सामञ्जस्य होगा यह सोचने का भी क्या उन्हो ने कभी कष्ट किया है ? चीनी यात्री फ़ाहिएन इस बात का साक्षी है कि गुप्त-युग का दण्ड-विधान अत्यन्त मृदु था; अर्थ॰ के कठोर दण्डविधान के साथ फाहिएन की बातो का सामञ्जस्य कैसे हो सकेगा ?

विन्सेट स्मिथ ने कहा था कि मौर्य युग की राजनीति का यूनानियों ने जैसा वर्णन किया है, अर्थ॰ का वर्णन उस से सगत होने की उन्हे तसल्ली है। कीथ और उन के मत के दूसरे लेखक भी यदि यूनानी वर्णनो और अर्थ॰ के मूल तत्वों को पकड़ सकते तो उसी परिणाम पर पहुँचते। अशोक-अभिलेखो और मौर्य युग की अन्य अवस्थाओ के साथ दूसरे विद्वानो ने जो अर्थ॰ का अनेक प्रकार से सवाद दिखाया है उस के विषय मे भी जौली कीथ और उन के साथी चुप हैं। उस प्रकार के सवाद के बीसो दृष्टान्त हुल्श के भा॰ अ॰ स॰ १ की भूमिका मे, जायसवाल के लेख दि अर्थशास्त्र एक्स्प्लेन्स् (अर्थशास्त्र व्याख्या करता है, इं॰ आ॰ १९१८. पृ॰ ५० प्र) मे तथा मनु और याज्ञ॰ मे, भडारकर के अशोक मे तथा अन्य अनेक ग्रन्थो और पत्रिकाओ मे दिये गये हैं। कुछ नये दृष्टान्त रूपरेखा मे भी उपस्थित किये गये हैं। यहाँ उन मे से कुछ मुख्य मुख्य का निर्देश मात्र किया जा सकता है। अशोक-अभिलेखो की परिषा और अर्थ॰ की मन्त्रि-परिषद् की तुलना[1] प्रसिद्ध है, अभिलेखो के युत और प्रादेशिक अर्थ॰ के युक्तों और प्रदेष्टाओं से मिलाये गये

---

1. भा॰ अ॰ स॰ १, भूमिका पृ॰ २ टि॰ ७।

है[1], डा० हुल्श ने पहले कलिंगाभिलेख के नगल-वियोहालकों की तुलना अर्थ० के पौर-व्यावहारकों से[2] एव व्रचभूमिकों की गोध्यत्त से[3] की है, इत्यादि । अर्थ० के लब्धप्रशमन अध्याय का जो सन्दर्भ ऊपर § १४२ अ में उद्धृत किया गया है, उसी के बीच के अश मे यह बात भी है कि राजा नये जीते देश मे "चौमासो मे आधे मास के लिए, पौर्णमासियो मे चार रात के लिए, तथा राज और देश के नक्षत्रो मे एक रात के लिए अघात ( जन्तुवध निषेध ) की घोषणा कर दे ।" भण्डारकर ने अशोक की अघात-घोषणा की इस से तुलना की है, उसी प्रकार अशोक की समाजों विषयक घोषणा की भी अर्थ० के एक और निर्देश से[4], ये तुलनाये बडे मार्के की है, और लब्धप्रशमन मे इन के उल्लेख से सूचित होता है कि जनता मे इन वस्तुओ की माँग थी। राजा की आर्थिक कठिनाई के समय जनता के धर्म-विश्वासो से लाभ उठा कर, मन्दिरो द्वारा धन बटोर कर, तथा धनी लोगो से प्रणय ( प्रेम-भेट ) ले कर कोशाभिसहरण करने के जो उपाय अर्थ० ५ २ मे कहे गये है, वे चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार की युद्धो के कारण हुई आर्थिक कठिनाई से खूब सगत होते हैं, जायसवाल ने पतञ्जलि के इस कथन से उन की तुलना की है कि मौर्यों ने धन पाने के लिए मूर्तियाँ स्थापित की थीं[5], उसी प्रकार रुद्रदामा के अभिलेख ( १५० ई० ) मे प्रजा से प्रणय न लेने की बात की व्याख्या भी अर्थ० के उस शब्द से की है[5]। वैसे ही उद्दालक-जातक मे झूठे सन्यासियो के उल्लेख की अर्थ० की प्रव्रजितो पर नियन्त्रण रखने की बात स तुलना ऊपर (§§ ८६ अ, १४३ उ) की जा चुकी है। अन्य अनेक दृष्टान्त जहाँ तहाँ दिये जा चुके हैं।

---

१. वहीं टि० १ और ३।

२. वहीं पृ० ६५ टि० ३।

३. वही पृ० २२ टि० ५।

४. अशोक पृ० १०-११, २०-२१।

५. इं० आ० १६१८ के उक्त लेख में, ऊपर § १४२ इ।

याकोबी ने अर्थ० की प्रामाणिकता के विषय मे जो कुछ लिखा था, उस के मुख्य तत्त्वो का कुछ भी उत्तर जौली या कीथ से नहीं बन पड़ा। याकोबी की विवेचना अत्यन्त विचारपूर्ण थी, और कीथ के लेख मे अनेक ऐसी बाते हैं जिन का समाधान याकोबी की बातो पर ध्यान देने से ही हो सकता था। अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता कैसी जाँच के बाद सिद्ध हुई है, पाठकों को इस का पता देने के लिए याकोबी की विवेचना का सार यहाँ दिया जाता है।

अर्थ० की प्रामाणिकता पर सब से पहले विचार शामशास्त्री के अतिरिक्त दो जर्मन विद्वानो—हिलब्रांट और हर्टल—ने किया था। याकोबी का लेख उन के बाद १९१२ ई० मे एक जर्मन पत्रिका मे निकला, और उस का अनुवाद इ० आ० १९१८ मे। हिलब्रांट ने यह स्वीकार किया था कि अर्थ० चन्द्रगुप्त के अमात्य कौटिल्य का ही लिखा हुआ है, किन्तु साथ ही कुछ अश में यह सम्भावना मानी थी कि शायद कौटिलीय सम्प्रदाय—कौटिल्य की शिष्यपरम्परा—ने उस का पीछे कुछ सम्पादन किया हो। याकोबी पहले इसी बात की आलोचना करते हैं, और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विद्यमान अर्थ० एक ही व्यक्ति की कृति है, वह सम्प्रदाय की कृति हो ही नही सकती। चाणक्य जैसे बड़े राजनीति-नेता को अपने घटनापूर्ण जीवन मे शिष्य-सम्प्रदाय स्थापित करने की फ़ुरसत न हो सकती थी; उस के लिए वह कार्य वैसा ही असम्भव था जैसा बिस्मार्क के लिए। फिर समूचे ग्रन्थ की एक सुगठित योजना और एक समान विचारधारा है, समूचे पर एक प्रतिभाशाली मस्तिष्क की छाप है, जो कि एक सामूहिक रचना मे कभी हो नहीं सकती। यह ग्रन्थ एक सम्प्रदाय की उपज नहीं है, प्रत्युत एक सम्प्रदाय इस ग्रन्थ से पैदा हुआ। किन्तु पहले सम्प्रदाय का अर्थ है—गुरुशिष्यसन्तान, और दूसरे का—तन्मतानुसारिता।

समूचे ग्रन्थ मे कुल ११४ बार पूर्वाचार्यों के मतों का प्रत्याख्यान है, जिन मे से ७२ बार अपना नाम ले कर—इति कौटिल्य कह कर—खण्डन

किया गया है। इस से प्रकट है कि इस का लेखक एक अपने मत रखने वाला स्वतन्त्र विचारक था। जिन का वह खण्डन करता है उन्हे आचार्या कहता है, यदि कौटिल्य की शिष्यसन्तान मे किसी ने इस ग्रन्थ की रचना की होती तो वह आचार्य शब्द कौटिल्य के लिए बर्त्तता न कि अपने पूर्व पक्ष के लिए।

फिर यह बात मार्के की है कि ग्रन्थ के दो लम्बे अंशो—पृ० ६९ से १५६ तथा पृ० १९७ से २५४—मे कहीं पूर्वाचार्यो का उल्लेख नहीं है, पृ० ४५ से ६९ तक भी केवल दो गौण उल्लेख हैं। इन पृष्ठो में ठीक वे अधिकरण—अध्यक्षप्रचार कण्टकशोधन और योगवृत्त—है जिन्हे एक तजरबेकार शासक और राजनीतिनेता ही ठीक लिख सकता था, और इन्हीं विषयो पर पूर्वाचार्यो की कृति न के समान थी, कौटिल्य ने सर्वथा स्वतन्त्र रचना की।

पुराने आचार्यों के मतो का उद्धरण सदा एक ही क्रम से किया गया है। पहले-पहल यह सूझता है कि वही ऐतिहासिक पौर्वापर्य-क्रम होगा, किन्तु परखने पर वह बात नही निकलती। उदाहरण के लिए विद्यासमुद्देश ( १ २ ) प्रकरण मे लिखा है कि मानवो के मत मे तीन विद्याये हैं, बार्हस्पत्यो के दो, औशनसो के एक। प्रकृतिव्यसन ( ८ १ ) प्रकरण मे आचार्यों का यह मत दिया है कि स्वामी अमात्य जनपद दुर्ग कोश दण्ड और मित्र के व्यसनो मे से पहला पहला बडा है, इस पर भारद्वाज कहता है कि स्वामी के व्यसन से अमात्य का व्यसन बडा, विशालाक्ष कहता है कि अमात्य के व्यसन से जनपद का व्यसन बडा, इत्यादि। ऐतिहासिक पौर्वापर्य के रहते सम्मतियो का ऐसा बँधा हुआ क्रम नहीं रह सकता। स्पष्ट है कि कौटिल्य स्वयं पुराने आचार्यो के मत ऐसे क्रम से रख देता है कि वे एक दूसरे का खण्डन करते दीख पड़े। कौटिल्य के गम्भीर ग्रन्थ मे यही एक कलापूर्ण युक्ति है। पुराने आचार्यों से इस प्रकार का विनोद कोई बड़ा उस्ताद ही कर सकता था, निरा पोथी-पण्डित कभी ऐसा करने की हिम्मत न करता।

अर्थ० मे पहले आचार्य-सम्प्रदायों के मत उद्धृत किये जाते है, फिर व्यक्ति लेखको के। इस लिए पहले अर्थशास्त्र सम्प्रदायो मे उपजा, फिर उस के स्वतन्त्र लेखक हुए। कौटिल्य के समय तक अनेक स्वतन्त्र लेखक हो चुके थे। भारतीय वाङ्मय मे सम्प्रदायों की कृतियाँ प्रायः सूत्रो मे हैं, जिन्हे शिष्य लोग याद करते और गुरुओ से उन का अर्थ समझ लेते थे; किन्तु व्यक्ति लेखको की रचनाये प्रायः भाष्य शैलो मे है, क्योकि सम्प्रदायो से असम्बद्ध व्यक्ति लेखक यदि सूत्र लिखते तो एक तो उन का गुरुशिष्यसन्तान न होने से उन सूत्रों की व्याख्या करने का कोई सिलसिला न रहता, और दूसरे उन्हे सूत्र लिखने की ज़रूरत भी न थी क्योकि छात्रों की स्मरण-सुविधा के लिए ही सूत्र लिखे जाते थे। अर्थ० मिश्रित सूत्र-भाष्य शैली मे है, और उस अवस्था को सूचित करता है जब एक शैली का अन्त हो दूसरी का आरम्भ होता था।

अर्थ० के लेखक ने अपने और अपने ग्रन्थ के विषय मे तीन-चार जगह सूचना दी है। ग्रन्थ का उपक्रम वह इन शब्दों से करता है—"पृथिवी के लाभ और पालन के विषय के जितने अर्थशास्त्र पूर्वाचार्यों ने प्रस्थापित किये है, प्रायः उन सब का सहरण कर के यह अर्थशास्त्र किया गया, उस के प्रकरणो और अधिकरणो का यह ब्यौरा है।" ब्यौरे के अन्त मे कहा है—"कुल १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० प्रकरण ६००० श्लोक। [ श्लोक ] ग्रहण करने और समझने मे सुगम, निश्चित तत्त्व अर्थ और पदो वाला विस्तार-रहित शास्त्र कौटिल्य ने किया।" इन शब्दो से १.१ (पहले अधिकरण का पहला अध्याय) समाप्त होता है। फिर २.१० के अन्त मे श्लोक है—"सब शास्त्रो का अनुक्रम कर के और प्रयोग समझ कर कौटिल्य ने नरेन्द्र के लिए शासन (राजकीय आज्ञापत्रो) की विधि बनाई।" ग्रन्थ का अन्तिम एक ही अध्याय का अधिकरण तन्त्रयुक्ति है, जिस मे इस शास्त्र की कुल युक्तियों अर्थात् शैलो की योजनाओ का ब्यौरा है, उस मे प्रत्येक युक्ति का

नमूना पिछले भिन्न भिन्न अधिकरणो से उठा कर दिखाया है। अन्त मे तीन श्लोक है, जिन मे से पहला यो है—"इस प्रकार यह शास्त्र इन तन्त्र-युक्तियो से युक्त इस लोक और पर लोक की प्राप्ति और पालन के विषय मे कहा गया।" और तीसरा—"जिस ने अमर्ष-वश एकाएक शास्त्र का, शस्त्र का और नन्द राजा के हाथ गई भूमि का उद्धार किया, उस ने यह शास्त्र रचा।"

१ १ और २. १० के तथा ग्रन्थ के अन्त के ये श्लोक क्या पीछे की मिलावट नही हो सकते ? याकोबी उत्तर देते है कि नहीं, क्योकि ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरण के अन्त मे एक न एक श्लोक अवश्य है, और यदि १.१ तथा २.१० के वे अन्तिम श्लोक हटा दिये जायँ तो उन्हीं प्रकरणो का समाप्ति श्लोको बिना हो। तन्त्रयुक्तियो मे ग्रन्थ के प्राय. प्रत्येक अश के उद्धरण देने से सूचित है कि समूचा ग्रन्थ एक योजना मे बँधा और एक ही व्यक्ति का रचा है। आरम्भ के वाक्यो मे जो बात कही है कि पिछले सब आचार्यो का मत ले कर यह शास्त्र रचा गया, वह भी समूचे ग्रन्थ मे पूर्वाचार्यों के उद्धरणो से पुष्ट होती है। उपसहार के तीन श्लोक भी प्रक्षिप्त नहीं हो सकते, क्योंकि वही तो स्थान है जहाँ लेखक अपना परिचय दिया करते हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र मे जिस मे ठीक अर्थ० की शैली की नकल है, उपसहार के आठ श्लोक हैं। फिर अन्तिम तीन श्लोको मे से पहले मे इस लोक की प्राप्ति और पालन की बात है, जिस मे ग्रन्थ के उपक्रम वाले शब्द ही दोहराये गये हैं, स्पष्ट है कि उपक्रम और उपसहार दोनो लेखक के अपने शब्दो मे हैं। सब से बढ़ कर, उपसहार मे तथा १.१ और २.१० के अन्त मे ग्रन्थकार ने अपने विषय मे जो शब्द लिखे हैं वे अत्यन्त शिष्ट सभ्य और सक्षिप्त है, उन मे आत्मश्लाघा नही, प्रत्युत एक महापुरुष की आत्मानुभूति है। दूसरे किसी ने उपसहार लिखा होता तो वह मौर्य साम्राज्य-सस्थापक की प्रशस्ति बहुत बढ़े-चढे शब्दो मे लिखता। पुराने अर्थशास्त्रो का कौटिल्य ने एकाएक अमर्ष से उद्धरण (सशोधन) कर डाला, यह बात ग्रन्थ के अन्दर उद्धृत

पूर्वाचार्यों के मतों की बहुतायत से पुष्ट होती है। कौटिल्य की कृति जैसी नपी-तुली है, वैसे ही ये आत्मसूचना के शब्द भी अत्यन्त नपे-तुले और चुने हुए हैं, उन पर एक प्रतिभाशाली महापुरुष के व्यक्तित्व की छाप है, स्वयं शास्त्रकार के बजाय किसी दूसरे ने उपसहार लिखा होता तो उस से कोई न कोई चूक अवश्य हो गई होती।

भारतीय वाङ्मय के इतिहास मे जालसाजी बहुत हुई है, जालसाजी इस अर्थ मे कि पिछले सूत अपनी रचनाओ को वेदव्यास की कृति बताते है, शुग युग का एक लेखक अपने ग्रन्थ को मनु की कृति कह कर प्रकट करता है, इत्यादि। इसी से कौटिलीय अर्थशास्त्र के विषय मे भी सन्देह करने की प्रवृत्ति हो सकती है। किन्तु अपनी रचना को बड़प्पन देने के लिए किसी ऋषि मुनि या देवता नाम मढ़ने की प्रथा ही भारत मे रही है, एक राज-नीतिज्ञ महापुरुष का नाम कोई साधारण लेखक अपनी कृति पर जोड़ देता इस के लिए जिस परिष्कृत धूर्त्तता की अपेक्षा है वह भारतीय वाङ्मय की परम्परा मे नहीं पाई जाती। दूसरे अर्थ० एक अद्वितीय कृति है; सदा तुच्छ रचनाओ का ही गौरव बढ़ाने के लिए उन पर बडे नाम मढ़े जाते हैं, न कि ऐसी कृतियो पर। हाँ, यह अवश्य सम्भव है कि अर्थ० मे जो शिल्प आदि विषयक विशेष ज्ञान है, उन अशो मे कौटिल्य ने अपने नीचे काम करने वाले विभिन्न अध्यक्षों से सहायता ली हो, और उन अशो का स्वयं केवल सम्पादन किया हो।

अर्थ० यास्क के निरुक्त और पतञ्जलि के महाभाष्य की तरह एक उच्च कोटि की रचना है। ऐसी उच्च कोटि की रचना होने के कारण ही वह काल के हाथो नष्ट नही हुई; और जिस कारण वह काल की चोटो से बची रही उसी कारण क्षेपको से भी, क्योंकि वैसी ऊँची रचनाओ मे क्षेपक मिलाने से साहित्यिक जालसाज डरा करते है। जिन ग्रन्थो मे क्षेपक होते है उन के उपक्रम

उपसहार आदि मे अध्यायो आदि की सख्या कुछ दी होती है तो बीच मे गिनने से कुछ और निकलती है, पर अर्थ० के अध्यायो प्रकरणो की सख्या जैसी ग्रन्थकार ने उपक्रम मे कही है वह अब तक पूरी है।

याकोबी की इस विवेचना के बाद इस सम्भावना को तो कोई गुजाइश नही रहती कि अर्थ० का कुछ अश स्वय कौटिल्य का लिखा और कुछ बाद का है। समूचा ग्रन्थ एक व्यक्ति की रचना है। भारतीय वाङ्मय मे उस ग्रन्थ और उस के लेखक के विषय मे जो अनुश्रुतियाँ है उन का सग्रह शामशास्त्री कर चुके है। दशकुमारचरित के लेखक दण्डी कवि ने अर्थ० के ठीक शब्दो का अनुवाद करते हुए लिखा है कि "यह दण्डनीति आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्य के लिए छ हजार श्लोको मे लिखी।" और आगे उस ने उस के कुछ विषय उद्धृत किये है जिन से सिद्ध होता है कि दण्डी के समय अर्थ० अपने विद्यमान रूप मे ही उपस्थित था। नीतिसार के कर्त्ता कामन्दक, कामसूत्र के लेखक मल्लनाग वात्स्यायन, न्यायभाष्य के लेखक वात्स्यायन और याज्ञवल्क्य-स्मृति से पहले, तथा भारतवर्ष मे राशियो के अशभेदो का ज्ञान उदय होने से भी पहले अर्थ० उपस्थित था, सो भी शामशास्त्री दिखला चुके है। उस का सब से पुराना उल्लेख जो उन्हो ने खोजा है वह जैन नन्दिसूत्र मे है जो कि स्थानकवासी श्वेताम्बरो के चार मूळ ग्रन्थो मे से एक है। उस मे कोडिल्लिय ( कौटिलीय ) की गिनती मिथ्या शास्त्रो मे की है। याकोबी नन्दिसूत्र को पिछले मौर्य युग की रचना मानते है, और यद्यपि वह विषय निर्विवाद नही है, तो भी उस का समय बहुत पीछे भी नहीं हटाया जा सकेगा।

रूपरेखा का मुख्य अश और यह टिप्पणी लिखी जा चुकने के बाद इ० आ० १९३१ मे पृ० १०९ प्र, १२१ प्र पर डा० प्राणनाथ के इसी विषय के दो लेख निकले हैं, जिन मे उन्हो ने यह मत प्रकट किया है कि अर्थ० की तिथि ४८४—५१० ई० के बीच है।

डा० प्राणनाथ की युक्ति-परम्परा मे पहली यह है कि अर्थ० का जनपद बहुत छोटा क्षेत्र है, वह एक आधुनिक तहसील के बराबर है। अपने इस आविष्कार से वे समझते है उन्हो ने यह सिद्ध कर डाला कि अर्थ० का लेखक विशाल मौर्य साम्राज्य का सचालक नहीं था। मौर्य युग के भारतवर्ष मे अनेक छोटे छोटे जनपद थे, सो हम देख चुके है; किन्तु आज यदि हम समूचे भारत के अर्थ मे जनपद शब्द का दुष्प्रयोग करने लगे है तो उस युग के लोगो से भी वैसा करने की आशा क्यो करते है ? और क्योंकि अर्थशास्त्रकार आधुनिक हिन्दी की मिथ्या परिभाषा का अनुसरण कर मौर्यो के समूचे विजित को एक जनपद नहीं कहता, इसी से क्या हम यह कह सकेगे कि वह समूचे भारत या भारतीय साम्राज्य को जानता नही है ? भारतवर्ष के लिए हमारे पुराने वाङ्मय मे पृथिवी, महापृथिवी सर्वभूमि आदि शब्दो का प्रयोग होता है[1], और अर्थ०-कार जब कहता है कि "(विजिगीषु का) देश (समूची) पृथिवी ( है ), उस मे हिमालय और समुद्र के बीच उत्तर का सीधे एक हजार योजन परिमाण का चक्रवर्त्ति-क्षेत्र है, उस में आरण्य ग्राम्य पार्वत औदक भौम सम और विषम ये ( प्रदेशो के ) भेद ( हैं ) " ( ९·१—पृ० ३४०), तब क्या हम कह सकते हैं कि वह भारतीय साम्राज्य से अपरिचित था ? स्पष्ट है कि डा० प्राणनाथ को जनपद शब्द के आधुनिक प्रयोग ने धोखा दिया है।

इस आरम्भिक गलत बुनियाद पर खड़े हो कर फिर वे यह टटोलने का जतन करते है कि अर्थ०-कार का जनपद कौन सा था। इस प्रसग मे वे समूचे अर्थ० के सब भौगोलिक निर्देशो को जुटा कर उन से कुछ परिणाम

---

१. दे० ऊपर * १—पृ० ११०, § ४५, § ६६ ए, § ८०—पृ० २०६, § १३६—पृ० ६१५, तथा अष्टाध्यायी ५।१।४१—४३,—सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ। तस्येश्वरः। तत्र विदित इति च।

निकालने के बजाय, अपनी पसन्द के दो तीन अध्यायो के निर्देशो के आधार पर फैसला कर डालते है। सब से पहले वे जनपदनिवेश (२·१) के इस निर्देश को लेते है कि जनपद के अन्त (सीमा)-दुर्गो के "अन्दर की रक्षा वागुरिक शबर पुलिन्द चण्डाल अरण्यचर करे" ( पृ० ४६ )। डा० प्राणनाथ कहते है कि वागुरिक गुजरात के बागरी या बावरी लोग है, और शबर आदि भी सब उन के पडोसी होगे। फिर शुल्कव्यवहार (२·२२), नावध्यक्ष (२·२८) आदि अध्यायो के आधार पर वे यह परिणाम निकालते है कि अर्थ० कार का जनपद समुद्र-तट पर था, जो बात कि गुजरात पर ठीक घटती है। अन्त मे वे सीताध्यक्ष (२·२४) अध्याय को लेते है। उस मे यह लिखा है कि—"१६ द्रोण जागलों का वर्षप्रमाण है, उस से ड्योढा आनूपो का, देशावापो मे मे अश्मकों का १३½, अवन्तियों का २३, अपरान्तों और हैमन्यो का अमित ( बेहिसाब ), और कुल्यावापों का काल से" ( पृ० ११५-१६ )। शामशास्त्री ने इस प्रसंग मे वर्षप्रमाण का अर्थ किया है वर्षा की मात्रा, डा० प्राणनाथ करते है खेती की प्रति बीघा वार्षिक उपज। इस सन्दर्भ से ठीक पहले कृषि की चर्चा है, और ठीक बाद वर्षा और मेघो की। शामशास्त्री का अनुवाद इस अश मे भट्टस्वामी की प्राचीन व्याख्या के, जो कि दूसरे अधिकरण के आठवे से अन्तिम अध्याय तक के लिए उपलभ्य है, अनुसार है, इस कारण हम उस अनुवाद को एकाएक गलत नही कह सकते। जागल और आनूप शब्दो को शामशास्त्री ने जातिवाची पारिभाषिक शब्द मान कर उन का अर्थ किया है—बॉगर और कछार, डा० प्राणनाथ उन्हे राजपूताना और नर्मदा-कॉठे के विशेष प्रदेशो के नाम मानते हैं। इस सन्दर्भ मे वर्षप्रमाण का चाहे जो अर्थ हो, किन्तु इस वाक्य की बनावट से यह प्रकट है कि इस मे सब प्रदेशो को जागल आनूप देशावाप और कुल्यावाप इन चार किस्मो मे बॉटा गया है, जिन मे से केवल देशावाप किस्म के कई प्रदेशो के नाम दिये है। केवल उन्हीं नामो को ले कर तथा जागल और आनूप को प्रदेशो के व्यक्तिवाचक नाम मान कर डा० प्राणनाथ ने तय कर डाला है कि अर्थ०-कार का जनपद आधुनिक मारवाड़ और गुजरात से

लगा कर कोंकण ( अपरान्त ) और पूरबी महाराष्ट्र ( अश्मक ) तक था। आगे वे यह विचार करते हैं कि मारवाड़ से महाराष्ट्र तक की यह छोटी सी तहसील प्राचीन इतिहास में कब एक शासन में रही, और विन्सेंट स्मिथ की अर्ली हस्टरी से उन्हें यह सूचना मिलती है कि पच्छिम भारत के शक क्षत्रपों[1] के राज्य में इस के सब प्रदेश थे। यदि वे अ० हि० पर बहुत निर्भर न रहते, तो यह परिणाम आसानी से निकल सकता कि अर्थ०-कार नहपान या रुद्रदामा के ही दरबार में था, क्योंकि क्षत्रपों में से भी केवल उन्हीं दो के समय उक्त सब जनपद एक शासन के अधीन थे।

वागुरिक का डा० प्राणनाथ ने जो अर्थ किया है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ। शामशास्त्री ने वागुरिक शबर और पुलिन्द के अर्थ क्रमशः किये हैं—फन्दे में फँसा कर जानवर पकड़नेवाले, धनुर्धर और शिकारी। किन्तु जैसे मोची पहले एक विशेष जाति का नाम था[2], पर पीछे जो उस जाति वाला काम करे उसे हम मोची कहने लग गये, उसी प्रकार शामशास्त्री के किये हुए उन शब्दों के अर्थ पीछे के लाक्षणिक अर्थ हैं न कि मूल अर्थ। किन्तु बागरी यदि गुजरात के निवासी हैं तो शबरों का देश आज शबरी नदी पर आन्ध्र और उड़ीसा की सीमा पर है[3]; और किसी समय मर्त्तबान की खाड़ी से मलक्का की समुद्रसन्धि तक के तट का नाम भी शबरों के नाम से परिचित था[3]; इस कारण अर्थ०, कार की 'तहसील' को हमें पूरबी महाराष्ट्र से कम से कम उड़ीसा के समुद्र तक तो फैलाना ही होगा। उस के अतिरिक्त, ४३००० बावरी पञ्जाब में भी रहते हैं, और उन्हीं की सी बोली बोलने वाले लोगों का एक छोटा सा दल मेदिनीपुर में भी है[4]। उन की बोली अब भी भीली-गुजराती है।

---

१. दे० नीचे §§ १६५, १६६, १८१—१८४, १८६।

२. दे० ऊपर § ७५—पृ० २८९।

३ दे० ऊपर § १९—पृ० ७२-७३।

४. भा० भा० प० १, १, पृ० १७९।

द्राविडी-मिश्रित या भीली मिश्रित गुजराती खानदेशी या राजस्थानी या उन का मिश्रण बोलने वाली अनेक फिरन्दर जातियाँ उत्तर भारत के दूर दूर के प्रान्तो मे भी पाई जाती है, जहाँ वे अब तक अपनी पुरानी बोली को बचाये हुए है। भारतीय जनविज्ञान की यह एक समस्या है कि वे वहाँ कब और कैसे पहुँच गई, और उस समस्या का एक सम्भावित समाधान सुझा देने के लिए मै डा० प्राणनाथ को धन्यवाद देता हूँ, क्याकि उन के मत की यह आलोचना करते समय मुझे यह सूझा है कि शायद कौटिल्य के समय उन्हे विभिन्न अन्तों के दुर्गों मे ले जाया गया और तभी से वे वहाँ बसी है।

अर्थ०-कार का 'जनपद' निश्चित करने को डा० प्राणनाथ ने कई और युक्तियाँ भी लगाई है ( जैसे सेतु वाली ), जिन पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता नही दीखती।

उन की दूसरी युक्ति प्राग्घूणक शब्द पर आश्रित है। हम देख चुके है कि किसी के जनपद की निन्दा करना भी मौर्य भारत मे वाक्पारुष्य का अपराध गिना जाता था (ऊपर § १४२ ऋ—पृ० ६३२)। उस प्रसग मे अर्थ० (३ १८) मे दो जनपदो के नाम नमूने के तौर पर दिये है—प्राज्जूणक और गान्धार (पृ० १९४)। गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम्-सस्करण मे प्राज्जूणक के बजाय प्राग्घूणक पाठ दिया और उस का अर्थ किया है—पूरबी हूण देश। उन्हो ने स्पष्ट सूचना दी है कि आदर्श पुस्तक मे प्रा और ण के बीच मे जगह खाली है, प्राग्घूणक है, किन्तु डा० प्राणनाथ को इस से क्या ? भाषा-पाठ ( उपोद्घात पृ० ३ मे उल्लिखित मलयालम् सस्क० का पाठ ? ) जिस बुनियाद पर खडे हो वे अर्थ० की तिथि पीछे खीचना चाहते है वह भले ही बालू की हो, पर तिथि पीछे खिचनी चाहिए।

डा० प्राणनाथ कहते हैं कि हूणो का आतक पच्छिम भारत पर—जहाँ का निवासी कि कौटिल्य उन के मत मे था—४८४ से ५१० या ५२८ ई० तक था, इस लिए कौटिल्य भी ठीक उस युग मे हुआ। किन्तु एक तो उस युग

मे मारवाड़ से महाराष्ट्र तक का देश एक 'तहसील' मे शामिल न था। दूसरे, जब हम किसी का अपमान करने को उस के जनपद का नाम घृणा के भाव से लेते है—जैसे किसी को सत्तूखोर बिहारी, पजाबी ढग्गा, कश्मीरी, पठान, बलोच, बांगाल, दक्खणा या बिहारी बुद्धू आदि कहते समय—तब क्या हमे उस जनपद के नाम के साथ पूरबी या पच्छिमी विशेषण लगाने की सुध रहती है ? हूण कह कर किसी का अपमान किया जा सकता था, किन्तु क्या अपमान करने के इरादे से कोई किसी को पूरबी हूण कहता ?

तीसरे, प्राज्जूणक और प्रा 'णक इस पाठ-भेद से जान पड़ता है कि यहाँ पाठ में कुछ गड़बड़ है; मूल शब्द तलाशना चाहिए। बौ० १ १. ३० मे जिन देशों में जा कर लौटने से प्रायश्चित्त की आवश्यकता बतलाई है, उन में एक प्रानून का भी नाम है। मूल बौ० का समय ५ वीं शताब्दी ई० पू० तथा उस के विद्यमान रूप का २०० ई० पू० के करीब है[1]। इस प्रकार यह कहना होगा कि ५ वीं और २री शताब्दी ई० पू० के बीच प्रानून प्राज्जूण या कुछ और ऐसे ही नाम का कोई बदनाम जनपद भारतवर्ष मे था। किन्तु उस नाम की खोज से कौटिल्य उलटा बौधायन के समय के करीब का निकला।

डा० प्राणनाथ का तीसरा तर्क यह है कि अर्थ० के कोशप्रवेश्यरत्नपरीक्षा प्रकरण ( २ ११ ) मे प्रवाळकम् आलकन्दकम् का उल्लेख है; आलकन्द माने अलक्सान्द्रिया से आने वाला; अलक्सान्द्रिया का नाम सिकन्दर के नाम से पड़ा था, उस नाम का प्रचार सुदूर भारत मे सिकन्दर के पीछे कुछ ही बरस मे कैसे हो जा सकता था ? समाधान—कौटिल्य मौर्य साम्राज्य का प्रधान अमात्य था, और उस साम्राज्य का यवन राज्यो से घनिष्ठ सम्बन्ध था; साधारण जनता मे अलक्सान्द्रिया के नये नाम का प्रचार होने मे भले ही देर लगती, पर मौर्यों के राजकीय कागज़ात मे उस का तुरत आ जाना कुछ कठिन न था।

---

१. ऊपर § ११२ अ—पृ० ४२८।

चौथा तर्क—अर्थ० मे देश के सिक्को पर राज्य का एकाधिकार कहा है, पर मौर्यों का कोई सिक्का आज हमे नही मिलता। यह ठीक है कि प्राचीन भारत मे पहले विनिमय के सिक्को का सचालन शायद राजा के बजाय निगम करते थे। अर्थ० २ १२ मे ये विधान है कि एक विशेषज्ञ को या विशेषज्ञो के एक सत्र को आकराध्यक्ष नियुक्त किया जाय ( पृ० ८१ ), आकरो अर्थात् खानो की सब उपज (समुत्थित) को कर्मान्ता अर्थात् कारखानो मे लगाया जाय, और उस का सब व्यवहार ( व्यापार ) एकमुख ( केन्द्रित, राज्य के एकाधिकार मे ) रहे ( पृ० ८३ ), लोहाध्यक्ष लोहे ताँबे आदि के कर्मान्ता का तथा उन की उपज के व्यवहार का सचालन करे , लक्षणाध्यक्ष चांदी के सिक्के आदि बनवाय ( पृ० ८४ ) । खानो की उपज का व्यापार भले ही राज्य के हाथ मे था, तो भी यह बात स्पष्ट नही है कि सिक्के राज्य के लिए बनाये जाते थे या निगमों के लिए—उन पर राज्य के लक्षण छापे जाते थे या निगमो के। सौवर्णिक के प्रकरण ( २ १४ ) के शुरू मे कहा है—सौवर्णिक पौर-जानपदों के चाँदी-सोने को कारीगरो से बनवाय ( पृ० ८९ ) , आकराध्यक्ष के ही प्रकरण मे आगे कहा है—"रूपदर्शक (सिक्को को जाँचने वाला) व्यावहारिकी (व्यापार मे चलने वाली) तथा कोशप्रवेश्या पणयात्रा ( करेंसी ) की स्थापना करे—आठ फी सदी रूपिक, पाँच फी सदी व्याजी, $\frac{1}{8}$ फी सदी पारीक्षिक ।" यहाँ शामशास्त्री यह सुझाते है कि माल के दाम के रूप मे या जुरमाने आदि के रूप मे जब कभी कोश मे रुपया आता था, उस पर इतने फी सदी ऊपर से और लिया जाता था। यह बात कुछ अस्वाभाविक लगती है, और ऐसा होता भी तो इस वसूली से रूपदर्शक को क्या मतलब था, और इसे टकसाल-प्रकरण मे क्यो कहा जाता ? मुझे यह प्रतीत होता है कि लक्षणाध्यक्ष निगमो के लिए सिक्के बनवाता था, उन मे से जो सिक्के व्यवहार ( व्यापार ) मे चले जाँय, चले जाँय, किन्तु जो राजकीय कोश के लिए लिये जाते थे उन पर रूपिक व्याजी और पारीक्षिक नाम से दलाली ली जाती थी। इन दलालियो से तो यह सूचित होता है कि सिक्के निगमो के लिए ही बनाये

जाते थे, किन्तु यदि उन पर राज्य के लक्षण भी छापे जाते हो तो भी क्या ? क्योकि प्राचीन भारत मे उस युग तक राजा का चेहरा या कोई लेख सिक्को पर छापने का रिवाज न था, केवल लक्षण या अक अर्थात् निशान छापे जाते थे, इस लिए पुराने निशान वाले सिक्को में मौर्य राजाओं के सिक्के भी आज विद्यमान हो, और हम उन्हे पहचान न पाते हों, यह क्या सम्भव नही है ? अर्थ० यह तो नही कहता कि सिक्को पर राजा का चेहरा छापा जाय।

डा० प्राणनाथ की अन्तिम दलील यह है कि अर्थ० मे जो अनेक बाते हिन्दू धर्म के प्रतिकूल हैं—जैसे तलाक, मांस-भक्षण, स्त्रियो का अपने प्रेमियो के पास शराब भेजना आदि—वे पच्छिम भारत मे यवनो शको और हूणो के प्रभाव पड़ने के पीछे की अवस्था को सूचित करती है। यह तर्क नैयायिको के गोमयपायसीय न्याय—गोमय पायस गव्यत्वात्—गोबर दूध है क्योकि गाय के पेट से उपजता है—की याद दिलाता है। ठीक जिन बातो से अर्थ० की प्राचीनता निश्चित होती है, उन्ही से डा० प्राणनाथ उसे अर्वाचीन बनाना चाहते है।

इस सिलसिले मे डा० प्राणनाथ का एक और लेख भी इ आ १९३१ मे निकला है। मै उसे पढ़ नही पाया, परन्तु उस के शीर्षक से अन्दाज़ होता है कि उस मे उन्हो ने शायद यह तर्क किया हो कि अर्थ० मे ६००० श्लोक होने की बात उस के उपक्रम मे लिखी है, पर अब उस का अधिकांश गद्य मे है, श्लोक तो थोड़े से है। इस ६००० श्लोकों वाली बात को आधुनिक विद्वान् अब तक एक पहेली मानते रहे है, न तो अर्थ० की प्रामाणिकता के पक्षपातियों ने उस की कोई व्याख्या की है, और न उस के विरोधियो ने इस आधार पर अब तक उस पर अगुली उठाई थी। किन्तु अर्थ० मे ६००० श्लोक थे सो बात पक्की है, स्वय कौटिल्य ने वह लिखी है, और फिर दण्डी ने भी दोहराई है।

ठीक उस समय जब कि इन पृष्ठो के लिए प्रेस से तकाज़ा आ रहा है, मुझे उस पहेली का अर्थ सूझा है। एक श्लोक मे ३२ मात्राये होती हैं। ६००० श्लोको की कुल १९२००० मात्राये हुई। उक्त कथन का अर्थ यह है कि अर्थ० मे कुल १९२००० मात्राये थी। अब उस मे कितनी मात्राये हैं इस की

गिनती मैं जल्दी मे कर नही सका, पर जितने पृष्ठो की गिनती कर पाया हूँ उस से यह निश्चित हो गया है कि विद्यमान अर्थ० मे ६००० श्लोको से अधिक मात्राये तो नहीं है। आरम्भ से १०३ पृष्ठ तक उस मे कुल ३८११८ मात्राये है।

## * २६. भारत और चीन का प्रथम परिचय कब ?

इस विषय मे ऊपर § १३६ ऋ मे जो लिखा गया है, वह आधुनिक विद्वानो के सब से नये मत के अनुसार है। फ्रांसीसी विद्वान् पेलियो ने इस सिद्धान्त की स्थापना की है, और दूसरे सब विद्वानो की इस पर सहमति प्रतीत होती है। जायसवाल का कहना है कि शिना बोली बोलने वाले दरदो[1] के अर्थ मे चीन शब्द हमारे वाङ्मय मे और पुराना भी हो सकता है, तथा अर्थ० मे वह उसी अर्थ मे है।

किन्तु अवस्ता और पारसी वाङ्मय के प्रमुख विद्वान् डा० जीवनजी जमशेदजी मोदी सदा से कहते रहे है कि अवस्ता के समय प्राचीन ईरानियो को जो पाँच देश और जातियाँ ज्ञात थी उन मे एक चीन और चीनी भी थे। डा० मोदी के अनुसार वे पाँच जातियाँ ये थीं—ऐर्य, तुर्य, सरिम्य, सैनि और दाह, तथा उन के देश थे क्रमश.—ऐर्यनाम् दख्युनाम् ( ईरान ), तुर्यनाम् दख्युनाम् ( तूरान ), सैरियनाम् दख्युनाम् ( सीरिया, पच्छिम एशिया और पूरबी युरोप ), सैनिनाम् दख्युनाम् ( चीन ) और दाहिनाम् दख्युनाम् ( दाहों का देश )[2]। अवस्ता वाङ्मय के विषय मे मै प्रायः अनजान हूँ, इस लिए मुझे

---

१. दे० ऊपर § १४।

२. ज० बं० रा० ए० सो० नं० ७०, जि० २४ ( १९१६-१७ ), नं० ३, पृ० ४६४, भं० स्मा० पृ० ७८।

मालूम नहीं कि सैनि जाति और उस के देश के उक्त उल्लेख की किसी और तरह से व्याख्या हो सकती है या नहीं।

चीन रियासत ने यद्यपि समूचे चीन देश को तीसरी शताब्दी ई० पू० मे जीता, तो भी वह रियासत तो करीब नौवी या आठवी शताब्दी ई० पू० से मौजूद थी; और वह उस महादेश के उत्तरपच्छिमी छोर पर थी। क्या यह सम्भव नहीं कि भारतवर्ष के लोग उस रियासत से कुछ पहले से परिचित रहे हो, और उस बड़े देश के उत्तरपच्छिमी प्रान्त का नाम उन्हो ने समूचे देश पर उसी तरह चपका दिया हो जैसे भारतवर्ष के सिन्धु देश का विदेशियो ने इस देश पर ? कम्बोज देश की ठीक पहचान होने से अब इस बात की सम्भावना और अधिक दीखती है, क्योंकि कम्बोज से चीन का उत्तर-पच्छिमी छोर काफी नजदीक है। पीछे[1] हम इस बात की सम्भावना देख चुके हैं कि अवस्ता शायद कम्बोज देश मे ही लिखी गई। यदि वैसा हो तो उस में चीन का उल्लेख होने की कठिनाई बहुत कम रह जाती है। अथवा, अवस्ता के सैनि भी क्या दरद शिना लोग है ? दरद देश कम्बोज से ठीक सटा हुआ है।

---

१. * १७—पृ० ४८०-८१।

पाँचवाँ खण्ड—

# अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग

( १८५ ई० पू०—५३३ ई० )